सम्मेलन-पत्रिका

[कला अङ्क]

(चैत्र और आषाढ़ के अङ्कों से संयुक्त)

सम्पादक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

१८८० शकाब्द
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

अध्ययन के पृष्ठ

सत्यम्

शिवम्



कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल,
जन-जीवन से हो एक प्राण।
मानव-स्वभाव ही
बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण
असुन्दर को सुन्दर।

विचार-वीथी

कला की दृष्टि से संसार भगवान् की लीला का मूर्त रूप है। इसके तत्त्व को जानने की चेष्टा करना अपने आपको चकमा देना है। इसके द्वारा भीतरी रहस्य को जान पाना संभव नही। ....रूप अपने माध्यम द्वारा अपनी प्रकृत अवस्था को नही प्रकट करता। इसमे आन्तरिक स्थिति को पकड़ने का सामर्थ्य नही। इसे माया कहकर झुठलाया जा सकता है, किन्तु इससे इस माया का रचयिता कभी क्षुब्ध नही होता। कारण, कला माया रूप है। इसकी व्याख्या इसके अतिरिक्त और कुछ नही कि यह वही है जैसा कि वह लगता है। यह अपनी छलना को भी नही छिपाती। यह अपनी परिभाषा का ही प्रत्याख्यान करती है और आख-मिचौनी का खेल नित्य परिवर्तन द्वारा खेला करती है।

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शिल्पी की अनुसंधित्सु दृष्टि केवल बाह्य रूप से ही टकरा कर नही लौट आती, वह उसके भीतरी रहस्य का भी पता लगा लेना चाहती है। समस्त कला-साधको की दृष्टि अज्ञात, अज्ञेय और अगोचर से आँख मिलाने की दुर्निवार इच्छा लेकर साधना-पथ पर अग्रसर होती है। शिल्प के इस रहस्य को हृदयंगम करके जब कोई प्रतिभावान शिल्पी रचना करता है तो वह रस-सृष्टि करने का अधिकारी होता है। मानव शिल्पी के जीवन-काल में ऐसी घटना विरल होने पर भी समय-समय पर नहीं घटती ऐसी बात नही।

—कलागुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

सभी शिल्पो का लक्ष्य एक है। कविता, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान सभी सर्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपने-अपने छन्दों में पकड़ना चाहते हैं। इस दृष्टि से योग, साधना और शिल्प-साधना मे समानता है। अध्यात्म-साधना में सृष्टि के सारे वैचित्र्य के अन्तराल मे ऐक्य को ढूँढ़ना है—'एक' की खोज की जाती है, जिसके जानने से सब कुछ को जाना जा सकता है। शिल्प भी ठीक उसी प्रकार 'विराट् एक' के दर्शन की अभिलाषा को लेकर चल रहा है।

× × ×

शिल्पी वस्तु को गुण सहित देखता है। साधारण लोग वस्तु का रूप अन्यमनस्क मन से देखते हैं, इसलिए उसके गुणों की ओर विशेष ध्यान नही देते हैं—समान रूप में अन्तर मात्र को देखते हैं; अथवा रूप-गुण के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नही जानने के कारण कभी स्थूल रूप के प्रति कभी विच्छिन्न गुण के प्रति अत्यधिक आकर्षित हो जाता है। शिल्पी जानता है कि वास्तव में, रूप और

गुण म अन्तर नही है, रूप का मार ही गुण है और गुण के कारण ही रूप है। शिल्पी के लिए किसी विशेष गुण से आकृष्ट होना ही मुख्य बात है। एकदम, एक क्षण में वस्तु के सारे गुणों की धारणा किसी भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक नही है। शिल्पी भी पहले बाहरी रूप से खिचता है, बाद में गुण की धारणा होती है। इस आकर्षण का कारण नही बताया जा सकता, भिन्न रुचिर्हि लोक।

—शिल्पाचार्य नन्दलाल बसु

अपने समस्त अनुभवों के उपरान्त मे यह कह सकता हूँ कि जीवन की पवित्रता सबसे बडी और सच्ची कला है। जिसकी पृष्ठभूमि पवित्र नहीं है वह वास्तविक कला नहीं है।

—राष्ट्रपिता गांधी

साधारणत कलाकार योगी नही होता। वह योग की किसी साधना का अवलम्बन नहीं करता। परन्तु पूर्व जन्मो के संस्कार उसके चित्त को एक विशेष दशा में झुकाते है। हमारे प्राचीन शब्दों में उसको योग-भ्रष्ट कहते हैं। वह ऐसा व्यक्ति है जो पिछले किसी जन्म में योग-मार्ग का अनुसरण करने वाला रहा होगा, परन्तु किन्ही कारणो से पर्याप्त दूरी तक नही जा सका। अस्तु, कोई पूर्व जन्म के सिद्धान्त को माने या न माने यह तो मानना ही पडता है कि सच्चे कलाकार के चित्त की एक विशेष स्थिति होती है। वह दार्शनिक विवेचन करने नही बैठता, सभवत विज्ञान की बातो को कम ही जानता है। फिर भी जगत् के प्रतीयमान रूप के पीछे उसको किसी और ही सत्य की झलक देख पडती है। वर्ड्सवर्थ ने साधारण मनुष्य के सबध मे कहा है—

A primrose by the river's brim,
A yellow primrose is to him,
and it is nothing more

सरोवर के बीच कमल खिला हुआ है, कुछ चौडे-चौडे हरे-हरे पत्ते है, जिनका उपयोग स्यात् यही हो सकता है कि उनसे थाली का काम लिया जाय। बीच मे एक फूल है जिसकी श्वेत या गुलाबी रग की पखुडिया है और बस। यह चीज सबको देख पडती है। फोटोग्राफर इसका सादा और रगीन चित्र खीच सकता है, परन्तु कवि को उसके पीछे भी देख पडता है। एक कुतिया अपने बच्चे को दूध पिला रही है। इसको सब देखते है, परन्तु किसी-किसी को उसके पीछे वह जगद्धात्री आद्याशक्ति देख पडती है जो मातृ रूप से सारे विश्व का पालन करती है। कवि को, दूसरे सच्चे कलाकार को उसी के दर्शन होते है। मोर नाचता है, नर्तकी नाचती है, परन्तु उनके नाच को देखते हुए किसी किसी को उस नटराज की पदध्वनि सुनाई पडती है, जिसके डमरू से शब्दशास्त्र की सृष्टि हुई थी, जिसके नृत्य के साथ इस जगत् का सकोच होता है, जिसके श्रमसीकरो से प्रतिक्षण अनन्त ब्रह्माण्डो का सर्जन होता रहता है। वही व्यक्ति कलाकार है। मेरा ऐसा मत है कि पारिभाषिक शब्द में योगी न होते हुए भी सच्चा कलाकार वितर्क का अतिक्रमण करके विचार और आनन्द की भूमिकाओ के बीच पेंगें मारता रहता है। साधना के अभाव के कारण वह किसी

एक जगह टिक नही सकता, परन्तु थोड़ी देर के लिए उसको सत्य की जो आभा देख पड़ती है, जड़-चेतन के आवरण के पीछे अर्द्धनारीश्वर की जो झलक मिलती है, वह उसको इस जगत् के ऊपर उठा देती है, उसके जीवन को पवित्र और प्रकाशमय बना देती है ।

ऐसे कलाकार के सामने भी वही कठिनाई है जो योगी के सामने होती है, अपनी अनुभूति दूसरों तक कैसे पहुंचाएँ ? बिना पहुंचाये जी भी नहीं मानता। जब नशा चढ़ता है तो मुँह खुल ही जाता है। फारसी में एक सूफी ने कहा है "मन नही गोयम् अनल्हक यार भी गोयद बगो" मैं अहम् ब्रह्मास्मि नहीं कहता। मेरा प्रियतम मुझको विवश करता है कि तू ऐसा कह।

यही दशा कलाकार की होती है। उसके ऊपर भी उसके माध्यम का बंधन है ? यदि वह मूर्तिकार है तब तो बंधन बहुत ही स्थूल है। चित्रकार की तूलिका का मार्ग कुछ अधिक प्रशस्त है फिर भी माध्यम स्थूल है। सबसे ऊँची कला संगीत है। गायक शब्द से नहीं, स्वरों से काम लेता है, जो बहुत ही उपयुक्त है और सार्वभौम हैं। जहां तक कि गीत गाये जाते है वहां तक शुद्ध संगीत नहीं है, गाकर पढ़ी गयी पद्य रचना है। मैं संगीत के विषय को यही छोड़ता हूँ। गायन से नीचे, परन्तु और सब कलाओं से ऊपर, काव्य है। यों तो "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्" के अनुसार गद्य और पद्य दोनों ही काव्य हो सकते हैं। शंकराचार्य का वेदान्त भाष्य देखिए। पन्ना पर पन्ना उलटते जाइए। काव्य का आनन्द आता है। फिर भी गद्य की अपेक्षा पद्य में कवि को सुविधा होती है। छन्द, मात्रा, पढ़ने के ढंग से श्वास-प्रश्वास की क्रिया आदि से भाव के उद्‌बोध में सहायता मिलती है। फिर भी शब्द से कुछ काम लेना ही पड़ता है और शब्द सार्वभौम नही होते। एक भाषा में किसी शब्द का जो ध्वनितार्थ होता है वह प्रायः दूसरी भाषा में उसके पर्याय मे नहीं मिलता। पतिपरायण स्त्रियां सर्वत्र होती हैं, परन्तु सहधर्मिणी का अर्थ किसी दूसरी भाषा में किस प्रकार व्यक्त किया जाय ? दुर्गा सप्तशती के साथ जो अर्गलास्तोत्र पढ़ा जाता है, उसमे पत्नी के लिए जहां "मनोवृत्तानुसारिणी" कहा गया है वहीं उसे दुर्ग संसार सागरस्य तारिणी . . अपने तपोबल से पति को इस कठिन संसार सागर से पार करनेवाली . . कहा गया है। यह अर्थ सहधर्मिणी शब्द में हैं, परन्तु मेरी जानकारी में किसी दूसरी भाषा के किसी शब्द में नही मिलता। अपनी भाषा में भी यह अपने ढंग का निराला ही शब्द है। फिर एक ही शब्द समय-समय पर अपने अर्थ को बदलता रहता है। एक तो भाषा यों ही दुर्बल माध्यम है क्योंकि वह ऐसे अनुभवों को व्यक्त करने के लिए बनी नहीं जो दृश्य जगत् से भिन्न प्रकार के हों। यह सब कठिनाइयाँ है। इसलिए कवि को भी समाधि भाषा के समान ही उपाय से काम लेना पड़ता है। इसको रहस्यमयी भाषा या और जो कोई नाम उचित हो दिया जा सकता है।

—डॉक्टर सम्पूर्णानन्द

विध कल्पवल्लियो के सधान पाये जाते हैं। समृद्धशाली घरो की दीवारें दपण की भांति स्वच्छ और चमकदार होती थी। उनमें सूक्ष्म-रेखा-विशारद कलाकार नाना-रस के चित्राकन किया करते थे। इनके अतिरिक्त काष्ठ, पल्लव, वस्त्र, शिलापट्ट, हाथीदात तथा चमडे भी चित्राकण के आधार थे।

कला शब्द साहित्य और जन-जीवन से अभेद सबध रखता है। इसकी प्राचीनता, ऐतिहासिक्ता निर्विवाद है। प्राचीन काल में कला का मुख्य तात्पय तत्ववाद था। आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर ही कला का कल्पनात्मक विस्तार मनुष्य-समाज में प्रचलित हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि मे कला महामाया का चिन्मय विलास उसकी सम्मूर्तन शक्ति मानी गयी है। आगमों और तत्रो में सवत्रकला का प्रयोग दार्शनिक अथ में हुआ है। शैवसिद्धान्त में काल, नियति, राग, विद्या और कला ये पाच माया के कचुक हैं।

भारतीय सस्कृति में कला का लक्ष्य कला नही बल्कि परमतत्त्व की प्राप्ति है। हमारी सस्कृति कला उसी को मानती है जो अपने आपमें सीमित रखकर परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर देती है। भारतीय कलाकारो, कवियो, और सहृदय नागरिकों के कृतित्व और विचारो में कला का यही आदश बराबर काम करता रहा है। हमारे कलाकारो, कवियो सहृदयों की यह मान्यता रही है कि जिसको विश्रान्ति भोग में है वह कला नही, बल्कि बन्धन है, किन्तु जिसका लक्ष्य जिसका सकेत परमतत्व की ओर है वही कला कला है —

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कलाएँ कितनी प्राचीन है, इनका इतिवृत्त कहा से प्रारभ होता है यह बहुत स्पष्ट है। ऋग्वेद में हमें कला के मूलस्रोत अनेक पथो से प्रवाहित होते हुए मिलते हैं। चित्रकला, वास्तुकला, काव्यकला आदि के उदाहरण वेदों मे विशद रूप से मिलते हैं। चित्रकला का उद्भव यज्ञवेदियो की रेखाकृतियो से हुआ है। ऋग्वेद में वर्णलिपि और चित्रलिपि के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जिस प्रकार यज्ञो द्वारा वर्णलिपि चित्रलिपि का आविष्कार हुआ उसी प्रकार चित्रकला, वास्तुकला और स्वर-सगीत का भी उद्भव हुआ है, क्रमश कलाएँ लोक जीवन से इतनी सबद्ध हुई कि कला का अर्थ कौशल हो गया और विभिन्न ग्रथकारो ने अपनी रुचि, वक्तव्य सस्कार और वस्तु के अनुसार ६४, ७२ या इससे भी अधिक भाग कर लिए।

चित्रकला

ललित कलाओ के अन्तगत चित्रकला म ही महनीय तत्त्वो का सम्मिश्रण, सकुलन दिखायी पडता है। मानवीय चित्रों में विचारोत्तेजक तत्वो का अकन देखकर महान् विस्मय होता है। रग और रेखाओ के माध्यम मे अनिवचनीय विचारो का उद्घाटन भारतीय कलाकारो ने

चित्रकला द्वारा उद्घाटित किया है। यदि यह कहा जाय कि एक प्राचीन चित्र एक खण्डकाव्य है तो अत्युक्ति न होगा।

प्राचीन भारत में चित्रकला हमारे जीवन की अभिव्यक्ति बनी हुई थी। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हमारा समस्त जीवन चित्रकला से ओतप्रोत था। चित्रकला वस्तुतः जीवन की, अभिव्याप्ति है, भारतीय जीवन के हर पहलू को स्पर्श कर उसे सँवारने का प्रयत्न इस कला ने किया है, यही कारण है कि सभी कौशल और कुतूहलों की परिगणना कला के अन्तर्गत होने लगी। लोक जीवन के अतिरिक्त हमारा वाङमय भी चित्रकला से प्रभावित हुआ है। वेद, वेदांग, काव्य, कोश सभी में किसी न किसी रूप में चित्रकला अन्तर्निहित है। काव्य की गणना कला के अन्तर्गत ही है किन्तु हम देखते हैं कि ज्योतिष शास्त्र भी चित्रकला से पूर्ण प्रभावित है। अहिवल चक्र, वेधशालाओं के चित्रों को छोड़ दें तब भी चित्रकला के सुन्दरतम नमूने ज्योतिष में उपलब्ध हैं। पक्षी शकुनविचार में पक्षी की आकृति बनाकर भविष्य बतलाया जाता है किन्तु चित्रकाव्यम्, चित्रसूत्रम् की भांति ज्योतिष में भी चित्रप्रश्नम् है जो एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में हमें त्रिवेन्द्रम् में अपने मित्र ई० टी० जार्ज (पुंजार—केरल निवासी) के अनुग्रह से देखने को मिला है। यह भविष्यफल बतलाने वाला ग्रंथ है जो चित्रों के रूप में है। ताड़ के पत्ते मे लोहे की लेखनी से इस पर चित्र खींचे गये हैं। ऐसे कुल सौ चित्र है जो एक-एक पत्ते पर खीचे गये है। इस ग्रंथ की लिपि मलयालम है किन्तु श्लोक संस्कृत मे हैं। एक चित्र सरोवर का बना हुआ है, उसमें सुन्दर नव पंकज, कुमुदिनी, मत्स्य, मकर और सेवार के चित्र हैं। चित्र के नीचे एक श्लोक लिखा हुआ है—

नव पंकज कैरवाभिरामं
सर एतत्सरसोऽभिवीक्षते यः,
धनलाभ बले अतीव कान्ति
परमैश्वर्यमपि प्रयाति सोऽयम्।

उपनिषद् काल से गुप्त काल तक की कला पुस्तकों के अध्ययन से विदित होती है कि इस कालावधि में चार प्रकार के चित्र बनाये जाते थे :—

१. **विद्धचित्र**—जो दर्पण में पड़ी परछाई के समान वास्तविक अनुकृति। फारसी में इसे आबेहूब कहते हैं।

२. **अविद्धचित्र**—जिन्हें चित्रकार मनोगत भावों के आधार पर अपनी कल्पना से बनाते थे।

३. **रसचित्र**—जो भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिए बनाये जाते थे।

४. **धूलिचित्र**—अल्पना, चौकपूरना, सांझी।

बौद्धकाल और गुप्त काल में चित्रकला इतनी उन्नत थी कि लोग अपने चित्र स्वयं बनाया करते थे। अजन्ता, इलोरा की गुफाएँ उस युग की चित्रकला के उत्तम नमूने हैं।

सगीत कला स, रे ग, म आदि सात स्वरो पर आधारित है। यही सात स्वर सामग है। सामगान में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र इन पाच स्वरो को मुख्य माना गया है। और क्रुष्ट तथा अतिस्वाय इन दो स्वरो को गौण। साम-सिद्धान्त के अनुसार मुख्य पाच स्वर क्रम से मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज और निषाद हैं। किन्तु शैवगान में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पचम इन पाच स्वरो को मुख्य और धैवत तथा निषाद को गौण माना गया है। मुख्य और गौण-स्वरो को मिला देने से सात स्वर होते है। इन्ही के अन्तर्गत दो मध्यम स्वर माने जाते है जो अन्तर और काकली कहे जाते हैं। वीणा के साथ गान करते समय ऋषभ, धैवत और मध्यमस्वरो के विकृत-रूपो को मिला कर सगीत के बारह-स्वर-स्थान माने गये हैं और बाईस सूक्ष्म श्रुतिया तथा ६६ नाद के सूक्ष्मतर प्रभेद माने गये है।

हमारे शास्त्रकारो ने वाणी को स्वरमयी और शब्दमयी माना है तथा स्वर और शब्द को नाद के अधीन वेद, उपनिषद्, योग, दर्शन, व्याकरण आदि सभी शास्त्रो में नाद को अमित महत्व प्रदान किया गया है शब्दस्यपरिणामोऽयमित्याम्नायविदोविदु लिखकर इस जगत् को नाद का परिणाम माना गया है। सगीत मकरन्दकार नाद के आहत और अनाहत दो भेद मानते हैं। अनाहत नाद बिना आघात के उत्पन्न होता है इसे केवल योगीजन ही सुनते है, समझते है और उसी के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते है। समस्त चराचर जगत् नाद से प्रभावित है। भगवान् कृष्ण की वशी समस्त चराचर को मुग्ध बना देती थी, वीणा सुनकर कुरग (हरिण) मोहित हो जाते है और हरिण की भाँति सर्प भी वीणा-स्वर सुनकर मुग्ध हो जाता है ऐसा हम पढते और सुनते आ रहे है। कौशाम्बी नरेश उदयन हस्तिकान्त वीणा बजाकर मदोन्मत्त गजराजो को वश में कर लिया करते थे यह तो अनुश्रुति की बात है किन्तु कोल, किरात, भील आदि जगली जातियो के मनुष्यो को हम अब भी देखते है कि वे विचित्र ढग के बाजे बजाकर हिंसक पशुओ को मुग्ध बनाकर उनका शिकार किया करते है। सपेरे तुमडी बजाकर साप को पकडा करते है। सिद्धान्त की बात तो यह है कि ब्रह्माण्ड का कोई भी नाद चाहे वह सस्वर या नि स्वर, झङ्कृत या अनुकरण रहित, आहत या अनाहत कैसा भी हो निरर्थक नही होता है। सगीत शास्त्रकारो ने नाद के प्रति अबोध शिशुओ के प्रबल आकर्षण का बडा रोचक वर्णन किया है —

अज्ञात विषय स्वादो बाल पर्यङ्कमागत।
रुदन् गीतामृत पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपद्यते।

—सगीत रत्नाकर

दोलाया शायितो बालो रुदन्नास्ते यदाक्वचित्।
तदा गीतामृत पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपद्यते।

—सगीत पारिजात

बालोऽपि दोलाशयने शयालुराकर्ण्य गीतरुदित जहाति।

—सगीत सुधा

तात्पर्य यह कि एक अबोध बालक पालने में पड़ा रो रहा है किन्तु सुन्दर वात्सल्यमयी लोरियां सुनकर वह हँसने लग जाता है।

सचमुच नाद में अपार आकर्षण है इसीलिए कहा गया है कि अहोनादस्य माहात्म्यं कः प्रशंसितुमीशते।

संगीत को ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है, यह कला अनादि और अन्तहीन है।

कामकला

सृष्टि की प्रजनन-क्रिया ही काम कला है। आगम ग्रंथों के अनुसार ब्रह्मा जब सृष्टि की अभिवृद्धि करने में असफल हुए तब उन्होंने शक्ति से सहयोग की प्रार्थना की। शक्ति ने स्फूर्ति बनकर "विन्दु" का रूप धारण किया। शिव ने तेजस् का रूप धारण कर उसमें प्रवेश किया। दो विन्दुओंके मिलजाने से नादतत्त्व (स्त्रीतत्व) उपन्न हुआ। नाद और विन्दु इन दोनों की संयुक्त अवस्था 'अर्द्धनारीश्वर' कहलायी। इसीको संयुक्त विन्दु भी कहते है। यही संयुक्त विन्दु स्त्री और पुरुष के बीच आकर्षण का कारण हुआ करता है। इसलिए इसका नाम 'काम' पड़ा।

संयुक्त विन्दु के अतिरिक्त श्वेतविन्दु (पुरुष) और रक्तविन्दु (स्त्री) दो विन्दु और होते हैं। ये दोनों मिलकर 'कला' का सर्जन करते हैं। संयुक्त विन्दु' श्वेत विन्दु और रक्तविन्दु इन तीनों से कामकला की उत्पत्ति मानी गयी है। भारतीय आगम कामकला को सृष्टि की नियामक शक्ति मानते हैं।

भारतीय स्थापत्यकला का उज्ज्वल अतीत

भारतीय स्थापत्य कला के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इस कला ने मानवता के समस्त प्रोज्ज्वल उपादानों को विकसित एवं व्यापक बनाने मे बहुत बड़ा योग दिया है। इस कला का मूल आधार धर्म रहा है। अध्ययन से पता चलता है कि अतीत मे धर्माश्रित कला का विकास अधिक हुआ है। यह धारणा प्राचीन मंदिरों, मूर्तियों, सिक्कों आदि के देखने से सत्य सिद्ध होती है। भारतीय स्थापत्य कला ने मानव में आध्यात्मिक प्रवृत्ति को जागृत करने का प्रशंसनीय आयास किया है। हमारे भारतीय शिल्पियों ने बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया था कि मानवीयभावों के जागरण के लिए रूप-शिल्प की महती आवश्यकता है। आत्मा को बलिष्ठ और समुन्नत बनाने के लिए यह रूप-शिल्प ही अमोघ साधन है।

स्थापत्य कला का मूल उद्देश्य

ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्प का वही उद्देश्य रहा है जो धर्म का, क्योंकि मानव को मानवता के समस्त गुणों से परिपूर्ण बनाना धर्म का उद्देश्य है। प्रत्येक व्यक्ति धर्म के माध्यम से अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्त करे—यही धर्म का मूल उद्देश्य प्रारंभ से ही रहा है। कहना न होगा कि मानवीय गुणों का सर्वांग विकास और मानवता के समस्त तत्वों का पुष्टीकरण कला के द्वारा आसानी

में हुआ करता है। इसका तात्पर्य यह नही है कि हमारी स्थापत्य कला लोकोत्तर जगत् का ही प्रतिनिधित्व करती है वल्कि भौतिक समृद्धियो के भी प्रेरक सूत्र उसमें निहित हैं। विकसित दृष्टि से स्थापत्य शिल्प का अध्ययन करने से यह वोध होता है कि प्रतिमाओ का आत्मस्थ-सौन्दर्य पार्थिवसौन्दर्य पर ही निर्भर है।

स्थापत्य कला की सूक्ष्मताओ को समझने के लिये शिल्पस्थापत्य, प्रतिमा-शास्त्र, उत्कीर्ण शिलालेख, मुद्राशास्त्र तथा इनमे सवधित अन्य उपादानो का अध्ययन आवश्यक है। इन उपादानो में इतिहास सस्कृति और सम्यता के तात्विक और व्यावहारिक अध्ययन की आवश्यकता सर्वोपरि है। हमारे प्राचीन मदिर, गृह, प्रतिमाएँ, यूप, स्तम्भ आदि जो आजकल अवशेष के रूप में सर्वत्र विखरे पड़े हैं उन्हीमें हमारे प्राचीन इतिहास, सस्कृति और सम्यता की अन्त सलिला प्रवाहित हो रही है। उन्ही मे हमारे अतीत का अमर गौरव समाया हुआ है। इन अवशेषो को देखने और और इनका सूक्ष्म अध्ययन करने से यह अनुभव होता है कि इनका शिल्प उच्चतम कल्पनाओ पर आधारित है, इस शिल्प की अद्वितीयता का सवसे प्रवल प्रमाण यही है कि इसका और इस शिल्प की कल्पनाओ का प्रभाव मनुष्य पर तत्काल पडता है ।

मूर्तिकला

धर्म से अनुप्राणित मूर्ति-शिल्प मुख्यतया हिन्दू, जैन और वौद्ध-इन तीन विभागो में विभक्त है। मूर्ति कला के इतिहास पर ध्यान देने से यह अनुमान होता है कि प्रारभ में जव हिन्दू जनता निराकार ब्रह्म की उपासना करती थी उस समय निराकार ब्रह्म चित्रित नही किया जाता था। यह भी सभव है कि उस युग मे जो महापुरुष सासारिक बन्धन त्यागकर विरक्त हो जाते थे शिल्पी लोग उनका भी मूर्त-चित्रण नही करते थे।

ईसवी पूर्व की पिछली शताब्दियो में जव धार्मिक विकास और विचारो में परिवर्तन हुए और एकेश्वरवादी हिन्दू शिव और विष्णु को सत्-चित्-आनन्द-रूप ब्रह्म मानने लगे भगवद्गीता के सिद्धातो का प्रचार बढने लगा कि कृष्णस्तु भगवान् स्वयं तव शिव, विष्णु की प्रतिमाओ का निर्माण होने लगा, ब्राह्मणो की इस कला का प्रभाव जैनियो पर भी पडा। हिन्दुओ की प्रतिमा-पूजन पद्धति ने जैनियो को भी तीर्थंकरो की प्रतिमाओ के पूजन के लिए प्रेरित किया। शिव और विष्णु की प्रतिमाओ की भाति महावीर स्वामी और पार्श्वनाथ की मूर्तिया भी बनने लगी।

जैन धर्म का सिद्धात है कि मुक्तात्मा सदैव ससार के शिखर पर अवस्थित रहते हैं, उनकी व्यक्त आकृति नही होती। इस सिद्धात के अनुसार ऐसी दिव्य सत्ताओ की पार्थिव प्रतिमूर्ति निर्वस्त्र ध्यानस्थ महात्मा के रूप मे ऐसी बनायी जाने लगी जिसकी मुद्राओ से स्वर्गीय शान्ति, ससार से पूर्ण विरक्ति झलकती हो। जैन प्रतिमाओ का अस्तित्व इसलिए स्वीकार्य है कि उससे मुक्ति की कामना जागती है।

हिन्दुओ और जैनियो की प्रतिमाओ का सर्वसाधारण में पडते हुए प्रभाव को देखकर वौद्धो ने भी बुद्ध की प्रतिमाओ का निर्माण स्वीकार किया। वौद्धो के निर्वाण का सिद्धात जैनियो

से एकदम भिन्न होने के कारण उन्होंने बुद्धत्व और परिनिर्वाण के बीच भगवान् बुद्ध के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करना प्रारंभ किया। यही कारण है कि जैन-प्रतिमाओं की अपेक्षा बुद्ध प्रतिमाओं में अधिक विविधता और सजीवता पायी जाती है।

ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक आधारों पर प्राचीन भारत का अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध समझने के लिये भारतीय कला बहुत प्रामाणिक और महान् साधन है। भारत की सादृश्यवादी कला अतीत को समझने मे हमारी बहुत बड़ी सहायिका सिद्ध हुई है। सिन्धु-सभ्यता से लेकर मध्यकाल तक की अन्तर्देशीय, अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय व्यवस्था समझने में हमें हड़प्पा भरहुत, सांची अमरावती, नागार्जुनकुंड, अजंता और मथुरा में प्राप्त कलाकृतियां सहायक सिद्ध हो रही है। प्राचीनकाल के जलयानों, बाजारों, गाड़ी, बैल आदि के चित्र प्राचीन भारत के सार्थक रोचक चित्र प्रस्तुत करते है।

मुद्राओं में कला

भारत की प्राचीन मुद्राएं केवल इतिहास का ही बोध नही करातीं उन पर अंकित संकेत-चिन्ह उस समय की कला की भी परिचायिका हैं। इनसे यह भी जाना जाता है, कि प्राचीन काल में धर्म और कला का अटूट संबंध रहा है। शब्द कल्पद्रुम में मुद्राओं की पांच प्रकार की लिपियों का उल्लेख है—१ मुद्रा (रहस्यमय) २ शिल्प (व्यापार संबंधी) ३ लेखनी-संभव (सुलेख) ४ गुण्ड्रक (शीघ्रलिपि) तथा घृण (जो पढ़ी न जा सके) महावैयाकरण पाणिनि मुद्रा शास्त्र के विशेषज्ञ थे। उन्होंने अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'संघाङ्गलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' में यह बताया है कि संघों के अंक और लक्षण प्रकट करने के लिए अन्, यन्, इनमे अन्त होनेवाली संज्ञाओं में अञ् प्रत्यय लगता है।

शोधको के निश्चयानुसार सबसे पुरानी मुद्रा कार्षापण और निष्क है। वस्तुतः कार्षापण मुद्रा पुराण-मुद्रा का एक भेद ही है। पुराण मुद्राओं के संबंध में पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि इनका प्रचलन ईसा पूर्व ३००० वर्ष पहले रहा है। इन मुद्राओं में छत्र-चामर, सूर्य, घट के ऊपर षट्विन्दु षट्कोण, गज, वृष, कुक्कुर, गोमुख, वृक्ष-स्कन्ध, षट्दल कमल, षडारचक्र, सप्तर्षि, द्विकोष्ट गोपुर, अष्टदल कमल, सुवर्णराशि, राजहंस, नदी पुष्पलता, कमण्डलु, मत्स्य, सवेदीवृक्ष, गरुड़, मयूर, कृष्णमृग, ध्वज, पताका, मंदिर, त्रिकोण के सुन्दर चित्र अंकित है। ये मुद्राएँ प्राङ् मौर्यकालीन हैं। गुप्तकालीन मुद्राओं मे गरुड़ध्वज लक्ष्मी, कमलासना लक्ष्मी, पद्महस्ता लक्ष्मी, अम्बिका-लक्ष्मी, गरुड़, नदी के चित्र चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

यान्त्रिक कलाएँ

ललितकलाओं की भांति यंत्र कलाओं का आविष्कार और सार्वभौम प्रचलन प्राचीन भारत में पर्याप्त रहा है। ऋग्वेद में विमान का वर्णन, और उनके निर्माण की विधि का संकेत मिलता है—'जो आकाश में पक्षियों के उड़ने की स्थिति को जानता है वह समुद्र, आकाश की

नाव—विमान—को जानता है ?'[1] विमान की रचना वि-पक्षी मान—सदृश—पक्षियों के सिद्धान्त पर हुई है। पचतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक बढई विष्णु का नकली रूप धारण कर गरुड की आकृति के विमान पर चढकर किसी राजकुमारी के यहा जाया करता था। गय चिन्तामणि नामक ग्रथ में मयूर की आकृति के बने हुए विमान का वणन है। वाल्मीकि रामायण (सुन्दरकाण्ड ९ सग) में पुष्पकविमान का अद्भुत रोचक वणन है। भागवत में शाल्व राजा के विमान का वर्णन है जो भूमि, आकाश, जल और पहाड पर भी चलता था। भागवत में ही सबसे विशाल और भव्य विमान कर्दम ऋषि का बताया गया है। विमानों के निर्माता शिल्पियों का परिचय बौद्धकाल तक मिलता है।[2] धम्मपाद (बोधिराजकुमार वत्थु पृष्ठ ४१०) में एक शिल्पी का वर्णन लिखा है कि बोधि-राजकुमार ने एक महल बनवाया, बडा विचित्र महल था वह। बोधिराज ने सोचा कि यह शिल्पी यहीं और किसी का भी महल इसी प्रकार न बनादे इसलिये उसके हाथ कटा लेना चाहिए। राजा ने अपने विचार अपने मत्री से बतलाया और मत्री ने शिल्पी को बतला दिया। शिल्पी ने अपनी सारी सपत्ति चुपके से बेच दी और अपने बनाये हुए महल को अपने परिवारवालो को दिखाने का प्रार्थना पत्र भेजा। अनुमति मिल जाने पर वह सपरिवार महल में जाकर एक कोठरी में स्थित गारुड यत्र पर सपरिवार आरूढ होकर नेपाल भाग गया।[2]

भारद्वाज ऋषि प्रणीत ग्रथ अशुबोधिनी है, इसमें अनेक विद्याओ और कलाओ का वर्णन है। विमान अधिकरण में 'शक्तयुद्गमोष्टौ' सूत्र पर वृत्ति लिखते हुए बौद्धायन ऋषि ने लिखा है कि —

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानशिखोद्गम ।
अशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सख ।
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रत ॥

अर्थात्—शक्त्युद्गम (बिजली द्वारा चालित), भूतवाह (अग्नि,जल और वायु द्वारा चालित), धूमयान (भाप से चलने वाला), शिखोद्गम (पचशिखी के तेल से चालित), अशुवाह (सूय किरणो से चालित) तारामुख (उल्कारस—चुम्बक से चालित), मणिवाह (सूय, चन्द्रकान्त मणियो से चालित) और मरुत्सखा (वायु द्वारा चालित)।

विमानो के अतिरिक्त तोप, बदूक और बारूद बनाने की यत्र कलाओ के अनेक प्रमाण

---

१ वेदा यो वीना पदम तरिक्षेण पतता वेदनाव समुद्रिया —ऋग्वेद

२ पुत्रदारमस सकुनस्स कुच्छिम निसीदयित्वा वातपातेन निक्खमित्वा पलायि।

मिलते है। शुक्रनीति में तोप और बंदूक के वर्णन लिखे है।[1] ऐसे भी मनुष्याकृति यंत्र बनते थे जो केवल चलते फिरते ही नही बल्कि बोलते भी थे। विक्रमादित्य के सिंहासन की पुतलियों की कथा तो सर्व ख्यात है। वाल्मीकि रामायण से ज्ञात है कि रावण ने एक नकली सीता बनायी थी जो राम का नाम लेकर रोया करती थी।[2]

तार, टेलीफोन के आविष्कार का भी परिचय शुक्रनीति (अ० १ श्लोक ३६७) मे मिलता है। उसमें लिखा है कि एक दिन में दस हजार कोश तक की वात जानी जाती थी—आयुतं क्रोशजां वार्ता हरेदेक दिनेनवै।'

भोज प्रबंध में लिखा है कि राजा भोज के पास एक-काठ का घोड़ा था जो एक घड़ी में ग्यारह कोस जाता था और एक पंखा था जो बिना किसी मनुष्य की सहायता से स्वतः तीव्रगति से चला करता था[3]। वैदिक याज्ञिकों ने ग्रहवेध के लिए तुरीय यंत्र की रचना और भूगोल तथा खगोल-का नकशा भी काठ के गोलों पर बनाया था। ऋतु-परिचय प्राप्त करने के लिए उष्णतामापक (थर्मामीटर) भारमापक (वैरामीटर) और समय-सूचक घटी-यंत्र का भी निर्माण वेद काल में हो चुका था।[4]

प्राचीन शास्त्रो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय कला, विज्ञान में अत्युन्नत थे, महायंत्रों के निर्माण की विधियां आज के राकेट, अणुबम आदि से कही अधिक प्रशस्त और हस्तामलक थीं, किन्तु उन्हें विनाश का कारण समझकर उस समय के समाज ने उनके निर्माण पर रोक लगा दी थी। हमारे वेदों का मत है कि परमात्म ज्ञान जान लेने पर संसार के समस्त सूक्ष्म-पदार्थ और नियम ज्ञात हो जाते है, यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय मे यह स्पष्ट कहा गया है

---

१. नालीकं किविधं रोयं वृहत्क्षुद्र विभेदतः, तिर्यगूदर्ध्वयुतं छिद्रं नालं पंच वितस्तिकं मूला ग्रयार्लक्ष्यभेदितिलविंदुयुतंसदा, यंत्राघातात्रिकृद्ग्रावचूर्णधृकर्णमूलकम् सुकाष्ठापांगबुध्नं मध्यांगुलिबिलान्तरम्, स्वान्तोऽग्निचूर्ण संधातृ शलाकासंयुतंदृढ़े लघुनालीकमप्यैतत् प्रधार्य पत्तिमादिभिः यथायथा तुत्वक्सारं यथा स्थूलविलान्तरम् यथादीर्घवृहद्गोलं दूरभेदितथा तथा, मूल कीलतमाल्लक्ष्य समसंधानभाज्ञियत् वृहन्नलिक संज्ञानात्काष्ठब्रुध्नविवर्जितम्, प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु संयुतं विजय प्रदम्।

—सुक्रनीति अ० ४

२. क्रोशन्ती रामरामेति मायया योजितां रथे।
तमेवमुक्तां रुदतीं सीतां मायामयीं च ताम्।

—लंकाकाण्ड सर्ग ८०

३. घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः सुकृत्रिमोगच्छति चारु गत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विनामनुष्येण चलत्यजस्त्रम्।

४. घटीयंत्र यथा मर्त्याभ्रमन्ति मम मायया

—गरुड़पुराण



सत्यं

डॉ० रामानन्द तिवारी

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का स्वरूप*

सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनों में ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का प्रयोग बहुत व्यापक और अनिश्चित अर्थो में होता है। इन अनेक अर्थो का संकलन करने पर यह स्पष्ट हो सकता है कि हमारे इन प्रयोगों में एक के अर्थ का अन्तर्भाव दूसरे के अर्थ में अथवा एक के अर्थ का आरोपण दूसरे के अर्थ पर किस प्रकार होता है। एक प्रकार से इनके अर्थ की अनिश्चितता प्रयोग की व्यापकता के कारण ही है। अर्थो की स्पष्टता और निश्चितता के लिये उनका परिच्छेद आवश्यक है। इस परिच्छेद के द्वारा ही उनमें परस्पर विवेक संभव हो सकता है। इसी कारण तर्क शास्त्र में अवच्छेदकतावाद का विस्तार हुआ और दार्शनिक परिभाषाओं में इसका उपयोग होने लगा। विज्ञान और दर्शन का दृष्टिकोण अधिक तटस्थ होता है तथा उनमें तथ्य अथवा सत्य के जिन रूपों का निर्धारण होता है उन्हें प्रायः निरपेक्ष माना जाता है। मानवीय आकांक्षाओं की अपेक्षा उनका स्वरूप विधायक तत्त्व नही माना जाता। वैज्ञानिक सत्यों की यह निरपेक्षता तो स्पष्ट है। दार्शनिक सत्यों के भी अनेक निरपेक्ष रूप दर्शन के इतिहास में प्रकट हुए है। कुछ दर्शनों में मानवीय स्वभाव की आकांक्षाओं को भी सत्य का अंग मानकर सत्य की एक ऐसी व्यापक प्रतिष्ठा की गयी है, जिसमें मानवीय आकांक्षाओं का भी अन्तर्भाव हो गया है। वेदान्त के ब्रह्म, भक्ति सम्प्रदायों के परमेश्वर और पश्चिमी अध्यात्मवाद के चरम सत्य का रूप ऐसा ही है।

---

*भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र दोनों मे कला और काव्य के सौन्दर्य और आनन्द का विवेचन प्रायः व्यक्ति को उनका आश्रय मानकर किया गया है। दोनों की दृष्टि मे कला और काव्य व्यक्तिगत अध्यवसाय है तथा व्यक्ति के आश्रय मे ही उनके सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे मत मे समात्मभाव मानवीय और सांस्कृतिक जीवन की मौलिक स्थिति है। समात्मभाव व्यक्तित्व के अनिश्चित बिन्दुओं का आत्मीयता और परस्पर भावसम्प्रेषण का चिन्मय भाव है। दम्पति और सुहृदों के सम्बन्ध मे यह भाव हमारे व्यवहार में चरितार्थ होता है। अन्य सामाजिक सम्बन्धों मे भी इसका विस्तार सम्भव है। समात्मभाव वेदान्त के निर्विकल्प कैवल्य तथा मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद दोनों से भिन्न है। यह वेदान्त की जीवन्मुक्ति के अधिक निकट है, जिसमें कैवल्य और व्यक्तिवाद दोनों का सामंजस्य है। कैवल्य अनुभव की एक असाधारण और अनिर्वचनीय स्थिति है। वह समात्मभाव का

की अपेक्षा रूप का आग्रह अधिक दिखाई देता ह। वस्तुत   विचार रूप का ही विधायक है। तत्व का ग्रहण मुख्यत इद्रियो की सवेदना और चेतना की आन्तरिक अनुभूति के द्वारा होता है। विचार चेतना का रूप-प्रधान धर्म है। इसीलिए नव्य न्याय और आधुनिक पश्चिमी तर्क शास्त्र मे इसकी रूपात्मकता का ही विस्तार अधिक हुआ है। सामान्य लौकिक विचार तथा दर्शन के तात्विक विचार दोनो में ही हम सत्य की इस रूपात्मकता के लक्षण देखते हैं। रूप और तत्त्व वस्तुत अभिन्न है। किन्तु विचार अपने धर्म के अनुरूप इनका विश्लेषण और प्रत्याहार करता है। तत्व का निर्णय करते समय भी विचार अपने इस धर्म से विरत नही होता। विश्लेषण प्रत्याहार और परिच्छेद का प्रयोग वह तत्त्व में भी करता है।

तात्पर्य यह है कि तत्त्व के निर्धारण में भी वह रूप का आरोपण करता है। विचार की रूपात्मकता का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है? जर्मन मनीषी कान्ट ने विचार को रूपात्मक तथा ज्ञेय जगत को बुद्धि का विधान माना था। दार्शनिक दृष्टि से चाहे कान्ट की स्थापना अपूर्ण और असन्तोषजनक हो, किन्तु विचार के अनुसधान की दृष्टि से वह विचार के अन्तर मर्म का उद्घाटन करती है। सामान्य व्यवहार में विचार के अतिरिक्त हमारी अन्य वासनाएं अथवा आकाक्षाए तत्त्व की अधिक अभिलाषिणी होती ह। किन्तु विचार की दृष्टि मुख्यत अपने रूप पर ही रहती है। सिद्धात की दृष्टि से यह रूप प्रत्ययों की एकरूपता और उनका पारस्परिक अविरोध प्रतीत होता है, किन्तु इस सिद्धात के मूल में विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के धर्म अन्तर्निहित है। विचार की रूप-प्रधानता और तत्त्व-निरपेक्षता में ही यह स्पष्ट है कि विचार-की दृष्टि तटस्थ होती है। यह तटस्थता विचार का गुण मानी जाती है। तत्त्व और रूप के निर्धारण की दृष्टि से इसका उपयोग भी है किन्तु अनेक अमगलकारी विचारो में विचार की इस निरपेक्षता का दुष्फल भी विदित होता है। फिर भी तटस्थ और निरपेक्ष भाव मे अपने स्वरूप का अनुसधान ही विचार का मुख्य धर्म प्रतीत होता है।

विचार बुद्धि का व्यापार होने के साथ-साथ चेतना की विषयमुखी तथा तटस्थ दृष्टि भी है। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेदन के द्वारा वह सत्ता के रूपो का निर्धारण और विवेक करता है। चेतना की दृष्टि होने के कारण इसका रूप अपनी निर्दिष्ट मर्यादा की अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाता है। इस व्यापकता की परिधि में जीवन और सस्कृति के वे रूप भी आ जाते है जो पूर्णत विचार के अनुरूप नही। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के द्वारा इनके स्वरूप का निर्धारण नही किया जा सकता। साथ ही केवल निर्धारण इनका, पूर्ण और वास्तविक स्वरूप नही है। निर्धारण विषय, वस्तु, व्यवस्था और प्रक्रिया का ही सभव है। विचार की व्यापक परिधि में आजाने पर भी जीवन और सस्कृति के इन रूपो का स्वरूप वैषयिक सत्ता, व्यवस्था और प्रक्रिया में समाप्त नही होता। इनका पूर्ण और वास्तविक रूप जीवन की सजीव और सक्रिय विधियो में ही साकार तथा सम्पन्न होता है। शिवम् और सुन्दरम् जीवन तथा सस्कृति के ऐसे ही रूप है जो पूर्णत विचार का विषय न होते हुए भी विचार के व्यापारो से निर्धारित होते रहे ह। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के योग्य न होते हुए भी विचार उन्हें परिच्छिन्न करके

सत्यम् से विविक्त रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न करता रहा है। शिवम् और सुन्दरम् के रूपों में परस्पर विवेक ही विचार का उद्योग रहा है। विचार का यह प्रयास एक ओर शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न करता है, किन्तु दूसरी ओर उन पर विचार के आकार का आरोपण भी करता है। विचार की रूपात्मकता जीवन और संस्कृति के इन सजीव और सम्पन्न रूपों को भी एक स्थिर और परिच्छिन्न आकार में बांधने का प्रयत्न करती है।

विचार चेतना की स्वाभाविक किन्तु आरम्भिक अथवा अपूर्ण गति है। उसके व्यापार सत्य के अनुसंधान की आवश्यक दिशाएँ हैं। किन्तु विचार की गति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य और पूर्णता नहीं। इसका प्रमाण स्वयं विचार का अतिचार है। अपने उस सीमित रूप में संतुष्ट न रहकर, जिसकी व्याख्या ऊपर की गयी है, विचार ने अनेक बार अपनी परिधि का असंगत विस्तार करके उसमें जीवन के उन रूपों का भी समाहार करने का प्रयत्न किया है जो इसके द्वारा ग्राह्य नही है। शिवम् और सुन्दरम् में आकार के साथ-साथ अनुभूति का तत्त्व भी है। इसीलिए विचार ने अपने व्यापार की सफलता के लिये अपने अभीष्ट सत्य की रूपात्मकता में तत्त्व की भी प्रतिष्ठा की। ऊपर रूपात्मक विचार की परिधि में शिवम् और सुन्दरम् के समावेश का संकेत किया गया है। इसमें विचार की परिधि का विस्तार अवश्य है। किन्तु विचार का स्वरूप वही है जो सर्वत्र मान्य और स्वयं विचार के अनुकूल है। यह विचार का सीमित रूप है जिसमें विचार बाह्य रूपों का निर्धारण करके अपने स्वरूप का अनुसंधान करता है। यह विचार का रूपात्मक स्वरूप है। किन्तु अपने तत्त्वतः व्यापक रूप में विचार अपनी परिधि का ही विस्तार नहीं करता वरन् इसके साथ-साथ उसमें तत्त्व की भी प्रतिष्ठा करता है। वस्तुतः विचार की यह प्रक्रिया विचार के मौलिक स्वरूप के अनुरूप नहीं है। इसीलिए जिन आध्यात्मिक दर्शनों में विचार ने इसका प्रयास किया है उनमें विचार तत्वदृष्टि से सत्य के व्यापक रूप का अनुसंधान और निर्धारण करने के स्थान पर स्वयं उसमें विलीन हो गया है। अद्वैतवेदान्त और ब्रैडले का अध्यात्मवाद इसके उत्तम उदाहरण हैं। इसका कारण यह है कि सत्ता और व्यवस्था के रूपों मे विश्लेपण, प्रत्याहार और परिच्छेद वास्तविक अथवा काल्पनिक रूप में संभव भी हों, किन्तु चिन्मय क्षेत्र के तत्त्व में वे संभव नही। जर्मन दार्शनिक हीगल ने तो विचार का भी लक्षण यही बताया है कि वह सदा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक असीम आकार की ओर संकेत करता रहता है। वस्तुतः यह विचार के मूल में मनुष्य की व्यापक चेतना की प्रेरणा है। विचार के प्रत्याहार के विपरीत विस्तार इसका लक्षण है और परिच्छेद के स्थान पर तादात्म्य इसका स्वरूप अथवा स्वभाव है।

यह सत्य का व्यापक रूप है। विचार इसका निर्धारण नहीं कर सकता। वह केवल इसकी ओर संकेत कर सकता है। वस्तुतः सत्य का यह व्यापक रूप विचार के पूर्णतः अनुरूप नहीं है। इसीलिए शंकराचार्य और ब्रैडले दोनों ने सत्य के इस व्यापक रूप में विचार का पर्यवसान और विलय माना है। विचार के रूप और व्यापक सत्य में उतना ही विरोध है जितना प्रत्याहार और विस्तार तथा परिच्छेद और तादात्म्य में है। सत्य का यह व्यापक रूप शिवम् और सुन्दरम्

के तत्व से निर्मित है। वह सत्य के सीमित रूप के समान स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं है। तटस्थ भाव से उसका निर्धारण पूर्णत संभव नहीं है और न इस निर्धारण में जीवन की आकांक्षा की पूर्णता है। वह इस अर्थ में निरपेक्ष और स्वतंत्र अवश्य है कि किसी व्यक्ति की कल्पना, कामना अथवा भावना पर उसका अस्तित्व अथवा स्वरूप निर्भर नहीं है। किन्तु मनुष्य की अन्ततम आकांक्षा और साधना का समाधान उसमें अवश्य है। जो सीमित सत्य विचार का लक्ष्य है वह मनुष्य की केवल जिज्ञासा वृत्ति का समाधान है। सम्पूर्ण चेतना की आकांक्षाओं का अंतिम लक्ष्य होने की दृष्टि से हम सत्य के इस व्यापक रूप को भी सत्य कह सकते हैं। किन्तु सत्य के ये दोनों रूप एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि इस भेद का भी निरूपण विचार के द्वारा ही होता है, किन्तु यह निरूपण सत्य के सीमित रूप की भांति ही अपूर्ण है। सत्य का व्यापक रूप मनुष्य की समग्र, चेतना की आकांक्षा का समाधान है। अत इस रूप की अनुभूति में ही भेद का निरूपण पूर्ण हो सकता है और इस पूर्णता में भेद और विचार दोनों का विलय हो जाता है।

सत्य के इस व्यापक रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। वस्तुत सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् अन्तिम तत्व की पूर्णता के तीन पक्ष हैं जिनका विवेक किसी सीमा तक विचार ही करता है। विचार की दृष्टि से इनके भी रूप का कुछ निर्धारण संभव है, किन्तु वस्तुत इनमें रूप की अपेक्षा तत्व की प्रधानता है। प्रत्याहार और परिच्छेद के स्थान पर विस्तार और तादात्म्य इनका लक्षण है। एक व्यापक अनुभूति इसका तत्व है। जिज्ञासा के स्थान पर ये समग्र चेतना के लक्ष्य हैं। मानो मनुष्य की समग्र चेतना इनमें उसी प्रकार अपने स्वरूप का अनुसंधान करती है, जिस प्रकार जिज्ञासा विचार में अपने रूप का अनुसंधान करती है। जिज्ञासा का फल अवगति है। यह अवगति रूपों के परिच्छेद के द्वारा होती है तथा इसमें विषय और विषयी का भेद रहता है। किन्तु जिस प्रकार विचार अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता रहता है उसी प्रकार अवगति के तटस्थ धर्म में जिज्ञासा का पूर्ण संतोष नहीं होता। ज्ञाता बनकर जिज्ञासु अपने अपूर्ण और आंशिक ज्ञान को भी अभिव्यक्त करने के लिये आतुर हो उठता है। आर्किमिडीज की भांति कभी कभी उसकी यह आतुरता उन्माद की सीमा तक पहुंच जाती है। हमारे समस्त ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, साहित्य आदि सब इसी आतुरता के वरदान हैं। जिस प्रकार विचार स्वभाव से ही अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है उसी प्रकार अवगति भी स्वभाव से ही अभिव्यक्ति में आत्मविस्तार खोजती है। इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अवगति के सत्य में सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। यह अभिव्यक्ति ही सुन्दरम् का स्वरूप है। समस्त साहित्य और कला इसी अभिव्यक्ति के बीज से उत्पन्न कल्पवन है।

इस अभिव्यक्ति में मनुष्य की चेतना अपना प्रकाशन करती है। उसकी अनुभूति आत्म-विस्तार खोजती है। अभिव्यक्ति के लिये आकुल अनुभूति में आमंत्रण का भाव उदित होता है। अनुभूति का अधिष्ठाता अपनी अनुभूति को बांटने और वितरित करने के लिये उत्सुक हो उठता है। यह विभाजन और वितरण अनुभूति को न्यून करने के स्थान पर उसे समृद्ध और सम्पन्न बनाता है। यह प्रकृति के विपरीत धर्म है। प्रकृति में विभाजन का फल न्यूनता है। अभिव्यक्ति दो चेतनाओं

का परस्पर सम्वाद है। इस सम्वाद में व्यक्तित्व के परिच्छेद की सीमायें विलीन हो जाती हैं। कदाचित् चेतना में यह परिच्छेद कृत्रिम और सापेक्ष ही है। अभिव्यक्ति में इस परिच्छेद की सीमाओं का विलय होता है और व्यक्तित्व का विस्तार होता है। परिच्छेद के स्थान पर इस आत्म-विस्तार में तादात्म्य का भाव उदित होता है। यह तादात्म्य भी प्रकृति के विपरीत चेतना का ही धर्म है। यह तादात्म्य ही प्रेम का बीज है। अभिव्यक्ति सुन्दरम् का मूल स्वरूप है। कदाचित् इसीलिए मनुष्य के इतिहास में सौन्दर्य और प्रेम प्रायः अभिन्न रहे हैं। इस अभिव्यक्ति में आनन्द भी है। आनन्द चेतना के आत्म-विस्तार का फल है। अभिव्यक्ति के आत्म-विस्तार में तादात्म्य रस का संचार करता है। इसीलिए रस और आनन्द समानार्थक समझे जाते हैं। आन्तरिक अनुभूति में जो रस है, पारस्परिक अभिव्यक्ति में वही आनन्द है।

इस आनन्द का आभास अवगति में भी होता है। किन्तु सभी अवगतियों में इसका रूप स्फुट नही होता। अवगति चेतना का ग्रहणात्मक धर्म है। इस अवगति में सामान्यतः चेतना की दृष्टि तटस्थ रहती है। सत्य के अनेक रूप इस ग्रहण के विषय हैं। विषय और विषयी इस अवगति में पृथक् रहते है। अवगति में चेतना विषयों का प्रकाशन करती है। आलोक चेतना का स्वरूप और अवगति का धर्म है। आलोक भी आह्लाद का लक्षण है इसीलिए हर्ष में हमारी आंखें चमक उठती है और चेहरा खिल उठता है। किन्तु सामान्यतः हमारी अवगति उदासीन और तटस्थ ही होती है। कुछ असाधारणता और नवीनता होने पर ही अवगति में आह्लाद का उदय होता है। यह स्थिति विशेषतः जीवन और सृष्टि के आरंभ में ही होती है। बालक के जीवन में नवीन वस्तुओं की अवगति नित्य नये आह्लाद का कारण बनती है। आगे चलकर जीवन में यह असाधा-रणता और नवीनता कम होती जाती है। अतः अवगति साधारण सत्यों का उदासीन ग्रहण बन जाती है। प्रौढ़ चेतना में सत्य का यही रूप है जिसे हम शिवम् और सुन्दरम् से पृथक् कर के समझ सकते है।

अध्यात्मवादी दार्शनिको के अनुसार हमारी साधारण अवगति में भी एक रचनात्मक तत्त्व है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रत्यक्ष की क्रिया को भी रचनात्मक मानता है। किन्तु अवगति की यह रचनात्मक क्रिया इतनी साधारण और सहज है कि हमें अवगति में इसकी अवगति भी नहीं होती। नवीनता और सृजनात्मकता से रहित होने पर अवगति सत्य का केवल उदासीन ग्रहण रह जाती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा कलात्मक रचनाओं में नवीनता और सृजन का रूप उदय होते ही अवगति में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और आह्लाद स्फुटित हो उठता है। जीवन के आरम्भ में बालक की अवगति में हम अवगति और अभिव्यक्ति, आलोक और आह्लाद तथा सत्यम् और सुन्दरम् की एकात्मकता देखते है। सृष्टि के आरम्भ में कुछ दर्शनों में हमें इसी भाव का संकेत मिलता है। अद्वैत वेदान्त मे भामतीकार ने चराचर विश्व को ब्रह्म का स्मित माना है। स्मित आह्लाद का लक्षण और उसकी अभिव्यक्ति है। शक्ति तंत्रों में शक्ति का विमर्श शिव की आत्मावगति तथा विश्व के उदय का आरम्भ है। इसीलिए विमर्श को अभिव्यक्ति भी मानते है। अवगति और अभिव्यक्ति की एकरूपता के कारण विमर्श की अवगति में अभिव्यक्ति

२

विक स्वरूप भी है। मोक्ष में मनुष्य इस स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु व्यवहार का जीवन परम सत्य के इस चिदानन्द स्वरूप के अनुभव से पूर्णत शून्य नहीं है। लोक जीवन में आन्तरिक सम्बन्धों के एकात्मभाव में हमें उसका आभास मिलता है। वस्तुत मोक्ष की अवस्था इसी आभास की पूर्णता है। जीवन्मुक्ति में मोक्ष और व्यवहार का पूर्ण समन्वय है। उपनिषदों में सामाजिक सम्बन्धों के एकात्मभाव में ब्रह्म की विवृति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। वेदान्त के सम्प्रदायों में सत्य के पारमार्थिक रूप को निरपेक्ष भाव में प्रतिष्ठित करने का आग्रह अधिक रहा है। अत चिदानन्द स्वरूप सत्य के सामाजिक रूप का महत्व अपेक्षित सा रहा। इसका कारण दर्शन में तर्क की प्रधानता है। तर्क सत्य को निरपेक्ष भाव में ही निरूपित करता है। पूर्ण स्वतन्त्र होने की दृष्टि से ब्रह्म पूर्णत निरपेक्ष है। किन्तु चिदानन्दमय होने के कारण वह अनुभवस्वरूप है। अत मनुष्य जीवन में ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। साधना और जीवन में इतना अन्तर नहीं है जितना नि प्राय मान लिया जाता है। साधना एक प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा है। किन्तु जिस प्रकार जीवन ही शिक्षा है इसी प्रकार जीवन की साधना का पूर्ण और सजीव रूप है। एकांत साधना में आध्यात्मिक साधना भी पूर्ण नहीं हो सकती है। जीवन्मुक्ति के व्यवहार में ही वह सफल और साकार होती है। साधना और समाधि में जिस सत्य का क्षणिक आभास मिलता है वह जीवन के तदनुरूप व्यवहार में एक स्थायी विभूति बन जाता है। अध्यात्म का यही जीवित सत्य है।

अध्यात्म के इस जीवित सत्य में कला और काव्य का भी वास्तविक रूप स्फुटित होता है। विज्ञानों और दर्शनों में उदासीन और मानव-निरपेक्ष मानकर सत्य का निरूपण होता है। एक ओर उसका कारण तर्क का तटस्थ भाव है, दूसरी ओर उसका कारण हमारे लौकिक व्यवहार और अनुभव की अहंकार-मूलकता है। इस अहंकार के अनिवार्य अनुषंग के कारण मानव सम्बन्ध का भाव अलक्षित रूप से विज्ञानों और दर्शनों में भी बना रहता है। मनोविज्ञान में व्यक्तित्व ही अध्ययन का विषय है? सामाजिक शास्त्रों में इसके सामाजिक रूप का विवेचन होता है। इस विवेचन में मनोविज्ञान का प्रभाव व्यक्ति के महत्व को बढ़ाकर समाज का महत्व कम कर देता है और अध्यात्मवादी दर्शनों का प्रभाव समाज के मूल्य को बढ़ाकर व्यक्ति का मूल्य कम कर देता है। समाज का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति ही जीवन और अनुभव का केन्द्र है। फिर भी अद्वैत वेदान्त, पश्चिमी अध्यात्मवाद और आधुनिक साम्यवाद में व्यक्ति के मूल्य का तिरस्कार करके एक सामान्य तत्व में उसका अध्याहार हो गया है। दर्शन और समाज शास्त्र में इस अनर्थ का मूल कारण व्यक्तित्व के सीमित और अहंकारमूलक रूप से उत्पन्न होने वाले अनर्थ हैं। लोक जीवन और इतिहास में इन अनर्थों के असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं।

यह अहंकार चेतना का एक केन्द्रित बिन्दु है, जिसमें प्रकृति अपने परिच्छेद का आरोपण करती है। किन्तु यह परिच्छेद ही अहंकार का सर्वस्व नहीं है। चिन्मूलक होने के कारण उसमें विस्तार का बीज भी सन्निहित है। जीवन के व्यवहार में प्राकृतिक उपकरणों की ही प्रधानता रहती है। अत सम्पत्ति, शासन आदि व्यवहार के स्वार्थमय रूपों में अहंकार का प्राकृतिक परिच्छेद ही साकार होता है। किन्तु जीवन के आन्तरिक और आत्मीय भावसम्बन्धों में अहंकार

के चिन्मय बीज का विस्तार सहज ही प्रकाशित होता है। दो चिद्बिन्दुओं के संगम में अध्यात्म की रेखा मानो अनन्त का संकेत करती है। साधना की अन्तर्मुखता में प्रकृति के जिन परिच्छेदों का विलय होने पर ही अनन्त सत्य विभासित होता है, आत्मीय सम्बन्धों की एकात्मता में वे ही परिच्छेद सीमित अहंकार के अवच्छेदक न रहकर उसके चिन्मय बीज के विस्तार के निमित्त बन जाते है। इस विस्तार में चिद्विभूति के आनन्द की समृद्धि होती है। यह समृद्धि पारमार्थिक चिदानन्द का ही आभास और सोपान है। भावसम्बन्धों के इस एकात्मभाव में अनुभूति की तन्मयता में समाधि की भांति ही प्राकृतिक परिच्छेदों का विलय हो जाता है। किन्तु वस्तुतः इस विलय का अभिप्राय प्रकृति के उपकरणों का विनाश अथवा तिरस्कार नही है। इसका तात्पर्य पारमार्थिक सत्य के चिदानन्द स्वरूप की स्वतन्त्र विभूति का संकेत करना है। जीवन्मुक्ति के मार्ग से जीवन में अन्वित होने पर अध्यात्म की अनुभूति प्रकृति के परिच्छेदों को अपनी विभूति के व्यवहार का निमित्त बनाती है।

माता के वात्सल्य, दम्पति के प्रेम और सखाओं के अनुराग में हमें इस आत्मीय भाव-सम्बन्ध के उदाहरण मिलते है। दम्पति की उपमा का उपयोग तो उपनिषदों में तथा भक्ति काव्य और रहस्यवादी काव्य में बहुत मिलता है। किन्तु वस्तुतः यह भावसम्बन्ध चिदानन्द की अनुभूति की उपमाएँ ही नही हैं, वे सामाजिक तादात्म्य में उसके साक्षात्कार के वास्तविक उदाहरण भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि लौकिक सम्बन्धों की एकात्मता में अपूर्णता की आशंका रहती है। प्रकृति का परिच्छेद बड़ा प्रबल और प्रभावशाली है। इन सम्बन्धों की तन्मयता में समाधि की भांति जिस अपरिच्छिन्न एकात्मकता का अनुभव होता है, वही परमार्थ सत्य का स्वरूपगत भाव है। जीवन और व्यवहार का सामान्य भाव बनकर यह कदाचित् भाव लोक की स्थायी विभूति बनता है। इसकी पूर्णता लोक जीवन में चाहे कितनी ही दुर्लभ हो किन्तु सत्य यह है कि यही भाव मानवीय जीवन में आनन्द का स्रोत और संस्कृति का आधार है। शैव धर्म और वेदान्त के मौलिक प्रभाव से भारतीय संस्कृति में इसी भाव की उदार प्रतिष्ठा हुई थी। आधुनिक सभ्यता में इसी भाव का उत्तरोत्तर अभाव होने के कारण जीवन नीरस और दुर्भर होता जा रहा है। आत्मीय सम्बन्ध और सामाजिक व्यवहार में इसी भाव की प्रतिष्ठा के द्वारा जीवन को सरस, सार्थक और आनन्दमय बनाया जा सकता है।

चिद्बिन्दुओं के समागम का यही भाव रस का स्रोत तथा कला और काव्य का मूल स्वरूप है। इसमें व्यक्तित्व की केन्द्रियता और उसके अहं भाव का विलय नही हो जाता। सामान्य और विशेष, व्यक्तित्व और व्यापकता आदि की समस्याएँ हमारे विचार की पहेलियां हैं, जिन्हें उत्पन्न करके विचार स्वयं नहीं सुलझा सकता। वास्तविक अनुभव में ये समस्याएँ उतनी ही सरल हैं जितनी कि विचार में वे जटिल हो जाती हैं। सामाजिक भावसम्बन्धों में हम इसका साक्षात् अनुभव करते है कि स्नेह और सद्भाव की विभूति में हमारे व्यक्तित्व और अहंकार एक अपूर्व समृद्धि प्राप्त करते हैं। इस एकात्मभाव में ही आनन्द का स्रोत और जीवन की पूर्णता है। बालक के जीवन में आरम्भ से ही माता के स्तन और स्नेह के द्वारा यह रस का स्रोत प्रवाहित होता है।

इस दृष्टि से यह एकात्म भावना क्रोचे की व्यक्तिगत सहानुभूति से भी पूर्वतर है। मनुष्य की यह मौलिक सांस्कृतिक भावना है। व्यक्तिगत कलानुभूति, विज्ञान, दर्शन, व्यापार आदि मे आक्रांत होकर यह मन्द हो जाती है। किन्तु अन्त में इस सब के संस्कारो को समाहित करके उसकी प्रतिष्ठा मनुष्य की आनन्दमयी संस्कृति का आधार बन सकती है। इसी प्रतिष्ठा के अभाव में आधुनिक सभ्यता आडम्बरपूर्ण तथा आधुनिक जीवन नीरस हो रहा है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी

कला

'कला' संस्कृत भाषा का शब्द है। भाषा विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि में 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है[1], पर संस्कृत पंडितों ने इसकी व्युत्पत्ति कई तरह से दी है। कुछ लोग 'कल' शब्द का अर्थ 'सुन्दर', 'कोमल', 'मधुर' या 'सुख लाने वाला'[2] मानकर 'कला' को उसके साथ संबद्ध करना चाहते हैं, तो कुछ इसे 'कल्' धातु (=शब्द करना, बजना, गिनना) से संबंधित मानते है। कुछ अन्य लोग इसे कड् धातु (=मदमस्त करना, प्रसन्न करना) से जोड़ने के पक्ष में हैं।[3] इसी प्रकार कुछ लोग इसे 'कं' अर्थात् 'आनन्द' का लानेवाला मानते है।[4]

संस्कृत साहित्य में 'कला' शब्द का प्रयोग लगभग बीस अर्थों में हुआ है, जिनमें अधिक प्रमुख $\frac{१}{१६}$वां भाग, कोई छोटा भाग, चंद्रमा का $\frac{१}{१६}$वां भाग, समय का एक भाग, मूल का व्याज (कोई अंश), राशि के ३०वें भाग का ६०वां भाग, किसी भी काम के करने में अपेक्षित चातुर्य, कपट तथा नौका आदि हैं। प्रस्तुत प्रसंग में किसी भी काम के करने में अपेक्षित चातुर्य अर्थ ही हमारे लिए सबसे निकट है। मैकडानेल तथा मोनियर विलियम्स के ऐतिहासिक सिद्धांतों पर बने कोषों से यह स्पष्ट है कि कला का यह अर्थ बहुत बाद का है। इसके पुराने प्रयोग ऋग्वेद[5], शतपथ ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सांख्यायन ब्राह्मण, तैत्तिरीयआरण्यक, तथा अथर्ववेद आदि में है, पर इन किन्ही में भी कार्यकौशल, शिल्प या हुनर आदि के अर्थ मे इसका प्रयोग नहीं है । इस अर्थ

---

१. मोनियर-विलियम्स ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत कोष (Sanskrit English Dictionary, Oxford, 1899) मे कला" की व्युत्पत्ति को संदिग्ध माना है। दे. उक्त कोष मे 'कला' शब्द।

२. कं (सुखम्) लाति इति कलम्। 'कल' और 'कला' शब्द का सान्निध्य है।—साहित्य-तरंग, सद्गुरुशरण अवस्थी, इलाहाबाद, १९५६ ई०, पृ० २।

३. अमरकोषः, सं० पं० शिवदत्त, बंबई, १९४४ ई० पृ० ७२ तथा ४३१।

४. कं आनन्दं लाति इति कला—समीक्षाशास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी, काशी, सं० २०१०, पृ० २०६।

५. कला शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ऋग्वेद में है। इसके ८वें मंडल में एक मंत्रांश है —

९ दशन-वसनागराग (दात, वस्त्र तथा शरीर के अगो को रगना या कलापूर्ण ढग मे सजाना)
१० मणि-भूमिका-क्म (ऋतु के अनुकूल घर सजाना)
११ शयन-रचना (विस्तर लगाना)
१२ उदकवाद्य (जलतरग बजाना)
१३ उदकघात (जल क्रीडा या पिचकारी चलाना)
१४ चित्रयोग (अवस्था परिवतन (वृद्ध को युवा) करना)
१५ माल्य-ग्रथ-विकल्प (माला गूथना)
१६ केशशेखरापीड-योजना (बालो में फूल गूथना या मुकुट बनाना)
१७ नेपथ्ययोग (देश-काल के अनुसार कपडे या गहने धारण करना)
१८ कर्ण पत्र-भग (पत्ते या फूल आदि से कर्णफूल बनाना)
१९ गधयुक्ति (सुगधित पदार्थ बनाना)
२० भूपण-भोजन (आभूपण पहनना)
२१ इद्रजाल
२२ कौचुमार योग (कुरूप को सुन्दर करना)
२३ हस्तलाघव (हाथ की फुर्ती)
२४ चित्रशब्दापूपभक्ष्य—विकार क्रिया (सूपकम)
२५ पानक-रस-रागासव-योजन (पेय बनाना)
२६ सूचीकर्म (सीना)
२७ सूनकर्म (वेल बूटे बनाना या रफू करना)
२८ प्रहेलिका (पहेली बूझना)
२९ प्रतिमाला (अत्याक्षरी की योग्यता रखना)
३० दुर्वाचयोग (कठिन पदो या शब्दो का अथ निकालना)
३१ पुस्तक वाचन (ठीक ढग से पुस्तक पढना)
३२ नाटिकाख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना, उसका रसास्वादन करना)
३३ काव्य-समस्यापूर्ति
३४ पट्टिका-वेत्र-वाण विकल्प (नेवाड या बेंत आदि से चारपाई बुनना)
३५ तुककर्म (चर्खा या तकली से सूत कातना)
३६ तक्षण (बढई या सगतराश का काम)
३७ वास्तुविद्या
३८ रौप्य-रत्नपरीक्षा (धातु तथा रत्न पहचानना)
३९ धातुवाद (कच्ची धातु को स्वस्थ करना या मिली धातु को अलग-अलग करना)
४० मणिरागज्ञान (रत्नों के रग जानना)
४१ आकर ज्ञान (खानो की विद्या)

४२. वृक्षायुर्वेद योग (उपवन लगाने की कला)
४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि (इन्हें लड़ाने की कला)
४४. शुक-सारिका-प्रलापन (तोते मैने को पढ़ाना)
४५. उत्सादन (मालिश करना या हाथ पैर आदि दबाना)
४६. केशमार्जन कौशल (बालों को साफ रखना)
४७. अक्षर-मुष्टिका-कथन (करपलई)
४८. म्लेच्छित-कला-विकल्प (विदेशी भाषा समझना)
४९. देश भाषा ज्ञान (देशी बोलियों को समझना)
५०. पुष्प-शकतिका-निमित्त-ज्ञान (प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर भविष्यवाणी करना)
५१. यंत्र-मातृका (यंत्र निर्माण)
५२. धारण-मातृका (स्मरणशक्ति बढ़ाना)
५३. सम्पाठ्य (दूसरों को कुछ पढ़ते सुनकर उसी प्रकार दुहरा देना)
५४. मानसी काव्य क्रिया (आशुकवि होना)
५५. क्रिया विकल्प (किसी वस्तु की क्रिया के प्रभाव को पलटना)
५६. छलिक योग (ऐयारी करना)
५७. अभिधानकोष, छन्दों ज्ञान (शब्द और छंदों का ज्ञान रखना)
५८. वस्त्रगोपन (फटे वस्त्रों को इस प्रकार पहनना कि फटा अंश दिखाई न पड़े)
५९. द्यूत
६०. आकर्षण-क्रीड़ा (खींचने-फेंकने वाले सारे खेल)
६१. बालक्रीड़ा कर्म (लड़का खिलाना)
६२. वैनायिकी विद्या ज्ञान (विनय तथा शिष्टाचार)
६३. वैजयिकी विद्या ज्ञान (दूसरों पर विजय पाना)
६४. व्यायामिकी विद्याज्ञान (व्यायामकला)

इसी प्रकार कुछ जैन ग्रंथों में ६४ या कहीं-कही ७२ कलाओं के नाम दिये गये हैं। प्रबंध-कोष में भी कलाएँ ७२ दी गयी हैं। ललित विस्तार में पुरुषकला के रूप में ८६ नाम गिनाये गये, है यद्यपि कामकला के रूप में ६४ नाम भी हैं। प्रसिद्ध कश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र ने कलाओं पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम 'कला विलास' है। अगर किसी भारतीय ग्रंथ में सबसे अधिक कलाएँ दी गयी हैं तो इसी में। इसमें ६४ तो जनोपयोगी कलाएँ दी गयी हैं, जिनमें ३२ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष अर्थात् चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की और ३२ मात्सर्य–शील-प्रभाव-मान की हैं। इनके अतिरिक्त ६४ कलाएँ सोनारों की सोना चुराने की, ६४ कलाएँ वेश्या की मोहित करके पैसा ऐंठने आदि की, १० भेषज कलाएँ, १६ कायस्थों की कलाएँ, जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात प्रमुख है, तथा गणकों की कलाओं एवं सौ सार-कलाओं की चर्चा है।

इन सारी चीजो पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हुए विना नहीं रहता कि हमारे यहा कला उन सारी जानकारियो या क्रियाओ को कहते रहे ह जिनमें थोडी भी चतुराई की आवश्यकता हो। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि हमारे यहा कला में सामान्यत उपयोगी और ललित दोनो कलाएँ आती रही है। पर ललित कला को लेकर थोडा विवाद है। ललित कला में वास्तु, मूर्ति, चित्र, सगीत और काव्य ये पाच कलाएँ रखी जाती है। भारतीय ग्रथो में दी गयी सूचियो में वास्तु, मूर्ति, चित्र और सगीत का स्थान तो है पर इसमें काव्य का भी स्थान है ? इस प्रश्न को लेकर विद्वानो ने प्राय यह कहा है कि भारतीय दृष्टि से काव्य का कला में स्थान नही है। इस दृष्टि मे उल्लेख्य नाम शुक्ल जी[१], प्रसाद जी[२], वाजपेयी जी[३], मिश्र जी[४], तथा गुलाबराय[५] आदि के है। इन लोगो के अनुसार भारतीय दृष्टि मे विद्या और उपविद्या ज्ञान के दो अलग क्षेत्र ह। इनमें काव्य का स्थान

---

१ शुक्ल जी कहते हैं —

'सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है । 　　हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गयी है ।' चिंतामणि, भाग २, काशी, २०१०, पृ० १८०

२ प्रसाद जी कहते हैं —

इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु हैं । काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, इलाहाबाद, २००१, पृ० १२ ।

३ नन्ददुलारे जी कहते हैं —

कला शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है । यहा कला केवल छद रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई है, इसीलिए काव्य नहीं, समस्यापूर्ति की गणना कला में की गयी। वही, प्राक्कथन, पृ० १६

४ रामदहिन मिश्र कहते हैं —

काव्य और कला दो भिन्न वस्तुएँ है ।

प्राचीन काल में काव्य की कला में गणना होने का कारण अनुठापन था । 　समस्या पूर्ति भी एक प्रकार का काव्य कौशल ही था, जिससे यह भी कलाओ में पैठ गयी । साराश यह कि सहृदयों के मनोविनोदार्थ जो कवि का रचना-कौशल था, वह कलाओ में गिन लिया गया । इस प्रकार काव्य-कला नहीं हो सकता ।

—काव्य दर्पण, पटना, १९५१, पृ० २७ (काव्यशास्त्र की भूमिका)

५ वास्तव में काव्य हमारे यहा कलाओ के अतर्गत नहीं है । (सिद्धात और अध्ययन, पृ० ५८-९) ।

विद्या में है, जबकि कला का उपविद्या में। इस प्रकार दोनों दो भिन्न वर्गो के अंतर्गत आती है। इन लोगों का यह भी कहना है कि कलाओं की विभिन्न सूचियों में जो 'काव्य-व्याकरण' 'काव्य-व्याकरण विधि' काव्य-समस्यापूरण', 'क्रिया कल्प', 'काव्य', या 'अलंकार' आदि के नाम आये है, वे तत्वतः काव्य से संबद्ध न होकर उक्ति, चमत्कार, अनूठापन, आदि से संबद्ध है। इस प्रकार की पद्य रचना का उद्देश्य केवल मनोविनोद है, रस-निष्पत्ति नही जो कि काव्य का लक्ष्य है।

इन आधुनिक विद्वानों के मतों के अतिरिक्त प्राचीन लोगों के मतों से भी इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते है। भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोकांश——

साहित्य संगीत कला विहीनः

में साहित्य का कला से अलग उल्लेख इसी बात की ओर संकेत करता है। भामह[1] और दण्डी[2] में भी इसके संकेत हैं।

मैं व्यक्तिगत रूप से कला में काव्य के स्थान न होने की बात को 'भारतीय पद्धति' या 'भारतीय दृष्टिकोण' नाम देना उचित नहीं समझता। भारत में कुछ लोगों का यह दृष्टिकोण था, पर साथ ही यह मानने के लिए भी आधार हैं कि भारतीय दृष्टि से भी काव्य कलाओं के अंतर्गत है। और कुछ लोग कदाचित् इसे भी मानते थे।

इस संबंध में पहली बात तो मुझे यह कहनी है कि उपर्युक्त विद्वानों के अनुसार चित्र और संगीत का स्थान कला में है। भारतीय ग्रंथों में प्राप्त विभिन्न सूचियों में इन दोनों को सम्मिलित किया गया है। यदि यह ठीक है तो भारतीय दृष्टि से ही चित्र-संगीत कला और काव्य में कोई मौलिक अंतर नहीं है। काव्य की आत्मा रस है। ७वीं सदी में लिखे गये ग्रंथ 'विष्णु धर्मोत्तर' मे काव्य तथा संगीत चित्र आदि का एक ही दृष्टिकोण से वर्णन हुआ है। इसमें काव्य की भांति ही संगीत के स्वरों और चित्र के रंगों से रसों का संबंध स्थापित किया गया है। साथ ही शास्त्रीय संगीतज्ञों में यह बात सामान्यतः प्रचलित है और ठीक भी है कि संगीत से रसों की निष्पत्ति हो सकती है। यह अवश्य है कि काव्य जितनी सफल अभिव्याक्ति नहीं हो सकती, पर यह तो मात्र का भेद हुआ, मौलिक नहीं। अतएव भारतीय दृष्टि से इन तीनों (चित्र, संगीत, काव्य) की आत्मा एक है, फिर दो को कला मानने और एक को न मानने का प्रश्न ही नही उठता।

दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि इन विद्वानों के अनुसार कलाओं की विभिन्न सूचियों में जो 'काव्य-व्याकरण' 'काव्य-व्याकरण-विधि, 'काव्य-समस्यापूरण' 'क्रियाकल्प' या 'काव्य' आदि नाम आये हैं, वे तत्वतः शब्द से संवंद्ध न होकर उक्ति-चमत्कार, तथा अनूठेपन आदि से संवंद्ध हैं। इसका अर्थ यह है कि इनका मात्रध्येय मनोविनोद है, रस-निष्पत्ति नहीं। यहां एक प्रश्न यह उठता है कि जहाँ सूचियों में केवल 'काव्य' शब्द आया है, वहां यह मानने के लिए क्या आधार

---

१. वैचक्षण्यं कलासु च (काव्यालंकार १. २)।

२. नृत्यगीत प्रभृतयः कलाः कामार्थ संश्रयाः (काव्यादर्श ३. १६२)।

है कि वहा काव्य का अर्थ शुद्ध काव्य या रसकाव्य न होकर चमत्कारकाव्य है। इसमें दो राय नही हो सकती कि कौशल की दृष्टि से चमत्कार काव्य का प्रयोग इस रूप में कलाओं के साथ अधिक होता रहा होगा पर शुद्ध काव्य या रस काव्य का इसमें कोई स्थान न रहा होगा, यह बात भी समझ में नही आती।

इन दोनो आधारो पर यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य शुक्ल तथा प्रसाद जी आदि द्वारा कही गयी बातें अधिक से अधिक किसी एक वर्ग की कही जा सकती है। कलाओ की विभिन्न सूचिया[2] एव कला तथा काव्य सबधी प्राचीन भारतीय साहित्य पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय दृष्टि से भी कला में यदि काव्य को स्थान दे दिया जाय तो सैद्धातिक विरोध जैसी कोई चीज नही आती,[3] जैसा कि प्राय हिन्दी के विद्वानो का ख्याल है। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से सामान्य अर्थ में तो कला किसी भी कार्य-विषयक कौशल है पर विशिष्ट अर्थ में वह वही है जैसा कि आजकल (ललित और उपयोगी) प्राय समझा जाता है।[4]

कला का यूरोपीय दृष्टिकोण भी यही है। वहाँ कला के लिए प्रचलित शब्द 'आर्ट' का सबध पुरानी फ्रेंच आर्ट और लैटिन आर्टेम या आर्स से जोडा जाता है। इसके मूल में अर् (Ar) धातु

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कलाओ के सम्बन्ध में लिखते हुए लिखते है—"ऐसा लगता है कि ६४ की सख्या के अदर प्राचीन अनुभूति में साधारणत वे ही कलाएँ रही होगी जो वात्सायन की सूची में है। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद, तथा रसानुभूति" (साहित्य और कला (गाजियाबाद, प्रथम सस्करण में सगृहीत 'काव्यकला' शीर्षक निबन्ध, पृ० २६-७) यहाँ 'रसानुभूति' शब्द ध्यान देने योग्य है। इसका आशय यह है कि द्विवेदी जी की दृष्टि में भी ६४ कलाओ में का 'काव्य' दोनो प्रकार का होता था-विनोद करने वाला तथा रसानुभूति करानेवाला।)

इसी प्रसग में वे आगे भी कहते है—"इस प्रकार सहृदय के चित्त जो कविता तन्मय कर सके, वह अवश्य ही वात्सायन की स्त्री प्रसादिनी और वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुत जिन दिनों काव्य को कला कहा गया था, उन दिनो उसके इन्हीं दो गुणो का प्रधान लक्ष्य किया गया था (१) उक्ति वैचित्र्य और (२) सहृदय-हृदय-रजन।' (वही पृ० ३४)। यहाँ भी 'सहृदय के चित्त जो कविता तन्मय कर सके' तथा 'सहृदय-हृदय रजन' ध्यान देने योग्य है।

२ क्षेमेन्द्र के 'कला विलास' को छोडकर और जितनी भी कलाओं की सूचियाँ प्राचीन भारतीय साहित्य में मिली है, सभी में काव्य को किसी न किसी रूप में स्थान मिला है।

३ 'कला के दोषो के उदाहरण में रस के ही दोषो को बतला कर दण्डी ने भी कला और काव्य के सबध की एक अव्यक्त स्वीकृति दी है। सिद्धात और अध्ययन, गुलाबराय, दिल्ली, १९५५, पृ० ५८।

४ भवभूति रचित उत्तररामचरित नाटक के प्रथम श्लोक—

है जिसका अर्थ बनाना, पैदा करना या फिट करना होता है। संस्कृत धातु ईर् (जाना, फेंकना डालना, काम में लाना) भी इस अर् से संबद्ध मानी जाती है। लैटिन में 'आर्स' का वही अर्थ था जो संस्कृत में 'कला' या 'शिल्प' का सामान्य अर्थ था, अर्थात् शारीरिक या मानसिक कौशल जिसका प्रयोग किसी कृत्रिम निर्माण में किया जाय। यहाँ तीन बातें ध्यान देने की है। एक तो यह कि कला प्राकृतिक कर्तृत्व में नहीं कृत्रिम में है, इस रूप में यह प्रकृति-विरोधी (as opposed to nature) है। और दूसरे यह कि यह विज्ञान से भिन्न है। विज्ञान में ज्ञान का प्राधान्य है और कला में करने का या कर्तृत्व का। तीसरी बात यह कि केवल वही क्रिया जिसमे कौशल लगे कला है। इसका अर्थ यह कि कौशल विहीन क्रिया या भोंड़े ढंग से करने में कला नही है।

अंग्रेजी में कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम १३वी सदी के प्रथम चरण में हुआ है पर वहाँ इसका अर्थ शुद्ध 'कौशल' मात्र है। लगभग ४०० वर्ष बाद १७वी सदी में कला का वहां वास्तु, मूर्ति, चित्र काव्य, संगीत, नृत्य तथा भाषण आदि के लिए भी प्रयोग होने लगा।

यों तो किसी भी वस्तु या शब्द को परिभाषा में बांधना कठिन है पर कला को इस दृष्टि से विद्वानों ने सबसे कठिन माना है[1] इस कठिनाई के बावजूद भी जिसने भी इस विषय पर लेखनी उठाई है, प्रायः सभी ने ज्ञात या अज्ञात रूप से इसकी परिभाषा दी है। पर एक विशेषण इन सभी परिभाषाओं में है। दी है सबने 'कला' की परिभाषा पर हो गयी है वह'ललित कला' की। यह कमी या अच्छाई निरपवादरूप से प्रायः सभी परिभाषाओं में है। यहां कुछ परिभाषाएँ देखी जा सकती है। प्लेटो कला को सत्य की अनुकृति की अनुकृति मानते है।[2] अरस्तू उसे अनुकरण कहते है[3] क्रोचे के लिए कला बाह्य प्रभाव (impression) की अभिव्यक्ति (expression) है।[4] हीगल के लिये वह आधिभौतिकसत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है।[5] टालस्टाय के लिए अपने में वह भावों को क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि, या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि उसे देखने

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्

से भी इसी बात का संकेत मिलता है।

१. Although this is a universal human activity, art is one of the hardest things in the world to define. आक्सफोर्ड जुनियर इनसाइक्लोपीडिया, लंदन, १९५४, भाग १२, पृ० २४।

२. द मेकिंग ऑव् लिटरेचर, स्काट जेम्स, लंदन, १९३६, पृ० ३७–४६।

३. अरस्तू का काव्य शास्त्र, श्री नगेन्द्र, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ६।

४. Aesthtic, Croce, London, 1953. १९५३, पृ० १३।

५. आलोचना, ९, पृ० १३८।

या सुनने वाले में भी वही भाव जग जायें कला है[1] टैगोर के अनुसार कला में मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है, रस्किन के अनुसार प्रत्येक महान् कला ईश्वरीयकृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है, गोथे के अनुसार किसी भी कला की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करे तथा फ्रायड के अनुसार कला दमित-वासनाओ का उभरा हुआ रूप है।[2] संस्कृत लेखकों के मत उल्लेख्य हैं। क्षेमराज ने शिव-सूत्र-विमर्शिनी कला के संबंध में 'कलयति स्व स्वरूपा वेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापार लिखा है। इस पर टिप्पणी है' कलयति स्वरूप आवेशयति वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।' प्रसाद जी इसका अनुवाद करते हैं—'नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमिति रूप में प्रकट करती है इसी क्रम का नाम कला है।' भोजराज अपने तत्त्वप्रकाश में कहते हैं—'व्यजयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा'। इसी पर आधारित प्रसाद जी का भी मत है। ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का संकुचित रूप जो हमको बोध के लिए मिलता है, वही कला है।[3] गुप्त जी अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को कला मानते हैं[5]। जैनेन्द्रकुमार के शब्दो मे कला शब्द मनुष्य ने बनाया इसलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्य को प्रकट करना चाहता था।[6]

इस प्रकार के सैकड़ों मत विश्व साहित्य मे व्यक्त किये गये है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है इन परिभाषाओं में प्राय सभी ललित कला की ओर अधिक उन्मुख है कला की ओर नही। तत्त्वत अपने व्यापकतम रूप में 'कला' मानव की कर्तृत्व शक्ति का किसी भी मानसिक तथा शारीरिक उपयोगी या आनन्ददायी या दोनो से युक्त वस्तु के निर्माण के लिए किया गया कौशलयुक्त प्रयोग है। इसीलिए हमारी सामान्य से सामान्य क्रिया भी किसी अंश तक कला की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार कला का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उसके अनंत और असंख्य भेद या रूप हो सकते है। खाने, चलने, बात करने, चोरी करने और झूठ बोलने की कला से लेकर चित्र, संगीत और काव्यकला तक। यह तो रहा इसका व्यापक रूप। संकीर्ण, सीमित या संकुचित दृष्टि मे 'कला' शब्द का प्रयोग केवल ललित कला के लिए भी होता है। आलोचना, साहित्य, या सौंदर्य शास्त्र के प्रसंग में प्राय 'कला' शब्द का प्रयोग इसी संकुचित अर्थ में होता है। दार्शनिकों, कवियो तथा आलोचको ने इसीलिए कला की परिभाषा देते समय अपना ध्यान प्राय इस सीमित अर्थ पर ही केन्द्रित रखा है। इस दृष्टि से 'कला' शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्य-

१ What is art, Tolstoy London, 1946 १९४६, पृ० १२३।

२ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, गोविंद त्रिगुणायत, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ० ३४-३८।

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद, प्रयाग, २००१, पृ० १५।

४ वही।

५ साकेत, सर्ग ५।

६ साहित्य का श्रेय और प्रेय, जैनेंद्रकुमार, दिल्ली, १९५३, पृ० ३४।

मयी अभिव्यक्ति है।' इस सीमित अर्थ में प्रयुक्त 'कला' शब्द का ही विशेष महत्व है। इसें लेकर पहला प्रश्न उठता है कि कला क्या है ? इस संबंध मे अधिकतर विद्वान् एकमत हैं। उनके अनुसार कला अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कहां होती है, इस बात को लेकर थोड़ा सा मतभेद अवश्य है। क्रोचे के अनुसार यह अभिव्यक्ति बाहर न होकर मनुष्य के मन में ही होती है। इसीलिए बाहर दिखाई पड़ने वाली वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य आदि कलाओं को वह यथार्थ कला की प्रतिकृति मात्र मानता है। अन्य विद्वान् कला के इस बाह्य मूर्त रूप को ही कला अर्थात् अभिव्यक्ति मानते है। वस्तुतः यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। कला की एक अमूर्त अभिव्यक्ति मानस में होती है और इसमें भी संदेह नही कि रंग, स्वर, शब्द आदि द्वारा अभिव्यक्त कला जिसका रसास्वादन दूसरे भी कर पाते हैं, उसकी प्रतिकृति ही है। पर प्रत्यक्षतः या व्यवहारतः यह तथाकथित प्रतिकृति ही सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ है अतएव तात्त्विक दृष्टि से आन्तरिक अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए भी बाह्य अभिव्यक्ति को क्रोचे की भांति महत्व न देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका आशय यह है कि ये दोनों ही अभिव्यक्तियाँ कला है। तात्विक दृष्टि से पहली और व्यावहारिक दृष्टि से दूसरी। इसका उत्तर पाते ही प्रश्न उठता है कि अभिव्यक्ति किसकी होती है। स्पष्ट ही अनुभूतियों के कारण उठे भावों की होती है ? भावों को उठाने में दो का योग है। एक तो बाह्य जगत् के रूप संस्कार का जिनके आधार पर भाव उठेंगे, दूसरे प्रतिभा जिसके कारण रूप संस्कार भावों को जगाने में समर्थ होंगे। इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही लोगों ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति या सत्य की अभिव्यक्ति भी कहा है।

कला को लेकर तीसरा प्रश्न है ? अभिव्यक्ति किसलिए होगी ? दूसरे शब्दों में कला का लक्ष्य या प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न के प्रसंग में अनेक प्रकार के उत्तर दिये गये है। कोई अपने को प्रकट कर देना ही ध्येय मानता है तो कोई अनुकरण करना। इसी प्रकार कोई कलार्थ[1], कोई विरेचनार्थ[2], कोई जीवनार्थ[3], कोई प्रचारार्थ[4], कोई यशार्थ, कोई सेवार्थ, कोई आनन्दार्थ,

---

१. 'कला कला के लिए' आंदोलन जर्मनी से आरंभ होकर फ्रांस मे होता इंग्लैंड, अमेरिका आदि में फैल गया। इसके प्रमुख समर्थक फ्लबर्ट, गातियर, गानकोर्ट, बुदालियर, वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड तथा पो आदि हैं। दे० A History of Esthetics, Gilbert & Kuhn, London, 1556 पृ० ४८५—५०१।

२. अरस्तू।

३. रस्किन, टालस्टाय।

४. कुछ अंशों में नाजी तथा रूसी दृष्टिकोण। दे० Art and Social Life—G. V. Plekhanov के १—६ अध्याय।

यों तो यह दृष्टिकोण सभी स्थान पर कुछ वर्ग के लोगों में मिलता है पर कभी रूस में तथा कभी जर्मनी में भी इसे प्राधान्य दिया गया था। दे० Art and Social Life, G. V. Plekhanov, Bombay, 1953 के अध्याय १—६ तथा ८।

और कोई विनोदार्थ। इसी प्रकार के और भी 'अर्थ' हैं या चुने जा सकते हैं। पर यदि प्राचीन काल से आजतक की संसार की सारी कलाकृतियों पर दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि इनमें कोई भी ऐसा 'अर्थ' नहीं है जिसके आधार पर किसी न किसी कलाकृति की रचना न हुई हो। इसका अर्थ है कि यदि शुद्ध सैद्धांतिक बात छोड़ दी जाय तो व्यावहारिक दृष्टि से इनमें से किसी भी एक या एक से अधिक के लिए कला की रचना हो सकती है और होती रही है। ये बातें कलाकार के युग, उसके व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थिति आदि पर निर्भर करती हैं। इसको लेकर पश्चिम में झगड़ा रहा है और उसके अनुकरण पर आज भारत में भी है। पर अपने यहाँ प्राचीन काल से प्रायः इन सभी बातों का समन्वय मिलता है। काव्यप्रकाशकार का प्रसिद्ध श्लोक —

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

प्रमाण है जिसमें यश, धन, व्यवहार, विश्वकल्याण, आनन्द तथा उपदेश को काव्य का प्रयोजन माना गया है। स्वस्थ दृष्टिकोण स्वरूप यही कहना उचित है कि जिन दो वादों (कला कला के लिए, कला जीवन के लिए) को लेकर अधिक विवाद रहा है उन दोनों का समन्वय आवश्यक है। एक के बिना कला में सौंदर्य की कमी होगी और दूसरे के बिना शिवत्व की। और कला अपनी सीमित अर्थ (ललित कला) में जैसा कि कहा जा चुका है शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति ही है।

कला पर विचार करते समय कला के विभाजन या कलाओं के वर्गीकरण का भी प्रश्न उठता है। इस प्रश्न को लेकर विचारकों के दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय के लोग कला को अविभाज्य मानते हैं। इनके अनुसार कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार के चिंतकों में प्रमुख नाम इटली के प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे का लिया जा सकता है। क्रोचे तात्त्विक दृष्टि से 'कला के विभाजन' या 'कलाओं' के रूप में उनके वर्गीकरण को असंगत तथा बेहूदगी (absurdity) मानते हैं। वे तो आवेश में यहाँ तक कहते हैं कि कलाओं के वर्गीकरण से संबद्ध संसार की सारी पुस्तकों को यदि जला दिया जाय तो कोई हानि न होगी।[1] इस सम्प्रदाय के अन्य लोगों में डी० डब्ल्यू० प्राल का नाम लिया जा सकता है। ठीक इस रूप में तो नहीं पर उपयोगी और ललित

---

१ any attempt at an aesthetic classification of the art is absurd If they be without limits, they are not exactly determinable, and consequently cannot philosophically classified All the Books dealing with classifications and systems of the arts could be burned without any loss whatever B Croce, Aesthetic, London, 1953, पृ० ११४।

२ any classification fails in the end for the simple reason that beauties are not things and therfore do not fall into classification of

कला को लेकर महादेवीजी ने भी कला के क्षेत्र में इस अत्यधिक प्रचलित वर्गीकरण को वैज्ञानिक नही माना है।[1]

दूसरे संप्रदाय के लोगों का कलाओं के वर्गीकरण में विश्वास है, क्योंकि उन्होंने विभाजन किया है। इस दृष्टि से विशेष कार्य यूरोप में ही हुआ है पर उस पर आने के पूर्व भारतीय दृष्टि-कोण का सिंहावलोकन भी अप्रासंगिक न होगा। भारत में किसी भी विषय को लेकर उसके वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण विभाजन तथा वर्गीकरण के आधार पर भेदोपभेद करने की प्रवृत्ति कितनी अधिक रही है कहने की आवश्यकता नही। भारतीय अलंकार शास्त्र, छंदशास्त्र, व्याकरण तथा दर्शन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वर्गीकरण तथा भेदोपभेद करने के क्षेत्र में भारत का मुकाबिला किसी अन्य राष्ट्र से नही। ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि कला के क्षेत्र में भी भारतीय मनीषा अपनी प्रचलित परंपरा के अनुसार इस दिशा में सोचती-समझती और कुछ करती। पर इस प्रकार के किसी ठोस और दो-टूक वर्गीकरण के उल्लेख हमें भारतीय साहित्य में मिलते नही। प्रसाद जी तथा कुछ अन्य लोगों ने संकेत किये है कि अपने यहाँ 'विद्या' और 'उपविद्या' का अलग क्षेत्र था। विद्या हृदय के समीप थी, उसमें कला का स्थान था। उप-विद्याएँ विज्ञान के समीप थी। कलाओ का स्थान उपविद्याओं में ही था।[2] क्योकि इनमें हृदय पक्ष प्रबल न होकर बुद्धि पक्ष प्रबल होता है। दूसरे शब्दों में इनमें कौशल का प्राधान्य रहता है। कला का यह भी एक प्रकार का वर्गीकरण ही हुआ।[3] यद्यपि, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इसकी नीव सुध्यात आधार पर नहीं खड़ी है। भारतीय दृष्टिकोण से भी चित्र और संगीत आदि कलाओं की आत्मा काव्य की ही भाँति 'रस' है। और उस आत्मा के अतिरिक्त यदि कौशल की अपेक्षा मूर्ति, चित्र आदि के लिए है तो काव्य के लिए भी है। इस प्रकार विद्या है तो दोनों (काव्य तथा अन्य कलाएँ) और उपविद्या है तो दोनों। इस प्रसंग में एक बात और ज्ञातव्य है। विज्ञान और कला दोनों के पूरक है। हर कला के लिए विज्ञान की और विज्ञान को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए कला की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में उपविद्या विद्या को लेकर केवल आधिक्य का ही प्रश्न उठ सकता है और उस आधिक्य की दृष्टि से भी तथाकथित विद्या 'काव्य' और तथाकथित उपविद्या संगीत, चित्र आदि में विशेष अंतर नही है।

---

things.—D. W. Prall, Aesthetic judgment, New York, दूसरा संस्करण, पृ० १९३।

१. उपयोग की कला और सौंदर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद संभव होते रहे, परंतु ये भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, प्रयाग, १९४४, पृ० ९।

२. काव्य मीमांसा मे भी यह मत है।

३. आज की दृष्टि से ललित कलाओं मे जिन पांच कलाओं का स्थान है उनमे विद्या-उपविद्या वाले सिद्धांत के अनुसार 'काव्य' विद्या मे है तथा शेष ४ उपविद्या मे।

कुछ लोग कभी-कभी भारत में ६४ कलाओ के नाम के आधार पर यह सोचते हैं कि भारत में कला के ६४ वर्ग या भेद किये गये हैं। वस्तुत इस प्रकार की धारणा नितात भ्रामक है।[1] पीछे सूची दी गयी है। उस पर एक दृष्टि दौडाने से स्पष्ट हो जाता है कि वह वर्गीकरण न होकर परिगणन है। और इस प्रकार की परिगणना करनी हो तो कई हजार नाम गिनाये जा सकते हैं। अपने यहाँ भी कलाओ की गणना में केवल ६४ ही नही वरन् १६, ३२, ८४, ८६, १०० आदि कई सख्याओ के उल्लेख मिलते हैं।[2] तदनुरूप सूचियाँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। यदि इन सभी को जोड दिया जाय तो इनकी सख्या कई सौ होगी।

वेदों के साथ ४ उपवेदो का उल्लेख मिलता है। इनमें कला के क्षेत्र मे आने वाले केवल दो ही हैं। एक तो है अथववेद का उपवेद 'स्थापत्यवेद' और दूसरा सामवेद का उपवेद गाधववेद। इनमें स्थापत्य पर 'मानसार' नामक ग्रथ प्रसिद्ध है तथा सगीत पर सारगदेव का 'सगीत-रत्नाकर,' दामोदर का 'सगीत दपण' और शुभकर का 'सगीत दामोदर'। इस तथ्य से प्रत्यक्षत तो कला के वर्गीकरण पर कोई प्रकाश नही पडता पर भारत में प्रचलित और प्रसिद्ध कई सौ कलाओं में केवल इन दो को वेदो से सबद्ध मानने मे यह आशय निकाला जा सकता है कि अपने यहाँ इन दो को कदाचित् प्राचीनता, उपयोगिता और लालित्य के आधार पर बहुत पहले से अधिक महत्व दिया गया है। इस आधार पर इन्हें प्रमुख कलाओ के रूप में मानना अन्यथा न होगा। शेष कलाएँ, इनकी तुलना में गौण या अप्रमुख ठहरती हैं।

मोनियर विलियम्स ने अपने सस्कृत कोष में भारतीय दृष्टिकोण से कला के दो भेदो[3] का सकेत किया है—

१ वाह्यकला (External or practical art) जैसे वढईगिरी, सोनारी, वास्तुकला इत्यादि।

२ आभ्यतर कला (Secret art) जैसे चुबन, आलिगन आदि।

यह कहना कठिन है कि विद्वान् लेखक ने किस आधार पर या किस भारतीय आचार्य के अनुसार ये भेद दिये हैं, क्योकि उसने सकेत नही किया है। इस वर्गीकरण के आधार पर दो ही बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि भारतीय दृष्टि से कला अनन है, तभी तो चुबन और आलिगन को भी कला माना गया है और इस दृष्टि से न केवल हर निर्माण अपितु जीवन के छोटे से छोटे और बडे से बडे हर व्यापार के ढग को कला कहा जा सकता है। दूसरे यह कि, इस वर्गी-

---

१ इसी आधार पर कुछ लोगो ने यहाँ तक अनुमान लगाया है कि प्राचीन भारत में इन ६४ कलाओ या शिल्पो का विस्तृत विवेचन करने वाली ६४ स्वतत्र पुस्तकें भी थीं। दे० Indian Wisdom, M Williams, London, 1893, पृ० १८५।

२ इस विषय में पीछे कुछ विस्तार से सूचना दी जा चुकी है।

३ Sanskrit English Dictionary, पृ० १०७३

करण का आधार कदाचित् कला का गोपनीय और अगोपनीय होना है। वस्तुतः यह कोई आधार नही है और न इस प्रकार के आधारों पर किये गये वर्गीकरण का कोई महत्त्व ही है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में मिलने वाले ये संकेत वास्तव में वर्गीकरण नहीं है। लगता है कि अपने यहाँ कलाओं का समय, पात्र और आवश्यकता के अनुसार गणना तो अवश्य की गयी पर वर्गीकरण नही किया गया। संभव है कलाओं का तात्विक वर्गीकरण असंभव मानकर उसे छोड़ दिया गया हो। वर्गीकरण की ओर उनका ध्यान न गया हो, यह बात गले से नहीं उतरती।

अब कलाओं के वर्गीकरण के संबध में यूरोपीय मत विचारणीय है। यूरोपीय साहित्य इस दृष्टि से बहुत भरापूरा है। स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कला का वर्गीकरण करने वालों या इस ओर संकेत करने वाले विचारकों की संख्या वहाँ ४० से ऊपर है, जिनमें प्रमुख रूप से उल्लेख्य नाम अरस्तू, कांट, हीगेल, गुर्ने, स्पेन्सर, ब्राउन, लैंग, ग्रास, लेस्सिंग, शैस्लर, हार्टमैन तथा बाल्ड-विन आदि के है। 'किस प्रकार यूरोप में कलाओं के वर्गीकरण का प्रयास प्रारंभ हुआ और कैसे कैसे लोग प्राचीन वर्गीकरणों को अमान्य ठहराते हुए नये दृष्टिकोण से नए वर्गीकरण देते गये', यह अपने आपमें एक स्वतंत्र लेख का विषय है। यहाँ इस रूप में ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करना संभव नहीं है, अतएव संक्षेप में केवल प्रमुख वर्गीकरण का सिहावलोकन ही किया जा सकेगा।

यूरोप में कला के संबध मे विचार करने का प्रारभ यूनान से हुआ। प्लेटो ने दार्शनिक दृष्टि से कला को सत्य की प्रतिकृति को प्रतिकृति मान कर ही उसके समाज-सापेक्ष महत्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया था। साथ ही उसने काव्य को संगीत के अंतर्गत मानने का संकेत देकर कला के विभाजन या कलाओं के वर्गीकरण का श्रीगणेश कर दिया था। आगे चलकर उसके शिष्य अरस्तू ने कला पर और गहराई से विचार किया। अरस्तू के लेखन में ललितकला और उपयोगीकला जैसी पारिभाषिक शब्दावली का तो प्रयोग नही है पर उनके 'भाषण शास्त्र' (तेख नेस रितोरिकेस) में इस बात के स्पष्ट संकेत है कि उनके समय तक उपयोगी कला और ललित कला रूप में कला के दो रूप माने जाने लगे थे। कुछ लोग इन दोनों का भेदीकरण ५वी सदी ई० पू० में भी मानने के पक्ष में है।[1] प्रो० टक्ट्स के अनुसार अरस्तू की दृष्टि में कलाओं के भेदों के वर्ग ठीक आज जैसे नही थे। अनुकरण पर आधारित कला को ही वे ललित में स्थान देते थे। इसीलिए उनकी ललित कला की सूची में वास्तुकला को स्थान नही था।[2] मेरा विश्वास है कि अरस्तू की यह धारणा विशेष महत्त्वपूर्ण है और इसके प्रकाश में हीगेल का वर्गीकरण सुधार की

---

१. History of Aesthetic. B. Bosanquet, London, 1892, पृ० ३८।

२. Dictionary of Philosophy and Psychology, Baldwin, New York, 1940, vol. I, पृ० १८६।

इन पाँच ललित कलाओं की जो श्रेणीबद्धता है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता पर प्रश्न तो यह है कि इस अत्यत प्रचलित वर्गीकरण (ललित कला, उपयोगी कला) को क्या तात्त्विक माना जा सकता है। उपयोगी चीजें भी ललित बनाई जाती हैं। चाहे वह कपड़ा हो या जूता, मिठाई हो या टेबुल लैंप। दूसरी ओर लालित्यप्रधान कलाएँ (काव्य, चित्रादि) भी क्या अनुपयोगी होती हैं? शायद नही। और इतना ही क्यो। क्या जिस कला में उपयोग का नितात अभाव हो और जिसमें केवल ललितता ही हो तथा जिसके निर्माण का मात्र ध्येय मनोरजन हो उसे क्या ललित कला मे स्थान दिया जायगा। यदि हाँ तो आतिशबाजी क्या ललित कला में स्थान पावेगी? शायद नही। इतना ही नही विश्व के इतिहास में ऐसे भी उदाहरण है, जिनमे कुछ वस्तुएँ कभी उपयोगी कला में थी पर अब वे ललित में स्थान पा गयी है।[1] इसका आशय यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से ठीक होने पर भी उपयोगी और ललित रूप में कला का विभाजन तात्त्विक या वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। अन्य वर्गीकरणो में तो कोई ऐसा भी नही है जिसे यदि तात्त्विक नही तो व्यावहारिक भी कहा जा सके। ऐसी स्थिति में तात्त्विक दृष्टि से कलाओ के वर्गीकरण को असभव ही कहा जायगा। क्रोचे ने ठीक ही कहा था कि पुस्तकालय में अपनी सुविधा के लिए पुस्तको को वर्गीकृत किया जा सकता है, उसकी उपयोगिता है पर उस रूप में कोई समझे कि ज्ञान को वर्गीकृत कर दिया गया तो वह गलती पर है, यही बात कला के बारे में भी सत्य है।

---

१. Art as Experience—J Dewey, New York, 9th impression, पृ० २६।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

विश्व-कला की मंज़िलें

पिछले छह हजार वर्षों से रसिक-मतिमान मानव निरंतर लिखता, कोरता, उभारता और ढालता गया है। इसी लिखने व कोरने, उभारने और ढालने की लाक्षणिक संज्ञा कला है। यह छह हजार वर्षों की प्रगति सभ्यता और इतिहास के मान में है, परन्तु कला की प्रारंभिक सीमा तो अत्यन्त धूमिल सुदूर अतीत के धुंध में छिपी है। स्पेन की अल्तामाइरा, दक्षिणी फ्रांस और भारतीय मिर्जापुर की गुफाओं की चित्रित दीवारें तो आज से प्रायः २५ हजार वर्ष पहले की हैं। उनका समय ई० पू० १० हजार से ३० हजार वर्षों के बीच कही भी रक्खा जा सकता है। और यह कालगणना मात्र उस नव-पाषाणकालीन मानव की है जिसके बहुत पूर्व ही पूर्व-पाषाणकालीन मानव आखेट के लिये अपने हरबे-हथियारों की मूठ अपने अवकाश के समय जानी-अनजानी आकृतियों से सजाने लगा था। मौन नेत्रों से परखी परिस्थितियाँ अनुराग, भय, आस्था और कल्पना के सान्निध्य से पत्थर, हड्डी और हाथीदांत के बने भोंडे अस्त्रों की मूठ पर रेखाओं के उत्खचन से प्रभासित होते चले गये थे। ऐसा सर्वत्र हुआ था, मिस्र में, दजला-फरात की घाटी में, क्रीट में, भारत और चीन में। कला के ढके स्वरूप का यह पहला अनवगुंठन था।

उसका दूसरा रूपायन ईसा से प्रायः चार हजार वर्ष पहले शुरू हुआ जब उत्तर या नवप्रस्तरयुगीन मानव पत्थर के हथियारों का काल-मान लांघ कांसे के युग में पदार्पण कर चुका था, और जब तक उसने खानों को खोद कर धातु-खनिज निकाल लिये थे, तांबे और टिन को मिलाकर कांसा बनाना सीख लिया था, जिस कांसे के व्यवहार के कारण ही वह काल कांस्ययुग कहलाया। वह मानव कब का बनैले जन्तुओं को पालकर घरेलू बना चुका था, कब का ताराओं-नक्षत्रों की गति को लख, फलों और अन्नों के वर्षवर्ती आवागमन को बूझ अपना मानसिक पंचांग निर्मित कर चुका था, कृषि-कर्म आरंभ कर चुका था, बैलगाड़ी––मानव का पहला परिवहन और यातायात-साधन––निर्मित कर हाट-बाजारों की व्यवस्था कर चुका था, वर्तन-भांड बना चुका था, दूर पहले कब का अग्नि की खोज कर चुका था। वही पहला निर्बंध प्रोमेथियस् था जिसने भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न रूप से सूर्य की कोख से अंगार छीन लेने के प्रयत्न किये थे––मिस्र में, ईराक में, चीन में, पीछे यूनान में।

और तभी कला की इस दूसरी मंजिल से प्रारंभ होकर उसकी प्रगति का जो तांता लगा वह कभी न टूटा और आज भी अपने लंबे डग मारता इतिहास के युगों पर चलता जा रहा है।

इन डगों में तूलिका, छेनी और करनी के अनन्त-अनन्त अद्भुत मूतन उभरते और अमर होते चले गये हैं। मानव की मानवता और जीवन में अडिग और असाधारण आस्था काल्पनिक अमूत को, नैसर्गिक यथातथ्य को, अनिर्मित भविष्य को रूपायित करती चली गयी है और हमारी कला की सम्पदा परिणामत अक्षय होती गयी है।

मिस्र पर नील नद के आचल में फैली सिकता-भूमि पर विज्ञान की पहली किरण चमकी जिसने मानव की दुर्बल देह को ऐसे राग से लेपा जो विज्ञान होते भी कला के आवरण में ढक कर सहस्राब्दियो सुरक्षित रहा और "ममियो" को ढकने वाले पत्थर और सोने के तावूत विविध चित्रमय अक्षरों से उमग उठे जिनकी काया-भूमि पर चित्रण के प्रसून खिले। पिरामिडो, लुक्सर आदि के मंदिरों में फिर तो देवताओं और राजाओं की, रानियों और देवियो की भावहीन पर भयकारिणी मूर्तिया बनी। प्राय तभी ह्वागहो की घाटी में चीन की भूमि पर कलावन्त कमर कस कर बैठा और उसने अपनी माथी से जो धातु के विशाल हडे और बतन ढाले वे सभ्यता के अनूठे देव-भाड बन गये। तबतक मानव ने उनका-सा कुछ न सिरजा था।

सिन्धु की उपत्यका में तब भारत ने सभ्य कला की पहली सास ली थी---उसकी मुहरो का वैभव तब कला की भूमि में जो उठा तो दजला-फरात की घाटियो तक पर, दक्षिणी ईरान के एलाम आदि के आकाश पर वितान बनता, छा गया था। हडप्पा और मोहनजोदडो के भूगभ से निकले कला के प्रतीक आकलन के इतिहास पर अपने गहरे पद-चिह्न छोड गये हैं। कासे की तन्वगी नतकी, नतनशील पदविहीन प्रस्तरीय धड, पुजीभूत बल का अप्रतिम मान मुद्रागत वृषभ, उस सुदर प्राचीन सभ्यता के ससार में बेजोड हैं। वह मुहर जिस पर पशुओ के बीच त्रिशूल-शीषधारी मानव पलथी मारकर बैठा है वह सभवत पाशुपत धम का पहला रूप प्रस्तुत करता है, ससार के पहले प्रचलित शैव धर्म का प्रथम रूप।

तभी दजला और फरात नदिया की निचली घाटी कलात्मक सक्रियता से सहसा सचल हो उठती है और सुमेर तथा बाबुल की छाया में अनेकानेक नगर--ऊर, उरुक, कीश, शिरपुरला सिरप्पक आदि---देवताओ और राजाओ की अपनी अभिराम आकृतियो से ऐश्वर्यवान हो उठते हैं। उनकी जगुरत की ठोस काया अपने देवताओ की मूर्तिया धारण करती है और जल-प्रलय के विध्वस के बावजूद उनका मनु, जिउसुद्द, जीवो के जोडे नाव पर सुरक्षित करता है। ऊर की कब्रो में चाहे कभी रक्त-मासल प्राणी जिन्दा दफना दिये गये हो पर वही से नारी के प्रसाधन में प्रयुक्त होने वाले पिनो से लेकर सुनहरे रथो और वीणा के तारो तक की जो सपदा मिली है वह कला की उन मजिलो की याद दिलाती है जो मनुष्य अबतक पूरी कर चुका था। और सुमेर की वह लिपि-कला स्वय कुछ कम महत्व की नही जो असोरी-इब्रानी के माध्यम से फिनीशी अक्षरो का आविष्कार कर आज भी धरा पर लिपि के क्षेत्र में प्रभुत्व कर रही है। चित्र-लिपियो का आरभ मिस्र मे हो ही चुका था, जैसे चीन (और भारत) मे भी, और दोनो ने अपनी-अपनी भूमि पर चित्र-लेखन की दिशा में पहले पग मारे। मिस्र में तो अक्षर के रूप में मानव-पशु-पक्षी-गिरि-गुहा सभी कुछ समेटे हुए थे और अक्षर मे भिन्न उन प्राणियो और प्राकृतिक आकृतियो का उन्होने आलेखन किया

था। चीन में चित्र-लिपि आज भी विचारों का चित्रान्वयन करती जा रही है और मध्यकालीन सदियों में तो उसने ईरानी चित्रों के हाशियों को खूब ही सजाया, मध्य-एशियाई लेख-चित्रण को भी उसने अपने संयोग और प्रभाव से युगों कला की महत्ता प्रदान की।

तब यूनान के ऊपर दोरिय ग्रीकों अथवा आर्यो का अभी आक्रमण न हुआ था जब उसके दक्षिण-पश्चिमी मिकीनी नगर से लघु एशिया के इतिहास प्रसिद्ध नगर त्राय तक पर उस सभ्यता का वैभव फैला था जिसकी वुनियाद यूनान के दक्षिण सागर में क्रीट नामके द्वीप में पड़ी थी। उसी क्रीटीय सभ्यता का केन्द्र क्नोसस् का नगर था जहां निमोस् राजाओं के महल आज खोद निकाले गये है। उन्ही निनोस् राजाओं के नाम पर उस क्रीटीय अथवा मिकीनी सभ्यता का नाम मिनोअन भी पड़ा। और क्नोसस् में तो मिनोस् के महलों की दीवारों पर जो मदिर और मृदुल चित्र अंकित है उनकी अभिरामता अप्रतिम है। ईसा से प्रायः दो हजार वर्ष पहले उन महलों के वे चित्र राग-रेखा से अपनी कमनीय काया सिरज चुके थे। उसी सभ्यता की कला की बेलें फिर लघु एशिया के उस त्राय नगर में लगीं जिसका विध्वंस ग्रीक हेलेन के पेरिस द्वारा अपहरण के बाद मेनेलास, एकिलीज आदि वीरों ने किया था, जो अंधकवि होमर के मुँह में "ईलियद" की कहानी बन गयी। उस त्राय नगर की छहरिया काया को इधर हाल जो श्लीमन ने खोद निकाला है तो उस काल के अनेकानेक कला-प्रतीकों के बीच वहां के प्राचीन वास्तु का भी सहज दर्शन हुआ है।

त्राय के निकटवर्ती पर्वत तारस के इस पार तुर्की और ईराक की भूमि है जहा कभी खत्तियों ने अरमनी पहाड़ों से उत्तर कर नील की घाटी तक अपने आक्रमणों का क्रम वांध दिया था। उन्हीं की छाया में बाबुली-खल्दी सभ्यताओं के प्रसार में असुरों का वह साम्राज्य उठा जो शक्ति का पर्याय बना और जिसकी शक्ति उनकी राजधानी असुर और निनेवे में केन्द्रित हुई। अपनी शक्ति की ही भाँति असुरों ने अपनी वास्तुकला का भी साका चलाया। हमारे देश के साहित्य मे भी मय-दानव अथवा असुर की वास्तुसंबंधी प्रशस्त कला वार-बार ध्वनित हुई है। स्वयं युधिष्ठिर के महलों का दर्पणवत् छद्म निर्माण, महाभारत के अनुसार, असुर मय ने ही किया था, और महाभारत का समय निःसंदेह असुर-सम्राट् सारगोन तथा असुर नजीरपाल के कालमान में प्रायः निकट ही है। असुर शिल्पियों के बनाये मंदिर और महल अपने भग्नावशेषों द्वारा ईराक की कला और खुरसावाद की खोदाइयों से आज भी अपने गौरव की घोषणा कर रहे है। उनके महलों के द्वार पर सिहों, विशेषतः पंखधारी वृषभों की जो विशाल मूर्तियां है उनका सा स्थापत्य कला में प्राचीन सभ्यता मे आज कुछ भी संचित अथवा उपलब्ध नही ? आज वे अपनी विशालकाया द्वारा अर्जित शक्ति के दंभ को लंदन के ब्रिटिश म्युजियम और शिकागो के ओरियन्टल म्युजियम में जीवित रक्खे हुए है। कुछ आश्चर्य नहीं कि प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार, असुर कलावन्तों और वास्तु-विशारदों की माँग तत्कालीन राजघरानों में सर्वत्र हो गयी हों।

छठी शताब्दी ई० पू० के आरंभ मे एक ऐसा युग आया जब आर्यो के दुर्दांत कबीलों ने समूचे ईरान पर अधिकार कर लिया और निनेवे के असुर साम्राज्य तथा बाबुल के खल्दी साम्राज्य को तोड़ डाला। कभी असुरों का आधिपत्य मिस्र और पश्चिमी एशिया से लेकर ईरान और बलख

तक पर रहा था, अब ईरानी आर्यों का साम्राज्य आमू दरिया के काठे से दजला-फरात फिलिस्तीन और नील नद के काठे तक फैला। इधर भारत के पजाब और सिंध पर भी उनका अधिकार जमा। मिस्र से सिन्ध तक कला के प्रतीक एक शृंखला में बंध गये और उनके समान अभिप्राय देशो की सीमाएँ लाँघ कर रूपायन में अन्वित होने लगे। फराऊनो, बाबुली और असुर सम्राटो और ईरानी दाराओ के स्तम्भ, जिनकी सहस्राब्दियो से पश्चिम में अटूट निर्माण-परम्परा चली आती थी, भारतीय मौर्य-स्तम्भो के आदर्श और अनुकार्य बने। ईरान के वृषभ-मडित प्रस्तर-स्तभ अपनी असाधारण अनुपम पालिश लिये हुए कला के प्रागण में उतरे और मूर्तन के क्षेत्र में उन्होंने अपना नया साका चलाया। उसी वृषभ आदि पशु प्रतीकों को शीर्षस्थ कर भारतीय वास्तु अगली सदी में डग मारता गया, और सूसा तथा एकवताना के दाराओ के महलोंको पाटलिपुत्र के मौर्यों के महल शिल्प की कृतिमत्ता में पीछे छोड गये।

अभी ईसवी सन् शताब्दिया शुरू भी न हुई थी कि शुगो का वैभव कला के माध्यम से भरहुत और साची के स्तूपो और उनकी रेलियों पर उतरा जहा कलावन्तो ने पत्थर को मृत्तिका की भाति सहज साधा और अनत-अनत अभिराम रूप उससे सिरजा। अमरावती के सगमरमर के रूप - विधान अभी युगो के उतार से सरक भी न पाये थे कि ईसा की प्रारंभिक सदियो में मथुरा के जैन-बौद्ध स्तूपो की वेदिकाएँ कला की सुषुमा से सज उठी, सारनाथ का बनात शिल्पियो की छेनी से मुखर हो उठा। और तभी तक्षशिला की भूमि पर यूनानी कलावन्तो ने भारतीय कथा-वार्ता मे अपनी शैली का राजडाल बुद्ध की पहली मूरत कोरी और इस प्रकार गाधार-शैली का आरभ किया। उस शैली ने भारतीय कला में नये प्राण फूँके, नयी स्फूर्ति डाली, नव जीवन पनपाया। पर उसके स्पष्ट विदेशी आभास को गुप्तकालीन देशी कलाकारो ने अपनी राष्ट्रीय चेतना से धो डाला—उत्तरासग और अतर्वासक तथा सघाटी की परतें मिट गयी, मूरतो ने विदेशी बाना छोड भारतीय वसन की दम-खम धारण की और गुप्तकालीन मर्यादा, सौन्दय और सुरुचि पत्थर में, मृत्तिका में, ढले पीतल, ताँबे और कासे में अनुप्राणित हुई। ईसवी सन् की ५ सदिया काल के स्तर से सरक गई।

चीन की कला का प्रसार बडा है, भारत की ही भाति। ईसा से तेईस सदिया पहले ही चीन में उसके स्वर्णयुग का प्रादुर्भाव हुआ था। हेसीया, शाग-यिग, चाउ और चिन शासन अपनी कला-कारिता के वैभव लिये एक के बाद एक कालक्रम से उतर गये, और तब आये हान और ताग, और सुग, युआन, मिंग और चुग। ई० पू० छठी सदी में ही कनफूशस और लाओत्से ने जनता के जीवन में आचार की सुरुचि और रहस्य का आकर्षण भरा था। उनका प्रभाव चित्र-कला पर भी पडे बगैर न रहा और रगो की मधुरिमा, तरुओ-टहनिया तक की नज़ाकत, पशु-पक्षियो की चुहल और काया की अभिराम कमनीयता बिना ब्रुश के ही लिखे जाने लगे, फिर आकृति मे सूक्ष्मता का जो भिनत उभार हुआ वह रगो के मृदुल और मधुर उपयोग में रहस्य का सूचक और साधक दोनो हुआ। फिर शीघ्र जो ब्रुश का आविष्कार हुआ तो चित्र कला और चित्र-लिपि दोनो अपनी सजावट की चोटी पर चढे। हान-युग के बीच बौद्ध धम का भारत से चीन में प्रचार हुआ

और कला को एक नई संपदा मिली, आलेखन से मूर्तन की ओर चीनी कलावन्तों ने तब एक डग मारा। विविधता और अनंतता फिर चीनी चिन्तन और आलेखन की सुरुचि और सूक्ष्मता में समायी। चीनी कला के इतिहास में तब स्वर्ण-युग का प्रादुर्भाव हुआ, और प्रशान्त महासागर से कास्पियन सागर तक, भारत की सीमाओं तक, चीनी कला का साम्राज्य फैला। भारत की कला-शृंखला की कड़ियां बामियान-खुत्तन- तुर्किस्तान-तुर्फ़ान-तारीम तक फैली हुई थीं और सर्वत्र अजन्ता चित्र दीवारों पर लिखे जाने लगे थे। उसी राह हान कालीन चीनियों के काफिले अभिराम आकृतियों से भरे अपने रेशमी किमख़ाब लिये पश्चिमी बाजारों की ओर जाया करते थे और अब वे अपनी लौटती राह उन चित्रों को ले आये जिनकी प्रभा से अजन्ता से तुर्फ़ान तक की दीवारें आलोकित थीं। चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कानसू में धीरे-धीरे पहाड़ की खड़ी दीवारों को काट कर ४६९ गुफाएँ बन गयी जिनकी दीवारों पर अजन्ता और बाघ का वैभव, पद्मपाणि के अमर रूप उतर पड़े। यह कानसू चीन की महान दीवार के दोनों ओर बसा था जहां से वे क्रूरवर्मा हूण उठे थे। जिन्होंने भारत के उस गुप्त साम्राज्य और उस सुनहरे युग का अन्त कर दिया था, जिसने अजन्ता के अनंत चित्र सिरजे थे।

जापान में चीन के धर्मप्रवण कलाकारों ने पांचवी सदी ईसवी में ही भारतीय प्रतीकों का अपनी कला-शैली के माध्यम से प्रचार किया था, और उस देश की तब की राजधानी नारा के चारों ओर नई कला ने सांस ली थी। चीनियों की सुरुचि और सूक्ष्मता को जापान में नया क्षेत्र नई दिशा मिली और उसका विकास नये प्रतिमान के माध्यम से जापान के द्वीपों में हुआ। कोरिया और मंगोलिया की भूमि पर पहले ही चीनी कला की बेलें लग चुक. थीं। और अब उसके लता-प्रतान उनकी जमीन को सर्वथा ढक कर नये कुसुमों से लद चले थे।

भारत की कला की एक धारा जल के मार्ग से पूर्वी समुद्र की ओर भी बह गई थी, ब्रह्मा स्याम की ओर, कम्बुज की ओर, और वहां एक से एक विशाल मंदिर खड़े हो गये थे, एक से एक मूर्तियां वहां प्राणों से स्पंदित होने लगीं थी। इधर उसी समुद्र में दक्षिण-पूर्व की ओर द्वीपों का वह समूह था जिसे आज हिन्देशिया कहते हैं और जहां जावा और सुमात्रा में, बाली और बोर्निओ में, भारतीय कला ने असाधारण ऐश्वर्य की अंगड़ाई ली थी। ई० सन् की प्रारंभिक सदियों से बारहवी-तेरहवी सदियों तक कला का यह निर्बंध विकास चलता रहा था और अंगकोरथाम और अंगकोरवाट से लेकर प्रम्बलम् और बोरोबूदूर तक तक्षण की कला ने अपना अमर शरीर पाया था। भारतीय और चीनी कलाकारिता और सांस्कृतिक वैभव का एक राज यह भी रहा है कि जहां मिस्र और सुमेर, बाबुल और निनेवे, क्रीट और ग्रीस मिट गये वहां भारत और चीन आज भी जिन्दा हैं, आज भी उनकी संस्कृति की अटूट शृंखला बनी हुई है।

ग्रीस की यूनानी कला का प्रारंभ ई०पू० सातवीं सदी से दृष्टिगोचर होने लगता है। तबतक क्रीट और ईलियन सागर की कला कब की मिट चुकी थी, हां, फिनीशी लोग निश्चय कार्थेज, तीर और सोदोम के नगरों से और इत्रुस्की कबीले अपने केन्द्रों से उस सभ्यता की कुछ बची खची निधियां भूमध्यसागर के तट पर जहां तहां सम्हाल रहे थे। यूनान अब धीरे-धीरे कला के प्रांगण में उतरा

और लघु एशिया मे यूनान के अतिम पश्चिमी छोरो तक उसकी नई सस्कृति का वितान फैला, अतिका से स्पार्ता तक। एथेंस यूनानी नगरो की राजनीति, दर्शन, वक्तृता और कला का केन्द्र बना, और कला की साधना में उसने उतना चित्रण को नही जितना मूर्तन को अपनी अभिव्यजना का माध्यम बनाया, यद्यपि उसके भाडो पर चित्रित आकृतियो की कमी नही। सगमरमर की आकृतिया स्थूल से सूक्ष्म और सुरुचि की ओर धीरे धीरे विकसित हो चली और धीरे ही धीरे जनजीवन उनमें छलक चला। उन्होने अपने जीउस आदि देवताओ को उनकी ओलिम्पिक ऊचा-इयो से अपनी धरा पर उतार लिया और देव परिवार को अपने राग-द्वेष से, अपने ही पारिवारिक जीवन में ढाला। कल्पना की पृष्ठभूमि से उठकर नग्न जीवन की मासलता ग्रीक कलावन्तो की मिरजी मूरतो में कभी कोरी आकृतियो का सौंदर्य शुद्ध सौदर्य की आस्था से ऐसा चमका जैसा आकृति की सीमाओ में वह पहले कभी न चमका था। यूनानी कला का पहला सफल और महान रूप ओलिम्पिक खेलाडियो के मूर्तन में चरितार्थ हुआ और उसकी परिणति फीदियस की कृतियो में हुई। एथेंस में एक्रोपोलिस के शिखर पर जो अथीना का मदिर है उसका शीर्ष पर जो चारो ओर दौडती हुई उभरी आकृतिया है उनकी प्राणवान गति फीदियस की ही प्रेरणा से सपन्न हुई थी, वैसे पोलिक्लेइतस् और मीरन ने जिन कमनीय कायाओ का कला में निर्माण किया था वे स्वय कुछ कम अप्रतिम नही थी। उसी प्रकार ई० पू० चौथी सदी में प्राक्सीतीलिज ने जिस शैली का आरभ किया वह फीदियस के १०० वर्ष बाद ही जिस परिणति को पहुची थी, अपोलो की कमनीय मूर्तिया और अफोदीती की अभिराम आकृतिया उसीकी प्रतीक हैं। पोप के नगर वातिकन में अपोलो बेल्विदियर और पेरिस के लुव्र में मेलोम् की वीनस की जो मूर्तिया सुरक्षित है उस परिवार के कलावन्तो के कृतित्व की अजस्र घोषणा करती हैं।

छठी सदी ई० से भारत में इतने नव-सृजन के नही जितने व्याख्या के युग चले। हूणो ने अपने आक्रमण से गुप्तो की मौलिकता का नाश कर दिया और अब जो पाये हुए का सरक्षण तक न हो सका तब कलाकारो ने चर्वित का चर्वण करना शुरू किया और भोडी अनुकृतियो का नया क्रम चला। कायिक अभिसृष्टि से भाव का लोप कर उसे अलकरण की प्रचुरता से दर्श-नीय बनाना कला की अभिव्यजना में प्रधान हुआ फिर भी एलोरा और एलिफैंटा की गुफाओ में अनेक मूर्तिया बनी जो सराहनीय थी। धीरे-धीरे मूर्तियो के निर्माण का, चित्रो के सूक्ष्म आलेखन का स्थान, मदिरो के वास्तु ने लिया और उडीसा, मध्यदेश, दकन और दक्षिणापथ में नागर, वेसर तथा द्राविड शैली के महान् देवालय खडे हो गये—भुवनेश्वर, खजुराहो, हम्पी, हलेबिड, काची, तजोर, मदुरा, और रामेश्वरम् के गगनचुबी मदिर अपने गोपुरम् के साथ आकर्षण के केन्द्र बने। बारहवी सदी में उनका भी अधिकतर ह्रास शुरू हुआ जब ईस्लाम ने उनपर अपनी क्रूर चोट की, यद्यपि तभी के करनाटक और दिल्वाडा के मदिर आज भी अपने प्रतीको से समृद्ध हैं।

यूनानी परम्परा के समानान्तर ही कुछ काल रोमन कला चली, पर उसका वस्तुत प्रसार यूनानी कला के पर्यवसान के बाद ही हुआ। रोमन साहित्य की भाति ही उसकी कला का स्वर्णयुग भी ओगस्तस् के शासन-काल में ही हुआ। और उसका माध्यम भी अधिकतर मूर्तन ही

था, रागरेखांकन नही, यद्यपि चित्रण का अलंकरण में सर्वथा अभाव भी तब नही था। इसी कारण अनेक बार रोमन कला यूनानी कला का उपसंहार अथवा प्रसार मात्र लगती है एक विशेष अन्तर यूनानी और रोमन कलाओं मे यह है कि जहा यूनानी कला जीवन, विषय अथवा शरीर की व्यंजना इष्ट मानती थी रोमन कला साम्राज्य के प्रचार का माध्यम बनी। इसी कारण उसमें सम्राटों, सेनापतियों, विजेताओं आदि की मूर्तियों का बाहुल्य है। हां, रोम की वास्तु-कला निश्चय ही पुराविदों के घने आकर्षण की वस्तु है। उसकी सड़कें, नहरें, स्नानागार, कोलोस्सियम आदि इमारतें अपने महत्त्व में बन्दनीय थी।

उसी काल, जब सम्राट ओगुस्तस् अपने यश का विस्तार कर रहा था, महात्मा ईसा ने धरा पर स्वर्ग उतार लाने की घोषणा की और यद्यपि उन्हे अपनी उस निर्दोष घोषणा का मूल्य अपने रक्त से चुकाना पड़ा, उनके ईसाई धर्म ने मानव जीवन और उसके इतिहास पर अपना असाधारण प्रभाव डाला। उसके गिरजों की दीवारों पर मध्यकाल में चित्र लिखे और मूर्तियां उभारी जाने लगी। स्वयं गिरजों के निर्माण मे रोमनस्क, गोथिक आदि अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ। आज जो अधिकतर गिरजे ससार में खड़े है वे गोथिक शैली के ही है। उस मध्यकालीन ईसाई चित्रण की एक विशिष्ट शैली बिज़ान्तीनी नाम से प्रसिद्ध हुई जो विशेषतः रूसी गिरजों में फली फूली। गिरजों का चित्रण-अलंकरण दूर के भारतीय बौद्ध प्रभावों के परिणामस्वरूप प्रारंभ हुआ। जिस प्रकार बौद्ध धर्म की पोथियों के प्रचार के लिये चीनियों ने मुद्रणयंत्र का निर्माण किया था उसी प्रकार उसी मुद्रण कला का उपयोग पुनर्जागरण और धर्मसुधारान्दोलनों में यूरोप में किया गया, और वैसे ही उसी चीनी आधार से भित्ति-चित्रों का प्रचार भी यूरोप में हुआ। जैसे बौद्ध धर्म और संघ ने ईसाई धर्म सघ और मठो के संगठन में सहायता की थी वैसे ही उसके दरी-विहारों—अजन्ता, तुनहुआंग आदि—से भित्तिचित्रण, मूर्तन आदि की कला का भी पश्चिमी एशिया और यूरोप के गिरजों में अनुकरण हुआ।

उधर सातवी सदी में अरब में हजरत मुहम्मद ने जो एक नये ज्ञान और उसके उत्साह का बीजारोपण किया था उसने सारे एशिया और पूर्वी यूरोप को हिला दिया। उसने सांस्कृतिक कला का तो निश्चय ह्रास किया परन्तु वास्तुशिल्प और ग्रंथालंकरण में उसने ख़ासी उन्नति की। अरबेस्क शैली में ऊंची से ऊंची मस्जिदे बनी जिनके द्वार पर सूफी अक्षरों में सुन्दर अर्थयुक्त कढ़ाई हुई। पश्चात् गुबजनुमा विशाल मस्जिदों, दरवाजे, मेहराबों, लाटों की एक महान् शैली का इस्लामी नाम सरासानी पड़ा। इस शैली की इमारतो का निर्माण स्पेन से बंगाल तक और रूस-मंगोलिया से मिस्र तक हुआ। ग्रंथों के हाशिये तैयार करने में चीनी लिपि की ही भांति सूफ़ी अक्षर भी उपयुक्त हुए।

यूरोप में वैसे तो मध्यकाल में बेनिस, रोम, फ़्लोरेन्स आदि चित्रण-मूर्तन कला के अनेक केन्द्र थे, परन्तु उनमें विशेष प्रवीण फ्लोरेन्स ही था। पुनर्जागरण-युग में तो उसका बोलबाला हुआ ही, उसके पहले मध्यकाल में भी वहां उन कलावन्तों का साका चला जो उन्नीसवी सदी में प्राक्-रफ़ीली संज्ञा से यशान्वित हुए। वस्तुतः आधुनिक चित्रण-शैली (प्रास्पैक्टिवयुक्त) का

समारभ भी इटली और फ्लोरेन्स से ही माना जाता है। उस दिशा में उस काल फ्लोरेन्स के कलाचार्यो—गियोत्तो और आजेलिको से लिप्पी और वोतिचेली तक—ने अचरज के प्रयत्न किये। उनके प्रधान आकर्षण तब गिरजाघर थे। उनकी रगो मे प्रवीणता प्राय पाच सदियो बाद विशेष उल्लेखनीय हुई।

कुछ ही काल बाद टेम्पेरा और बरोक शैली के चित्रो को छोड एक नय प्रकार के तैल-चित्रो का आविष्कार हुआ। अबतक तेल का उपयोग चित्र-फलक पर नही होता था जिससे चित्र की भूमि धूप या गर्मी से फट जाया करती थी। अब फान आईक-मेमलिक, और अन्य डच तथा जर्मन कलाचार्यो ने तैल-चित्रण का आविष्कार कर डाला और चित्र-कला में एक क्रान्ति हो गयी।

इधर इटली में एक नये युग का भोर हो रहा था और वही भोर यूरोप के इतिहास में वर्तमान काल का आरभकर्ता हुआ। तुर्कों ने १४५३ ई० में कुस्तुतुनिया जीत ली जिससे इस्लाम के पूर्वी यूरोप में प्रबल हो जाने के कारण चीन और भारत जाने वाली राहें बन्द हो गयी, उधर का सारा व्यवसाय ही बन्द हो गया। तब चीन और भारत जाने के लिये पच्छिम से समुद्री राह ढूढी जाने लगी। फलस्वरूप अमेरिका, चीन और भारत यूरोप की प्रभाव-परिधि में आये कुस्तुतुनिया पर तुर्कों के अधिकार का एक महान् परिणाम यह हुआ कि वहा के ग्रीक पडित अपना यूनानी ज्ञान-भडार लिये रोम भागे और रोम तथा पश्चिमी यूरोप में उनके ज्ञान को अपनाने के लिये एक लहर उठ पडी। परिणामस्वरूप जो नई चेतना, नई जागरूकता और प्रश्नात्मिका-मेधा का उदय हुआ तो मानव और मानवीय की सत्ता यूरोप की धरा पर प्रतिष्ठित हुई और भूला हुआ ग्रीको का दृष्टिकोण अपनी समूची ज्ञान-सपदा के साथ खोजियो की दृष्टि में आया। ज्ञान का एक पुनर्जन्म, विस्मृति का एक नया अभिज्ञान, सुषुप्ति का एक पुनर्जागरण हुआ और फलत वह युग ही पुनर्जागरण-काल कहलाया। साहित्य के साथ ही साथ, वस्तुत उससे कही बढकर कला के क्षेत्र म, पुनर्जागरण हुआ और इटली, विशेषकर फ्लोरेन्स उस पुनर्जागरण के आन्दोलन में अग्रणी हुआ। बोतिचेली का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसी प्रकार में एक से एक महान् कलावन्त फ्लोरेन्स और रोम में, वेनिस में तब हुए जिन्होने अवगुठित कुठित कला को नई भावुक रागात्मक ललचायी दृष्टि से देखा, सहज स्वाभाविक दृष्टि से और कला जैसे निरावरण है। अनवगुठित कला अपने पोर-पोर खोले उनके सामने जा खडी हुई। रफेल, ल्योनादो दा विंची, माइकेल एजेलो, तितियन आदि उसी नवजागरण के शैलीकार थे, चित्रण और मूर्त न में फ्लोरेन्स और वेनिस के। रफेल की मदोना और सन्तो की आकृतिया तो गिरजाघरो की दीवारो पर उसकी शैली की अमरगाथा कहती ही हैं, माइकेल एजेलो के शक्तिम मूर्तन भी सजीवता के आदर्श बन गये, मासल जीवन के प्रतीक। आदम और दाऊद की आकृतिया जो माइकेल ने लिखी और कोरी ससार के कलावन्तो को एक चुनौती हैं। वैसे ही ल्योनादो दा विंची का 'अंतिमभोज' ईसाई परिवार के चित्रो में अपना सानी नही रखता, और न उसके चट्टानो की कुमारी का ही सफल प्रतिद्वन्द्वी कोई कलाकार हुआ। फिर उसकी 'मोना लीजा' तो नारी की वह रहस्यमयी आकृति है जो आज प्राय ५०० वर्ष से लूव्र के सग्रहालय मे दर्शको को पुकार-पुकार कर अपनी ओर खीचती रही है और

किसी ने अबतक नही जाना है कि उसका अर्द्धस्फुट-हास व्यंग्य का है, विनय का, या अनुराग का। तितियिन के चित्रण में जो मानव की मांसलता है वह देवों की अन्तर्धान आकृति को भला कहां प्राप्य थी '?"बाकुस और अरियाद्ने" का वासनामय यूनानी सौन्दर्य-पूरित-रूप वस्तुतः राग और रेखा का विषय न था, शुद्ध सावयवीय मूर्तन का था, और तितियिन ने उसका राज़ जाना जिससे उसने रंग और रेखा से उन देवताओ को बाध कर भी कलाकार ने उसका सुडौलपन चित्रफलक की चिपटी भूमि पर भी उभार दिया।

बेनिस में पुनर्जागिरणकाल के पहले से ही चित्रकला मे अपनी निजी शैली का उद्घाटन किया था और अन्यत्र के अनेकानेक इतालीय कलाकारों ने उस दिशा में अपने ज्ञान की खिड़कियां खोल उधर से प्रकाश पाया था—मानतेग्ना, फ्रांसिया, कोरेगियो, बेलिनी, गियोर्गियोने, सभी ने। वेनिस के उस असाधारण नैसर्गिक सागरवर्त्ती अभिराम नगर में जिन कलावन्तों ने अपने वैभव का विकास किया था उनमें प्रधान थे तितियिन, तितोरेत्तों, लोत्तो, मोरोनी और पाल वेरोनीज।

इटली यद्यपि सबसे पहले और सबसे अधिक मात्रा में पुनर्जागारण की परिधि में आया परन्तु न तो उस नये दृष्टिकोण और न सहज चित्र-सौदर्य की ही यों न कोई सीमा बांध सकी। स्पेन, फ्लैडर्स, हालैड, फ्रान्स, इंग्लैड सर्वत्र कलाकारों की तूलिका सहसा मज उठी थी और चित्रों की अभिनव संपदा नित्य सिरजी जाने लगी थी। पुनर्जागिरण के साथ ही साथ धार्मिक सुधारवाद का भी यूरोप में नारा बुलन्द हुआ था। वस्तुतः इटली में जो प्रेरणा पुनर्जागिरण ने दी प्रायः यही प्रेरणा शेष यूरोप में धर्म-सुधारवाद अथवा उसकी प्रतिक्रिया ने दी। अल्वर्ट ड्यूरर और होल्बेन ने सुधार आन्दोलन की कला में विशेष अभिरुचि दिखाई। होल्बेन ने तो साथ ही जिस सुन्दर आकृति-चित्रण का विकास किया वह साधारण न था। 'मिलान कि डचेज' और इंग्लैंड के राजा 'आंठवे हेनरी' के उसने जो चित्र बनाये वे आकृति-चित्रण के अभिराम नमूने हैं। इस आकृति चित्रण की भावभंगी को डच और फ्लैडर्स के चित्रकारों ने भरपूर पुष्ट किया। रूबेन्स और वान डाइक उस दिशा में बेजोड़ हुए। रूबेन्स का "क्रुस से अवतरण" और 'मुस्कराती नारी की हैट" जितना ही आकर्षक है उतना ही बन्दनीय। वान डाइक का प्रसिद्ध चित्र 'लार्ड जान और बरनार्ड स्टूअर्ट" है। प्रायः तभी डच जनतंत्र मे कुछ कलाकारों ने जो साधना की वह चित्रण के इतिहास में अमर हो गयी। उस क्षेत्र के अग्रणी थे फ्रान्स हाल्स, रेम्ब्राट और जानवर्मियर। फ्रान्स हाल्स ने जो अपना 'हँसता घुड़सवार' निर्मित किया वह सहज ही 'मोनालीजा' का पार्श्ववर्ती हुआ क्योंकि उसने भी मुस्कुराहट के रहस्य में एक मात्रा जोड़ी। रेम्ब्रांट के कन्वस तो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, उनके संयोजन की मौलिकता असाधारण है। जहां फ्रान्स हाल्स गतिमानता और सक्रियता को प्रश्रय देता है वहां रेम्ब्रांट चिन्तन की सौम्यता को, उसकी गरिमा और गहराई को। वर्मियर भी आकृति के चित्रण मे बेजोड़ है। 'नययुवती का मस्तक 'निःसंदेह मस्तक के अध्ययन के रूप में अछूता आदर्श है।

पुनर्जागिरण के युग, प्रायः १५वीं सदी, से ही स्पेन की कला में भी धूप और छाया का व्यसन

लहराने लगा था। वहा भी पुनर्जागरण अथवा सुधारवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे कला विषय का प्रतिपादन करने लगी। एल ग्रेको, वेलास्केज, और मुरिलो ने अत्यन्तसुन्दर और गतिमान चित्रो का निर्माण किया। एलग्रेको के दृष्टिकोण और प्रतिभा के कारण ही उसका यह 'ग्रीक' छद्म नाम पड गया था। उसका 'काउन्ट आरगोज की अन्त्यक्रिया' नामक चित्र स्पेनी चित्रो में असाधारण स्थान रखता है। वेलास्केज ने तो उस देश में अपने नाम की एक शैली ही चला दी और उसके चित्र—'ब्रेडा का आत्मसमर्पण' और 'रानी की सहेलिया' जिस अकन-प्रवीणता में अकित हुए है उसका बखान नही हो सकता। मुरिलो उसी वग का स्पेनी चित्रकार था। उसने तरबूज खाने वाले नामक अपना चित्र लिखकर उस दिशा म कलाकारो के लिये एक मानदड रख दिया।

वर्तमान युग में फ्रास, विशेषकर पेरिस, ससार के कलावन्तो का मक्का बन गया है। वह स्थिति उसकी प्राय पिछले डेढ सौ वर्षो से रही है और इन डेढ सौ वर्षो मे ससार के विविध देशो से जाकर कलाकारो ने पेरिस के सैलूना में बहुत कुछ सीखा है और अनेक बार तो वे इसी कारण पेरिस के अधिवासी बन गये है। पेरिस का महत्व रोमेंटिक प्रभाववादी चित्र शैली मे आरम्भ हुआ जिसका आरभयिता वात्तो था। उसके पहले फ्रास मे भी अन्यत्र की ही भाति "शालीन शैली" का ही प्रभुत्व रहा था जिसका विकास और विस्तार बूखे, शार्दे आदि ने किया था। वस्तुत उस युग की नीव डालने वाला प्रधानत ल नार्ट था और उसी परपरा में वात्तो, शार्दे, बूखे, फ्रागोनार और ग्रज आदि ने अपने चित्र बनाये थ।

अठारहवी सदी में इगलड में होगथ का बोलबाला हुआ जिसने विषय-चित्रण में बडी प्रतिभा और साहस दिखाया। लुई चौदहवें के दरबार से लौटकर जब चार्ल्स द्वितीय ने इग्लैण्ड में पदार्पण किया तब वहा उसने फ्रान्सीसी दरबार की सारी वासना-प्रवृत्ति को निरगल छोड दिया और उसके इस कार्य में उसकी बहन हेनरिएटा ने घना सहयोग दिया। वासना और विलास का जो तब वहा पूर्वगामी प्यूरिटन शासन क प्रतिक्रिया स्वरूप अनियत्रित धारा बही उसका केन्द्र स्वय इग्लैंड का राजा वह चार्ल्स द्वितीय था जिसके पिता ने अपनी जनविरोधी निरकुशता के कारण कुछ ही दिनो पूर्व प्राणदड पाया था। काल्पनिक युवक के नाम से वस्तुत चार्ल्स द्वितीय की वासना का ही होगथ ने अपने चित्रो में अकन किया और उन चित्रो की सिरीज की सिरीज उसने प्रस्तुत की। प्राय उन्ही दिनो विल न ने प्राकृतिक दृश्यो (लैंड्स्केप) के आधुनिक अकन की नीव डाली। और तभी रेनाल्ड्स ने आकृति-चित्रण की परिणति की ओर मिसेज सिडन्स का शालीन शैली मे चित्रण कर वह प्रसिद्ध वाक्य लिखा जो उस शैली के इतिहास में अमर हो गया है—'देवि, तुम्हारे वस्त्र के हाशिये पर यह दस्तखत कर म भी अमर हो चला!' यह रेनाल्डस् वही सर जोशुआ था जिसकी मेज के इर्द गिर्द बर्क, पिट, मे डिथ आदि बैठा करते थे और जहा प्रसिद्ध डॉ० जानसन अपनी सूक्तिया कहा करता था। इग्लैंड मे उन दिनो आकृति चित्रण के अनेक मतिमान कलावन्त हुए जिनमें प्रधान गेंसबरो, रोम्नी, रीबन, हॉप्नर और लारेंन्स थे।

फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति ने कला की भी कायापलट कर दी। उस काल अनेक ऐसे चित्र-

कार हुए जिन्होंने विषय को अपने चित्रणों मे प्रधानता दी। दावी, लब्रूं, ग्रो, आंग्रे और गोया उनमें प्रधान थे। गोया तो शुद्ध शान्तिवादी था, और उसने नेपोलियन के अपने भाई जोजेफ़ को स्पेन का बादशाह बनाकर भेजने का घोर प्रतिवाद किया था। गोया बाद में स्पेन से जाकर पेरिस में वस गया था। इंग्लैण्ड और फ्रान्स दोनों देशों में १८–१६ वीं सदी में जो मानव भिन्न शुद्ध प्राकृतिक लैण्डस्केप चित्रण का प्रादुर्भाव हुआ था, उसके संघटयिता अनेक थे। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—क्लोद, मोरलैड, टर्नर, गर्ते, कॉक्स, डिविट, बोनिगटन, क्रोम और कीटमैन। इस दिशा में पहला कदम रखने वाला पूसें था।

साहित्य और कला दोनों में १६वी सदी के मध्य एक आन्दोलन चला जिसे रोसेटी, मिल और होल्मना हंट ने आरंभ किया था। उनके कार्य में मैडाक्स ब्राउन और बर्न-जोन्स ने भी घना योग दिया। इनकी शैली को पूर्व-रफीली कहते हैं क्योंकि इसमे रफेल के पूर्वगामी इतालीय कलाचार्यो के प्रति आकर्षण की भावना थी। कला में उन्ही की रागात्मक घनता प्राप्त करना इनका उद्देश्य था। इन्होंने अपने अंकनों में प्रकृति का बड़ा आस्थावान् चित्रण किया। आकृतियों का सौदर्य और रागात्मक अंकन ही उनका उद्देश्य था।

१६वी सदी के मध्य इंग्लैड में जो रानी विक्टोरिया का युग शुरू हुआ उसकी कला के अग्रणी लैण्डसियर, लेटन, प्लाइंटर, स्टीवैंस, मूर, वाट्स आदि थे। इन्होंने भी अपनी रचनाओं में विषय को अधिक महत्व दिया। लैण्डसियर ने एक बड़े शिकारी कुत्ते के पास एक छोटे पिल्ले को बिठा कर अपने चित्र का नाम दिया "धृष्टता" (इंपुडेंस)। इसी प्रकार वाट्स ने ग्लोब के ऊपर तत्रीधारी गायक को बिठाकर चित्र को "आशा" कहा। तंत्री के एकमात्र बचे तार में ही गायक की सारी आशा उसने समाहित कर दी। इस काल के चित्रों ने कहानी कही, सादी, अत्यन्त साधारण कहानी, दैनन्दिन जीवन की कहानी।

तभी फ्रान्स में उस रोमांटिक आन्दोलन का आरंभ हो चला था जिसके सूत्रधार देलाक्रोआ, गेरिकोल, कोरो, मिले और बरबिजों शैली के चित्रकार थे। बरबिजों उस गांव का नाम था जो फ्रान्स के राजाओं के आवास फौतेनब्लो के निकट के जंगल में था, जहां पेरिस से हटकर अनेक चित्रकार रहने लगे थे। इस आन्दोलन ने तत्कालीन चित्र-कला पर बड़ा प्रभाव डाला। उसे उसने प्राचीन ग्रीक माडलों से मुक्त कर दिया और वह अपने नये आजाद स्थानीय रोमांचक रागात्मक काव्यमय अलंकरणों से सज उठी। बारबिजों-शैली का प्रधान चित्रकार रूसो था।

इस रोमांचक आन्दोलन से भी अधिक प्रभावित फ्रान्स के चित्रकारों को यथार्थवाद और प्रभाववाद ने किया। फोटोग्राफी के आविष्कार ने यथार्थवाद को प्रश्रय देकर चित्र मे रंगसाजी को महत्त्व दिया था, और प्रभाववाद उसी यथार्थवाद का परिणाम था। यथार्थवाद का प्रवर्तक फ्रेंच कला में महान् साहसी कूर्वे था। मिले ने उन्ही दिनों कृषि संबंधी अपने चित्र बनाये, इससे पुराणपंथी कलालोचकों ने उसे जनवादी चित्रकार कहकर गाली दी, और कूर्वे तथा मिले के चित्र "खतरनाक" एलान किये गये। कूर्वे फ्रांस के आधुनिक चित्रकारों में पहला था जिसने प्राचीन यूनानी-रोमन परंपरा के प्रतिबंधों से मुक्त होकर खुली हवा में सास ली और कला के क्षेत्र

में यथार्थवाद का बीजारोपण किया। स्विसलर और माने पर उसका सीधा प्रभाव पडा। कूर्बे उस कम्यून की ओर से लडा था जिसने पेरिस में समाजवाद की स्थापना के लिये गली-गली में पूजीवाद का विरोध किया था। कला में प्रभाववादी आन्दोलन के अग्रणी माने, देगा, रेन्वा, मोने, सिसले, ह्विसलर और पिसारो थे। इस प्रकार के चित्रण में रग और प्रकाश का प्राधान्य हुआ और माने ने तो यहा तक कहा कि चित्र का प्रधान पुरुष कोई अन्य नही होता, उसका प्रधान पुरुष केवल प्रकाश है। इस प्रकार एक नये प्रभाववादी चित्रण का जो अब समारम्भ हुआ उसमें चित्र का समूचा कलेवर एक नजर में देखा जाने लगा, डिटेल में उसे देखने की परम्परा जाती रही। इस प्रकार के चित्रो में फोकस सर्वत्र होता था, किसी विशिष्ट स्थल पर नही। इस शैली में धीरे-धीरे रगो का इस तरह प्रयोग किया जाने लगा जैसे वे रगीन प्रकाश की किरण हो और उसकी यह विशिष्ट शैली "विन्दुवाद" (प्वाइटिलिस्म) कहलायी। इसका प्रधान साधक सुरा था। प्रभाववाद का आरभ परिस के उन चित्रकारो के विद्रोह से हुआ था जिनके चित्र फ्रेंच अकादमी ने अपनी प्रदशनी में प्रदर्शित करने से इन्कार कर दिया था। परिणामस्वरूप नैपोलियन तृतीय के आदेश से एक नया सैलून बना जहा इन विद्रोहियो ने अपने चित्र प्रदर्शित किये और जहा कला में प्रभाववादी शैली का आरम्भ हुआ।

मूतन के क्षेत्र में १६वी सदी के उस चरण में रोदें, मेदत्रोविच, मिल्म, इप्स्टाइन और अन्य मूर्तिकारो ने कुछ अचरज की सजीव मूरतें कोरी। मेश्त्रोविच ने यूगोस्लाविया में जन साधारण की प्रवृत्तिया मूर्त की और इप्स्टाइन ने तो प० नेहरु का भी पिछले दिनो में एक बस्ट तैयार किया। एरिक गिल और डाब्सन ने भी मूतन कला के क्षेत्र में इस काल पर्याप्त यश कमाया।

भारतीय कलाक्षेत्र से यद्यपि अजन्ता आदि की परपरा उठ गयी परन्तु कला का सवथा लोप न हुआ। गुजरात और सौराष्ट्र में लकडी और कागज पर कला के प्रयोग चलते रहे और जैन निमत्रणपत्रो ने शैलीगत रूढिभूत चित्रण का आदश कायम रक्खा। धीरे-धीरे राजस्थानी-रागिनी चित्रो का राजपुताने में आरभ और प्रसार हुआ और तभी चित्रकला के देशी क्षेत्र में उस मुगल कलम की बेल लगी जो वस्तुत अकन में सुईकारी थी। ईरान में ग्रथालकार में चित्रो का प्रयोग होता था और हाशिये चीनी लिपि-चित्रण से प्रभावित बनते थे। उस आधार से उठकर मुगल कलम ने भारत में सूक्ष्म मृदुल, और सुरुचिपूर्ण अकन की चोटी छू ली। साथ ही देश में इस्लाम के प्रभाव से जो हिन्दू कारीगरो द्वारा अचरज की इमारतें बनी थी उनके बीच फतहपुर सीकरी की इमारतें, दिल्ली आगरे के किले, जामा मस्जिद और ताजमहल जैसे शिल्प के अभिराम नमूने खडे हुए। शीघ्र लखनऊ के इमामबाडे ने भी स्थापत्य के क्षेत्र में अपूर्व मर्यादा पाई। उधर मुगल साम्राज्य के सध्याकाल जो दिल्ली-आगरे के टूटे कलावन्त पहाडी राजधानियो में पहुँचे तो वहा उन्हाने अनेक पहाडी शैलियो का विकास किया। इसी प्रकार अवध, पटने आदि की कलमो का भी विकास हुआ, दक्नी कलम तो कब की सजीव थी। यूरोपियन चित्रकला का प्रभाव उन्ही दिनो भारत पर अकल्याणकर पडने लगा था। उस सकर शैली के प्रधान चित्रकार केरल के रवि वर्मा थे। देश के देवी देवताओ की पवित्र काया मे घिनौनी यरोपीय आत्मा घुसकर बैठी।

जापानी और चीनी चित्रों का प्रभाव भी संसार की कला के केन्द्र पेरिस के चित्रकारों पर पड़े बगैर न रहा। किसी देश की कला अपनी जनता के सामाजिक जीवन और दर्शन से इतनी घनी संपृक्त नहीं रही जितनी चीनी कला रही है। चीनी चित्रों की प्रतीकता और रंगों की मृदुलता बारबार सराही गयी है और जापानी चित्रकारों होकुसाई, हारूनोवू तथा उतामारो के चित्रों ने तो अनेक बार पश्चिमी चितेरों के मन हर लिये थे। जापानी चित्र-छापों की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी लंदन में १८६२ में हुई। उसने पश्चिम का रुख जापान और चीन की ओर बरबस फेरा। पर उससे भी कहीं गहरा प्रभाव फ्रान्स के चित्रकारों पर पेरिस की सड़क रुद रिवोली की उस जापानी दुकान के चित्रों का पड़ा जिसका स्वामी सोये था और जिसका नाम ला पोते शिन्वा था। वहां होकुसाई और हिरोशिगे के चित्र बिकते थे और माने, देगा, मोने, ह्विसलर जहां नित्य उन चित्रों को देखने पहुंचा करते थे। ह्विसलर ने तो अपने चित्रों में अलंकरण के रूप में उस जापानी-चीनी प्रभाव को स्पष्ट कर दिया।

पिछली सदी के प्रायः आखिरी चरण और वर्तमान सदी के पिछले ५० वर्षों में पेरिस मे सर्वथा नई शैलियों का आरंभ और अवसान हुआ। उनमें से अनेक आज भी जीवित है। साधारणतः उनकी संज्ञा उत्तर-प्रभाववाद है क्योंकि प्रभाववादी शैली के पश्चात् ही उनका विकास हुआ। उनमें प्रधान घनवाद, भविष्यवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद आदि है। इनके स्रष्टाओं में मुख्य सेजान, फ़ान, गाग, गोगें, मतीस, जर्ज ब्राक, पिकासो आदि है। भविष्यवाद को छोड़ शेष इन सारी शैलियों का आरंभ पेरिस में ही हुआ। बहुत प्राचीन काल में यूनानी अफ़लातून ने चित्रण में वृत्तों, गोलार्धों और कोणों के महत्व की ओर संकेत किया था। सेजान आदि उत्तर प्रभाववादियों और घनवादियों ने पिंड का आमूल विश्लेषण करना आरंभ किया जिससे उन्होंने अपने चित्रणों में कोण, रवा, अणु आदि के सान्निध्य में रेखाएँ अंकित की। शुद्ध घनवाद से पहले जो उत्तरप्रभाववाद की लहर उठी उसके सशक्तवाहक गोंगे और फ़ानगाग भी थे। लूत्रे भी उसी वर्ग का चितेरा था। गोंगे ने तो स्पष्ट घोषणा की कि पश्चिम की कला अपनी शक्ति खो चुकी है और उसमें नवीनता या उत्कर्ष की संभावना नही, नई प्रेरणा के लिये हमें अब पूर्व की ओर देखना होगा। और उसने ताहीती आदि द्वीपों से आग्नेय जातियों, हब्शियों आदि के चित्र बनाना शुरू किया जिनका प्रभाव निःसंदेह पेरिस के चितेरों पर घना पड़ा। फानगाग हालैंड से पेरिस चला आया था। वह महान् मानवतावादी था और उसने ऐलान भी कर दिया था कि मै 'मानवता' मानवता और केवल मानवता का चित्रण करूंगा। किया भी उसने ऐसा ही। उसके चित्रों में मानव के साथ प्रकृति की घनी संवेदना है, उसकी प्रकृति अपनी सहानुभूति के साथ इतनी सजग और सजीव है कि उसके चित्रों में वह अनुपम हो गयी है।

पहले महासमर के बाद इटली को कुंठा से मुक्त करने के लिये वहां के कुछ आशावादियों ने भविष्यवाद का नारा उठाया जो कला और साहित्य दोनों क्षेत्रों में चला। मोरिनेत्ती उनका नेता था, और उसने शक्ति, गति और आशा को अपने नारे बनाये। उसका कहना था कि भविष्य हमारा है और हमारी कला अत्यन्त गतिशील होगी। इस दृष्टि से उसने और उसके अनुयायी

चितेरो ने चित्र की रेखाओ में गति का स्पदन डाला। निःसदेह चित्रारोपित रागरेखाओ में गति की सभावना अनित्य ही होगी फिर भी उसका आभास मिरजा जा सकता है और वल्ला ने अपने चित्र "महिला और उसका कुत्ता" में महिला के अधोवस्त्र, कुत्ते के पैरो और जजीरो की अनन्त रेखाये बनाकर गति का वह आभास अपेक्षाकृत सफलतापूर्वक उत्पन्न भी कर दिया। स्वाभाविक ही यह शैली चित्राकन में विशेष महत्त्व नही प्राप्त कर सकी।

घनवाद के प्रधान निर्माताओ में जाज ब्राक और पिकासो माने जाते है। पिकासो तो पिछली आधी सदी के भीतर अनेकानेक शैलियो की अभिसृष्टि करता गया है और आज भी करता जा रहा है। मतीस भी घनवादी है और पिकासो के साथ वह उस सन्धिकाल का प्रतीक है जिसके द्वारा अतियथार्थवाद घनवाद की पृष्ठभूमि मे, दादावाद के मार्ग से, अपने वर्तमान निजत्व को प्राप्त कर सका। अतियथार्थवाद के नायको मे प्रधान पाल क्ली, छागल और दाली है। रूसी सोवियत कलाकारो के सान्निध्य से यूरोपिय कला अतियथार्थवाद के आगे भी एक कदम बढी है और सामाजिक यथार्थवाद ने कला की शैलियो में अपना स्थान विशेष आदर का बना लिया है। पिकासो भी उसके उन्नायको में है और उसका चित्र "गेरनिका" उस दिशा में इतने महत्त्व का बन पडा है कि कुछ आलोचको की राय मे तो वैसा चित्र पिछली कई सदियो में नही बन पाया।

पिछले युगो की भारतीय कला की प्रगति की कहानी वस्तुत पुनर्जागरण की है। हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने अजन्ता के भित्ति-चित्रो की ओर नन्दलाल वसु आदि उदीयमान बगाल के चितेरो का ध्यान खीचा और बगाल में अजन्ता शैली का पुनर्निर्माण हुआ। यह राष्ट्रीय जागरण गुजरात और सौराष्ट्र पर भी छा गया जहा रावल आदि की प्रेरणा से चित्रण-कला ने नये डग भरे। इधर हाल मे बगाल और गुजरात में लोककला का भी विकास हुआ है और उस दिशा में यामिनी राय ने सफल तूलिका फेरी है।

दक्षिण पर पश्चिमी कला-प्रवृत्तियो का पहले जो प्रभाव पडा था वह नितात अशिव था। उसका दूसरा प्रभाव, जो आज भी पडता जा रहा है, विशेष कल्याणकर सिद्ध हुआ है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर के भाई गगनेन्द्रनाथ ने उस प्रेरणा को पकडा था, पर उस दिशा में वे कुछ विशेष कर नही पाये। परन्तु शातिनिकेतन के रामकिंकर बैज और मकबूल फिदा हुसेन आदि ने जिस पाश्चात्य शैली की देन मे साधना की है वह निःसदेह स्तुत्य है।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

कला और मौलिकता

प्रत्येक उत्कृष्ट कलाकार अपनी कला में कुछ नये मौलिक तत्व प्रदान करता है। यदि उसकी कला-कृति में कोई मौलिक तत्व नही है, तो उसे निम्न कोटि का शिल्पी समझा जायगा। मौलिक तत्व रूप-गत और वस्तु-गत, दोनों प्रकार के होंगे। अपने विचारों में, भावों और अनुभूत सत्य में वह कुछ-न-कुछ नवीनता प्रगट करता है; अपने छंद, ताल, लय में भी उसका कुछ मौलिक होता है , जो पहले नही अनुभव हुआ था।

कला अतीत की उपलब्धियों का अनुकरण मात्र ही नही होती; कला की परम्परा में विकास के नये मौलिक तत्व वह जोड़ती है साथ ही कला अतीत की महान परम्परा को सहेज कर आगे बढ़ती है। अतीत की उपलब्धियों को त्याग कर कलाकार एक पग भी आगे नही बढ़ सकता। उसे सहस्रों वर्ष की तपस्या और साधना का फल अयास ही मिल जाता है। उसे भाषा, छन्द आदि कला की लम्बी, अखंड परम्परा के तत्व उत्तराधिकार के रूप मे मिलते है। इनमें नये गुण मात्र वह प्रगट करता है। भाषा को वह एक बार फिर शुरू से नही गढ़ता; पुराने छंदों मे वह जोड़-तोड़ करता है, उनमें नया संगीत वह भरता है। रेखाओं से वह नये चित्र सजाता है, रंगों के सर्वथा अपूर्व मेल वह दिखाता है।

मौलिकता और परम्परा कला के दो अभिन्न पक्ष है। आज की कला में यह दोनों ही एक-प्राण होकर प्रगट होते हैं। जिस प्रकार संपूर्ण मानवता में दो व्यक्ति एक समान नही होते, किन्तु अनेक प्रकार से एक समान भी वे अवश्य ही होते है, उसी प्रकार कला में भी यह दो विरोधी तत्व एक होते है। संपूर्ण मानवता के विकास का उत्तराधिर सहेज कर नवीन पीढ़ियाँ इतिहास के पथ पर अग्रसर होती है, साथ ही अपनी विशिष्ट देन भी वह इतिहास को देती है।

कलाकार अपनी परम्परा से टूट कर सर्वथा अलग कदापि नही हो सकता, यह असंभव है। प्रयोगवादी कलाकार भी भाषा, छदों, ध्वनियों, रेखाओं, रंगों, आकृतियों के प्रचलित रूपों को सर्वथा ठुकरा नही सकता। मौलिकता का गर्व बहुत सीमित अर्थो में ही वह कर सकता है। यदि प्रत्येक नयी पीढ़ी को इतिहास का आरम्भ करना पड़े, तो इतिहास ही कभी न बन सके।

कला की उत्पत्ति जीवन का शृंगार करने की लालसा से होती है। आदिम युगों का शिल्पी जीवन के व्यापारों की अनुकृति कला में उतारता था, साथ ही जीवन को अपनी कला से प्रभावित करने की लालसा भी वह रखता था। अपनी गुफाओं की दीवारों पर वह आखेट के चित्र बनाता

आतंकित करते हैं, जो वस्तु-गत तत्वों की उपेक्षा करते हैं, जो सामाजिक सत्य और अनुभव से दूर हैं, जो कला को आत्म रति में उलझाते हैं, मौलिकता के नाम पर उनका सिक्का अधिक दिन नहीं चल सकता।

कला का वास्तविक महत्व समझने के लिए समय की दूरी अपेक्षित है। अपने काल की कला को अक्सर हम पूर्वग्रहों से आक्रान्त होकर देखते हैं। प्रतिद्वंद्वियों को हम उनका पावना नहीं दे पाते, मित्रों को हम उनके पावने से भी अधिक दे डालते हैं। आज हिन्दी का पाठक अनेक बहसों और वाद-विवादों से उद्वेलित और उद्विग्न है। अन्तत सामान्य पाठक अथवा कला-प्रेमी की रुचि ही इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय करती है। विश्व के महान् कलाकारों में गणना उन्हीं की होती है, जो अपनी कला के संस्पर्श से सामान्य जनता का हृदय उद्वेलित करने में समर्थ हुए हैं। ऐसे कलाकार जो सामान्य पाठक अथवा श्रोता का मर्म नहीं छू पाते, जिनकी कला एक सीमित वर्ग का ही हृदय-हार बनती है, अन्तत ऐसे कलाकारों की गणना इतिहास द्वितीय श्रेणी के कलाकारों में करता है। अपने ही नेत्रों में अपना आकार वे चाहे जितना बढा लें, इतिहास निर्ममता से अपना निर्णय अन्त में देता है।

डॉक्टर हरिद्वारीलाल शर्मा

कला-मीमाँसा के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण

कला के सम्बन्ध में चार ओर से प्रश्न पूछे जा सकते हैं। १. कलाकार के मानस में 'गर्भ' की भाँति पलकर उसकी 'कृति' किसी समय सुन्दर वस्तु के रूप मे प्रकट होती है। यह 'वस्तु' भवन, चित्र, मूर्ति, राग, काव्य या कविता का रूप धारण कर सकती है या किसी नृत्य या नाटक का। शिलाखण्ड, काष्ठ, मिट्टी, रंग, रेखा, स्वर, शब्द या अंगहार-या कोई भी पार्थिव पदार्थ कलाकार के मनोभावों का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। कलाकार अपने विलक्षण कौशल से 'पार्थिव' में अपार्थिव भावों का सृजन करता है, जड़ में चेतना का आलोक भरता है, उसमें जीवन का स्पन्दन, गति और उल्लास लाता है। जहां लय, मान आदि नहीं है वहां अपने विन्यास कौशल द्वारा इन गुणों और प्रभावों को उत्पन्न करता है। कला-सृजन की यह प्रक्रिया विलक्षण है। यह कैसे सम्पन्न होती है ? कलाकार के अन्तर में व्यक्त हुआ 'सौन्दर्य' कैसे उदय होता और पलता है ? किन विशेष परिस्थितियों में अमूर्त अनुभूति मूर्त और मुखर हो उठती है ? 'अरूप' रूप कैसे धारण करता है और क्यों धारण करता है ? कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा का क्या स्वरूप है ? वह किस शक्ति के द्वारा सौन्दर्य का अवगाहन करता है और किस कौशल से उसे व्यक्त करता है ? कला-सृजन के लिये कौन सी प्रेरणा है ? संक्षेप मे, कला-सृजन मनन के लिये योग्य विषय है और कला-मीमांसा का अंग है।

२. कला-कृति का महत्त्व रसिक और प्रेक्षक के लिये है जो किसी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उस 'कृति' के द्वारा सौन्दर्य और रस का अनुभव करता है। इस 'प्रेरणा' का मूल और स्वरूप क्या है ? रस की अनुभूति का विश्लेषण कीजिये और बताइये कि इसमें कौन तत्त्व सम्मिलित है ? 'रस' कहाँ से आता है ? क्या रसिक के अन्तरात्मा से, उसकी प्राकृत प्रवृत्तियों से ? या, उसका स्रोत सुन्दर वस्तु का 'सौन्दर्य' गुण है ? इत्यादि अनगिनत प्रश्न हैं जो रसिक के दृष्टिकोण से उपस्थित होते हैं।

३. सौन्दर्य गुण स्वयं क्या है ? शिलाखण्ड में भावों की अभिव्यक्ति, जैसे किसी पत्थर की मूर्ति मे विजय, उल्लास, समर्पण, निराशा, प्रेम, आह्लाद आदि का साक्षात्कार, यह कैसे सम्भव हुआ ? रूप और विन्यास का क्या अर्थ है ? विन्यास से उत्पन्न होने वाले संगति, आरोह-अवरोह, समानुपात, सन्तुलन आदि अनेक गुण है। इनका क्या अर्थ और प्रयोजन है; और सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करने में इनका क्या कार्य और स्थान है ? रूप, शोभा, कान्ति, लावण्य——ये

सौन्दर्य की विशिष्ट दशाए हैं। इस विशिष्टता का क्या स्वरूप है? अग और अगी में क्या सम्बन्ध रहता है? सम्पूणता, अन्विति, औचित्य, इत्यादि से क्या अभिप्राय है? ये प्रश्न कला-मीमामा के लिये महत्वपूर्ण हैं।

४ परन्तु ऊपर दिये गये तीनो दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सकुचित हैं, क्योकि वे कला-सृजन, रमास्वादन और कृति को केवल 'व्यक्तिगत' घटना समझते हैं। कलाकार जिस अनुभूति को पार्थिव माध्यम के द्वारा सौन्दर्य का वैभव और प्रभाव प्रदान करता है, उस अनुभूति का सम्बन्ध कलाकार के व्यक्तित्व से तो है ही, साथ ही, वह देश-काल-परिस्थितियो की भी उपज है। कलाकार का स्वय व्यक्तित्व इनके द्वारा पूण और परिपक्व हुआ है। कलाकार अपने सवेदन-शील स्वभाव, प्रखर चेतना और सृजनोन्मुखी प्रतिभा के बल से जन-जीवन के तल में लहराती हुई युग-चेतना तक पहुँचता है, और अपने व्यक्तित्व की गहराइयो में उसको पलने देता है। वह समाज और जीवन की दैनिक घटनाओ के ऊपरी रूप को न देखकर उनके मूल में अन्तर्हित चेतन और अर्द्ध-चेतन शक्तियों के क्रीडा-विलास को अपनी पैनी आँखो से देखता है। वह इतिहास के उस अन्तराल में प्रवेश करता है जहा अनादि और अनन्त चेतना और जीवन-शक्ति घटनात्मक 'इतिहास' का सृजन करती हुई विकास और विनाश, उत्थान और पतन, विस्तार और सकोच, जय और पराजय, शान्ति और युद्ध, निर्माण और ध्वस, की पद-गति से रनझुन करती हुई, श्वासोच्छ्वास भरती हुई, सदैव अज्ञात की ओर बढती चली जाती है। कलाकार इतिहास के इस महाप्रयाण के साथ श्वास लेता है, और विश्व-चेतना को अपनी चेतना बना लेता है। वस्तुत कला-सृजन की घटना, जैसे ताजमहल का निर्माण, रामायण की रचना या मूर्ति, चित्र, राग या नृत्य आदि के आविष्कार इत्यादि इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाए हैं। कलाकार की दृष्टि से भी कला का विवेचन इतिहास के इस अग को स्पष्ट जाने विना सम्भव नही है। अनेक कलाओ द्वारा अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ इतिहास के अनन्त प्रवाह में रख कर ही समझी जा सकती हैं।

रसिक की अभिरुचि, उसका पर्याप्त मानसिक विकास, बौद्धिक क्षमता और सौन्दर्य के अवगाहन और हृदयगम करने के लिये आवश्यक है। सस्कृति, शिक्षा, धार्मिक और नैतिक विश्वास तथा निष्ठाएँ, सामाजिक विकास का स्तर, यहा तक कि राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था— इन सब का प्रभाव रसिक में अभिरुचि उत्पन्न करने मे हाथ रखता है। न केवल रसानुभूति की क्षमता इनके प्रभाव पर निर्भर है, अपितु इस अनुभूति का स्वरूप भी। तभी तो मध्यकालीन धार्मिक कला-कृतिया आज निष्प्रभाव जान पडती हैं और उनका पुन सृजन अब असम्भव है जब तक कि इतिहास की स्वय गति ही न बदल जाय। रसानुभूति की क्षमता और अभिरुचि इतिहास के साथ चलती है। रसिक का 'मन' इतिहास की सृष्टि है। इसलिए रस-मीमासा के लिये इतिहास की चेतन और अचेतन शक्तियो को समझना आवश्यक है।

इतिहास कलाकार को प्रेरणा और भावो की सामग्री ही नही देता, वह उसे अभिव्यक्ति के लिये उपकरण, अवसर, मार्ग और साधन भी प्रदान करता है। किसी युग की सभ्यता कला

को अपना सम्पूर्ण वैभव, कौशल का विकास, राजनीति के द्वारा सुरक्षा, सम्पन्न समाज का संरक्षण, जनता की रुचि, खनिजों और विविध यंत्रों का संग्रह, शिल्पों का विकास, बिक्री के लिये बाजार भी, न जाने कितने साधन—उपलब्ध करती है। वास्तव में, कला की किसी भी विशेष कृति में, जैसे ताजमहल, अनेक देशों और अनेक युगों का इतिहास सिमट कर अभिव्यक्त हो उठता है। इतिहास के धागे में कला-कृतियां "सूत्रे मणिगणा इव" पिरोई हुई हैं। कला-मीमांसा के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण वाञ्छनीय ही नही, अनिवार्य भी है।

– २ –

इतिहास के विकास-क्रम में कला का उदय कब और किन परिस्थितियों मे हुआ ? इस प्रश्न का महत्त्व कई गुना है। एक, ऐतिहासिक विकास के कई पार्श्व होते हैं, जैसे धर्म, नीति, समाज, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, कौशल, उद्योग, राजनीत आदि। यदि हम निश्चित कर सकें कि कला का आविर्भाव विकास-क्रम में किस देशकाल मे हुआ तो हम इन पार्श्वो के साथ इसका सम्बन्ध निरूपित कर सकते है। कला ने इनको क्या प्रेरणा दी और इनसे क्या ग्रहण किया तथा किस प्रकार अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य से इनको प्रभावित किया ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर से इनका परस्पर स्वरूप स्पष्ट होता है कला के ऐतिहासिक कर्त्तव्य और प्रभाव का परिचय मिलता है तथा भावी विकास की योजना के लिये दिशा का दर्शन होता है। दो, कला के आविर्भाव के देशकाल को समझ लेने से हम रसानुभृति के मूल-स्वरूप का उद्घाटन कर सकते हैं, और इस अनुभूति मे कौन-कौन तत्व विकास-क्रम में, और क्यों घुलमिल गये है, ऐसे कि आज उनको अलग करना कठिन है—यह भी जाना जा सकता है। तीन, जिस मूल-प्रवृत्ति से कला का जन्म हुआ आज उसकी क्या अवस्था है ? क्या उसके परिष्कार, पुष्टि और अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त अवसर मिल रहा है ? क्या इसके दमन से भयंकर परिणाम हो सकता है ? यदि हाँ, तो हमें सौन्दर्य की अभिरुचि के लिये संस्कार, और इसकी तुष्टि और पुष्टि के लिये उचित मार्गो की आवश्यकता है। चार, प्रत्येक देश और जाति ने अनेक युगों में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और सामर्थ्य से, वैभव और शक्ति से, स्वकीय अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। तभी तो कला की असंख्य अभिव्यक्तियों में इतनी विचित्रता है। कला के स्तर पर सुदूर संस्कृतियों में, व्यापार की भांति ही, आदान-प्रदान भी हुआ। 'सौन्दर्य' में इन विविध तत्त्वों का मिश्रण एक रोचक विषय तो है ही, साथ ही यह कला के स्वरूप को स्पष्ट करने में भी सहायक होता है। पांच, प्रारम्भ से ही कला का एक कार्य मनो-विनोद रहा है। यद्यपि इसके गम्भीर उद्देश्यों को भी स्वीकार किया गया है, जैसे आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव, रुचि का विकास आदि। परन्तु रसास्वादन द्वारा मन का विनोद इसका व्यापक उद्देश्य प्रतीत होता है। विनोद की सबसे प्रथम और बड़ी आवश्यकता है बन्धनों से मुक्ति। यद्यपि धर्म और नीति इस विनोद की प्रवृत्ति को मर्यादित और संस्कृत करने का सतत प्रयत्न करते आये हैं, परन्तु विनोद की आवश्यकता इसे मुक्त, अन्तराल देने के प्रयत्न में लगी रही है। इसका अर्थ है कि सौन्दर्य के सृजन और रस के आस्वादन में जन-रुचि की

सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। इसलिए कला किसी युग और देश के सांस्कृतिक विकास को नापने के लिये उत्तम मानदण्ड है।

मगति और सन्तुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह तथा अगो का समानुपातिक विन्यास आदि सौन्दर्य के ऐसे गुण है कि ये प्रत्येक व्यवस्था और निर्माण में व्याप्त रहते हैं। ये हमारे दैनिक स्वभाव और रुचि के अग बन गये हैं। सौन्दर्य की इस व्यापकता के बल पर हम अनुमान करते है कि कला का उदय मनुष्य की 'आदिम' अवस्था में उसके स्वभाव की किसी मूल-प्रवृत्ति से हुआ। यह विनोद, क्रीडा-विलास, निर्माण और आत्माभिव्यक्ति, अनुकरण आदि किसी भी एक या कई प्रवृत्तियो से मिलकर उदित हो सकती है। 'आदिम' का नाम लेते ही हम किसी घृणित और भयकर अवस्था की कल्पना करने लगते है। इतिहास जो कहे, कला की दृष्टि से आदिम अवस्था ही अनुभूति के लिये, और इसके द्वारा सौन्दर्य-सृजन के लिये उन्मुक्त और उर्वर अवकाश प्रदान करती है। आज भी आदिम कला में हम ओज और गति का अनुभव करते है, इसका मूल कारण उसका स्वच्छद वातावरण ही है जो संस्कृति, धर्म और नीति की सीमाओ को स्वीकार नही करता।

कला और धर्म में से कौन पहले आया—स्यात्, इसका निर्णय न हो सके। सम्भवत ये दोनो 'आदिम' अवस्था मे कुछ अन्तर से प्रकट हुए, कला सौन्दर्य, रूप-सम्पदा को लेकर उन्मुक्त विनोद में इठलाती हुई, और धर्म मर्यादा और विधि-निषेध का माप-दण्ड हाथ में लिये अकडता हुआ। स्यात्, अपने शिशु काल में ही धर्म ने कला को वरण किया, क्योकि आदि काल से आज तक असख्य मन्दिर, स्तूप, मस्जिद, गिर्जों के रूप में, चित्रकारी, सगीत, नृत्य और साहित्य के रूप में, इन दोनो के परिणय से ये सृष्टियाँ होती रही है। धर्म कला के आकर्षक गुणो के बिना स्यात् नीरस और निर्जीव होकर अब तक मिट गया होता। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया, और कला ने धर्म को अपना सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के लिये साधन।

इसका यह तात्पर्य नही कि कला ने धर्म की मर्यादा और दमन-दण्ड को सदैव स्वीकार किया हो। कला ने, आज के स्त्री-आन्दोलन से भी पूर्व, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की, और, धार्मिक क्षेत्र से बाहर भी केवल स्वच्छन्द हास-विलास, मनोविनोद, निर्बन्ध रस-क्रीडा और उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति के क्षेत्रो में अपने सौन्दर्य से जन-मन को आप्लावित किया है। यह राज-प्रासादो मे रही है और, इसने राज-शक्ति का उपभोग किया है। धनिको का वह वैभव इसे पसन्द है जो सगीत, स्थापत्य, चित्र आदि के रूप में इसे अभिव्यक्ति के लिये साधन और अवसर प्रदान करता है। परन्तु इसे प्रतिभावान् दरिद्र भी अप्रिय नही है। लोक-गीतो और लोक-नृत्यो में, प्रत्येक जन-पर्व पर, पढे और बे पढे, मूर्ख और विद्वान्, धनी और निर्धन, सभी के लिये कला अपना विलक्षण सौन्दर्य प्रस्तुत करती है। युगो के इतिहास में कला का यह जन-मन-रजन कार्य महत्त्व रखता है।

ऐसा नही है कि धर्म ने केवल मर्यादा ही कला को प्रदान की हो। जिन युगो में धर्म जन-जीवन का केन्द्र रहा, तब इसने कलाभिव्यक्ति के लिये प्रबल प्रेरणा इसे दी। सारी जन-शक्ति और राज शक्ति ने मिलकर चट्टानो को खोद कर गुफाएँ बनाई, सदियो के अथक प्रयत्नो द्वारा

चित्रण किया; नूतन संगीतों और साहित्यों का निर्माण हुआ। परन्तु धर्म ने इससे भी अधिक किया : कला का कलेवर 'रूप और 'भोग' से निष्पन्न होता है। 'भोग' से हमारा तात्पर्य पार्थिव माध्यम से है जिसमें कलाकार 'विन्यास' के द्वारा 'रूप' का आविष्कार करता है। रूप और भोग द्वारा घटित कला का शरीर जब तक किसी मनोभाव या आध्यात्मिक अनुभूति को अभिव्यक्त नहीं करता तब तक वह प्राणहीन, स्पन्दन रहित, निरात्म-सा रहता है। कला को जन-जीवन से हर्ष, विषाद, गर्व, प्रीति, विनोद आदि असंख्य 'भाव' अभिव्यक्ति के लिये मिले, किन्तु धर्म ने इसे अध्यात्म लोक की अखिल ज्योति, गम्भीर अनुभूति और अचिन्त्य भावों का प्रसाद प्रदान किया जिससे इसे गाम्भीर्य, गौरव, पवित्रता, सनातन, अजर और अमर जीवन का लाभ हुआ ? केवल बुद्ध धर्म को ही लीजिये। बुद्ध के त्याग और वैराग्य, निर्मल ज्ञान और आत्म-विजय, करुणा और निर्वाण की अनुभूति, आदि उदात्त आध्यात्मिक भावों ने अनेकों देशों की कला मे उस महाप्राण और अनन्त आलोक का संचार किया है कि आजतक कला की वे अभिव्यक्तियां उनके द्वारा प्राणन कर रही हैं। इसी प्रकार जैन, हिन्दू, इस्लाम और ईसाई आदि धर्मो ने कला को अपनी 'आत्मा' समर्पित की, और , कला ने उस 'आत्मा' की ज्योति को, उसके जीवन, रहस्य, अनन्त और अजर प्रसाद को अनगिन निर्माणों द्वारा यूरोप, एशिया, अफ्रीका के देशों में बखेर दिया।

कला और धर्म का यह सम्बन्ध चिर काल से चला आया है, और, आज शिथिल होने पर भी टूटा नहीं है। इस ऐतिहासिक सम्बन्ध को स्पष्ट किये बिना इन दोनों का स्वरूप -निरूपण पूरा नही हो सकता।

— ३ —

धर्म ने जब अपने क्षेत्र और मर्यादा को लांघना शुरू किया, तो विज्ञान ने उसे टोका और रोका। इतना ही नही, विश्व और जीवन को समझने के लिये विज्ञान ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, नये विधान बनाये, धर्म की मान्यताओं में सन्देह उत्पन्न कर दिया, उसके क्षेत्र को 'व्यक्ति' तक सीमित किया, और, अन्त में गवेषणा और प्रमाण के नूतन और प्रबल बौद्धिक मार्गो और यंत्रो का आविष्कार किया ? विज्ञान 'सत्य' की खोज में निकला। धर्म ने विश्व के जिस 'मंगल मय' रूप को प्रस्तुत किया था, विज्ञान ने उसे अप्रमाणित, विश्वास के अयोग्य, पारलौकिक सिद्ध किया। इतना ही नही, विज्ञान ने नीति को भी अनावश्यक नियमों का जाल घोषित किया। हम यहां विज्ञान के इन प्रयत्नों की सफलता या प्रामाणिकता पर विचार न करेगे। परन्तु विज्ञान का उदय, वह भी धर्म के अनन्तर, एक ऐतिहासिक घटना है। इसने 'मंगल' के स्वरूप और आधार को बदला, और, 'सत्य' और 'मंगल' मे सामञ्जस्य उत्पन्न किया—"सत्य ही मगल है", यह विज्ञान का सिहनाद है।

कला पर विज्ञान के आविर्भाव का क्या प्रभाव हुआ ? एक, धर्म के शिथिल और सीमित हो जाने पर कला ने इसका साथ छोड़ दिया। दो, विज्ञान ने कला से कहा कि यदि तुम्हारा सौन्दर्य सत्य और यथार्थ नही है तो तुम्हारा भी धर्म की भांति तिरस्कार होगा, और तुम्हें जीवन के लिये

अवकाश ही न मिलेगा। और, यदि तुम 'यथार्थ' में विचरोगी तो विज्ञान तुम्हें अपने सारे साधन अभिव्यक्ति के लिये प्रदान करेगा। कला ने इस कथन पर विज्ञान को वरण किया, और अपने विकास और विस्तार के लिये इसी पृथ्वी पर, इसी लोक और इसी जीवन में, यहा और अभी होने वाली घटनाओं में, पर्याप्त अवकाश प्राप्त किया। तीन, इससे भी बढ़कर, विज्ञान ने अपनी सम्पूर्ण ज्ञान-सम्पदा और आविष्कारों के साधन कला को सौंप दिये और कला ने भी विज्ञान के माध्यम से अपने वैभव का सभी देशों में थोडे ही काल में अभूतपूर्व विस्तार किया। चार, विज्ञान का सभ्यता के विकास पर बहुत प्रभाव पडा। यातायात के साधन, परस्पर सम्पर्क के अवसर इतने फैले कि देश, राष्ट्र, जाति, वर्ण और धर्म आदि के बन्धन ढीले पडने लगे, सीमाए गलने लगी, और, 'मानवता' का एक अद्भुत रूप चमक उठा। यह निस्सीम और उपाधिहीन 'मानवता' विज्ञान की देन है। कला इस पर रीझ उठी है, और, एक ओर कला ने मानवता को सौन्दर्य प्रदान किया है तो मानवता ने अपना आलोक, आत्मा, गरिमा और गाम्भीर्य आदि देकर इसकी अभिव्यक्ति को उदात्त बना दिया है। धर्म का साथ छोडने से 'कला' के अवसरों और गौरव में कोई कमी नही हुई। पाच, विज्ञान के प्रभाव को केवल 'बौद्धिक' ही समझना ठीक नही।' विज्ञान ने आवेग और भावना के उन द्वारो को टक्कर लगा कर खोल दिया है जो बीती हुई धर्म-प्रधान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में युगो तक बन्द पडे रहे। स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीयता, और, अन्तत विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता, केवल 'विचार' ही नही है, अपितु ये भावनाओ से भरे विस्फोटक द्रव्य हैं जिन्होने व्यक्तिगत और जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और सभी स्तरो पर क्रान्तिया उत्पन्न कर दी है। कला के लिये आज क्षितिजो ने अपनी सीमाए खोल दी है। छह, जिस प्रकार धर्म ने 'दिव्य' भावना से कला को प्राणित किया था, उसी प्रकार 'मानवता' आज कला का प्राण है, और 'दिव्य-मगल' से भी अनोखा न्याय पर अश्रित 'मानव-मगल' हमारे सामने है। सात, विज्ञान ने आविष्कार और गवेषणा को अग्रसर किया है। कला के क्षेत्र में इसका प्रभाव यह हुआ है कि अनेक दिशाओ से 'सौन्दर्य' और 'रसानुभूति' को समझने के लिये प्रयत्न उठ खडे हुए है। समीक्षा के लिये नये मानदण्ड, रुचि विश्लेषण के लिये नूतन दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगे है। फलत कला में नित नये 'रूपों' का प्रयोग हो रहा है, इसके विभिन्न अगो का उद्‌घाटन और पुष्टिकरण चल रहा है। कलासृजन के लिये इतना महान्, विविध और निश्चित प्रयत्न जितना युगो में नहीं हुआ उतना पिछले थोडे काल में हुआ है।

इस प्रकार विज्ञान ने कला को अभिव्यक्ति के लिये उपकरण, विस्तार के लिये दिशाए, प्रयोग के लिये क्षेत्र, नवीन रूपो के विकास के लिये आवश्यक साहस और स्वतत्रता, अभिव्यक्त करने के लिये मानवता और मगल की भावना, आदि देकर नये युग का द्वार खोल दिया है। कला के पार्श्व और अभ्यन्तर विज्ञान के इस ऐतिहासिक प्रभाव को न जानेहुए विशद नही किये जा सकते।

— ४ —

इतिहास में सस्कृति, सभ्यता और नीति—तीन ऐसी शक्तियाँ है, जिनका कार्य समाज की

प्रत्येक व्यवस्था और रुचि तथा भावों की प्रत्येक अभिव्यक्ति के स्तर को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाना रहा है। कला का शुद्ध स्वभाव 'भोग', 'रूप' और 'अभिव्यक्ति' के माध्यम से गोचर मूर्त्तियों का सृजन और आस्वादन है। यह सृजन और आस्वादन, ऊंचे और नीचे, कई स्तरों पर सम्भव है। ये तीनों शक्तियां संस्कृत और असंस्कृत, सभ्य और असभ्य तथा नैतिक और अनैतिक का भेद उपस्थित करती है, और, प्रत्येक कृति, अभिव्यक्ति तथा निर्मिति के लिये मानदण्डों का आविष्कार करती हैं। कला का अपना मानदण्ड केवल एक ही है: सुन्दर और असुन्दर का भेद। यह भेद केवल 'भोग' अथवा 'माध्यम', रूप-विन्यास और अभिव्यक्ति के प्रकार पर निर्भर है। परन्तु कला समाज में पलती है जहाँ संस्कृति आदि दूसरे प्रभाव रहते हैं। फलतः एक ओर कला अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिए अपने मान और मूल्य का बल पकड़े अग्रसर होती रही है और दूसरी ओर समाज अपनी रुचि के मान और मूल्यों को कला के ऊपर लादता रहा है। इतिहास में ऐसे युग मिलेंगे जब एक या दूसरी शक्ति की विजय रही। कला की सब से उत्कृष्ट सृष्टियां उस काल में हुई है जब दोनों ओर से सामञ्जस्य सम्भव हो सका। प्रत्येक युग की कला के अध्ययन में हमें यह जानना आवश्यक है कि वह अपने स्वकीय रूप और मूल्यों को, अन्य मूल्यों का निर्धारण करने वाली शक्तियों के विरुद्ध, कहाँ तक अपना सकी है और वे 'बाह्य' और 'अतिरिक्त' मूल्य सौन्दर्य के मूल्यांकन में किस सीमा तक प्रविष्ट हो गये हैं।

सच पूछिये तो मूल्यों में परस्पर विरोध नहीं है। केवल उस दशा को छोड़कर जब एक दूसरे को दबा देता है, अपने स्वाभाविक सामञ्जस्य की स्थिति में एक मूल्य दूसरे के गुण-प्रभाव को बढ़ाता ही है। संस्कृति को लीजिये : इसका अर्थ है हमारी रुचियों का संस्कार। संस्कृत रुचि का प्रभाव सौन्दर्य को भी संस्कृत बनाता है, और, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए नये मार्ग और उपकरण, विन्यास के लिए नूतन विधान आदि अपनाने के लिए कलाकार को प्रेरित करता है। हमें संस्कृति की पूरी मीमांसा करना यहां इष्ट नही है; परन्तु हम इतना सामान्यतया मानते हैं कि संस्कृति के द्वारा एक ओर रुचि और मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार और परिमार्जन होता है, दूसरी ओर मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास। यह विकास कला-सृजन और रसास्वादन के लिए नई शक्ति, नये अन्तराल और नई स्फूर्ति प्रदान करता है। कला के स्वरूप का उत्तरोत्तर निखार संस्कृति के प्रभाव द्वारा ही सम्भव हुआ है। दूसरी ओर, सौन्दर्य में संगति, सामञ्जस्य, सन्तुलन आदि गुण रहते हैं जिनके प्रभाव से कलात्मक अभिरुचि स्वयं 'संस्कृति' के स्तर को उन्नत और परिष्कृत करने में सहायक होती है। ज्यों ज्यों सौन्दर्य के इन गुणों का प्रभाव प्रखर होता है त्यों त्यों केवल संस्कृति ही नही, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा समाज के सभी पार्श्वों में और स्तरों में यह प्रभाव व्यापक होता चला जाता है। विज्ञान आदि की किसी भी उत्कृष्ट कृति में सौन्दर्य पुष्प में गन्ध की भाँति समाया रहता है। वस्तुतः कला और संस्कृति का मेल और अन्योन्य उपकारक सम्बन्ध मौलिक और परस्पर पूरक प्रतीत होता है।

सभ्यता और नीति के साथ भी कला का वही सम्बन्ध है। सीमित अर्थ में सभ्यता

परिस्थिति के अनुकूल, मयत, जन-स्वीकृत, उचित सामाजिक व्यवहार का नाम है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सामान्यत इन नियमों का उल्लघन नही करती अर्थात् असभ्य नही होती। सभ्यता भी सौन्दर्य की अभिरुचि का मान करती है, इसके विकास के लिए अवसर और उपकरण प्रदान करती है। नीति मनुष्य के लिए उसके आचरण में 'कल्याण' का मार्ग और आदर्श उपस्थित करती है। क्या 'सुन्दर' मे अकल्याण हो सकता है? क्या मनुष्य कला के सृजन और आस्वादन में अनुचित साधनो, विधाओ और आदर्शों को अपना सकता है? इस प्रश्न का पूरा उत्तर तो यहाँ सम्भव नहीं, पर इतिहास साक्षी है कि कला और नीति के आदर्शों में, कुछ युगो में, अवश्य सघर्ष रहा है। मनुष्य की पूर्ण प्रकृति को समक्ष रख कर तो हम यही कह सकते है कि 'अनुचित सौन्दर्य' और 'असुन्दर कल्याण' दोनो अस्थायी अवस्थाए हो सकती है, परन्तु विकास का अग्रगामी पद सौन्दर्य और कल्याण का अवश्य ही कही और कभी सामञ्जस्य करा देगा।

— ५ —

हमने कला और इतिहास के सम्बन्ध का निरूपण किया, और, इतिहास की उन शक्तियो और प्रभावो का निरीक्षण किया जिनके द्वारा वह आगे बढता है। कला इतिहास का स्वय एक शक्तिशाली प्रभाव है। यह प्रभाव आदिम जीवन की आवश्यकताओ में उदय होता है, तथा निर्माण, विनोद, अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्तियो पर आश्रित होने के कारण व्यापक और अजर है। आदिम जीवन समाप्त हुआ, परन्तु कला जीवित है। धर्म ने अपनी आत्मा, वैभव, शक्ति और स्फूर्ति, कला को प्रदान किये, कला ने विनिमय में इसे सौन्दय और रस का वरदान दिया। धम ने सौन्दर्य को गौरव दिया, और सौन्दय ने धम को प्रवल आकषण। धर्म का प्रभाव आज परिस्थितिवश शिथिल है, परन्तु कला-सृजन का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। स्वयम्बरा कला ने विज्ञान को वरण किया, और विज्ञान ने अपनी सम्पूण विभूति इसे सौप दी। विज्ञान ने चाहा कि कला यथार्थ और प्रमाण के बन्धनो में बँधी रहे। परन्तु हुआ यह कि विज्ञान स्वय अपने विकास के क्रम से 'यथार्थ' के सीमान्त पर पहुच गया, और प्रमाणो के द्वारा ऐसे 'रहस्य' से जा टकराया जिसकी सिद्धि इनके द्वारा सम्भव नही। कला विज्ञान के द्वारा निर्धारित 'यथाथ' की सीमाओ में बहुत काल तक विचरी, किन्तु जब विज्ञान स्वय 'रहस्य' के धूमावृत देश में पहुच गया तब तो कला को नूतन स्फूर्ति मिली। जिस क्षण विज्ञान ने 'सम्भावनाओ' को स्वीकार किया, कलाकार की कल्पना ने भी उड़ान के लिये परें खोल दी। ज्ञान के अभूतपूव विस्तार ने कल्पना के लिए अनन्त अन्तराल खोल दिये, और कला-सृजन के लिए असख्य अवसर।

दूसरी ओर जीवन का भी विस्तार हुआ। आकाश और समुद्र, पर्वत, नदी, भूगर्भ, नक्षत्र-मण्डल, सक्षेप में, प्रकृति के सूक्ष्मतम, दूरतम और विशालतम पहलुओ का उद्घाटन हुआ। शक्तिशाली यन्त्रो ने अनेक गुप्त रहस्यो को स्पष्ट किया, किन्तु साथ ही अनन्त प्रश्नो को उत्पन्न कर दिया। इधर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के गम्भीर तलो को विज्ञान ने उघाडा। मानवता का एक अद्भुत और निरुपाधिक स्वरूप प्रस्तुत किया, रूढिगत मान्यताओ को नष्ट कर नूतन

युगानुरूप विचारों को स्पष्ट किया। जो हम अपने सीमित देश, समाज, यहां तक कि संसार के विषय में सोचने के लिए चिर अभ्यस्त हो गये थे, वे आज हम विज्ञान के विकास-क्रम से ही निस्सीम देश और काल के प्रवाह में अपने को देखते हैं। संक्षेप में, विज्ञान ने जीवन के रहस्यों को बढ़ा दिया है, और आज हम आदिम मनुष्य की भांति अपने को अचिन्त्य भावों से घिरा पाते हैं। प्रश्न यह है कि इस परिस्थिति में कला की क्या दिशा होगी और क्या दशा ?

कला का प्रधान साधन कल्पना है। कल्पना 'यथार्थ' पर बहुत दिन नहीं टिक सकती। उसे प्रकाश नहीं, धूम, समीप नहीं, दूर, अधिक अनुकूल बैठता है। सम्भव है कला, वैज्ञानिक विकास का अनुसरण करती हुई, रहस्यों के धूमावृत लोक में चली जाय; कलाकार और रसिक के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से दूर जाकर 'रस' का सृजन करने के बजाय केवल 'आश्चर्य' का सृजन करने लगे। यह इस समय कला की प्रगति है। परन्तु इसमें भय है, कि रस और सौन्दर्य का मानव-स्रोत कहीं तिरोहित न हो जाय, आध्यात्मिक भावों और हृदय की भावनाओं का स्थान कहीं विज्ञान की समस्याएं न ग्रहण कर लें। स्यात्, इस प्रकार विज्ञान कला का जीवनान्त न कर दे। परन्तु आशा यही है कि विज्ञान, धर्म की ही भाँति, स्वयं अपने चरमान्त पर पहुंच कर नष्ट हो जाय, और मनुष्य जीवित रहे। और जीवित रह जाय कला भी।

श्री शिवशङ्कर अवस्थी, शास्त्री, एम ए

कला और जीवन

स्थूल और सूक्ष्म, जीवन के दो पक्ष होते हैं। सयुज तथा सगर रूप में वर्तमान इन दोनों की समशीलता जीवन की सर्वांगीणता का आधार मानी गयी है। सूक्ष्म यदि जीवन का रस-सार है तो स्थूल उसका स्वर्ण-घट। दोनों में किसी एक के आदर अथवा तिरस्कार का अतिवाद जीवन के अस्वास्थ्य का परिचायक है। स्थूल की सप्राणता का मूल्य सुपरिष्कृत सूक्ष्म की मधुर तथा सार्वजनीन निर्मिति में ही चुकता है। अनादि काल से जीवन के स्थूल और सूक्ष्म की बुभुक्षा, सृष्टि के सर्वोपरि जीव मनुष्य को स्वभावत तदनुकूल खाद्य सामग्री के जुटाने की दुर्दम प्रेरणा से आकुल करती आई है। इसीलिए जहा उसने घट, शय्या, गृह आदि सामान्य उपयोग वाले पदार्थों का निर्माण करके स्थूल की कामना को सम्मानित किया वहीं घट के कलेवर में उड़ती हुई तितली का उत्खनन, शय्या के पावो में सुशोभन काल-कर्म और गृह को शिल्प-सम्पत्ति से आभूषित करना भी नही भूल सका। सूक्ष्म की अभीप्सा को अपनी दैनन्दिन व्यस्तता में चाह कर भी उपेक्षित रखने में समर्थ नही हुआ। सूक्ष्म का वह अबाध सन्देश मनुष्य की वाणी में, मन में, उँगलियो में मधु बन कर मचल पड़ा। मनुष्य की इस ललित लीला के परिणामस्वरूप सलज्ज लेखा और रुचिर रगो के अन्तराल मे अनन्त रूपसी रमणिया उद्बुद्ध होती हुई जान पड़ी। मन ने भावुकता में आकण्ठ मग्न होकर माना—अरे यही तो कला है। बुद्धि को सूझ पड़ा—सूक्ष्म की अदम्य लालसा को तृप्त करने के लिए किसी कठोर प्रयोजनीयता एव हेतुकता से परे मनुष्य द्वारा सघटित रूप-रचना का बहुरगी आयाम ही तो कला की परिभाषा है।

दैत्य वस्तु को उदरस्थ होकर तृप्त होना है और देवता दर्शन करके अथवा गन्ध लेकर। जीवन का स्थूल ही दैत्य है और सूक्ष्म ही देवता। दोनो का साहचर्य नैसर्गिक है, आहार्य नहीं। 'देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेपतेर्द्वया पुत्रा आसन्।' जीवनरूपी प्रजापति को अपने दोनो अग प्रिय हैं। एक की भी निवर्त्तना उसका निजी ह्रास है। सृष्टि की सम्पूर्ण अपरूप सघनता पर जीवन की स्थूलता का दावा है और उसके सौष्ठव, सौकुमार्य, माधुरी और मनोहर विन्यास पर सूक्ष्मता का सतत शासन।

सम्पूर्ण शिल्प-नैपुण्य, समग्र कला-विलास के बीच जो कुछ श्रेष्ठ और पावन है वह सूक्ष्म का अपना ही अभिनव सस्करण है। 'आत्म सस्कृतिर्वाव शिल्पानि।' आत्म कामना ही प्रियता का परम लक्षण माना गया है। ससार की समग्र प्रयोजनहीन शोभा सामग्री में अपने का ही उपभोग

करता हुआ जीवन का सूक्ष्म, स्थूलता के बीच वैसे ही प्रोल्लसित होकर समाज की सहानुभूति को संचित कर लेता है जैसे काँटों और हरित पत्रों के बीच प्रफुल्ल पाटल।

आज चारों ओर कठोर प्रयोजनीयता का जो हो-हल्ला, सूक्ष्म के सिहासन को हिलाये दे रहा है, लगता है उसके पीछे कोई बड़ी भारी भूल काम कर रही है। हमें धरती चाहिए, धन चाहिए, यन्त्र चाहिए—सब ठीक है। किन्तु पहले यह सब हो ले फिर सूक्ष्म को भी देखा जायगा—स्थूलता के भ्रान्त हिमायतियों का यह चाहना ठीक नहीं। एक राजा को कहीं से एक सुन्दर पक्षी प्राप्त हुआ। अनुचरों को आज्ञा हुई कि इसके रहने के लिए उचित व्यवस्था की जाय। मनोज्ञ उद्यान का निर्माण होने लगा। शिल्पी पिंजड़े की रचना के लिए स्वर्ण और मणियों को कसौटी पर चढ़ाने लगे। यथासमय सब सम्भार प्रस्तुत हो गये। पक्षी को बड़े आडम्बर के साथ पिंजड़े में रक्खा गया किन्तु वह न तो हिलता था और न डोलता। उसके वे मधुर विराव, स्मृति के विषय बन गये थे। राजा को सूचित किया गया। उसने देखा सज्जा सामग्री के सन्धान में लगे हुए अनुचरों ने पक्षी के दाना-पानी की ओर ध्यान ही नहीं दिया और वह पक्षी कभी का मर चुका है।

किन्तु हम जीवन की सूक्ष्मता के मनोहर पक्षी को असमय में ही मरने से बचाने के लिए कटिबद्ध है। स्थूलता के आग्रह की सीमा का भी हमें भान है। और इसीलिए जब हम स्थूल उपयोगिता के एकान्त हो-हल्ले को शंका की दृष्टि से देखते है तो इसमें कोई पक्षपात की बात नही।

कला, जीवन के सूक्ष्म का दाना-पानी है। उसकी अवहेलना जीवन के एक विशेष पक्ष को आँख मूंद कर अस्वीकार करना है। जीना चाहिए, इसलिए जैसे भी हो हमें जीना होगा, ऐसी बात नहीं है। जीवन की समस्या का समाधान बीजरूप में वहीं अन्तर्हित है। जीने की मौलिक प्रेरणा हमें उसी मे से प्राप्त होती है। कला हमारे चित्र में शक्ति रूप से, मन में भाव रूप से और वाह्य जगत् में भूत रूप से वर्तमान होकर जीवन को कभी भी कृपण और एकाङ्गी नही होने देती।

जब-जब मैं दावतों में मेज पर भोजन की सामग्री के साथ रक्खे हुए गुलदस्ते को देखता हूँ तो लग आता है कि अन्ततः भोजन के साथ इस पुष्प-स्तबक का क्या मेल है ? किन्तु दूसरे ही क्षण यह जान कर मुझे आश्चर्य चकित होना पड़ा है किस प्रकार अनजाने ही मनुष्य अपने भीतर पैठे हुए देवता को नैवेद्य समर्पित करने में पश्चात्पद नहीं रहा।

जीवन के सूक्ष्म को भाता है व्यक्तित्व की कारा से चिरन्तन मोक्ष; विश्व के दूरन्देशी रूप रसादिमय अणु-रेणुओं की निर्द्वन्द्व लीला के साथ अमर साहित्य (सहभाव)। क्यों ? किस लिए ? समाधि मग्न महानटेश्वर के व्युत्थित चित्त की वहिर्विसरणशील अनन्त अनन्त वृत्तियाँ हीं अगणित जीवन हैं। समाधिज अद्वैतता एवं आत्म प्रसार के सुख-संस्कार, व्युत्थित चित्त के वृत्ति रूप जीवन में रह-रह कर जागरुक हो उठते है। और तब सृष्टि संस्था के साथ उन संस्कारों से उत्प्रेरित जीवन के सूक्ष्म की एकान्त सम्मिलनाकांक्षा कोई अनहोनी, निरी आगन्तुक बात नही। हमें सुख की अभिलाषा है। किन्तु अभाव की पूर्ति वाला खोटा सुख लेकर क्या होगा ? वह तो सदोष सिक्के की भांति अन्धों में ही चल सकता है। जान-बूझ कर अन्धा बनने में हमें कोई लाभ

किन्तु किन्तु सहसा वे खिन्न हो उठे। उपभोक्ता से रहित यह निसर्ग सम्पत्ति! और तभी उनके समक्ष एक इन्द्रगोप वपु, कमनीय किशोर प्रकट हो गया। घुटे हुए अंजन में निर्धौत उसकी कजरारी आँखों से भोलापन टपका पड रहा था। गभुवारे केश-विन्यास से ईषत् आच्छादित उसके ललाटस्थल को देखकर मेघाडम्बर में आक्रान्त अष्टमी के चन्द्रमा का भ्रम होता था। स्मिति और गम्भीरता के एकान्त सामञ्जस्य भूमि उसके अधर, उषकाल की अरुण आभा लेकर रंगे हुए से जान पडते थे। स्वर्ण चम्पक के अंकुर के समान उसका एक-एक अंग पुष्ट और सम विभक्त था। उसके तेजस्वी नख स्वर्ण तरु की कभी न म्लान होने वाली रत्नकलिका के समान प्रतीत होते थे। उसका कान्त कलेवर अमृत में घुले हुए कर्पूर खण्ड द्वारा ढाला जाकर अनुराग के रक्तिम रस में नहाया हुआ सा दिखाई दे रहा था। यही जीवन था।

विधाता ठगे उसे देखते रह गये। दूसरे क्षण प्रकृतिस्थ होकर उन्होंने आज्ञा दी—'वत्स जाओ, अपनी सत्ता से असहाय सृष्टि को सनाथ करो।' भोला जीवन चल पडा। किन्तु कुछ सोच कर विधाता ने कहा—'ठहरो'। और एक अनिन्द्य सुंदरी शक्ति को उसके हृदय देश में स्थापित करते हुए चेतावनी दी—'देखो यह कला है, आपत्ति में सम्पत्ति में सर्वदा यह तुम्हारी सहायता करेगी। जाने या अनजाने कभी भी इसकी अवमानना न होने देना।' और तब विधाता निश्चिन्त हो गये। जीवन उतर पडा कर्म क्षेत्र में। तब से आजतक जीवन के हाथों कला को कितना आदर-सत्कार, कितनी उपेक्षा और अवमानना सहनी पडी है, इसके उपालम्भ का लेखा कला के निकट खोजने पर भी न मिलेगा। क्योंकि वह जानती है विधाता ने जीवन को उसके हाथों सौंप रक्खा है। जीवन उसे अपदार्थ समझ कर अस्वीकार भी कर दे किन्तु कला अपने भोले और चचल जीवन को असहाय एकाकी छोडे भी तो कैसे?

श्री विष्णुकुमार दवे

कला का रस-दर्शन*

यूरोप के प्रसिद्ध कला-विवेचक : स्व० : हेनरिक वातस्कून के मतानुसार "मानव जब दैवी निगूढ़ता के साथ आत्मपरीक्षण करता है, तब उसे अपने उन मूल्यवान् एवं धन्य प्रतीत होने वाले क्षणों में अनुभव होता है कि वह एक क्षुद्र प्राणी है क्योंकि उसी समय दैवी अनंतता की उसे सृजन द्वारा अभिव्यक्ति होती है। और उसका उत्तर देने के लिये वह जो प्रयत्न करता है, उसी को हम कला का सत्य स्वरूप कह सकते हैं।" इसी प्रकार अन्य एक कला-विवेचक के मतानुसार "स्थूल अथवा काल्पनिक सूक्ष्म सौन्दर्य विषयक अपनी अनुभूति अथवा अपने अन्तर दर्शन य हृदयस्थ कल्पना को मानव जब सृजन द्वारा व्यक्त या मूर्त स्वरूप प्रदान करता है तब वही कला कहलाने लगती है।"

मानव की यह अभिव्यक्ति स्थूल या सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण अंकित करती है और इसी के द्वारा यह उच्चतर भावना एवं संस्थिति का निरूपण करने के लिए यत्नशील होता है। अन्त में उस भावना का उच्च कक्षा वाला रूप अनन्त में जाकर विराम पाता है। अर्थात् जब अनन्त की निगूढ़ता का आविर्भाव उसमें प्रवेश करता है, तब उसे आह्लाद और शान्ति की अनुभूति होती है। और जब वह अनुभूति व्यक्त होती है, उस समय स्वेकुंगन विचारक के ये शब्द सत्य सिद्ध हो जाते हैं कि "मैंने अपने आपको परमेश्वर के समान बना लिया है, क्योंकि मैंने भी शाश्वसता का अनुभव किया है।" क्षुद्र मानव प्राणी की सृजन शक्ति या उसके अव्यक्त कल्पना संवेदन का यदि कोई अंतिम स्वरूप हो सकता है तो वह यही है। मानव की यह लालसा उस कल्पना की तरंग या उर्मि के आविष्कार की ही पूर्णानुभूति है।

मानव क्षुद्र प्राणी होते हुए भी उसमें विविध शक्तियां प्रस्तुत होती ही है। और उन

---

* (कला के विषय में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य कला मर्मज्ञों के केवल दृष्टिकोण में ही विभिन्नता नहीं वरन् दोनों के विवेचन एवं मर्मज्ञान के व्यक्तीकरण मे भी भिन्नता दिखाई देती है। इसी कारण नवीन कला विलासी के लिए यथार्थ कला निर्णय करना कठिन हो जाता है। ऐसी दशा में कला के वास्तविक रस-दर्शन पर विचार प्रकट करना तो और भी दुष्कर कार्य कहा जा सकता है। फिर भी उभय पक्ष के मतों के समीकरण की दृष्टि से पर्यालोचन किया जाने पर बहुत कुछ समस्या हल हो सकती है।—सम्पादक)

शक्तियो का दर्शको ने अनत निगूढता के कतव्य परिभ्रमणरूप वर्तुल में से जो दर्शन किया है, उसी को वे अपनी कल्पना शक्ति द्वारा अपने ढग से व्यक्त करने के लिए उद्यत होते हैं। उनका यह प्रयत्न ही "सत्य शिव सुन्दरम्" का वैयक्तिकरूप और इन तीनों सहित सच्चिदानन्द का निरूपण है। इस प्रकार मानव की व्यक्त एव अव्यक्त भावनाओ का यह अन्तिम दर्शन है। और इसी तरह उसकी व्यक्त शक्तियो का अन्तिम दर्शन उसके सृजन, जीवन और सर्वनाश का क्रम है।

फलत जब मानव के इस दर्शन ने मूर्त स्वरूप धारण करना आरभ किया, तो उसमें से जगत् का नियत्रण करने वाले तीन सर्वाधिष्ठ देवताओ की आकृति निर्मित हुई। और उनके नाम ब्रह्मा, विष्णु एव रुद्र हुए। किन्तु मानव का कल्पना सवेदन यहीं आकर रुका नही, वरन् उसे इसमे भी अपूर्णता ही प्रतीत हुई। क्योकि उसे अभी पूर्णानुभूति करानेवाला दर्शन प्राप्त करना था। और अन्त मे वह उसे प्राप्त हो भी गया। उसे सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक दिखाई दी और उसे उसने आकृति द्वारा मूर्त स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। वह प्रयास ही महादेव का सर्वशक्ति सम्पन्न स्थितप्रज्ञ रूप है। अर्थात् मानव के निजानन्द की पूर्णानुभूति का यही अतिम स्वरूप कहा जा सकता है।

मानव का यह प्रयत्न कला की अनुभूति, दर्शन और सृजन की क्रमिक गति का बोध कराता है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि आतरदर्शन जब किसी आकृति द्वारा व्यक्त होता है, तब कला अपने स्थूल या सूक्ष्म रूप में प्रकट होती है। जिस आकृति द्वारा कल्पना या भावना व्यक्त होती है, उसका उद्भव जीवन की वास्तविकता में से ही होता है। वह कला कृति कितनी ही काल्पनिक क्यो न हो, फिर भी उसका निरूपण कलाकार की भावना और तरगो से रजित मानव या प्रकृति के किसी अग का प्रतिबिम्ब तो व्यक्त करता ही है। वह प्रतिबिम्ब यथार्थ भी हो सकता है और भावना तरग से रगा हुआ पूर्ण काल्पनिक भी। किन्तु इन दोनो प्रकार की अभिव्यक्तियो के लिए वास्तविकता का तलस्पर्शी अनुभव तो होना ही चाहिए।

हमारे त्रिमूर्ति के कल्पना समृद्ध निरूपण में यथार्थता का अभाव किसी प्रकार भी सिद्ध नही किया जा सकता। कल्पना कितनी ही समृद्ध क्यो न हो, फिर भी उसमे वास्तविकता ही कला दर्शन के रसानन्द की सवाहक बनती है। अर्थात् इस सकेत द्वारा कला अव्यक्त को व्यक्त करती है, अमूर्त को मूर्त बनाती है। कला का यह वाहन है। और रग-रेखा एव प्रकाश, छाया उसके अलकार है।

पूर्णत अलकृत कलादर्शन के लिए देश काल या स्थान और समय की मर्यादा नही होती। वरन् "उस कृति में तो ऐसी महान् शक्ति होती है जो हजारो का देश काल की मर्यादा के बिना ही हिला सकती है। वशीभूत कर सकती है, उसके जीवन की शाति एव क्लान्ति को भुला सकती है। साथ ही वह आनन्द और प्रकाश एव स्फूर्ति भी प्रदान कर सकती है।" इस प्रकार कला की इस शक्ति के लिए देश काल की मर्यादा हो ही नहीं सकती, वह तो मानव के साथ ही उत्पन्न हुई है। और "जिस प्रकार मानव देह में आख, नाक, कान, या भूख प्यास आदि अग रूप होते हैं,

उसी प्रकार कला भी उसका एक अंग ही है।" यद्यपि कला देश काल अथवा सम्प्रदाय तक मर्यादित नहीं है, तथापि सर्वप्रथम तो वह देश या सम्प्रदाय की ही मानी जायगी। उसकी अपनी छटा, ताल एवं संवेदना ही उसे अनूठी वैयक्तिकता प्रदान करती है। इस प्रकार वह अन्य देश या सम्प्रदाय की कला से भिन्न हो जाती है। फिर भी कला के इस स्वरूप का अन्य देश या सम्प्रदाय की कला के साथ संबंध तो होता ही है। और इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए। कला के प्रत्येक साम्प्रदायिक स्वरूप के अंतर्गत उसका उर्ध्वगामी स्वरूप भी होता ही है। और इसीलिए वह सर्वमान्य एवं सर्वभोग्य बन पाती है।

कोई भी उपासक कला कृति के अंगोपांग को भिन्न-भिन्न नही मान सकता। उसे तो कला कृति का निरीक्षण और परीक्षण सम्पूर्ण रूप में ही करना पड़ता है। हां, उसका रस सन्देश अवश्य प्रत्येक को, अपनी दृष्टि या परिस्थिति के अनुसार विभन्न रूप में मिल सकेगा। इस प्रकार कला शाश्वार है, चिरजीवी है। कला की यही विशेषता है कि उसका आधुनिक आविष्कृत कला-दर्शन अपने पश्चात् आने वाले कला-दर्शन की छाया तले विस्मृत नही हो जाता। क्योंकि उसका स्वाद तो उसके भक्तों को समय मर्यादा की बाधा के बिना भी प्राप्त होता ही रहता है। यह भी संभव है कि वर्षो के पटल में विस्मृत हो जाने वाली उसकी आवश्यकता वर्षो पश्चात् जाग्रत हो और लोक जीवन में नयी ही भावना उत्पन्न कर दे।

इस प्रकार कला की संसिद्धि विज्ञान सिद्धि से भिन्न हो जाती है। अर्थात् विज्ञान की सिद्धि नित्य नई खोज के कारण जहा बदलती रहती है, वही कला की सिद्धि वास्तविकता का बुद्धिजन्य निरूपण होने से अपना वैयक्तिक उर्मि उद्वेलित स्वरूप प्रकट करती हुई भी काल के झंझावात में चिरस्थायी रहती है। यही कला की मुख्य शक्ति एवं विशिष्टता है। और इस विशिष्टता का कारण यह है कि सृजन क्रम का अंतिम ध्येय आनन्द है और कला उस क्रम का एक अंग है।

श्री देवीप्रसाद राय चौधुरी जैसे प्रसिद्ध कलाकार का कथन है कि "यह अनुभूति केवल कला सर्जक तक ही मर्यादित नही है, वरन् जिसके पास इसे समझने योग्य ग्रहण शक्ति है, वे भी इसे प्राप्त कर सकते हैं।" इसी प्रकार उनके मतानुसार कला और कला रसिक का सम्बन्ध "लोह चुम्बक और लोहकार के समान होता है।"

कला का कार्य क्षेत्र और दृष्टि और भी विस्तृत हो सकती है। अर्थात् कला की सफलता जन समाज में सुषुप्त आनन्द, सौन्दर्य एवं सृजन की भावना को जागृत कर रसास्वाद कराने मे ही होनी चाहिए। सर्जक की विचारधारा उसकी आकृति, रंग एवं रेखा द्वारा लोक समूह तक पहुंचनी चाहिए।

संभव है कि विशेष अज्ञान, अशिक्षा अथवा अभागे वातावरण में लोक समूह की शक्ति विकसित न हो सकी हो। किन्तु उसमें शक्ति विषयक अपक्व भावना तो होती ही है। इसीलिए सर्जक, उपदेशक या चिंतक का सृजन या संशोधन अपने तक ही मर्यादित न रहते हुए दूसरों के आत्म विकास के लिए भी उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।

जीवन की समस्याओं मे से वास्तविकता को ग्रहण कर उसके सौन्दर्य का दर्शन कराने

में ही दर्शक की सफलता है, जिस प्रकार की कला विकसित होकर पुष्परूप धारण करती हुई भोक्ता को रसास्वाद कराती है। किन्तु इस स्वाद की रसगम्यता दर्शक के माध्यम पर आधार रखती है। श्री यामिनीराय के चित्र जिस ग्राम बंगाल की ठेठ भाषा एवं विचारधारा और रंजन-कला को व्यक्त करते हैं, वे अन्य दर्शक को भी उतनी ही रसानुभूति करा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार कला के आदर्श प्रतीक रूप अजंता, एलोरा के भित्ति चित्र एवं भूतकाल का अन्य शिल्प भी सौन्दर्य की सुपुप्त भावना को जाग्रत तो करता ही है। लोकोपभोग की यह सिद्धि कला की सर्वमान्य सफलता है।

किन्तु इसके साथ हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि कला का आदर वैयक्तिक वैशिष्ट्य अथवा दृष्टिकोण पर आधार रखता है। इसके अतिरिक्त कलाकार का कौशल्य भी कला के रसानंद का मुख्य साधन होता है। श्री राय चौधुरी के मतानुसार "वह कौशल्य ही उसकी भाषा है, जीवनतत्व है।"

कला के द्वारा विशाल जनसमुदाय आह्लादक वातावरण का रसास्वादन और आनन्द प्राप्त करता है। वह केवल आनन्द-प्रमोद का ही साधन नहीं होती, वरन् जीवन की सहज अभिव्यक्ति भी उसका प्रधान अंग होती है। हेवलोक एलिस तो कहता है कि "सभी कलाएं प्रकृति के क्रमानुरूप होती हैं, अतएव जो वास्तविकता लिए हुए न हो वह कला ही नहीं कही जा सकती।"

हमारे समग्र जीवन में कला की अनुभूति एवं उसके आविष्कार इतने तीव्र और वेगवान होने चाहिए कि प्रो० हर्बर्ट रीड के शब्दों में हम यह कहने लग जायं "अब कला कृतियों की हमें आवश्यकता नहीं, वरन् स्वयं कला की ही चाह है, क्योंकि कला ही हमारे जीवन का मुख्य अंग है।"

पद्मभूषण आचार्य सूर्यनारायण व्यास

कला और कलाकार

कला, आत्मा के आविर्भाव का नाम है। यह जीवन का अनुपम और अमूल्य अंग है। कुछ लोग जीवन को प्रभुप्रदत्त उपहार समझने में सार्थकता अनुभव करते हैं, और कुछ लोग जीवन को एक भार समझ उसे वहन करते हैं। इस विभेद-भावना में भी कारण कला ही है। प्रथम प्रकार में कला का सत्कार है, और दूसरे में कला का तिरस्कार। जीवन ही क्यों, समस्त सृष्टि के निर्माण में ही कला प्रमुख है। जीवन के अर्थ है—प्रगति, एवं प्रवृत्ति की गाथा, तथा कर्म का इतिवृत्त। जिस जीवन में कला का विकास न हो, वह भारभूत हो जाता है। जीवन में यदि कला न हो तो मानव की सात्विकता, और पशु की पाशविकता में कौन सा अंतर रह जाएगा? कला जीवन में अपूर्णता, एवं वेग प्रदान करती है, और कला-विहीन जीवन नीरस हो जाता है। जीवन में प्रगति लाना कला का धर्म है। कला के द्वारा ही जग की समस्त लीला की झांकी होती है। जीवन के रस से अभिषिचित हो कला प्रभावती वन जाती है। कलाकार जीवन की घटना का बिहारी होता है। वह उसी में सजीव कला का दर्शन कर पाता है। जिस प्रकार कला का विस्तार-विकास होता जाता है, उसी प्रकार जीवन का मूल्य विदित होता है। देश की प्रगति, और मानवता के मूल कारणों का रहस्य ही कला में निहित है। इसी कारण कला की निर्मलता, और पवित्रता का प्रभाव भी निर्मल और पावन होगा। उसी में विशुद्ध कला का आविर्भाव भी होगा। कला-हीन जीवन वेग विरहित हो जाता है। कला-साधक की सतत साधना में जीवन की सार्थकता है। कलाकार इसीलिए साधक है। वह आत्मलीन होने के कारण आत्मदर्शी होता है। कला को किसी कीमत पर उतार-चढ़ाव की कसौटी पर रखनेवाला, कलाकार नहीं, कला-व्यवसायी है। कलाकारों के वर्ग में ऐसे कितने होंगे, जो इस कसौटी पर खरे उतरेंगे? कला की उपासना में जिन्होंने जीवन-यापन कर दिया है, उन्होंने सिद्धि भी सुलभ की है। और कला-प्रेरणा भी जागृत की है। महान टॉरिक का उदाहरण प्रत्यक्ष है। वह वैभव, विलासिता के वातावरण को छोड़ सुदूर एकात हिम-उपत्यका की वनराजी में साधक की जीवनी बिता स्वयं कलामय वन गया, फिर भी उसकी कला का सौरभ सारी जगती में, विस्तृत होता रहा. किसी भी महान् कला-साधक ने वाजार में अपनी कला की दूकान नही लगाई। एकांत में साधना की जीवनी ही पसंद की है। वह स्वयं एक महान् सृष्टा है। उसकी सृष्टि का स्वतंत्र आत्मनिर्भर सम्राट् है। चाहे उसे एकान्त में वन-जीवन व्यतीत कर कंद-मूल-फलों पर निर्भर रहना पड़े, धन का दारिद्रय

ही भोगना पडे, किंतु वह अपने कला-साम्राज्य में आत्मानद के साथ ही रहता है। अजता, एलोरा वाग की एकात कला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। सदियो के वीत जाने पर भी किसी अपरिचित कलाकार की इन अमर रचनाओ के समक्ष लाखो के मस्तक आदर से अवनत हुए है। और इन जड गुहाओ की भित्तियो पर बने चित्रो ने लाखो लोगो को जीवनानन्द, और प्रेरणा प्रेरित की है। कौन जानता है कि इन कोमल-कलाओ को अकित करनेवाली कूचि, किन कोमल हाथो में रहकर यह सजीव-सृजन कर गयी, पर कौन सा मस्तक होगा जो इन अज्ञानो की स्मृति में अवनत न हो गया हो!

परन्तु जब कला किसी वाद-विकार से ग्रस्त हो जाती है, तब उसकी उदात्त भावना मर्यादा में सिमिट जाती है। यथार्थ-अकन ने आज उसके शील एव सात्विकता का अचल उतार दिया है। कला नग्न बनने लगी है। उसका दर्शन भी लज्जाशील आखो के लिए दुर्भाग्य का विषय बन गया है। तथ्याकन पश्चिम की देन ही नही है। कला की स्वाभाविकता में उसके आरभ से ही समाविष्ट रहा है। किंतु शील और मर्यादा की इस मानभूमि में उसका अचल नही उतरा है। अतीत काल के कला शिल्पियो ने एकात गुहाओ में भी उसकी मर्यादा का मान रखा है। किंतु आज का वास्तव-वाद उसके चीर-हरण को विवश बना रहा है। जहा अतीत में 'अनिर्वचनीय परकलनम्' का आदर्श रहा हो, वहाँ किसी कलेवर का 'यथार्थ', नग्न-रूप, कैसे ग्रहण कर सकता था? भावना के भ्रष्ट हो जाने पर पवित्रता को सात्विक-स्वरूप कैसे सुलभ हो सकता है? जिसके देश की 'अजता' के समक्ष आदर का मस्तक भी अवनत होता रहा हो, उसके आधुनिक तथ्यो पर यदि किसी की आखें लज्जा से ऊपर न उठ सके तो यह अतर किसका आभारी रहेगा? काश, कलाकार, यह अतर 'अजता' मे तौल पाता। कलाकार का धर्म है रसात्मा के अतर में रहनेवाली प्रभुता का साक्षात्कार करवाना। कला का रूप सात्विक होता है। उसमें मिथ्या की मलिनता या पाप की छाया का स्पर्श नही होता। हिम शैल-शिखर से निःसृत भगवती भागीरथी की तरह ही कला का पट विशाल, एव विमल है। कला की आराधना स्थूल की पूजा नही। वह आत्म दर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार है। कलाकार तत्वान्वेषी, तत्वचिंतक, तथा तत्वदर्शी है। और अगम्य का शोधक। कवि, काव्य-कला द्वारा वाणी और अर्थ के अगोचर भेदो के दर्शन करवाता है, गायक शब्द-ब्रह्म की साधना द्वारा रसिकता, और सौन्दर्य को श्रुतिगम्य करवाता है। चित्रकार रग और रेखा-द्वारा अद्भुतता के अमर रेखा चित्र अकित करता है। शिल्प, स्थूल से चेतनता के रूप को साकार करता है। अपनी आत्मा को कवि अक्षरो में अवतरित करता है, वह काव्य बनता है। गायक अपनी आत्मा को स्वर में सधान करता है। जीवन मे प्रवाहित होनेवाला कलाकार जीवन के जाल को नही नापता, किंतु लहरो में लहर लेता है। कलाकार के जीवन में तृप्ति नही होती। इस अतृप्ति में ही कला, और कलाकार का आत्म-विकास है।

श्री रामशंकर भट्टाचार्य

स्कन्द पुराण में वर्णित कतिपय कलाएँ

मनुष्य जीवन में कामरूप तृतीय पुरुषार्थ का उच्च स्थान है। यद्यपि इस शब्द का प्राचीन अर्थ आज लुप्तप्राय हो गया है, तथापि यदि हम इस शब्द के प्राचीन अर्थ को जानकर इस विद्या का अनुशीलन करें तो हम अवश्यमेव लाभान्वित होंगे। गीता का 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि' वाक्य ही इस पुरुषार्थ की महनीयता का प्रत्यक्ष ज्ञापक है।

कलाशास्त्र कामशास्त्र के ही अन्तर्गत एक विद्या है। कलाविद्या सचमुच कामशास्त्र-जलधि से उद्भूत अमृत है, जिसके पान से हम इस त्रितापदग्ध जगत् में भी कथंचित् हार्दिक आनन्द प्राप्त कर सकते है।

आचार्य वात्स्यायन का ग्रन्थ वर्तमान काल में एकमात्र उपलब्ध आर्ष ग्रन्थ है, जिसमें इस विद्या पर विशिष्ट विचार देखने को मिलता है। आचार्य ने कलाओं को कामतन्त्र की अङग विद्याओं की तरह माना है. **इति चतुः षष्टि रंगविद्याः कामसूत्रस्य अवयविन्यः**——१।३।१६।

कला का लक्षण करना कुछ दुरूह अवश्य है, पर कामसूत्र में कलाओं की जो सूची मिलती है, उससे कलास्वरूप पर कुछ न कुछ स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है। इस सूची में तक्षकर्म, वास्तुविद्या आदि भी परिगणित है, जो शिल्पशास्त्र का मुख्य विषय है। वस्तुतः कला और शिल्प के विभाजक तत्त्व का निर्णय कठिन है, यद्यपि इन दोनों की पृथक-पृथक् उक्ति भी मिलती है। वाक्यपदीय में '**सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धर्न**।' (१।१२६) कहा गया है, जहां विद्या-शिल्प-कला को पृथक् गिना गया है, यद्यपि विद्या में ही ये दो भी आ सकते हैं।

इस निबन्ध में इस विवाद में न पड़कर प्रसिद्ध कलाओं मे कुछ विशिष्ट कला पर स्कन्दपुराणोक्त सामग्री का संकलन किया गया है। यह संकलन बहुत अपूर्ण है। वस्तुतः यहां निदर्शनमात्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे अभिज्ञ पाठक और अधिक स्थलों का अन्वेषण कर इस विषय में पूर्ण विचार कर सकते है।

अति वृहत् स्कन्द पुराण में कही भी कला का लक्षण नही मिलता, यद्यपि कई बार कला शब्द का प्रयोग मिलता है। '**कलाकलापकुशला**' यह विशेषण स्त्री के लिये आया है (४।६७।३९)। सभी कलाएं विश्वकर्मा में निहित हैं—यह वाक्य भी आया है (४।८६ अ०)। केवल एक बार 'चतु.षष्टिकला' का उल्लेख ही आया है (५।३।२१।४), यद्यपि कही भी कलाओं की गणना नही मिलती। कलावैदग्ध्य ३।१।१८।२२ में कथित है।

वाद्ययन्त्र — नानाविध वाद्ययन्त्रों का नाम यत्र तत्र मिलता है, विशेष कर स्त्रियों के प्रसग में। कुमारी कर्तृक वीणा—वेणु-मृदङ्गवाहन ५।२।४५।८५—८७ में है। सवाद्य सगीत ४।६७।३८ में कथित है। घोषवती वीणा ३।१।५।१३६ मे कथित है। चतुर्विध वाद्य का उल्लेख ८।९८।१६ में है। पञ्चवाद्य १।१।२५।३९ में मिलता है। यहा कौन कौन पाच वाद्य इष्ट हैं, यह मैं नहीं जानता। ४३ श्लोक में शख भेरी पाटह आणक गोमुख का नाम आया है। क्या ये पाच इष्ट है ? वंशीवादन का उल्लेख भी मिलता है (३।२।३।७६)।

नृत्य — गीत की तरह इसका उल्लेख भी शिवपूजन के साथ सर्वत्र आया है। भरतमुनि शिक्षा पण्डित रचित गीतनृत्य का उल्लेख भी मिलता है २।२।१७।६८-६९)। लास्यरूप नृत्यभेद का उल्लेख ५।२।४५।८५।८७, ४।६७।३८ है। विपरीत नृत्य ५।३।१५।१२ में कथित है, जिसका लक्षण देखना चाहिए। ८।१।१२ में हल्लीसक शब्द आया है, जो नृत्य विशेष है। रामानन्द स्वामी ने इसकी टीका मे इसके लक्षणादि दिये हैं।[1] नृत्यादि मे सबधित गान्धर्वविद्या ४।६७।४० में उल्लिखित है। नृत्य-गीत-वाद्यात्मक तौर्यत्रिक का उल्लेख भी आया है ४।६०।१२१, ४।६७।३६ एक स्थल पर 'प्रनृत्य' शब्द भी है (१।२।३४।२९)। पता नही यह कोई नृत्यविशेष है या नृत्य ही है। त्रिविध नर्तन का उल्लेख मिलता है (३।२।३।७५)।

नाट्य — नाट्य प्रसग में सूत्रधार के पञ्चविधत्व का विचित्र उल्लेख मिलता है— 'एकोऽह पञ्चधा जातो नाट्ये सूत्रधरो यथा' (२।४।३।१६)। सूत्रधार के ये पाच रूप कौन कौन है, यह विचार्य है। नाट्याचार्य तुम्बुरु का नाम ३।१।२८।७६ में आया है। नाट्यार्थ कोविदा नर्तकी ४।६७।३८ में कथित है।

क्रीडा — नानाविध क्रीडाओ का नाम इस पुराण में मिलता है। इस पर हम पृथक् लेख लिखना चाहते हैं, अत यहा सामान्य विवरण दिया जा रहा है।

क्रीडाकन्दुक का उल्लेख ४।६५।२७, ३४ तथा १।१।२।३८ में है। रासक्रीडा भी ८।३।२४ में कथित है। क्रीडा मे सबन्धित क्रीडावापी का उल्लेख ४।६७।१६१ मे है। वगाधिरोहन क्रीडा का नाम ४।४५।११ में मिलता है। कुमार कार्त्तिकेय की वासुकि क्रीडा १।१।२७।१०७—१०८ मे वर्णित है। पशुक्रीडा (परस्पर युद्ध्यमान पशु) का उल्लेख २।८।१०।३२ में है।

कामकला — कामतन्त्र का शब्दत उल्लेख में है। कामिनीकामकेलिज्ञ रूप विशेषण भी एक राजा का दिया गया है (४।८२।८)। मदनवृक्ष एक वृक्ष का नाम है। उसके विशेषण मे 'कामियों का मदन' कहा गया है (४।१।१९)। एक स्थल पर कन्दर्प के कुछ स्थान और स्त्री प्रशसा का रुचिर वर्णन आया है।

---

१ एकस्य पुस बह्वीभि स्त्रीभि सह क्रीडन नारीणा मण्डलीनृत्य बन्धो वा। तदुक्तम् —नारीणा मण्डलीनृत्य बन्धे हल्लीसक विदु। एषैव रासक्रीडा। तल्लक्षणमिदम्—पृथु सुवृत्त मसृण वितस्तिमात्रोन्नत कौ विनिखन्यशङ्कुम्। आक्रम्य पद्भ्याम् इतरेतर तु हस्तैभ्रमोऽय खलु रासगोष्ठी।

कामिनीनां कटाक्षेषु केशपाशेषु चैव हि।
जघन स्तननाभौ तु दोर्मूलेऽधरपल्लवे ।।
वसन्ते कोकिलालापे ज्योत्स्नायां जलदागमे।
कामार्थे च मया दत्तौ सबलौ मधुमाधवौ।
स्त्रियोऽमृतमयाधन्याः संसारे सारकारणम्।
रतेश्चैव निधानानि सन्तानार्थं विनिर्मिताः ।।

(५।२।१३।१२-१४)। यहां कामिनियों के कटाक्ष, केश आदि स्थानों मे कामदेव रहते हैं, यह कहा गया है। इसके बाद के श्लोकों में कहा गया है कि स्त्रियों से जगत् वशीकृत है; स्त्री में आसक्त मनुष्यों की बुद्धि नष्ट हो जाती है; दैत्यों का नाश स्त्रियों के कारण ही हुआ; स्त्री ही देवों का भयाश्रय है; स्त्रैण व्यक्ति विपन्न होता है (५।२।१३।१५-१८)। कामिनीमोहनार्थं शाम्बरी मन्त्रविद्या का नाम मिलता है (३।२।३६।४१)। यहां तक वन के विशेषण मे 'परस्त्री सुरतोचित' पद भी आया है। (३।४।९।५८)। कामप्रमोदिनी एक कन्या का नाम रखा गया है (५।३।१६९।२४)।

द्यूतविनोद :—इसको भी कला मे गिना जाता है। इसका शब्दतः उल्लेख १।३।३०।३० में है। द्यूतक्रीडा पर एक असाधारण उल्लेख काशीखण्ड में आया है जहां द्यूतक्रीडा को जगद्-व्यापार के साथ रूपक के रूप मे दिखाया गया है :—

देव देव तव क्रीडाखिलं ब्रह्माण्डगोलकम्।
मासा द्वादश ये नाथ ते सारिफलके गुहा।।
कृष्ण कृष्णोतराया वै तथयश्चास्ताश्च सारिका।
द्विपञ्च दशमासेया त्वक्षयुग्मं तथाऽयने।
सृष्टिप्रयलसंज्ञौ द्वौ ग्लहौ जय-पराजयौ।
देवी जये भवेत्सृष्टिरसृष्टिर्धूजटेर्जये।
भवतोः खेलसमयो या सा सृष्टरुदाहृता।
इत्थं क्रीडैव सकलमेतद् ब्रह्माण्डमीशयोः ।।

(काशीखण्ड ८८।५-८)। यहां अक्षक्रीडासंवन्धी इन विषयो का उल्लेख है—सारि-फलक, अक्षयुग्म, कृष्णश्वेत सारिका, जय-पराजय, खेलसमय। इस वर्णन की चारुता देखते ही वनती है।

द्यूतसंवन्धी यह सुभाषित स्मरणीय है—**'द्यूतक्रीडा महादेवि दृश्यते विविधात्र च।** भवेद् द्वाभ्यां च द्रूते हि रमणाच्च महत्सुखम्' (१।१।३४।६१)।

वाक्यविलास :—चमत्कृतिजनक भणिति भी कला मे गिनी जाती है। इस पुराण मे एक स्थान पर महाराष्ट्ररमणी से संवन्धित वाग्विलास का उल्लेख आया है—**'सुकोमल महाराष्ट्री वाग् विलास मनोहरम्'** (४।२।११)। त्रिविध वाक्य का उल्लेख १।२।३४।६७ में आया है।

घटीयन्त्र—२।२।२०।१२, १।३।१५।४,

पादपयन्त माला (प्रपदीना माला)—२।२।३०।३६

माला-मान्य —इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया गया है—'माला मा प्रपदीना तु माल्य कण्ठोर लम्बितम्' (२।२।३०।१४०)—पादपर्यन्त लम्बमान को माला और कण्ठ-देश से उरपर्यन्त लम्बमान को माल्य कहा जाता है।

प्रसगत इस पुराण में वर्णित अन्य कुछ कलापूर्ण वर्णनो का स्थल निर्देश भी किया जा रहा है।

विन्ध्यपर्वत वर्णन—४।१ अ० इस वर्णन की चारुता देखते ही बनती है।

वन वर्णन—२।८।१।२५ मे कुछ श्लोक

आश्रमवर्णन—१।३।३१ अ०

यद्यपि कला से इन वर्णनो का साक्षात् सबन्ध नही है, तथापि गौण रूप मे इन विवरणो मे कलामय दृष्टि की सत्ता है, यह स्वीकार्य ही होगा।

नायिका रूप —पुरीवर्णन की तरह नायिको के रुचिर वर्णन भी अनेक स्थानो पर आये है, जिनके अध्ययन मे भी कलासबन्धी अनेक तथ्यो का ज्ञान हो जाता है। यहा एक विशिष्ट स्थान का उद्धरण दिया जा रहा है—

दक्षिणदिक् को सूर्य की नायिका मानकर एक असाधारण रूपकात्मक वर्णन किया गया है। यथा—

लवङ्गैलामृगमद चन्द्रचन्दन चर्चिताम्।
ताम्बूलीराग रक्तौष्ठीं द्राक्षा-स्तवक-सुस्तनीम्।
लवलीवल्लिदोर्वल्लीं कङ्कोलीपल्लवाङ्गुलिम
मलयानि श्वासा क्षीरोदकवराम्बराम्
त्रिकूट स्वर्णरत्नाङ्गी सुवेलाद्रिनितम्बिनीम
कावेरीगौतमीजङ्घा चोलचोलांशुकावृताम्
सह्यदर्दुरवक्षोजा काञ्चीकाञ्चीविभूषणाम्

(४।२।७–१०)। इस वर्णन मे विलासिनी का स्पष्ट चित्रण उपलब्ध होता है।

इस प्रकार नायिका वर्णन इस पुराण मे सहस्रश मिलता है। कितना ही अच्छा हो कि कोई अधिकारी विद्वान् इन वर्णनो का अध्ययन कर भारतीय प्राचीन कला का स्पष्टीकरण करे, जिससे एक लुप्त विद्या का उद्धार हो जाय।

डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास

रामायणकालीन कला : सिद्धान्त और साधन

रामायणकालीन आर्य कलात्मक अभिरुचि-सम्पन्न लोग थे। सभ्यता और संस्कृति के परिचायक कला-कौशलों में वे निपुण थे। उनके दैनन्दिन जीवन की घटनाओं से उनकी कला-प्रियता परिलक्षित होती है। सौन्दर्य-चेतना उनके रग-रग में व्याप्त थी। सुन्दरता के पारखी तो वे थे ही, स्वयं अपने सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने में भी वे सचेष्ट रहते थे। बालकाण्ड के छठे सर्ग में वाल्मीकि ने अयोध्या के नागरिको का जो वर्णन किया है, वह इस बात का सूचक है कि वे कितने सुसंस्कृत, कलाभिज्ञ, सौन्दर्य-प्रिय एवं सहृदय नर-नारी थे। तत्कालीन नगर उस युग के कला-केन्द्र ही थे, जहां राजाओं की छत्रछाया में सौन्दर्य-अभिव्यंजक कलाएं पुष्पित एवं पल्लवित होती थीं। वनचर वानर और नर-भक्षी राक्षस भी कला और सहृदयता की दृष्टि से पर्याप्त समुन्नत थे। समस्त रामायण का एक कविर्मनीषी के हाथों जिस प्रकार सृजन एवं प्रकाशन हुआ है, और अन्ततः जिस प्रकार उसका कथानक शनैः-शनैः रसाभिव्यक्ति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया गया है, उसके कारण सारा महाकाव्य एक उत्कृष्ट साहित्यिक चमत्कार एवं सौन्दर्य-मूलक चेतना से अनुप्राणित हो उठा है। जिन घटनाओं और चरित्रों की आदि-कवि ने सृष्टि की है, वे उसके अपने कला वैशिष्ट्य एवं अपनी भावप्रवणता से ओतप्रोत है। लव-कुश के मुख से रामायण-गान का श्रवण करनेवाले ऋषि-मुनि शास्त्रीय अर्थ में सहृदय पुरुष थे—उनका मस्तिष्क इतना संवेदनशील एवं सहानुभूतिपरक था, उनकी अभिरुचि इतनी परिमार्जित एवं कलात्मक थी कि वे अपनी श्रवणगोचर अनुभूतियों से एकाकार हो जाते थे।

सौन्दर्य-प्रसाधनों के रूप में पुष्पों का प्रचुर प्रयोग, केशों का आकर्षक शृंगार, अंगराग, प्रलेपन तथा चित्र-विचित्र वस्त्रों का व्यवहार, पैरों मे अलक्तक-रस तथा मस्तक पर तिलक का प्रयोग, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली का अंकन, राज-प्रासादों, गृहों, रथों, और पशुओं का अलंकरण, नगरों और उद्यानों की कलापूर्ण रचना, तथा चित्रकला, संगीत, नृत्य, स्थापत्य आदि ललित कलाओं का परिशीलन—ये सब परिष्कृत जन-रुचि एवं कला-भावना के व्यापक प्रसार की ओर इंगित करते है।

कला का स्वरूप

वैदिक युग की सरल एवं प्रारम्भिक कलात्मक प्रवृत्तिया रामायण-काल में आकर असंदिग्ध रूप से एक उच्चतर स्तर तक पहुंच गयी। खगोल-विज्ञान और रेखा-गणित-जैसे शुष्क शास्त्रों

को प्रोत्साहित करनेवाला वैदिक धम कला की उन्नति मे सहायक नही था। निस्सन्देह वह भी देव-पूजा का प्रतिपादक था, पर यह पूजा मन्दिरो में प्रतिष्ठित मूर्तियो की न होकर सीधे-सादे मण्डपो में स्थापित यज्ञाग्नि की होती थी। उपनिषदो का अध्यात्मवाद एव रहस्यवाद तो कला की प्रगति में बाधक ही सिद्ध हुआ। उन्हाने कला को भौतिक और वैषयिक मानकर उसे मानव-जीवन की आध्यात्मिक लक्ष्य-सिद्धि में एक महान् विघ्न समझा। किन्तु रामायण-महाभारत-काल में उपनिषदो का कठोर बुद्धिवाद भक्ति की भाव-प्रवण धारा से परिप्लावित हो गया और इस प्रकार मानव की अन्तरात्मा से प्रवाहित होनेवाली रसानुभूतियो ने ही कला की अभिव्यक्ति, कला के सर्जन को प्रेरित एव प्रोत्साहित किया।

कला कोई सस्ता विनोद या मनोरजन का साधन न मानी जाकर एक सात्विक अनुष्ठान समझी जाती थी, जिसके सेवन के लिए पर्याप्त साधना एव एकाग्रता अपेक्षित थी। कलाकारो द्वारा अपनी इष्ट-प्राप्ति के लिए भक्ति और योग के साधन-द्वय का आश्रय लिया जाता था। इनका प्रयोग वे साधारण भक्तो की ही भाति करते थे। भक्ति के द्वारा कलाकार अपने आदर्श के प्रति सर्वातोभावेन आत्मनिवेदन करता तथा योग द्वारा उससे तादात्म्य स्थापित करता, उसके दुरूह पटलो हृदयगम करता और उन्हे मूर्तरूप देने की पृष्ठभूमि का निर्माण करता। तूलिका या लेखनी उठाने से पूर्व कलाकार या कवि, इन्ही योग और भक्ति का सम्बल लेकर प्रतिपाद्य विषय से तदाकार होता और उसका अन्तश्चक्षुओ के समक्ष एक स्पष्ट रूप अकित कर लेता था।

साहित्य-साधना में योग का अवलम्बन किस प्रकार लिया जाता था, इसका उदाहरण रामायण-रचना के प्रसग में मिलता है। जब वाल्मीकि राम-चरित का सक्षिप्त रूप में नारद से श्रवण कर चुके, तब वह उसे विस्तार से जानने का उद्योग करने लगे। एतदर्थ वह 'पूर्वाभिमुख कुशो पर बैठ गये और विधिवत् आचमन करके योग (समाधि) द्वारा राम आदि के चरित्रो का ध्यान करने लगे। राम, लक्ष्मण, सीता, राज्य-सहित राजा दशरथ तथा उनकी कौसल्या आदि रानियो से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें थी—हँसना, बोलना और चलना आदि जितनी चेष्टाए हुई—उन सबका उन्होने अपने योग के प्रभाव से भली भाति साक्षात्कार किया। सत्य-प्रतिज्ञ राम ने सीता और लक्ष्मण के साथ वन में विचरते समय जो-जो लीलाए की थी, वे सब उनकी दृष्टि में आ गयी। योग का आश्रय लेनेवाले उन धर्मात्मा महर्षि ने पूर्व काल की सभी घटनाओ को हाथ पर रखे हुए आवले की तरह प्रत्यक्ष देखा। मनोहर राम-चरित का इस प्रकार यथार्थ रूप से निरीक्षण करके महर्षि वाल्मीकि उसे महाकाव्य का रूप देने को उद्यत हुए, (१।३।२–७)।

यहा पर यह दर्शनीय है कि कला का अकन आरम्भ करने से पूर्व कला-कृति का निर्माण सम्पूर्ण हो जाता है। वाल्मीकि का स्थान उन कलाकारो में शीर्षस्थानीय था जो चित्रित की जाने वाली वस्तु की एक भी रेखा अपनी तूलिका से तब तक नही खीचते जब तक उन्होने उसे अपने कल्पना-चक्षुओ से न देख लिया हो। किसी कला-कृति को साकार रूप प्रदान करने के पीछे एक परम जागरूक इच्छा-शक्ति का प्रभाव होता है, जो तत्सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार की विशिष्ठ प्रेरणा, सहज बोध, अथवा आभास को नष्ट न होने देती थी।

कला की साधना में प्रयुक्त यह यौगिक प्रक्रिया एक मानसिक व्यायाम या धार्मिक अनुशासन मात्र नहीं थी, यह तो किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व की जानेवाली व्यावहारिक तैयारी थी। उदाहरणार्थ, लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान् ने पहले देवताओं की स्तुति की, एक मुहूर्तभर ध्यान किया, मन से सम्पूर्ण अशोकवाटिका में भ्रमण किया और सीता को पा लिया। इसके बाद ही वह सशरीर परकोटे को लांघकर, धनुष से छूटे हुए वाण के समान, वाटिका में प्रविष्ट हुए।[1] भारत में सदा से यह मान्यता प्रचलित रही है कि एकाग्र और ध्यानस्थ चित्त के लिए, कर्मेन्द्रियों के प्रयोग के विना ही, समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी आविष्कारकों, कलाकारों और गणितज्ञों के लिए यह एक व्यक्तिगत अनुभव की चीज है।

रामायण में कला के अर्थ में 'शिल्प' शब्द का अनेक वार प्रयोग हुआ है। उसके अन्तर्गत गीत, नृत्य, वाद्य, चित्रकर्म आदि ललित कलाएं समाहित थी। कला का अनुशीलन मनोरंजन तथा व्यवसाय दोनों दृष्टियों से किया जाता था। व्यवसायिक कलाकार को 'शिल्पकार' कहते थे। राम **वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता**' थे, अर्थात् मनोरंजन के उपयोग में आनेवाले संगीत, वाद्य, चित्रकारी आदि शिल्पों के जानकार थे।

वाल्मीकि ने चित्र-कला, वास्तु-कला, संगीत, रंगमंच, नृत्य और स्थापत्यकला के विषय की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। वास्तव में रामायण का प्रत्येक भाग भारतीय कला के इतिहास के अध्येता के लिए वहुमूल्य है।[2]

चित्र-कला

परम्परानुसार चित्र-कला प्राचीन भारत में अनुशीलन की जानेवाली कलाओं के अन्तर्गत थी और रामायण में उसका स्थल-स्थल पर उल्लेख हुआ है। जिन चित्रों का वाल्मीकि ने वर्णन किया है, वे अपने-आप में कोई स्वतन्त्र कला-कृतियां नहीं थी। उनका उपयोग प्रायः दीवारों, कक्षों, रथों और भवनों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। रावण के पुष्पक-विमान में स्वर्ण-खचित चित्रकारी की गयी थी। (**काँचनचित्रांगम्**), ६।१२१।२४। उसकी भूमि पर पर्वत माला चित्रित की गयी थी, पर्वतों पर वृक्षावली सुशोभित थी, वृक्ष पुष्पों वाले वनाये गये थे तथा

---

१. स मुहूर्तमिव ध्यात्वा...स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिकां शुभाम्। उत्तरं चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः ॥५।१३।५६, ५९, स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्यताम्। अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः ॥५।१४।१। इसी प्रकार जब दशरथ ने ऋष्यश्रृंग से प्रार्थना की कि आप मेरे कुल को बढ़ानेवाले कर्म का अनुष्ठान करे, तब ऋष्यश्रृंग ने थोड़ी देर तक ध्यान लगाकर अपने कर्तव्य का निश्चय किया था--"मेधावी तु ततो ध्यात्वा' (१।१५।१)।

२. जार्ज सी० एम० वर्डवुड—'दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया' भाग १, पृष्ठ २५।

पुष्पो को केसर और पखुडियो से युक्त बनाया गया था।[1] उत्तरकाण्ड मे बताया गया है कि उसमें दृष्टि और मन को सुख प्रदान करनेवाले अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक दृश्य थे, उसकी दीवारो पर बेल-बूटे (भक्ति-चित्र) बने हुए थे, जिनसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी।[2] रावण के राज-महल के वर्णन में चित्रशाला का भी उल्लेख हुआ है। वस्तुत साहित्य में चित्रशाला का प्रथम उल्लेख वाल्मीकि रामायण में ही हुआ है। वाल्मीकि ने चित्रशालाओ का जो बहुवचन में प्रयोग किया है। (चित्रशालागृहाणि),उनसे अनेक प्रकार की चित्रशालाओ का सकेत मिलता है, यथा राजमहलो में स्थित चित्रशाला,निजी चित्रशाला तथा नगर के मध्य स्थित सार्वजनिक चित्रशाला। कैकेयी का राजप्रासाद चित्र-गृहो से सुशोभित था (२।१०।१३)। जिस शिविका या पालकी में बाली का शव श्मशान-भूमि में ले जाया गया था, वह पक्षियो, वृक्षो तथा अद्भुत पदातियो के चित्रो से चित्रित थी। चतुर-शिल्पियो ने उस पालकी को बहुत सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया था—उसमें सिद्धो के विमान-जैसी जालिया और झरोखे बने थे। उसका प्रत्येक भाग बडा सुघड बनाया गया था, काष्ठ के क्रीडा-पर्वत की भाँति वह विशाल और रमणीय थी (४।२५।२२-४)। रावण का शव भी ऐसी पालकी में ले जाया गया था जिसमें सुन्दर पुष्प चित्रित किये गये थे।[3] हाथियो के मस्तक[4] तथा रमणियो के कपोलो[5] पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। योद्धाओ की पताकाओ पर तरह-तरह की आकृतिया अकित रहती थी। धूम्राक्ष के रथ में मृगो और सिहो के मुख बने हुए थे (मृगसिंहमुखैर्युक्तम्, ६।५१।२८)। इन्द्रजित् का रथ स्वर्ण-विभूषित तथा अर्धचन्द्रो और मृगो से समलकृत था। रावण के रथ में पिशाच-वदन चित्रित थे। राम के प्रासाद में भित्ति-चित्र उत्कीर्ण थे (सूत्कीर्णं भक्तिभि, २।१५।३५)। लका नगरी के तोरण बेल-बूटो से सुशोभित थे। (लताभक्तिविराजितं, ५।२।१८)।

तक्षण-कला

अशोक के भव्य पाषाण-स्तम्भो और उनके अलकरणो से यह निश्चित जान पडता है कि उनके पहले शताब्दियो तक पाषाण-शिल्प एव लक्षणकला का व्यापक अभ्यास किया जाता रहा होगा। इसका समर्थन रामायण से होता है, जिसमें पाषाण एव धातु-निर्मित कला-कृतियो के अनेक उल्लेख मिलते हैं। तक्षणकला और स्थापत्य-कला का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। वाल्मीकि के समय तक मूर्तियो का निर्माण होने लगा था। तन्वगी, पृथुश्रोणी तथा चन्द्रमुखी

---

१ महीकृता पर्वतराजिपूर्णा शैला कृता वृक्षवितानपूर्णा । वृक्षा कृता पुष्पवितान-पूर्णा पुष्प कृत केसरपत्रपूर्णम् ॥५।७।९

२ सदा दृष्टिमन सुखम्। बह्वाश्चर्यं भक्तिचित्र ब्रह्मणा परिनिर्मितम् ॥७।१५।३८

३ पताकाभिश्च चित्राभि सुमनोभिश्च चित्रिताम् ॥६।१११।१०९

४ गवाक्षिता इवाभान्ति गजा परमभक्तिभि । ३।१५।१५

५ सपत्ररेखाणि सरोचनानि वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥४।३०।५५

सीता की तुलना कवि ने मय-निर्मित किसी अद्‌भुत सुवर्ण-मूर्ति से की है।[1] यह तो सुविदित ही है कि राम ने यज्ञ-दीक्षा के निमित्त सीता की एक सोने की प्रतिमा निर्मित करवाई थी (**यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकीं काँचनी भवत्**, ७।९९।७)। यह प्रतिमा अवश्य ही वास्तविक एवं सजीव रही होगी, क्योंकि उसका शिल्पकार सीता का समकालीन था। चित्रकूट के मार्ग में भरत की सेना के लिए जो विश्राम-स्थल बने थे, वे इन्द्रनील मणि की प्रतिमाओं से खचित थे (२।८८।१८)। रावण का शयनागार हाथीदांत सोने, चांदी, मणि, मुक्ता और प्रवाल की मूर्तियों से सुसज्जित था।[2] राम के प्रासाद के शिखर पर मोती-मूंगे के तोरण तथा सुवर्ण-प्रतिमाएं बनी थीं (**काँचन-प्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम्**, २।१५।३२)। सोने की कारीगरी में शिल्पियों को बड़ी दक्षता प्राप्त थी। हेम-विभूषित रथों के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

रावण के सुविख्यात पुष्पक-विमान को तत्कालीन कला-कौशल का सर्वोत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। वास्तु-सौन्दर्य की दृष्टि से वह बेजोड़ था। रत्नों की प्रभा से देदीप्यमान एवं हेम-पद्मों से विभूषित उस विमान-श्रेष्ठ में वैदूर्यमणि, चांदी और मूगे के पक्षी बनाये गये थे, तरह-तरह के रत्नों से सर्पो की रचना की गयी थी और सुन्दर घोड़े निर्मित थे।[3] उसके खम्भे मणि-मय, सीधे, चिकने और ऊंचे थे, उनमें मोती, हीरे, मूंगे, चांदी और सोने का काम किया हुआ था, उन्हें 'ईहामृग' (विचित्र जन्तु अथवा शिल्पकार की स्वेच्छानुसार विचित्र प्राणी) अलंकृत कर रहे थे।[4] विश्वकर्मा ने उसमें सोने की सीढ़ियां बनायी थी, सोने और स्फटिक की जालियां और खिड़-कियां लगाई थीं तथा इन्द्रनील और महानील मणियों की वेदियां रची थी।[5] उसका फर्श मूंगों, महामूल्य मणियों और अनुपम मोतियों से जड़ा था।[6] विमान में सुन्दर मुखवाले अद्‌भुत पक्षी

---

१. **तनुमध्या पृथुश्रोणी शरदिन्दुशुभानना। हेमबिम्बिनिभा सौम्या मायेव मयनिर्मिता। ६।१२।१४।**

२. **स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम्। मुक्तावज्रप्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि॥ ५।९।२३।**

३. **रत्नप्रभाभिश्च विघूर्णमानम्** ।५।७।११, **हेमपद्मविभूषितम्** ।६।१२१।२५, **कृताश्च वैदूर्यमया विहंगा रूप्यप्रवालैश्च तथा विहंगाः। चित्राश्च नानावसुभिर्भुजंगा जात्यानुरूपास्तुरगा शुभांगाः॥५।७।१२।**

४. **ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः। सुकृतैराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥५।९।१३**

५. **हेमसोपानयुक्तं च चारुप्रवरवेदिकम्॥ जालवातायनैर्युक्तं कांचनैः स्फाटिकैरपि। इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम् ॥५।९।१५–६**

६. **विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः। निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभि-विराजितम्॥५।९।१७**

बनाये गये थे, मूगो और सुवर्ण-पुष्पो से जडे उनके पख जब लीलापूर्वक सिकोडे और मोडे जाते तब जान पडता था मानो वे साक्षात् कामदेव के ही पक्ष हो।[1] कमलयुक्त सरोवर का आभास देकर कमलासन पर बैठी लक्ष्मी की एक सुदर मूर्ति भी बनायी गयी थी, जिसके हाथ में कमल शोभित थे और जिसके दोनो ओर सूडो में केसर कमल लिए हाथी अकित किये गये थे।[2] पुष्पक-निर्माता ने ऐसे कुण्डलधारी और बडे पेटवाले निशाचर भी निर्मित किये थे, जो विमान को आकाश में ढोते हुए प्रतीत हो रहे थे।[3] स्तम्भो पर अकित श्रेष्ठ नारियो के चित्रो से वह जैसे जगमगा रहा था और उनके नीचे बनी हसो की पातो से लगता था मानो वे उसे उडा लिए जा रहे हो—

नारी प्रवेकैरिव दीप्यमानम्।
हसप्रवेकैरिव वाह्यमानम् ॥५।७।७

सगीत

एक शास्त्रीय कला के रूप में सगीत की प्रगति पर भी वाल्मीकि-रामायण से पर्याप्त प्रकाश पडता है। वाल्मीकि ने अपनी कृति को 'गीत' की शास्त्रीय सज्ञा प्रदान की है (१।४।७)। इससे उनका अभिप्राय अपनी रचना को पाठ्य ही नही, गेय भी मनवाना इष्ट था। रामायण अपने युग की एक अद्भुत सगीत-प्रधान काव्य-कृति थी—छहो शारीर-स्थानो से निकलनेवाली ध्वनियो से समवेत, श्रेष्ठ छन्द में प्रणीत, विचित्र पद और अर्थ से युक्त तथा द्रुत-मध्य-विलम्बित इन तीनो प्रमाणो (गतियो) से समन्वित।[4] आयु और पुष्टि प्रदान करनेवाला तथा सबके कान और मन को मोहनेवाला समकालीन वह गीतिमय महाकाव्य रसिक समकालीन मडलियो में भरपूर समादृत हुआ, उसका गीति-माधुर्य आश्रमो के सरल मुनि-समाज तथा नगरो के रसज्ञ पौर-समाज दोनो को समान रूप से आप्यायित करता था।[5]

किसी काव्य-रचना को मनोरम गीति-रूप प्रदान करने के लिए कतिपय आवश्यक नियम होते थे। वाल्मीकि ने इनका प्रसगत उल्लेख करके भारतीय सगीत की काव्य पर निर्भरता को भी स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार सगीत—प्रधान काव्य में शब्दावली 'पाठ्ये

---

१ प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षा सलीलमावर्जितजिह्मपक्षा। कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षा कृता विहगा सुमुखा सुपक्षा ॥५।७।१३

२ नियुज्यमानाश्च गजा सुहस्ता सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ता। बभूव देवी च कृता सुहस्ता लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ॥५।७।१४

३ वहन्ति य कुण्डलशोभितानना महाशना व्योमचरा निशाचरा ॥५।८।७

४ अपूर्वा पाठ्यजाति च गेयेन समलकृताम्। प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धा तन्त्रीलयसमन्विताम् ॥ ७।९४।२–३, विचित्रपदमर्थवत् ॥१।४।१

५ तुलना कीजिए—अभिगीतमिद गीत सर्वगीतिषु कोविदो। आयुष्य पुष्टिजनन सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥१।४।२७–८, ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनासि हृदयानि च ॥१।४।३३

गेये च मधुरम्, पढ़ने और गाने दोनों के अनुरूप मधुर होनी चाहिए, अर्थात् वह ऐसी लचीली, अक्लिष्ट और प्रांजल होनी चाहिए कि पाठ और गान दोनों के अनुरूप उसे ढाला जा सके। काव्य का संगीत ध्वनि और ताल के अनुसार होना चाहिए, ऐसा कि सातों जातियों या स्वर-समूहों में उसे बांधा जा सके। एक गीतिमय काव्य की रचना में तत्पुरुष आदि समासों, दीर्घ, गुण आदि सन्धियों तथा प्रकृति-पर्यय के सम्बन्ध का यथायोग्य निर्वाह होना चाहिए, उसमें समता (पतत्-प्रकर्ष आदि दोषों का अभाव), पदों में माधुर्य तथा अर्थ में प्रसाद-गुण की अधिकता होनी चाहिए। वह वीणा बजाकर स्वर और ताल के साथ गाने योग्य तथा श्रृंगार, करुण, हास्य रौद्र, भयानक, वीर आदि सभी रसों से ओतप्रोत होना चाहिए (१।२।४)।

रामायण के अध्ययन से उस युग में प्रचलित संगीत के स्वर, वर्ण और ताल, इन तीनों रूपों का विशद परिचय मिलता है। स्वर-संगीत में आलाप-प्रधान स्वरों के नियन्त्रण को महत्व दिया जाता है। लव-कुश को स्वर-ज्ञान से सम्पन्न **(स्वर-सम्पन्नौ)** बताकर वाल्मीकि ने स्वर-संगीत के प्रचलन की ओर इंगित किया है। गीतियों की गणना इसी संगीत के अन्तर्गत की जाती थी। संगीत के इस रूप में एक या अनेक स्वरों में विभिन्न ध्वनि उत्पन्न करने के हेतु वाणी या वाद्य का उतार चढ़ाव किया जाता है। इस संगीत का प्रथम दर्शन ऋग्वेद के उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों से युक्त मन्त्रों में होता है, जिसका सामवेदियों के हाथों बड़ा विकास हुआ। रामायण-काल में ये सामवेदी उन्नत स्थिति पर पहुँचे हुए थे। दशरथ की अन्त्येष्टि के अवसर पर साम-गान करने वाले विद्वान् शास्त्रीय पद्धति के अनुसार साम-श्रुतियों को गायन कर रहे थे।[1] दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में पुरोहितगण मन्त्रों का शास्त्रीय उच्चारण से स्निग्ध और मधुर गान कर रहे थे।[2] उत्तर-काण्ड में रावण को साम-स्त्रोतों से शंकर की स्तुति करते दिखाया गया है।[3] साम-गान की पद्धति के प्रचार से यह सूचित होता है कि प्राचीन काल से ही जनसामान्य की शास्त्रीय संगीत के प्रति प्रशिक्षित अभिरुचि थी। स्वर-संगीत में सात स्वर स्वस्थानों से निकलने वाले तार, मध्य और मन्द्र आलापों में अभिव्यक्त होते हैं। जहां स्वरों की पूर्णता होती है, उसे 'मूर्छना' कहते हैं। कालान्तर में यह स्वर-संगीत विभिन्न प्रकार की जटिल राग-रागिनियों में परिणत हो गया, पर रामायण में किसी प्रकार की राग-रागिनी का उल्लेख नहीं है।

संगीत का दूसरा प्रकार वर्ण-संगीत था, जिसमें वर्णो की ध्वनि का प्राधान्य रहता है। यह संगीत मूलतः वर्ण-माला के लघु और दीर्घ अक्षरों में विद्यमान मात्रा, ध्वनि और उच्चारण-काल के भेद-त्रय पर आधारित है। वर्ण संगीत का सबसे प्रारम्भिक रूप रामायण का अनुष्टप् छन्द है, जिसके जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि थे। अनुष्टम् छन्द एक यमक-तालयुक्त पद्य है,

---

१. जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः॥२।७६।१८

२. ऋष्यशृंगादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः। गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः॥१।१४।८-९

३. तुष्टाव वृषभध्वजम्। सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः॥७।१६।३३

राजमहलो में द्वारयुक्त अनेक कक्ष्याए होती थी। दशरथ का राजभवन पाच कक्ष्याओ वाला था। इनमें से तीन कक्ष्याओ के भीतर राम रथ पर चढकर चले गए, फिर दो कक्ष्याओं तक पैदल गए।[1] दशरथ अपने प्रासाद के ऊपरी तल्ले में रहते थे। राम उनके दर्शनार्थ प्रासाद के ऊपरी भाग में चढे थे (प्रसादमारुरोह २।३।३१-२)। इसी प्रकार वसिष्ठ भी प्रासाद पर अधिरोहण करके ही राजा दशरथ से मिले थे (प्रसादमधिरुह्य २।५।२२)। युवराज राम का भवन दशरथ के राज-भवन से अलग था, पर उसका सन्निवेश भी बहुत-कुछ राज-भवन के ढग पर ही था।[2] उसमें तीन कक्ष्याए थी। राम के भवन में वसिष्ठ का रथ तीसरी कक्ष्या के भीतर तक चला गया था।[3] प्रथम कक्ष्या अथवा बाह्य कक्षा में सबसे आगे प्रधान द्वार था, बीचवाली या मध्य कक्ष्या में राजा के प्रीति-पात्रों, अश्वगजों आदि के लिए स्थान थे। तीसरी कक्ष्या राम-सीता का निजी वास-गृह था, जिसे 'प्रविविक्त कक्ष्या' कहा गया है (२।१६।१)। यहा बूढे स्त्र्यध्यक्ष नामक प्रतीहार हाथ में वेत्र-दण्ड लिये हुए तैनात थे और अनुरक्त युवक शस्त्र धारण किये हुए उसकी रक्षा में नियुक्त थे।[4] कौसल्या के महल में सात कक्ष्याए थी। पाच कक्ष्याओ के बाद अन्त पुर आता था, जिसमें दो कक्ष्याए और होती थी। वन से लौटकर सुमन्त्र को कौसल्या के महल में दशरथ से मिलने के लिए सात कक्ष्याए पार करनी पडी थी—कक्ष्या सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुला (२।५७।१७)। इसी प्रकार सुग्रीव के राजमहल में लक्ष्मण सात कक्ष्याए पार करने के बाद विस्तीर्ण अन्त पुर में पहुचे थे।[5] सुन्दरकाण्ड (सर्ग ६-७) में रावण के राज-भवन का भी विस्तृत वर्णन है। उस समस्त राज-कुल को 'आलय' कहा गया है। उस आलय के मध्य भाग में रावण का भवन था। उसमें कई प्रासाद थे। रावण की निजी महाशाला भी सोपान से युक्त थी। उसके महानिवेशन में शृगार-कल्लोल के सभी साधन समुपलब्ध थे। उसके ऊपर कई ताल ऊची बर्फ के समान सफेद अटारी थी, जिस पर से उसने वानरी सेना का निरीक्षण किया था।[6] अशोकवाटिका स्थित रावण का चैत्य-प्रासाद गोलाकार और बहुत ऊचा था। वह कैलास के समान

---

१ स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभि । पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तम ॥२।१७।२०

२ राजभवनप्रख्यात् तस्माद्रामनिवेशनात् ।२।५।१५

३ स रामभवन प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम्। तिस्र कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तम ॥ २।५।५

४ अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलकृतान्। ददर्श विष्ठिता द्वारि स्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान् ॥२।१६।३

५ स सप्तकक्ष्या धर्मात्मा यानासनसमावृता ॥ ददर्श सुमहद्गुप्त ददर्शान्त पुर महत् ॥४।३३।१९

६ आरुरोह तत श्रीमान् प्रासाद हिमपाण्डुरम्। बहुतालसमुत्सेध रावणोऽथ दिदृक्षया ॥६।२६।५

श्वेतवर्ण का था। उसमे हजार खम्भे थे, मूंगे की सीढ़ियां थीं तथा तपाए हुए सोने की वेदियां बनाई गई थीं। वह निर्मल प्रासाद अपनी शोभा से देदीप्यमान हो रहा था और दर्शक के नेत्रों को अपनी ओर खींच लेता था। बहुत ऊंचा होने के कारण वह मानो आकाश को छू रहा था (५।१५।१६-८)। इस चैत्य-प्रासाद से हनुमान् ने एक सुवर्ण-खचित सौ घुमावोंवाला खम्भा उखाड़कर राक्षसों को भयभीत करने के लिए हवा में जोरों से घुमाया था।[1] उत्तरकाण्ड में वर्णित कुम्भकर्ण का महल एक योजन चौड़ा और दो योजन लम्बा था। उसमें स्फटिक और सोने के खम्भे, पन्नों की सीढ़ियां और हाथी दांत के तोरण तथा हीरों और स्फटिकों के चौतरे बने थे। वह बड़ा, मनोहर, सबके लिए सुखदायी और सब ऋतुओं में रहने लायक ऐसा था मानो मेरु की कन्दरा हो (७।१३।३-६)।

धर्माचरण और कर्मकाण्ड के निमित निर्मित भवन भी कलापूर्ण होते थे। इस प्रकार के भवनों में यज्ञ-शाला, अग्नि-शाला, देवायतन और चैत्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। यज्ञ-शालाएं प्राय: अस्थायी रूप से बनाई जाती थी, पर कभी-कभी वे ईटों की भी बनी होती थीं। दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में १८-१८ ईटों से छह गरुडाकार त्रिगुण वेदियां बनाई गई थीं (१।१४।१८-९)। शुल्वसूत्रों में भी गरुडाकार वेदी बनाने का विधान है। उस समय के देवालय कैसे बनाए जाते थे, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। यज्ञीय यूपों का शिल्पिगण कुशलता से निर्माण करते थे—उनके आठ पहलू (अष्टास्रय) होते थे (१।१४।२६)। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से ही भारतीय स्थापत्य में अठपहलू यज्ञीय यूपों का निर्माण होता जा रहा है।

यद्यपि रामायण में स्थापत्य की अनेक श्रेष्ठ कला-कृतियों का वर्णन मिलता है, तथापि समृद्ध कवि-कल्पना में लिपटा होने के कारण उसे यह पता नही चलता कि इन भवनों में कैसी निर्माण-सामग्री प्रयुक्त होती थी। कवि सर्वत्र मणि-जटित वातायनों, सोपानों और शिखरों, स्फटिक के फर्शो तथा स्वर्णरजत की दीवारों की प्रशंसा में बह गया है। वस्तुतः सोने-चांदी का इतना प्रचुर उपयोग किया जाता था अथवा नहीं, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर पुरातत्व-विषयक खुदाई से प्रमाणित होता है कि स्वर्णकार और मणिकार की कलाओं में प्राचीन भारतीयों ने बहुत उन्नति कर ली थी। केवल दो-तीन स्थलों में अन्य निर्माण-सामग्री का उल्लेख हुआ है। भवनों और वेदियों के निर्माण में ईटों (इष्टका) तथा सुधा या चूने के उपयोग की ओर संकेत किया जा चुका है।

पाश्चात्य कला-समीक्षक फर्गुसन का मत है कि भारत में अशोक से पहले केवल लकड़ी के मकान बनते थे। अब यह मत मोहंजोदड़ों की खुदाई और वैदिक साहित्य के आधार पर पूर्णतया धराशायी हो चुका है।[2] अशोक-पूर्व रचित रामायण भी फर्गुसन की मान्यता का खंडन करती

---

१. प्रासादस्य महांस्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम्। उत्पाटयित्वा वेगेन हनुमान्मारुतात्मजः। ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महाबलः॥५।४३।१७–८।

२. देखिए, प्रसन्नकुमार आचार्य का 'दि एस्पेक्ट एण्ड ओरिएण्टेशन इन हिन्दू आर्किटेक्चर' शीर्षक लेख (इण्डियन कल्चर, जनवरी १९३५)।

है। पत्थर घडने की कला, टक और दात्र-जैसे पत्थर छेदने के औजारो का व्यवहार, खुदाई का व्यापक प्रचलन तथा आग लगाकर चट्टानो को फोडने का ज्ञान, यह सिद्ध करते है कि विभिन्न निर्माण-कार्यों में पत्थरो का उपयोग होता था।[1] दशरथ के अश्वमेध-समारोह में हजारो ईंटो से राजोचित निवास-स्थान बनाए गए थे।[2] चित्रकूट जाने का माग बनाते समय भरत के कारीगरो ने ससुधाकुट्टिमतल, जमीन की सतह को कूटे पत्थरों से पाटकर मजबूत बनाया था (२।८०।१३)। बालकाण्ड के आरम्भ में तथा राम के यौवराज्याभिषेक की घडी में कवि ने अयोध्या-नगरी के वर्णन में जिन अनेक तल्लोवाली गगनचुम्बी अट्टालिकाओ, रत्नजटित भवनो, तोरणो, हर्म्यो, देवतायतनो, शिखरो, विमानो आदि का उल्लेख किया है, वे निश्चय ही घास-फूस-मिट्टी की झोपडिया या कुटिया नही रही होगी, विशेषकर जबकि इनके लिए कवि ने भिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। त्रिकूटगिरि पर अवस्थित लका का दुर्भेद्य दुर्ग भी लकडी की इमारत नही रहा होगा। हा, यह सर्वथा सम्भव है कि लकापुरी के अधिकाश भवन काष्ठ-निर्मित थे, तभी हनुमान् उनमे आग लगा देने में सहज ही सफल हो गए, पर वहा पत्थरो के मकानो का अभाव नही था। ५। ४१।१९ मे शिला-गृहो का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। लका के प्राकार पर बैठे हनुमान् ने वहा से एक बडा पत्थर निकालकर नीचे शत्रुओ पर फेंका था।[3]

भवन-निर्माण की तरह उद्यान-निर्माण की कला भी बडी समुन्नत थी, जैसा कि रावण की अशोकवाटिका के वर्णन से ज्ञात होता है। इस वाटिका के चारो ओर एक परकोटा था। वह सुनहरे और रुपहरे वृक्षो से भरी थी। उसमें सब ओर तरह-तरह के पक्षी बोल रहे थे, मृग आदि मस्त हुए विचर रहे थे। घूमते-घूमते हनुमान् को वहा मणि, चादी और सोने की भूमिया दिखाई दी। उस वाटिका में अनेक आकारो की बावलिया थी, जिनमें स्वच्छ जल भरा था और मणियो की सीढिया बनी थी। उनके आसपास बालू की जगह मोती और मूगे फैलाए गए थे, उनके तले स्फटिक के थे तथा तीर पर उगे हुए सुनहले वृक्षो से वे अत्यन्त सुशोभित थी। उनमे कमल खिले थे तथा हस और सारस मनोहर बोली बोल रहे थे। वहा एक मेघ के समान ऊचा और विचित्र शिखरवाला पर्वत भी था, जिसमें जगह-जगह पत्थरो की गुफाएँ थी और जिससे एक नदी गिर रही थी। हनुमान् ने एक कृत्रिम तालाब भी देखा, जो शीतल जल मे भरा था, उसमे मणियो की सीढिया बनी थी और किनारे पर मोतियो की रेत थी। साल, अशोक, भव्य चम्पक, उद्दालक, नागवृक्ष, चन्दन और कपि-मुख जाति के आम्र-वृक्ष सर्वत्र सुशोभित थे। सभी फल-फूल देनेवाले

---

१ २।८०।६–८, १२, ५।१।२०

२ इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति। उपकार्यां क्रियता च राज्ञो बहुगुणान्विता।।१।१३।९

३ तत (तोरणविटकस्थो हनुमान्) पार्श्वेऽतिविपुला ददर्श महती शिलाम्। तरसा ता समुत्पाट्य चिक्षेप जववद्बली।।५।४४।६, १०–११

थे और उनके नीचे सोने की वेदियां थी। वहां अनेक खुले मैदान, पहाड़ी झरने, बैठने के लिए आसन तथा अनेक तलवाले गृह थे। दिव्य गन्ध और रसो से युक्त वह वाटिका देवताओं के नन्दन-वन या कुवेर के चैत्ररथ के समान रमणीय जान पड़ती थी, (५।१४-५)।

नन्दनं विबुधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा।
अतिवृतमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यश्रिया युतम् ॥५।१५।११-२

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

संस्कृत-साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी शब्दावली

सस्कृत-साहित्य शिल्प और कलाओ सम्बन्धी शब्दावली की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। साहित्यिक ग्रन्थो से छानकर एक पृथक् कोश के निर्माण की आवश्यकता है। इससे दो लाभ होगे, एक तो सस्कृत के उन पारिभाषिक शब्दो का ठीक मूल्याकन हो सकेगा और साहित्य पढते हुए उन अर्थो पर विशेष ध्यान दिया जा सकेगा। दूसरे हिन्दी भाषा को जिन अनेक शब्दो की इस समय आवश्यकता है वे इस भडार मे से सरलता से प्राप्त किये जा सकेंगे। इस प्रकार शब्दावली के सग्रह का कुछ काय श्री आनन्दकुमार स्वामी ने आरभ किया था। श्री शिवराम मूर्ति (वर्तमान सरक्षक राष्ट्रीय सग्रहालय, नयी दिल्ली) ने भी चित्रकला सबधी शब्दावली विषय पर कालिदास, माघ, भारवि, बाण, श्रीहर्ष आदि के ग्रन्थो को आधार बनाकर लगभग बीस लेख लिखे थे, जिनमे पर्याप्त सख्या में शब्दो का चयन किया गया था। उसी पद्धति पर कार्य को अग्रसर करने का एक सकल्प हमें अभीष्ट है। इस समय तो यहा केवल कुछ शब्दो की चर्चा की जा रही है।

चित्रकला को **चित्रकम या आलेख्य** भी कहा गया है। जिस तरह आज हम ललित कला मे और स्थूल शिल्प या उद्योग-धन्धो मे भेद करते है, और बगाल में तो इनके लिए **चारुशिल्प** और **कारुशिल्प**—ये दो शब्द ही चल गये है, वैसे ही ज्ञात होता है कि गुप्त-युग में यह भेद लोगो की दृष्टि मे आ गया था। **पाणिनीय अष्टाध्यायी** में शिल्प व्यापक शब्द था जो कला के दोनो भेदो के लिए प्रयुक्त होता था। वहा सगीत के जानने वाले गायक को भी शिल्पी कहा गया है। पालि-साहित्य मे भी यही स्थिति थी किन्तु शनै-शनै ललित कलाओ का पद ऊँचा उठता गया। गुप्त-युग में कालिदास ने ललितकला शब्द का प्रयोग रघुवश मे किया है (**गृहिणी सचिव सखी मिथ प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ ८।६८**)।

चित्रवीथी का मालविकाग्निमित्र मे **चित्रशाला** (अक १) रघुवश में **चित्रवत् सद्म** और तिलक मजरी मे **चित्रशालिका** (पृ० २९) कहा गया है। उत्तर रामचरित मे उसके लिए अभिलिखित वीथिका शब्द आया है (अक १)। इस वीथिका में पूरी रामायणी कथा के चित्र लिखे गये थे और वे इतने तथ्यात्मक प्रतीत होते थे कि राम ने एक बार सीता को यह कहकर सावधान किया—अयि, चित्रमेतत् (हे सीते! यह तुम चित्र देख रही हो—जीवित दृश्य यह नही है)। चित्र-दर्शन मनोविनोद का अति उत्कृष्ट साधन माना जाता था। सुसस्कृत रुचि के व्यक्ति चित्र

देखकर और चित्र लिखकर अपने आपको आनन्दित करते थे। राजा के बहुमुखी विनोदों में आलेख्य-विनोदों की भी गणना थी। तिलक मंजरी में——

कदाचिदंगना लोल इति निपुणचित्रकारैश्चित्रपटेषु आरोप्य सादरमुपायनी कृतानि रूपातिशयशालिनीनामवनिपालकन्यकानां प्रति बिम्बकानि परित्यक्तान्यकर्मादिवसमालोकयत (पृ० १८) यहाँ निपुण चित्रकार, चित्रपट और प्रतिबिम्ब——ये तीनों पारिभाषिक शब्द हैं जिसे फारसी में शबीह चित्र कहते हैं उसे ही यहाँ प्रतिविम्ब कहा गया है। प्रतिविम्ब चित्रों के लिए **प्रतिकृतिचित्र, सादृश्यचित्र, प्रतिच्छन्दक चित्र** भी कहा जाता था। इसी के लिए एक वड़ा टकशाली शब्द **विद्धचित्र** भी चलता था। विद्ध का शब्दार्थ विधा हुआ है। चित्र में इसका तात्पर्य होगा वह शबीब जो हू-बहू लग गयं हो। जिसे आजकल शबीब लगना कहते है वही विद्ध चित्र का संकेत है।

निपुण चित्रकार का अभिप्राय चित्रकर्म में अत्यन्त निष्णात या कुशल चित्रकार से है जिसे आजकल अंग्रेजी में मास्टर पेन्टर कहते हैं। मालविकाग्निमित्र में इसके लिए **चित्राचार्य** शब्द भी आया है (अंक १)।

धनपाल ने तिलकमंजरी में **चित्रविधोपाध्याय**——इस सार्थक शब्द का प्रयोग किया है (पृ० १७७)। जैसा नाम से प्रकट है ये लोग चित्रकर्म का अभ्यास करनेवाले जिज्ञासुओं को इस कला का उपदेश देते थे। चित्रकार के समान चित्रकर शब्द भी प्रयोग में आता था (तिलकमंजरी पृ० १७९)। मेदनी कोष में **चित्रकर का पर्याय वर्णाट** शब्द भी है——अर्थात् जो विविध रंगों की मेल मिलावट का जानकार हो। नानार्थार्णव संक्षेप कोश में **रंगाजीव** शब्द भी उसी अर्थ में आया है (३।५२०) और शिल्पी के बनाये हुए चित्र को **कारुज** कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि सब प्रकार के शिल्प-कर्म में चित्रों का कितना महत्वपर्ण स्थान था। चित्रकार की कूंची **तूलिका** कहलाती थी। नानार्थार्णव संक्षेप कोश में चित्रतूलिका को लेखनी भी कहा गया है (२।१५७२)। रंग की बत्ती, **वर्तिका** कही जाती थी। वर्तिका के प्रयोग की कुशलता के लिये वर्तिका-निपुणता शब्द आया है।

चित्र कई प्रकार के माध्यम पर बनाये जाते थे जैसे——**पटचित्र, फलकचित्र, भित्तिचित्र**। इनमें प्राचीन काल के भित्तिचित्र ही अब तक कुछ बचे हैं। अधिकांश पटचित्र और फलकचित्र नष्ट हो गये। विनयपिटक (३।३६) में **लेप्य** चित्र शब्द भी आया है। यह उन चित्रों के लिए हैं जो चूने से लिपी-पुती भीत पर बनाये जाते थे। महाउम्मगजातक में एक ऐसे विशाल भूमिगृह का उल्लेख है जिसकी इष्टिका निर्मित भित्तियों पर पहले सुन्दर सफेद पलस्तर किया गया (सुधा-कम्म) और फिर उस पर निपुण चित्रकारों ने अनेक प्रकार के चित्र लिखे। उसकी छत लकड़ी की थी। उस पर भी एक विशेष प्रकार की मिट्टी से, जिसे उल्लोक मृत्तिका कहा गया है, एक लेप चढ़ाया गया। उस लेप को किसी विशेष मसाले से धवलित बनाकर (स्वेतकम्म) चित्रों के योग्य बनाया गया। इस प्रकार जमीन बांधकर और घुटाई करके छत में अनेक प्रकार के खिले हुए कमल-पुष्पों के फुल्ले लिखे गये। अजन्तागुफा संख्या २ और १७ में इस प्रकार के मंडलाकृति पुष्पालंकरण पाये जाते हैं।

चित्रो के लिए इस देश मे प्राय रगीन मिट्टी और रगीन पत्थर को कूटकर बनाये हुए रग काम में लाये जाते थे। नागानन्द नाटक में इन रगो का सुन्दर वर्णन आया है—

नायक—वयस्य जाने तामेवास्या शिलायामालिख्य, तया चित्रगतयात्मान विनोदयामीति। तदित एव गिरितटान् मन शिलाशकलान्यादायागच्छ।

विदूषक—यद्भवान् आज्ञापयति। भो वयस्य, त्वमेको वर्णक आज्ञप्त, मया पुनरिहैव सुलभा पञ्चरागिणो वर्णा अनीता इति आलिखतु भवान्।

ना० (अनुवाद) मित्र मन होता है कि इसी शिलापट्ट पर उसका चित्र बनाकर उसे चित्र देखकर ही मन बहलाऊँ। तो यही चट्टान में कुछ मैन्सिल के टुकडे ले आओ।

वि० (अनुवाद) जो आज्ञा। मित्र, तुमने एक ही रग कहा था पर मैं पाच रगो के पत्थर ले आया हूँ जो यहीं सुलभ थे। तो तुम इनसे चित्र लिखो।

ये मौलिक रग या शुद्धवर्ण नील, पीत, लोहित, शुक्ल, कृष्ण—पाच थे। इन्हें मिलाकर और अनेक प्रकार की रगतें तैयार की जाती थी जिन्हें मिश्रवर्ण कहते थे। रगो की भाति-भाति की इस मिलावट को बाणभट्ट ने अपनी श्लेषात्मक शैली में वर्ण सकर कहा है (चित्रकमसु वर्णसकरा, कादम्बरी अनुच्छेद २) बाण ने बडे कौशल से एक स्थान पर कादम्बरी-भवन के वर्णन में वहाँ की प्रतिहारी स्त्रियो का वर्णन करते हुए लिखा है—

प्रियङ्गु वनायमान रोचनातिलक भक्तिभि, नीलायमान कृष्णागुरुपत्रभङ्गै, लोहितायमान कर्णपूराशोकपल्लवै, धवलायमान चन्दनरसविलेपनै, हरितायमान शिरीषकुसुमाभरणै (कादम्बरी अनु० १९०)।

यहाँ स्पष्ट ही प्रियगुवनायमान अर्थात् पीत, नील, लोहित, धवल, हरित—इन पाच शुद्धवर्णों का उल्लेख आया है। इन्हें ही नागानन्द में 'पचरागिणो वर्णा' कहा गया है।

चित्र लिखने के लिये पहली प्रक्रिया आजकल टिपाई कही जाती है अर्थात् किसी एक रग मे रेखाद्वारा चित्रकार चित्र का आकार टीपता है। टिपाई की रेखा आकारजनिकारेखा भी कही जाती थी। यह टिपाई लाल काले रग से की जाती है। साहित्य में दोनो का उल्लेख आता है। जैसा कालिदास ने लिखा है—यक्ष गेरु के रग से पत्थर पर यक्षिणी का चित्र लिखता था—त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै शिलायाम् (मेघदूत २।४२)। धातुराग का अर्थ मल्लिनाथ ने गैरिकादिभि किया है। किन्तु यहा केवल लाल रग के पत्थर से ही कवि का अभिप्राय है। मध्यप्रदेश में आज भी लालरग के चटे-बटो को धाऊ पत्थर कहते है जो धातु का ही अपभ्रश रूप है। अजन्ता के भित्तिचित्रो का वर्णन करते हुए श्रीमती हैरिंघम ने लिखा है कि धवलित भूमि तैय्यार हो जाने पर चित्रकार लालरेखा से चित्र की पहली टिपाई करते थे। काले रग की टिपाई का उल्लेख कादम्बरी में आया है जहा नवयौवन में चन्द्रापीड की भीनती हुई श्मश्रुराजि रेखा या मसो को रूपालेख्योन्मीलन कालाजनवर्तिका कहा गया है (कादम्बरी अनुच्छेद २५३)।

यहा आलेख्य चित्र के लिए है और रूपालेख्य प्रकृति चित्र या आकार-चित्र के लिए

है। **कालांजनवर्तिक** या काले काजल की बत्ती से इस प्रकार के रूप की टिपाई और खुलाई की जाती थी।

चित्रों की आकार-रेखा बनाने के लिए एक युक्ति और है जिसे खाका झाड़ना कहते हैं। अर्थात् चित्र का खाका किसी कागज पर एक बार बना लिया जाता है। उसे ही कांटे या सुई से महीन अत्यन्त महीन छेदों से बींध दिया जाता है। फिर बारीक छने हुए काजल को उन छेदों पर फेंककर खाके का चित्र नीचे की भूमि पर उतार लेते हैं। मुगल, राजस्थानी और हिमाचल चित्रकला के चित्रकारों के इस प्रकार के खाके आज भी सहस्रो की संख्या में उपलब्ध हैं। जिस समय, कागज का प्रचार नहीं हुआ था उस समय इस प्रकार के खाके भूर्जपत्र, ताड़पत्र या अन्य पत्रों पर बनाये जाते थे। बाण ने कादम्बरी में **'अंजन रजोलेखा श्यामलाम्'** इस पंक्ति में इस युक्ति का उल्लेख किया है **मोहान्धकारस्य अपयानपदवीमिव अंजनरजोलेखा श्यामलां रोमराजि उदरेण तनीयसीं बिभ्राणम्'** (का० अनु० १४२)। यहां स्पष्ट अंजनरज या काजल की गर्द झाड़कर उत्पन्न की हुई तनीयसी अर्थात् बारीक श्यामलरेखा का वर्णन आया है।

चित्र के गुणों का विश्लेषण करते हुए एक सुन्दर लेख भास के दूत वाक्य में आता है— 'द्रौपदी के शाम्बरकर्षण चित्रपट' यह उस चित्रपट का सुन्दर नाम है। उसे देखकर दुर्योधन के यह उद्गार होते हैं:—

अहो अस्य वर्णाढ्यता,
अहो भावोपपन्नता,
अहो युक्तलेखता।

अर्थात् इस चित्र के डहडहे रंगों की कैसी शोभा है, इसमें कैसे अनूठे भाव भरे हुए हैं, इसकी रेखाओं की कैसी सच्ची टिपाई। रेखा, वर्ण और भाव-सचमुच ये ही तीन अच्छे चित्र के प्राण होते हैं। उसी चित्र को देखकर कृष्ण ने संक्षेप में कहा—'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः' इस एक छोटे वाक्य से मानो सब कुछ कह डाला। अच्छे चित्र को देखकर पारखी के मुख से यही निकलता है—वाह क्या देखने योग्य चित्र है। अर्थात् अच्छे चित्र को देखकर नेत्र ललक कर उसकी ओर जाते है और मानो अपने होने का पूरा फल प्राप्त कर लेते है। भावों की अभिव्यक्ति ही उत्कृष्ट चित्र की विशेषता होती है। चित्र केवल यन्त्राकृति सादृश्य नहीं है। वह मनसाकृत होता है। अर्थात् चित्रकार वस्तु या व्यक्ति के रूप को अपने ध्यान में लाता है और मन में आये हुए उस ध्यान को आलेख्य द्वारा चित्र में उतारता है। जैसा नागानन्द ने कहा है 'संकल्प स्थापितं पुरः' (नागा० अंक २) अर्थात् चित्रकार अपने संकल्प को ही मानो चित्र द्वारा सामने रख देता है। सच पूछा जाय तो भाव का ही भूत रूप चित्र है। भाव ही जब मूर्त रूप में आता है तभी उत्तम चित्र या शिल्प गत मूर्ति अस्तित्व में आती है। कोरा सादृश्य विजड़ित और शोभाहीन होता है। रूपका वह सादृश्य जब भाव के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर बाहर आता है तभी वह प्राणवन्त बन जाता है; मानों पृथिवी की जड़ वस्तु में द्युलोक के पंख लग गये हों। कालिदास ने चित्रकला के इस महान् सत्य को ही इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—मत्सादृश्यं विरहतनु वा भाव गम्यं लिखन्ती (मेघदूत

२१२२)। चित्र में लिखी हुई स्त्री मूर्ति के लिए चित्र-पुत्रिका शब्द आया है (हर्ष चरित, निर्णय सागर पृ० १६५, तिलक मजरी पृ० १६२)। इसे ही लेख्यपुत्रिका भी कहा गया है (उदय सुन्दरी कथा पृ० ९६)।

गुप्त-युग के चित्रो में फूल पत्तियो के अलकरण वनाने की व्यापक प्रथा थी उन्हें पत्रभग, पत्र पत्रलता, पत्रावली, पत्रागुलि कहा जाता था। कादम्वरी से ज्ञात होता है कि पत्रलताओ को अशुभ और अनिष्ट के निवारण मे सहायक और रक्षा का कारण माना जाता था। रानी विलासवती जव गर्भवती थी तो उनके आवास में विशेप रूप से सफेद भभूत से पञ्चपत्रलता के अलकरण चारो ओर लिख दिये गये थे—मूर्ति लिखित पत्रलता कृत रक्षापरिक्षेप (कादम्वरी अनु० ६१)।

राज प्रासादो में एव भवनो में चित्रशालाए होती थी जो गृहपति और गृहपत्नी के आवास का विशेप स्थान समझा जाता था। चित्रशाला की भित्तियो पर अनेक प्रकार के चित्र रुचिभेद से वनाये जाते थे। वाण ने इन्हें दर्शितविश्वरूपाचित्रभित्ति कहा है (कादम्वरी अनु० ४४) अर्थात् उज्जयिनी के महाभवना की चित्रशालिकाओं में लिखे हुए चित्रों को देखकर ऐसा ज्ञात होता था मानो विश्व के सव विविध रूप उनमें आ गये हो। उस समय उज्जयिनी के सूत्र व्यापार और विद्या के सवध मे देश और विदेश में दूर-दूर तक फैले हुए थे। इसीलिये वहाँ के नागरिक अनेक देशो की भापाएँ सीखते थे (शिक्षिता शेपदेशभापेण) और अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुसार कई लिपियाँ सीखते थे—सर्वलिपिज्ञेन। अतएव स्वाभाविक था कि मध्य एशिया से लेकर यवद्वीप, मलयद्वीप आदि द्वीपान्तरो के एव रोम, यवनपुर और अन्तारवी से लेकर चीन देश तक जीवनसवधी दृश्यो में उज्जयिनी की सब भुवनो मे विख्यात करोडपति, पद्मपति नागरिको को (सकलभुवनख्यात यशस कोटिसारेण प्रकटित कनकराशिना जनेन) कवि के मन पर इस तथ्य की इतनी गहरी छाप पडी कि उन्होंने कई वार इसका उल्लेख किया है। कादम्वरी के कन्या-अन्त पुर का वर्णन करते हुए भी यह लिखा है कि चित्रकर्म में मानो सारा त्रिभुवन सपुञ्जित हो गया था (चित्रकर्मच्छलेनावलोकन कुतूहल सम्पुञ्जितेन त्रिभुवनेन, अनु० १९१)। उज्जयिनी के राजकुल के वर्णन में भी लिखा है कि त्रिभुवन की सव विचित्रता चित्रो में प्रकट की जाती थी (चित्रलेखादर्शितविचित्रसकल त्रिभुवनाकारम्, अनु० ८५)। इसके अतिरिक्त महापुरुषो के जीवन सवधी दृश्यो के चित्र भी लिखे जाते थे उन्हें सच्चरित् चित्र कहा जाता था (कादम्वरी अनु० १०५)। इन चित्रगृहों में प्रकृति सवधी चित्र भी वनायें जाते थे जैसा वाण ने एक स्थल पर कहा है--आलेख्य गृहैरिव वहुवर्णचित्रपत्र शकुनिशतसशोभितै, (अनु० १३१)।

सस्कृत साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख भरे हुए हैं जिनमें चित्रकर्म में निपुण नायक नायिका मन वहलाने के लिए एक दूसरे का चित्र लिखते हैं। ये विशेप चित्र प्रतिकृति या सादृश्य चित्र कहलाते थे। इन्हें ही रूपालेख्य भी कहा जाता था। केयूरक कादम्वरी की विरहावस्था का वर्णन करते हुए चन्द्रापीड से कहता है कि वहाँ हेमकूट के कन्यान्त पुर में जो चित्रकला का अभ्यास किया जाता है उसमें आपकी ही आकृति के चित्र वनाये जाते हैं (त्वदाकारमयाश्चित्रकलाभ्यास, अनु० २४१)।

प्राचीन भारत में कपड़े और लकड़ी के फलक पर चित्र लिखने की प्रथा थी। मेदिनी कोश में पट और **चित्रपट** को पर्याय माना है। **कामदेवपट, लक्ष्मीपट** आदि के रूप में देवताओं के **ध्यानपट्ट** बनाये जाते थे। कपड़े पर बनाये हुए लम्बे पटों को **कुंडलित** पट कहा आता था (उदय सुन्दरी कथा पृ० ५१) जिन्हें इच्छानुसार फैलाया **(प्रसारित या उद्वेलित)** किया जा सकता था **(सर्वं कुंडलितपटं उद्वेल्य)**। ऐसे कुडलित पटों को सुरक्षा के लिए रेशमी वस्त्र के बने खोल या गिलाफ में रक्खा जाता था **(प्रकृष्ट चीन कर्पटप्रसेविकाया सयत्नमाकृष्य चित्रपटम्, तिलक मंजरी, १६५।)**।

स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में एक ऐसे चित्रपट का वर्णन आया है, जिसमें समस्त काशीपुरी के विन्यास और मन्दिर चित्रलिखित दिखलाये गये थे। काशी के विद्वान् पंडित हरिस्वामी की कन्या कर्णाट देश की राजकुमारी कलावती के रूप में जन्म लेती है। काशी का वह चित्रपट देखकर उसे पूर्व जन्म के संस्कारों की स्मृति आ जाती है। इसी प्रकार धनपालकृत तिलक मंजरी (११वीं शती) में एक चित्रपट का लम्बा वर्णन आया है। गन्धर्वक नामक एक युवक चित्रकार अतिसुन्दर दिव्य चित्रपट तैयार करता है। उसके विशिष्ट सौन्दर्य **(सर्वातिशायिचारुत्व)** की प्रशंसा राजकुमार से की जाती है तो वह अपनी प्रतिहारी से पूछता है—'भद्रे किमत्रलिखितम्।' वह उस पट को खोलकर फैला देती है **(विस्तारिते पुरस्तात् तत्)** और तब राजकुमार एक सुन्दरी कन्या का चित्र उसमें देखता है **(कन्यका रूपधारिणी चित्रपुत्रिका)**। राजकुमार उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके नख-शिख रूप को कई बार देखता है **(मुहुः मुहुः कृतारोहावरोहया दृष्ट्या तां व्यभावयत)**। चित्रकार ने प्रयत्न पूर्वक वह दिव्य कुमारी का रूप लिखा था फिर भी उसने शालीनतावश राजकुमार से उसके गुण-दोषों के विषय में पूछा—**कुमार अस्ति किंचिद्दर्शन रूपमत्र चित्रपटेरूपम्। उद्भूतंरूपः कोऽपि दोषो वा नातिमात्रं प्रतिभाति अद्याप्यनुपजातपरिणतिश्चित्र विद्यायां शिक्षणीयोऽहमखिलकलाशास्त्र पारगेण महाभागेन**। राजकुमार चित्र से अति प्रभावित थे। उन्होंने कहा—**सम्यगभिलिखिता**। आपने चित्र में आकृति का अभिलेखन सुन्दर ढंग से किया है, इसमें रंगों का संयोग भी उचित रूप से हुआ है **(यथोचितं स्थापित वर्णसमुदायाः)** एवं चित्र में ऊँचे नीचे भागों की खोदाई अत्यन्त स्फुट रूप में स्पष्ट की गयी है **(प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नत विभागाः)**। इसमें लिखे हुए पक्षी और मृग साक्षात् सचेतन से जान पड़ते हैं। आकाश में पूर्ण चन्द्रमा की शोभा भी अद्वितीय है। बहुत क्या इस चित्रपट में सभी कुछ सुन्दर बन पड़ा है **(किं बहुना यद्यदवलोक्यते तत्तत्सर्वमपि रूपमस्य चित्रपटस्य चारुता प्रकर्षहेतु, तिलक मंजरी, १६६)**।

इस वर्णन में जिसे **निम्नोन्नत विभाग** कहा है उसे ही विष्णुधर्मोत्तर की शब्दावली में **वर्तना** अंग्रेजी शेडिंग कहा जाता था। पालि में इसे ही **उज्जोतन** कहा जाता था।

इस प्रकार संस्कृत, पालि, प्राकृत साहित्य के छानने से चित्रकला सम्बन्धी और भी कितने ही शब्दों का उद्धार किया जा सकता है।

श्री ठाकुरदत्त मिश्र

संस्कृत नाटको में चित्रकला

संस्कृत नाटको में चित्रकला के अनेक अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श निहित हैं। भास, कालिदास भवभूति, हर्ष तथा अन्यान्य नाटयकारो ने अपनी-अपनी अमर कृतियों में किसी न किसी प्रसग मे इस कला के आदर्श प्रस्तुत किये हैं। कही पर विरह से व्याकुल नायक या नायिका ने धैय प्राप्त करने की आशा से अपने प्रेमपात्र का चित्र अकित किया है, कही पर किसी राजा या धनाधिप ने मनोविनोद के लिए किसी कुशल चित्रकार से किसी घटना विशेष के चित्र अकित करवाये हैं और कही पर किसी नायक या नायिका के विदूषक या सखी ने अपने सखा या सखी के मनोविनोद के लिए उसके प्रेम-पात्र का चित्र अकित किया है। इन समस्त चित्रो के वर्णनो से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश में चित्रकला का बहुत अधिक आदर था और प्रतिष्ठित परिवारो के लोग इस कला के ज्ञाताओ को केवल प्रोत्साहन ही नही देते थे, वरन् वे स्वय भी इसमें पारदर्शिता प्राप्त करने की चेष्टा किया करते थे।

महाकवि कालिदास के तीनो नाटको—'मालविकाग्निमित्रम्', 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा 'विक्रमोर्वशीयम्' में चित्रकला का उल्लेख आया है। इनमें से 'मालविकाग्निमित्रम् की नायिका मालविका का चित्र एक चित्रकार ने अकित किया था, जिसे देखकर ही नाटक के नायक अग्निमित्र का मालविका की ओर आकर्षण हुआ था और घटनाचक्र से वह आकर्षण क्रमश आसक्ति के रूप में परिणत हो उठा था। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के नायक दुष्यन्त स्वय एक अत्यन्त ही कुशल चित्रकार थे और अपनी प्रियतमा शकुन्तला का चित्र उन्होने उस समय अकित किया था, जिस समय कि उनकी विरह-कातरता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी। 'विक्रमोर्वशीयम्' के नायक प्रतिष्ठान पुर के राजा विक्रम चित्रकार तो थे, किन्तु विरह की वेदना से व्याकुल होने के कारण अपनी प्रेयसी उर्वशी का चित्र अकित करने में उन्हें सफलता नही प्राप्त हो सकी।

'मालविकाग्निमित्रम्' की नायिका मालविका उक्त नाटक के नायक विदिशा के राजा अग्निमित्र की राजमहिषी धारिणी के साथ उनकी एक सेविका के रूप में रहा करती थी और वह उन्हें अत्यन्त ही प्रिय थी। रानी ने किसी कुशल चित्रकार से अपना एक नवीन चित्र अकित करवाया था। उनके चित्र के साथ उसी फलक पर उनकी कुछ चुनी हुई सखियो तथा सेविकाओ के भी चित्र अकित थे। मालविका का चित्र रानी के चित्र के बिलकुल समीप था। एक दिन रानी चित्रशाला में बैठे-बैठे अपना वही चित्र ध्यानपूर्वक देख रही थी, इतने में राजा वहाँ पहुच गये और उस

नवीन सेविका मालविका का चित्र देखकर उसके विषय में रानी से पूछा। रानी ने राजा के उस प्रश्न को टाल देने का उद्योग किया। किन्तु राजा ने फिर उसे दोहराया। तब राजकुमारी वसुलक्ष्मी ने बताया कि इसका नाम मालविका है।

मालविका ने अपनी अमरकृति में इस प्रसंग को रानी की दो चेरियां—बकुलावलिका और कौमुदिका के वार्तालाप का आश्रय लेकर व्यक्त किया है। वह वार्तालाप इस प्रकार है—

वकुलावलिका—सुणादु ! चित्तसालं गदा देवी जदा पञ्चग्ग वणराअं चित्तलेहं आआरिअस्स पली अन्ती चिट्ठदि, तहिं अन्तरे भट्टा उवट्ठिदो।

(सुनो ! चित्रशाला में जाकर जिस समय महारानी चित्रकला के आचार्य के द्वारा अंकित किया गया नवीन चित्र देख रही थीं, उसी समय महाराज वहाँ पहुँच गये।

कौमुदिका—तदो तदो। (तब तब ?)

वकुलावलिका—उवराआणन्तरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसणदारिअं देखिअ देवी पुच्छिदा।

(शिष्टाचार के वाद महाराज महारानी के ही आसन पर वैठ गये और चित्र मे अंकित महारानी की परिचारिकाओं में से जो उनके बिलकुल समीप चित्रित थी; उसके विषय में वे पूछ बैठे।)

कौमुदिका—किंत्ति (क्या) ?

वकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण लिहिदा किंणामहे एत्ति।

(इस अपूर्व सुन्दरी बालिका का, जिसका चित्र आपके समीप अंकित है, क्या नाम है ?)

कौमुदिका—आकिदिविसेसे आअरो पदं करेदि। तदो तदो ?

(रमणीय आकृति को देखकर स्वतः स्नेह का भाव आ जाता है। तब तब?)

वकुलावलिका—तदो अवहीरिअ वणणो भट्टासंकिदो देवीं पुणोवि अणुबन्धितुं पउत्तो। तदो कुमारिए वसुलच्छीए आअक्खिदं—अज्ज ! एसा मालविएत्ति।

(महारानी ने इस प्रश्न को टालने की चेष्टा की, इससे महाराज को सन्देह हुआ और उन्होंने फिर इस प्रश्न को दोहराया। तब कुमारी वसुमती ने कहा—आर्य, यह मालविका है।)

इस प्रकार मालविका के चित्र का अवलोकन करने के उपरान्त राजा के मन मे उसे प्रत्यक्ष देखने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। इधर मालविका जैसी एक अनुपम सुन्दरी नवयुवती को राजा के दृष्टिपथ तक पहुँचने देना रानी की दृष्टि में अवाञ्छनीय था। इसलिए उन्होंने संगीतशाला में उसके रहने की व्यवस्था कर दी थी और गणदास नामक संगीत तथा नृत्य कला के अ चा.र्य को उसे एक विशेष प्रकार का नृत्य सिखाने का आदेश कर दिया था। भगवान् ने मालविका को अपार रूपराशि के समान ही विलक्षण बुद्धि तथा मेधा की भी अधिकारिणी बनाया था; इससे

वह गुरु के द्वारा दी गयी शिक्षा को बडी ही सफलता के साथ ग्रहण कर रही थी। अल्पकाल में ही उसने नृत्य कला का अच्छा अभ्यास कर लिया।

राजा की सगीतशाला में हरदत्त नामक एक अन्य आचार्य भी थे। एक दिन गणदास और हरदत्त में कुछ विवाद हो गया और वे दोनो ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे कि कला के ज्ञान की दृष्टि से एक दूसरे से श्रेष्ठ है। इस विवाद के निराकरण के लिए राजा ने यह युक्ति निकाली कि दोनो ही आचार्य अपने किसी चुने हुए शिष्य या शिष्या की कला के प्रदर्शन का आयोजन करें। वह प्रदर्शन ही दोनो आचार्यों की योग्यता का प्रमाण होगा। बात यह है कि आचार्य वही योग्य माना जाता है, जिसके शिष्य भी योग्य हो। गणदास को अपनी शिष्या मालविका की योग्यता का पूरा भरोसा था, इसलिए उन्होंने राजा की यह बात मान ली और शीघ्र ही उसकी कला के प्रदर्शन का आयोजन कर दिया। इस प्रकार राजा की कामना पूरी हुई। मालविका की रूपमाधुरी का अपने नेत्रो से पान करने का अवसर उन्हें मिल गया। तब उसके सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए उन्होंने अपने विदूषक से कहा—

चित्रगतायामस्या कान्तिविसवादशकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमा लिखिता॥

अर्थात्—पहले मेरे हृदय में यह सन्देह उत्पन्न हुआ था कि चित्रकार ने अपनी कला-कुशलता के द्वारा इसके सौन्दर्य में वृद्धि कर दी है—चित्र को देखने पर यह जितनी सुन्दरी मालूम पड रही है, वास्तव में उतना सौन्दय इसमें न होगा। किन्तु अब मुझे ऐसा लग रहा है कि इस सुन्दरी का चित्र अकित करने में चित्रकार को सफलता नही मिली, इसके वास्तविक सौन्दर्य को व्यक्त करने में वह समर्थ नही हो सका।

'विक्रमोर्वशीयम्' के नायक प्रतिष्ठानपुर के राजा महाराज विक्रमादित्य ने, जो विशेष रूप मे पुरूरवा के नाम से विख्यात थे, देवराज की सभा की मुख्यतम अप्सरा उवशी की आकाश मार्ग में केशी नाम के दानव के आक्रमण से जिस दिन रक्षा की थी, उसी दिन उनके मन में उसके प्रति आसक्ति का भाव उत्पन्न हुआ था और उसे प्राप्त करने के लिए वे क्रमश अधीर हो उठे। एक दिन अपने प्रासाद के प्रमदवन में बैठे-बैठे एक आह भरकर विदूषक से उन्होने कहा—

एष कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु।
चक्षुर्बध्नाति धृति तद्रूपालोकदुर्ललितम्॥
तदुपायश्चिन्त्यता यथा सफलप्रार्थनो भवेयम्।

अर्थात्—हे मित्र मेरे मन को उर्वशी की रूपराशि का अवलोकन करने का प्रबल आग्रह है। इसलिए उद्यान के खिले हुए फूलो के कारण शोभा और सौरभ से युक्त हो उठी लताओ पर भी, जिनकी शाखाएँ झुक गई हैं, मेरी दृष्टि स्थिर नही हो पाती—उर्वशी को ही देखने के लिए वह लालायित है। इसलिए कोई ऐसा उपाय सोचिए, जिससे कि मेरी कामना पूरी हो।

राजा के इस कथन के उत्तर में विदूषक ने कहा—

भो, चिन्तिदो मए दुल्लहप्पणदूणी समाअमोवाओ।

अर्थात्—अजी, मैंने दुर्लभ प्रणयिनी के समागम का उपाय सोच लिया।

उत्सुकता का भाव प्रदर्शित करते हुए राजा ने वह उपाय जानने की इच्छा प्रकट की। तब विदूषक ने कहा—

सिविणअ-समाअम अरिंण णिद्दं सेवदु भवं। अहव तथ्यभोदीए उब्बसीए पडिकिदिं आलिहिअ ओलोअन्तो चिट्ठ।

अर्थात्—आप स्वप्न में समागम कराने वाली निद्रा का सेवन कीजिए, अथवा उर्वशी महोदया का चित्र अंकित करके उसका अवलोकन करते रहिए।

इन दोनों ही विषयों में अपने आपको असमर्थ सिद्ध करते हुए राजा ने खिन्नतापूर्ण स्वर में कहा—

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनोरुद्धाष्यत्वं सखे न भविष्यति॥

अर्थात्—हे मित्र, कामदेव के बाण के आघात के कारण मेरे हृदय का अन्तस्तल क्षत-विक्षत हो उठा है, इसलिए स्वप्न में प्रियतमा का समागम कराने वाली निद्रा मुझे कैसे प्राप्त हो सके! उस सुन्दरी का चित्र अंकित करना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। बात यह है कि फलक पर तूलिका चलाना आरम्भ करते हुए नेत्र आँसुओं से रुद्ध हो उठते हैं। इससे तूलिका को रख देने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के नायक हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त में अपने पूर्वज पुरूरवा की-सी अधीरता नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में भी, जबकि उनकी विरह-कातरता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी, अपनी प्रणयिनी शकुन्तला का ही चित्र अंकित करके ही वे नहीं शान्त हुए, वरन् उस वातावरण का भी उन्होंने सफलतापूर्वक चित्रण किया था, जिसमें पहले पहल शकुन्तला का और उनका मिलन हुआ था।

गान्धर्व-विधि के अनुसार शकुन्तला के साथ विवाह करने तथा कुछ काल तक उसके साथ सुखपूर्वक वास करने के उपरान्त महाराज दुष्यन्त जब अपनी राजधानी को चलने लगे, तब उन्होंने अभिज्ञान के रूप में उसकी उँगली में अपने नामकी मुद्रा से युक्त अँगूठी पहनायी और उसे यह आश्वासन दिया:—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।
तावत्प्रिये ! मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥

अर्थात्—हे प्रिये, इस अँगूठी पर अंकित मेरे नाम के एक-एक अक्षर प्रतिदिन गिन लिया करना। तुम्हारी यह गणना समाप्त होते-होते मेरे यहाँ से कोई आ जायगा और तुम्हें मेरे अन्त पुर में ले जायगा।

राजा के आश्रम से जाने के बाद शकुन्तला उन्ही के ध्यान मे तन्मय थी। सयोग से उसी समय क्रोध के मूर्तिमान अवतार दुर्वासाऋषि वहा पहुँचे और आतिथ्य-सत्कार के लिए तनिक देर तक प्रतीक्षा करने के बाद शकुन्तला को अभिशाप देते हुए उन्होंने कहा—

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन्
कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव॥

अर्थात्—एकाग्र मन से जिस पुरुष-विशेष का चिन्तन करते रहने के कारण अतिथि के रूप में आये हुए मुझ तपोधन की खबर तुम्हें नही है, वह स्मरण दिलाने पर भी तुम्हें स्मरण न करेगा। वह पुरुष तुम्हें उसी प्रकार भूल जायगा, जिस प्रकार कि नशे में चूर रहने वाले व्यक्ति को यह स्मरण नही रह जाता कि उसने कब किससे कौन सी बात कही है।

इस प्रकार शकुन्तला को अभिशाप देकर महर्षि दुर्वासा आश्रम से चल पडे। सयोग से उनकी यह अभिशाप-वाणी प्रियवदा तथा अनसूया के कानो में पड गयी। प्रियवदा दौडकर महर्षि के पास गयी भी—और अनुनय, विनय के द्वारा उसने उन्हें बहुत कुछ शान्त किया। तब उन्होंने कहा कि राजा अभिज्ञान का दर्शन जब करेंगे, तभी उनके शाप का अन्त होगा।

प्रियवदा और अनसूया ने इस अप्रिय घटना की सूचना देकर सखी का मन दुःखी करना उचित नही समझा। जब वह स्वामी के गृह के लिए यात्रा करने लगी, तब उन दोनो ने उससे यह अवश्य कह दिया कि उसे अभिज्ञान के रूप मे स्वामी से जो अँगूठी प्राप्त है उसकी वह सावधानी के साथ रक्षा करे। किन्तु महर्षि के शाप का फल तो शकुन्तला को भोगना ही था। इससे मार्ग में शचीतीर्थ की वन्दना करते समय अँगूठी उँगली से निकलकर गगा जी के जल में गिर पडी और राजभवन मे जाने पर शकुन्तला को दुष्यन्त का तिरस्कार सहन करना पडा। अन्त में धीवर के हाथ से वह अँगूठी प्राप्त होने पर उन्हें सारी बाते स्मरण हो आयी और वे विरह तथा पश्चात्ताप की वेदना से व्याकुल हो उठे।

शान्ति प्राप्त करने की आशा से राजा ने एक फलक पर शकुन्तला का एक चित्र अंकित किया था। एक दिन विरह से अत्यन्त ही व्याकुल होकर वे उद्यान के एक माधवी-लता मण्डल मे अपने विदूषक माढव्य के साथ बैठे हुए थे और चतुरिका नाम की दासी को उन्हाने यह आज्ञा दी थी कि वह चित्रफलक लेकर लतामण्डप में पहुँचे। चतुरिका ने स्वामी की इस आज्ञा का पालन किया। लतामण्डप में पहुँचकर चित्रफलक को राजा की ओर बढाते हुए उसने कहा—"इअ चित्तगदा भट्टिणी—ये चित्र में अंकित स्वामिनी हैं।

उस चित्र का अवलोकन करने के उपरान्त राजा की कला-कुशलता की प्रशंसा करते हुए माढव्य ने कहा—

साहु वअस्स! महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। कूवलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्ण अप्पदेसेसु।

अर्थात्—वाह मित्र, यह तो आपने बहुत ही उत्तम चित्र अंकित किया है। शरीर का जो अङ्ग जहाँ पर जिस प्रकार ऊँचा या नीचा होता है वहाँ पर आपने वैसी ही ऊँचाई या निम्नता रक्खी है। भावों का भी आपने इस प्रकार समावेश किया है, मानो शकुन्तला के हृदय के भाव फूटकर निकलते आ रहे हैं। उनके कारण चित्र की ऊँची-नीची जगहों पर मेरी दृष्टि जम ही नहीं पाती।

शकुन्तला की माता मेनका के द्वारा भेजी गयी सानुमती नाम की एक अप्सरा राजा की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके पास आई थी और तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रूप में वह उस लता-मण्डप में ही थी। शकुन्तला का चित्र देखकर राजा की कला-कुशलता की प्रशंसा किये बिना उससे भी न रहा गया। उसने चकित भाव से कहा—

अम्मो! एसा राएसिणो णिउणदा! जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति।

अर्थात्—वाह, राजर्षि चित्रकला में कितने कुशल हैं! मुझे ऐसा लगता है, मानो मेरी सखी मेरे सामने खड़ी है।

किन्तु राजा को उस चित्र से सन्तोष नहीं था। उन्होंने माढव्य से कहा—

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥

अर्थात्—चित्र में जो-जो उत्तम नहीं है उसका सुधार फिर से किया जाता है। तो भी बड़े प्रयत्न से उस सुन्दरी का थोड़ा बहुत लावण्य रेखा के द्वारा मैंने व्यक्त किया है।

उस चित्र में कुछ सुधार करने के विचार से राजा ने चतुरिका को यह आदेश दिया कि वह रंग और तूलिका ले आवे। स्वयं चित्रफलक को हाथ में लिये-लिये विह्वल भाव से उन्होंने कहा—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहु मन्यमानः।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे! प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्॥

अर्थात्—हे मित्र, मेरी प्रिया जब स्वयं आई थी, तब तो मैंने उन्हें दुत्कार दिया, अब चित्र में अंकित करके उनका आदर कर रहा हूँ। मार्ग में स्वच्छ जलवाली नदी मिली थी। उसे मैंने छोड़ दिया। अब मैं मृगमरीचिका की ओर अनुरागपूर्ण दृष्टि लगाये हुए हूँ।

माढव्य ने कहा—भो अवर किं एत्थ लिहिदव्व ?

अर्थात्—अजी, इस फलक पर और क्या अंकित करना है ?

राजा ने कहा—

कार्या सैकतलीन हस मिथुना स्रोतो वहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्ण हरिणा गौरी गुरो पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
शृगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम् ॥

अर्थात्—हिमालय-पवत के पाद-देश में बहती हुई मालिनी नदी अंकित करनी है। उस नदी के तट पर हस का एक जोडा सुखपूर्वक बैठा होगा, आस-पास हिरण बैठे होंगे। एक वृक्ष अंकित करना चाहता हूँ। जिसकी शाखाओ पर वल्कल टँगे होंगे और उसके नीचे एक मृगी होगी, जो कृष्ण मृग की सीग में अपनी बाई आख खुजला रही होगी।

क्षण भर के मौन के बाद फिर कहा—मित्र माढव्य,

कृत न कर्णार्पितबन्धन सखे !
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्च द्रमरीचिकोमल
मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे ॥

अर्थात्—हे मित्र, अपनी प्रिया के इस चित्र में कानो में मैंने शिरीष के ऐसे पुष्पो के वृन्त नही लगाये, जिसके केसर कपोलो पर पड रहे हो। स्तनो के मध्य में शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणो की-सी शोभा धारण करने वाले कमल के कोमल तन्तुओ की माला भी नही अंकित की।

चित्र में एक भ्रमर और भ्रमरी का भी चित्र अंकित था। भ्रमर मानो शकुन्तला के अधर पल्लव पर बैठने के विचार से तीव्र गति से उस ओर बढता जा रहा हो। उसे रोकने का प्रयत्न करते हुए राजा ने कहा—

अयि भो कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्रपरिपतनखेदमनुभवसि ?
एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधुविना त्वया पिबति॥

अर्थात्—हे फूली हुई लता के प्यारे अतिथि, इन सुदरी के मुख पर टूटने के खेद का अनुभव करने के लिए क्यो प्रयत्नशील हो ? यह भ्रमरी कुसुम पर बैठी है। किन्तु तुम्हारे प्रति इसके मन में अपार अनुराग का भाव विद्यमान है, इसलिए यह मधु का पान नही कर रही है, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।

भ्रमर राजा के इस आग्रहपूर्ण अनुरोध की ओर कर्णपात नहीं करता। वह पहले की ही तरह शकुन्तला के अधर-पल्लव पर बैठने की ही मुद्रा प्रदर्शित करता है। इससे राजा रोष में आ जाते हैं, और भ्रमर को भय प्रदर्शित करने का उद्योग करते हुए कहते हैं—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर! प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदर बन्धनस्थम्॥

अर्थात्—हे भ्रमर! मेरी प्रिया का यह बिम्ब अधर कोमल किसलय के समान लुभावना है। रति काल में मैंने बहुत संभाल संभाल कर, स्वाद ले-लेकर इसका पान किया है। तुम यदि इसका स्पर्श करोगे, तो मैं तुम्हें कमल के दलों के बन्धन में कैद करवा लूँगा।

राजा को चित्रलिखित शकुन्तला तथा भ्रमर में जीवन का अनुभव करके उत्तेजना मे आया हुआ देखकर उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने के विचार से माढव्य ने कहा—**भो चित्तं क्खु एयं!**—अजी, यह चित्र है।

महाकवि भवभूति के 'उत्तर रामचरितम्' तथा 'मालतीमाधवम्' का भी श्रीगणेश एक प्रकार से कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' के समान ही चित्रकला की चर्चा के ही साथ होता है। 'उत्तर रामचरितम्' के नायक अयोध्या के राजा रामचन्द्र अपनी धर्मपत्नी सीता के मनोविनोद के लिए एक कुशल चित्रकार से अपने जीवन की घटनाओं के चित्र अंकित करवाते हैं। इसके विपरीत 'मालती-माधवम्' के नायक माधव तथा नायिका मालती ने क्रमशः अपनी प्रेयसी तथा प्रियतमा का चित्र अंकित करके स्वयं अपनी अपनी चित्रकला की कुशलता का परिचय दिया है।

वनवास का दुःख सहन करने तथा राक्षस-शक्ति का अन्त करने के उपरान्त अयोध्या में आकर रामचन्द्रजी ने जब शासन-सूत्र ग्रहण किया; उसके बाद ही शृंगवेरपुर में उनके बहनोई शृष्यशृग ने एक यज्ञ आरम्भ किया था। कौशल्या आदि माताएं उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए वहां चली गयीं थी, केवल रामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण के सहित अयोध्या मे रह गये थे। ऐसे समय में सीता जी के मनोविनोद के लिए एक कुशल चित्रकार से लक्ष्मण जी ने बहुत से चित्र अंकित करवाये थे। वे समस्त चित्र रामचन्द्र जी के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में थे।

वे चित्र जब तैयार हो गये, तब लक्ष्मण जी, रामचन्द्र जी तथा सीता जी को उनका अवलोकन करने के लिए चित्रशाला में ले गये। वहाँ पहुंचने पर सीता जी की दृष्टि सबसे पहले जृम्भकास्त्रों पर पड़ी। दिव्य अस्त्रों का परिचय देते हुए लक्ष्मण जी ने कहा—

एतानि तानि सरहस्यजृम्भकास्त्राणि यानि भगवतः कृशाश्वात् कौशिकमृर्षिविश्वस्य मित्रं विश्वामित्रमुपसंक्रान्तानि। तेन च ताटकावधे प्रसादीकृतान्यार्यस्य।

अर्थात्—ये रहस्य सहित जृम्भक अस्त्र हैं, जो भगवान् कृशाश्व से विश्वामित्र मुनि को प्राप्त हुए है। उन महानुभाव ने ताटकावध के अवसर पर आर्य को वे अस्त्र प्रदान करने की कृपा की हैं।

रामचन्द्र जी ने कहा—हे देवी, इन दिव्य अस्त्रों की वन्दना कीजिए। ये आपकी सन्तति को भी पूर्ण रूप से प्राप्त होंगे।

सीताजी नें भक्ति पूर्वक उन अस्त्रो को प्रणाम किया। उसके उपरान्त मिथिला की घटनाओ के चित्रो का अवलोकन करते करते चकित भाव से उन्होने कहा—

अम्महे! दलन्तणवणीलुप्पलसामल सिणिद्धमसिण मसलेंण देहसोहग्गेण विम्ह अत्थिमिदतादवीसन्तसोम्मसुदरसिरी अणादर क्खुडिदसकर सरासणो सिहण्डमुद्धमण्डणो अज्जउत्तो आलिहिदो

अर्थात्—अहा! आर्यपुत्र का चित्र इसमें अंकित किया गया है। तुरन्त के खिले हुए नील कमल के पुष्प के समान श्याम वर्ण के ये है। इनके स्निग्ध, कोमल, सुन्दर साथ बलिष्ठ देह के कारण हमारे पितृदेव विस्मय में निश्चिल होकर इनकी शोभा का अवलोकन कर रहे है। इन्होने बिना किसी प्रयास के शिव-धनुष को तोड डाला है और सुन्दर केश-राशि के द्वारा इनका मुख मण्डल बहुत ही शोभायमान हो रहा है।

एक दूसरे चित्र की ओर सीता जी का ध्यान आकर्षित करते हुए लक्ष्मण जी ने कहा—आर्यें, पश्य पश्य,

सम्बन्धिनो वशिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति।
गौतमश्च शतानन्दो जनकाना पुरोहित ॥

अर्थात्—हे आर्या, देखिए देखिए! ये आपके पिता जी तथा जनक राजाओं के पुरोहित गौतम शतानन्द वसिष्ठ आदि सम्बन्धियो का पूजन कर रहे हैं।

रामचन्द्र जी ने कहा—द्रष्टव्यमेतत्।

जनकाना रघूणाञ्च सम्बन्ध कस्य न प्रिय।
यत्र दाता ग्रहीता च स्वय कुशिकनन्दन ॥

अर्थात्—इस चित्र को तो देखना चाहिए। जनक-वश और रघुवश का सम्बन्ध किसे प्रिय नही है? इस सम्बन्ध में विशेषता यह है कि इसमे स्वय विश्वामित्र ही दाता और ग्रहीता दोनो है—वर-पक्ष के भी और कन्या पक्ष के भी एक विशिष्ट व्यक्ति है।

एक चित्र की ओर ध्यानपूर्वक देखते-देखते प्रसन्नता का भाव-व्यक्त करते हुए सीता जी ने कहा—

एदेक्खु तक्कालकिदगोदाणमगला चत्तारोवि भादरो विवाह दिक्खिदा तुम्हे। अम्मो। जाणामि तस्सि जेण्ठ पदेसे तस्सि जेष्ठ काले वत्तामि।

अर्थात्—जिस समय आप चारो भाइयो का केशान्त सस्कार किया गया था और आप लोगो का वर के रूप में वरण किया गया था यह उसी समय का चित्र है। अहा! अहा! इसे देख कर मुझे यह अनुभव हो रहा है, मानो हम सब उसी देश काल में वर्तमान है—जनकपुर के विवाह-मण्डप में बैठे है।

वह चित्र देखकर रामचन्द्र जी ने भी प्रसन्नता का भाव व्यक्त किया और उन्होंने कहा कि उन्हें भी इस समय यही अनुभव हो रहा है कि यह उनके पाणिग्रहण संस्कार का समय है।

लक्ष्मण जी ने क्रमशः तीन चित्रों की ओर संकेत करके कहा—**इयम् आर्या** (ये आर्य हैं), इयं आर्या माण्डवी (ये आर्या माण्डवी हैं) इयमपि वधू श्रुतकीर्तिः (ये वधू श्रुतकीर्ति हैं)।

उस समय सीता जी से विनोद किये बिना न रहा गया। उर्मिला के चित्र की ओर संकेत करके उन्होंने—**वच्छ ! इअं वि अवरा का** (हे वत्स, यह दूसरी कौन है ?)

लक्ष्मण जी ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। लज्जा से मस्तक झुका कर वे मुस्कराने लगे।

इसके उपरान्त अयोध्या-काण्ड से लेकर आरण्य-काण्ड, सुन्दर-काण्ड तथा किष्किन्धा काण्ड तक भी सभी घटनाओं के चित्र वे तीनों व्यक्ति देख गये। अन्त में रामचन्द्र जी ने कहा—हे वत्स, यह चित्रदर्शन यही समाप्त कर दो। इसके वाद की घटनाएं मुझसे न देखी जायंगी।

'मालतीमाधवम्' नामक नाटक का नायक विदर्भ-देश के राजा के मन्त्री देवरात का पुत्र था। वह पद्मावती नाम की नगरी मे कामन्दकी नाम की एक भिक्षुणी के पास, जो अध्ययन काल में देवरत की सहपाठिनी थी, न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए कुण्डिनपुर से आया था। और वह वही के विहार में रहा करता था। उक्त नाटक की नायिका मालती, पद्मावती के राजा के मन्त्री भूरिवसु की कन्या थी। भूरिवसु भी देवरत तथा कामन्दकी के सहपाठी थे। इन तीनों ही व्यक्तियों की आन्तरिक कामना थी कि माधव और मालती स्वामी-स्त्री बनें। किन्तु पद्मावती के राजा की इच्छा थी कि मालती का विवाह नन्दन नामक उसके नर्म-सचिव के साथ हो। इससे भूरिवसु प्रकट रूप से माधव के साथ कन्या का विवाह करने का साहस नहीं कर पाते थे। इससे उन्होंने इस विषय में कामन्दकी की सहायता प्राप्त करने की इच्छा की थी माधव की ओर से वे इस प्रकार निरपेक्ष थे, मानों उसे वे जानते ही नही।

कामन्दकी प्रायः नित्य कोई न कोई ऐसा व्याज निकाला करती थी कि माधव को अमात्य भूरिवसु के द्वार से होकर जाने वाले मार्ग से आना-जाना पड़े। इससे अपनी अट्टालिका की खिड़की के पास बैठे-बैठे माधव को प्रायः प्रतिदिन देखा करती थी। इस प्रकार देखते देखते उसके हृदय मे माधव के प्रति अनुराग का भाव उत्पन्न हुआ और वह अनुराग क्रमशः आसक्ति के रूप में परिणत हुआ। अन्त में एक दिन उसने माधव का एक चित्र अंकित किया और एकान्त में वैठे-बैठे उसी को देख-देख कर वह धैर्य प्राप्त करने लगी।

पद्मावती में भगवान् कुसुमायुध का एक मन्दिर था। मदनमहोत्सव के अवसर पर उस मन्दिर में नगर की समस्त सुन्दरियाँ पूजन के निमित्त जाया करती थीं। कामन्दकी ने सोचा कि मालती कुसुमायुध के पूजन के लिए मन्दिर में अवश्य जायगी, अतएव माधव भी यदि वहाँ जाय, तो उन दोनों का चाक्षुष परिचय हो सकता है। इससे उसने माधव को उस महोत्सव में सम्मिलित होने की आज्ञा दी और घटनाचक्र से कामन्दकी का उद्देश्य भी सिद्ध हुआ।

प्रथ म दर्शन में ही मालती के प्रति माधव के हृदय में आसक्ति का भाव उत्पन्न हो आया।

मन्दिर से सलग्न उद्यान में एक वृक्ष की छाया में बैठे-बैठे वह अपने बालमित्र तथा सहपाठी मकरन्द के साथ मालती के ही विषय में बातें कर रहा था इतने में कलहसक नामक मकरन्द का सेवक मालती के द्वारा अंकित किया गया माधव का चित्र लेकर पहुँचा। मालती की सखी लवगिका ने उस चित्र को माधव के पास तक पहुँचाने की व्यवस्था की थी ।

कलहसक से यह जानकर कि मालती ने माधव का वह चित्र अपनी उत्कण्ठा को निवृत्त करने के उद्देश्य से अकित किया है मित्र को बधाई देते हुए उसने कहा—
वयस्य माधव, सर्वथा समाश्वसिहि!

या कौमुदी नयनयोर्भवत सुजन्मा
तस्या भकानपि मनोरथबन्धबन्धु ।
तत्सगम प्रति सखे न हि सशयोऽस्ति
यस्मिन् विधिश्च मदनश्च कृताभियोग ॥

अर्थात्—हे मित्र, अब आपको चिन्ता का परित्याग कर देना चाहिए। जो आपके नेत्रों की ज्योत्स्ना-आनन्ददायिनी हैं, आप सौभाग्यशाली भी उसकी कामना के पात्र हैं। ऐसी स्थिति मे उसके और आपके समागम में अब सशय नही हैं। इस काय की सिद्धि के लिए विधाता और काम-देव दोनो ही प्रयत्नशील हैं।

इस प्रकार आश्वासन देने के उपरान्त मकरन्द ने यह प्रस्ताव किया कि जिस फलक पर मालती ने माधव का चित्र अकित किया है, उसी पर माधव भी मालती का चित्र अकित कर दे। माधव ने भी मित्र के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वह तूलिका लेकर बैठ गया। किन्तु भावो के आवेग के कारण वह चित्र अकित करने मे माधव को बडी कठिनाई हुई। अपनी उस कठिनाई का वर्णन करते हुए उसने कहा—सखे मकरन्द,

वार वार तिरयति दृशोरुद्गम बाष्पपूर-
स्तत्सकल्पोपहित जडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्य स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीक
पाणिर्लेखाविधिषु नितरा वर्तते किं करोमि॥

अर्थात्—हे मित्र मकरन्द, जब मै उस सुन्दरी की रूपराशि का ध्यान करने लगता हूँ, तो बार-बार नेत्र सजल हो उठते हैं, और दृष्टि रुद्ध हो उठती है, शरीर के अग स्तम्भित हो उठते हैं। तूलिका चलाते समय उँगलियाँ स्वेद से आर्द्र हो उठती हैं और उनमें कम्पन होने लगता है। तो भी मैं फलक पर से हाथ को नही हटा रहा हूँ—चित्र को अकित करने के विषय में प्रयत्नशील हूँ।

कुछ समय के प्रयत्न के बाद माधव को मालती का चित्र अकित करने में सफलता मिल गयी।

वह चित्र-फलक जिस सूत्र से माधव के पास पहुँचा था, उसी सूत्र से मालती के पास पहुँच गया और उसका आशा के अनुरूप परिणाम भी हुआ ।

हर्ष कृत 'रत्नावली' नाम की नाटिका की नायिका सागरिका, जिसका वास्तविक नाम रत्नावली था, चित्रकला में बहुत ही पटु थी। उसने अपने प्रणयपात्र वत्सराज उदयन का, जो उक्त नाटिका के नायक है, बहुत ही उत्कृष्ट चित्र अंकित किया था। उसकी सखी तथा वत्सराज्य की राजमहिषी वासवदत्ता की परिचारिका सुसंगतिका को भी चित्रकला का अत्यन्त ही उत्कृष्ट ज्ञान था। सागरिका ने जिस फलक पर राजा का चित्र अंकित किया था उसी पर सुसंगतिका ने सागरिका का भी चित्र अंकित कर दिया था। अन्त में घटनाचक्र से वह चित्रफलक राजा के हाथों तक पहुँचा और उस पर अंकित किये गये इन दोनों भावपूर्ण चित्रों को देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए।

सागरिका का वास्तविक नाम रत्नावली था। वह सिंहल देश की राजकुमारी थी। पिता ने वत्सराज उदयन के ही निमित्त उसका उत्सर्ग किया था और वह वत्सराज के कंचुकी तथा सिंहलराज्य के एक आमात्य के साथ कौशाम्बी के लिए भेजी गयी थी। किन्तु जिस जल-यान से वह आ रही थी उसके एक दुर्घटना में पड़ जाने के कारण साथियों से वह पृथक् हो गयी। संयोग से कौशाम्बी के ही एक समुद्री व्यापारी ने उसकी रक्षा की और राजधानी में ले आकर उसने महारानी की सेवा के निमित्त सर्मपित किया। तब से वह सागरिका के नाम से प्रसिद्ध हुई और महारानी की एक विशिष्ट परिचारिका के रूप में उनकी सेवा में रहने लगी।

मदन-महोत्सव के पर्व पर महारानी ने अपने प्रमद-वन में भगवान् कुसुमायुध के पूजन का आयोजन किया था और उस अवसर पर उन्होंने राजा को भी आमान्त्रित किया था। पूजन-सामग्री लेकर सागरिका भी प्रमद-वन में गयी थी। वही राजा की और उसकी देखा-देखी हुई और दोनों ही एक दूसरे के प्रति आसक्त हो गये उसके बाद ही सागरिका ने राजा का वह चित्र अंकित किया था।

एक दिन राजा कदली-गृह की एक झुरमुट में बैठे-बैठे अपने विदूषक वसन्तक से सागरिका के विषय में ही बातें कर रहे थे। उस समय संयोग से अन्तःपुर की एक मैना वहाँ आ गयी थी और सागरिका तथा सुसंगतिका के वार्तालाप को दोहरा रही थी।

मैना की बोली सुनकर वसन्तक ने राजा से कहा—

भो वअस्स, सुदं तुए जं एदाए मंतिदं। एसाभणदि—सहि, को एसो तुए आलिहिदो। यउत्तम अण महस्सवे भअवं अणगोत्ति। सहि कीस तुए अहं एत्थं आलिहिदा। सहि, किं अआरणे कुप्पसि। जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो तादिसी मए रइ आलिहिदेत्ति।

अर्थात्—हे मित्र, सुना आपने इसने जो कुछ कहा? यह कहती है, सखी, तुमने यह किसका चित्र अंकित किया है? मदन महोत्सव के अवसर पर भगवान् अनंग का? फिर कहती है सखी, इसी फलक पर तुमने मेरा चित्र क्यों अंकित कर दिया? सखी, तुम अकारण रुष्ट क्यों हो रही हो? जिस प्रकार तुमने कामदेव का चित्र अंकित कर दिया है, उसी प्रकार मैंने रति का अंकित कर दिया है।

अपने बुद्धि-कौशल के द्वारा राजा ने वास्तविकता का अनुमान कर लिया। उन्होंने वसन्तक से कहा—

वयस्य, एवं तर्कयामि। कयापि हृदयवल्लभोऽनुराधिक्यादभिलिख्य कामदेवव्यपदेशेन सखीपुर- तोऽह्नु त। तत्सख्यापि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि तत्राभिलिख्य रतिव्यपदेशेन दर्शितेति।

अर्थात्—हे मित्र, मेरा यह अनुमान है कि अनुराग की अधिकता के कारण किसी सुन्दरी ने अपने हृदय-वल्लभ का चित्र अंकित किया है और सखी से उसने यह बहाना किया है कि उसने कामदेव का चित्र अंकित किया है। सखी ने भी वास्तविक बात को जानकर उसी फलक पर विनोद के लिए उस सुन्दरी का चित्र अंकित किया और वह चित्र उसे यह कह कर दिखलाया कि उसने रति का चित्र अंकित किया है।

इस वार्तालाप के पश्चात् ही संयोग से एक चित्रफलक भी वसन्तक को मिल गया और उसे उठाकर देखने के बाद राजा से उसने कहा—

भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसि। एद तं जं मए भणिदं तुमं जेव्व एत्थ आलिहिदो। अण्णहा को अण्णो कुसुम चावव्हदेसेण णिण्हवी अदित्ति।

अर्थात्—हे मित्र, आप बधाई के पात्र हैं। जैसा कि मैंने कहा है, इस फलक पर आपका ही चित्र अंकित है। भला और कौन-सा ऐसा व्यक्ति है, जो कामदेव के बहाने से छिपाया जा सके?

राजा ने चित्रफलक को लेने के लिए हाथ फैलाया। किन्तु उसे देने के विषय में अनिच्छा का भाव व्यक्त करते हुए वसन्तक ने कहा—

ण दे दसइस्सं। सावि कण्णआ एत्थ एव्वआलिहिदात्ति। ता किं पारितोसिएण विणा ईदिसं कण्णारअणं दसीअदि।

अर्थात्—मैं आपको न दिखाऊँगा। उस कन्या का भी चित्र इस पर अंकित है। तो क्या पारितोषिक के बिना ही वह कन्या-रत्न आपको दिखा दूँ?

राजा ने बलपूर्वक चित्रफलक छीन लिया और उसे ध्यानपूर्वक देखते-देखते उन्होंने कहा—हे मित्र, देखो, देखो।

> **लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं न।**
> **मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव॥**
> **विधायापूर्वं पूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद्ध्रुवम्।**
> **धाता निजासनाम्भोजविनिमीलन दुःस्थित॥**

अर्थात्—यह सुन्दरी जो चित्र में अंकित है, मानसरोवर में वर्तमान राजहंसी की तरह मेरे मन को विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित कर रही है। पता नहीं यह कौन है? इसने तो अपने सौन्दर्य के कारण लक्ष्मी को भी तिरस्कृत कर दिया है। पूर्ण चन्द्रमा के समान इसके

सुन्दर मुख की सृष्टि करके विधाता ने अपनी स्थिति को अवश्य ही संकटापन्न कर दिया है। बात यह है कि विधाता का आसन कमल इसके कारण संकुचित होता जा रहा है।

उस चित्र को तनिक देर तक और ध्यानपूर्वक देखने के बाद राजा ने वसन्तक से कहा—

कृच्छ्रा दूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवली तरंग-विषमे निस्पन्दमागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुंगौ स्तनौ
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललव प्रस्यन्दिनी लोचने॥

अर्थात्—बड़ी कठिनाई से इस सुन्दरी की दोनों जंघाओं पर से हटकर मेरी दृष्टि नितम्ब-स्थल पर विलम्ब तक घूमती रही। वाद को कटिदेश से होकर त्रिवली पर पहुँचने पर वह स्पन्दन से रहित हो गयी—वही पर जम गयी। अन्त में बुभुक्षा से पीड़ित सी होकर वह दोनों ऊँचे ऊँचे स्तनों पर चढ़ी और वही से जल के कणों को बहाने वाले दोनों नेत्रों को वार वार देख रही है।

फलक को देखकर वसन्तक ने कहा—

भो वअस्स, जस्स उण ईदिसीओ वि एव्वं पिअस्समागमं बहु मण्णंति। तस्स वि अत्तणो उवरि को परिहवो जेण एत्थ एव्व ताए आलिहिदं अत्ताणअं ण प्रेक्खसि।

अर्थात्—हे मित्र, इस प्रकार की सुन्दरियाँ जिसके प्रिय समागम की आन्तरिक भाव से कामना किया करती है, उसके मन में भी अपने विषय में उपेक्षा का भाव क्यों आवे? इस फलक पर ही तो उस सुन्दगी के द्वारा आपका चित्र अंकित किया गया है। उसे आप क्यों नहीं देख रहे है?

अब राजा का ध्यान अपने चित्र की ओर गया। उन्होंने कहा—

वयस्य, अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्येव बहुमानः। तत्कथं न पश्यामि? पश्य—

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या
वाष्पाम्बुसीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि॥

इस चित्र का अवलोकन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि इसे अंकित करते समय उस सुन्दरी के आँसुओं के कण इस पर गिरे है। मेरे शरीर मे भी इसके स्पर्श से स्वेद का उद्गम हो रहा है।

'नागानन्दम्' के नायक यक्ष—राजकुमार जीमूतवाहन का अपनी प्रेयसी सिद्ध-जाति के राजा विश्वावसु की राजकुमारी मलयवती से प्रथम साक्षात्कार मलय पर्वत पर वर्तमान गौरी-मन्दिर में हुआ था और उसके वाद ही उन नायक-नायिका मे परस्पर आसक्ति का भाव उत्पन्न हुआ था। उसके विरह से विह्वल होकर एक लता-मण्डप में शिला पर वैठ कर अपने विदूषक से उन्होंने कहा—

वयस्य, तामेवास्या शिलायामभिलिख्य तथा चित्रगतयात्मानं विनोदयेयम्। तदित एव गिरितटान्मनश्शिलाशकलान्यानय।

अर्थात्—हे मित्र, मैं चाहता हूँ कि इस शिला पर उस सुन्दरी का चित्र अंकित करूँ और उसी चित्र को देख देखकर अपना मनोविनोद करूँ। इसलिए इसी पर्वत की तराई से गेरु के कुछ टुकड़े ले आओ।

'ज भवं आणवेदि (आपकी जो आज्ञा)'—यह कहकर विदूषक चला गया और लौटकर उसने कहा—

भो वअस्स। तुए एक्को वण्णो आणत्तो। मए उणइह पव्वदादो पञ्च वण्णा आणादा। ता आलिहदु भवं।

अर्थात्—हे मित्र, आपने मुझसे केवल एक रंग ले आने को कहा था, किंतु मैं पाँच रंग ले आया।

सन्तोष का भाव व्यक्त करते हुए जीमूतवाहन ने कहा —**वयस्य, साधु कृतम्।** मित्र, बहुत अच्छा किया।

मलयवती का चित्र अंकित करते-करते जीमूतवाहन को रोमाञ्च हो आया। उसने कहा—

सखे, पश्य, पश्य,

अभिलष्ट बिम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवाय शशिन इव।
दयिता मुखस्य सुखयति रेखापि प्रथमदृष्टेयम्॥

अर्थात्—चन्द्र के पूर्ण बिम्ब की शोभा धारण करनेवाली प्रिया के मुख की रेखा भी पहले-पहल देखकर मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ।

वह चित्र देखकर जीमूतवाहन की कला-कुशलता की प्रशंसा करते हुए विदूषक ने कहा—

भो वअस्स! अप्पच्चक्ख वि एवं आलिहीअदित्ति अच्छरिअं।

अर्थात्—हे मित्र, नेत्रों से न देखते हुए भी आपने इतना उत्तम चित्र अंकित कर लिया है यह आश्चर्य का विषय है।

जीमूतवाहन ने कहा—

वयस्य,

प्रिया सन्निहितैवेयं सकल्पैः स्थापिता पुरः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत्कोऽत्र विस्मयः॥

अर्थात्—मैंने कल्पना के द्वारा अपनी प्रिया को अपने सम्मुख बैठाल लिया है और उसे देख-देख कर यह चित्र अंकित कर रहा हूँ। इसमें आश्चर्य का कौन-सा विषय है?

जयदेव कृत 'प्रसन्नराघवम्' नामक नाटक के प्रथम अंक में नूपुरक तथा मञ्जीरक नामक जनक राज राजर्षि सीरध्वज दो वन्दीजनों के वार्तालाप के प्रसंग में मैत्रेयी के द्वारा अंकित किये

गये राम और सीता के विवाह के चित्र का उल्लेख आया है। उन दोनों वन्दी जनों ने स्वयंवर-सभा में सम्मिलित होने की कामना से देश-विदेश से मिथिला में आये हुए राजाओं के सम्मुख राजा की घोषणा सुनाई और उसके परिणाम की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। किन्तु शिवजी के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने में जब किसी भी राजा को सफलता न मिली. तव विपाद का भाव व्यक्त करते हुए मञ्जीरक ने कहा—

> आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
> कन्येयं कलधौत कोमलरुचिः कीर्तिश्च लाभः परः।
> नाकृष्टं न च टंकृतं न नमितं स्थानाच्च न त्याजितम्
> केनापीदमहो धनुः किमधुना निर्वीरमुर्वीतलम् ॥

अर्थात्—ये सब राजा देश-देशान्तर से आये हैं। धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा लेने पर अत्यन्त रूपवती कन्या तो प्राप्त होगी ही, साथ ही कीर्ति भी प्राप्त होगी। किन्तु इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना अथवा इसमें से टंकार निकालना तो दूर रहा, इसे जरा सा कोई टस से मस तक नही कर सका। हाय, तो क्या अब यह पृथिवी वीरों से रहित हो गयी है ?

शिव धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने में विश्व के बड़े से बड़े वीरों को भी असफल होते देखकर प्रायः सभी मिथिलावासियों को सीता के विवाह के विषय में निराशा हो रही थी। इतने में राजा जनक के गुरु याज्ञवल्क्य के गृह से चन्दनिका-नाम की एक दासी एक चित्र लेकर आई। अन्तःपुर के लोग उस चित्र को देख-देख कर बहुत ही प्रसन्न होने लगे। उन सब को इस प्रकार प्रसन्न होते देखकर मञ्जीरक ने अपने साथी से उत्सुकता का भाव व्यक्त करते हुए कहा—

सखे नपुरक, किमेतत्कस्यापि हस्तादादाय सानन्दमालोकत्यन्तः पुरिको जनः ?

अर्थात्—मित्र नूपुरक, यह ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे किसी स्त्री के हाथ से लेकर इस तरह प्रसन्न भाव से अन्तःपुर के लोग देख रहे है ?

नूपुरक—अहमीरिसं संभावेमि। जं किर गुरु भवणादो आअदाए चन्दणिआए समप्पिदं चित्तपडं पुलोवेदित्ति।

अर्थात्—मै ऐसा समझता हूँ कि यह गुरुदेव के यहाँ से आई हुई चन्दनिका के द्वारा दिया गया चित्रपट है।

मञ्जीरक—र्तात्क स त्वया दृष्टश्चित्रपटः ?

(तो क्या वह चित्रपट तुमने देखा है?)

नूपुरक—अथ किम् (हाँ)

मञ्जीरक—तत्कथय किं तत्र लिखितम् ?

(तो बताओ उसमें क्या अंकित है ?)

नूपुरक—भट्टदारिआ अण्णच्च कोवि णीलुप्पल दामसामलओ कुसुमसरिसरूपो कुण्डलीकिद हरचावो चक्कवट्टिकुमारो।

(राजकुमारी तथा नीले कमल के दल के समान श्याम वर्ण का एक चक्रवर्ती-कुमार, जो शिव-धनुष को मोडकर लिये हुए है।)

मञ्जीरक—मुग्ध खल्वबलाजन । यदेवमपि यठोरप्रतिज्ञे राजनि किशोरवयस जामातरमाशसंति । सखे, जानासि केन लिखित चित्रमिति।

(स्त्रिया भी कैसी नासमझ होती है। राजा की इस तरह की कठोर प्रतिज्ञा के होते हुए भी वे किशोर अवस्था के दामाद की कामना करती है। मित्र, जानते हो, यह चित्र किमने अंकित किया है ?)

नूपुरक—जाणामि । महसिणो जण्णवक्कस्स दुदिअ धम्म आरिणीए।

(जानता हूँ। महर्षि याज्ञवल्क्य को द्वितीया धर्मपत्नी के द्वारा।)

यह सुनकर मञ्जीरक प्रसन्न हो उठा। उत्साहपूर्ण स्वर में उसने कहा—

इदानीमुद्भिन्नो मम मनोरथाङ्कुर । देवी हि मैत्रेयी सिद्धियोगिनी त्रिकालदर्शिनी नालीकमालिखति।

(अब मेरे मनोरथ का अकुर फूट आया। बात यह है कि देवी मैत्रेयी सिद्धि योगिनी है। वे त्रिकालदर्शिनी है। उन्होने जो कुछ अकित कर दिया है, वह अन्यथा नही हो सकता।

भासकृत 'स्वप्न वासवदत्तम्' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' में इन दोनो ही नाटको के नायक तथा नायिका के चित्र नायिका के माता पिता उज्जयिनी के राजा प्रद्योत तथा उनकी राजमहिषी अगारवती के द्वारा अकित कराये गये है। इन दोनों ही नाटको की नायिका उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता है और नायक वत्सराज्य के अधीश्वर उदयन। वासवदत्ता के साथ उदयन का विवाह करने के विचार से ही प्रद्योत ने छल से उन्हे बन्दी करवाया था और एक बन्दी के रूप में बडे ही सुख से अपने राजभवन में रक्खा था। उस बीच में राजा ने ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि राजकुमारी वासवदत्ता उदयन से वीणा बजाना सीख सके। इस प्रकार उन दोनो व्यक्तियो में पारस्परिक प्रेम का विकास हुआ और वे गान्धर्व विधि के अनुसार वैवाहिक सूत्र में आबद्ध हो गये। अन्त में वत्सराज्य के नीति कुशल मन्त्री यौगन्धरायण की कूटनीति के बल पर वे स्वामी-स्त्री गुप्त रीति से कौशाम्बी पहुँच गये। इस घटना का पता चलने पर प्रद्योत तथा अगारवती के हृदय में रोष का भाव उत्पन्न न होकर सन्तोष का ही भाव उत्पन्न हुआ और उन्होने उत्साह के साथ उदयन और वासवदत्ता के चित्रो का विवाह किया।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' का कथानक यही समाप्त हो जाता है। इस नाटक के द्वारा नाट्यकार केवल उज्जयिनी-नरेश महासेन प्रद्योत तथा कौशाम्बी के मन्त्री यौगन्धरायण की कूट नीति का प्रदर्शन करता है। महासेन प्रद्योत ने कूटनीति का आश्रय लेकर राजा उदयन को बन्दी किया और यौगन्धरायण ने कूटनीति के ही द्वारा प्रद्योत की राजकुमारी के सहित उदयन को उज्जयिनी के राजभवन से निकाल कर कौशाम्बी पहुँचा दिया। किन्तु 'स्वप्न वासवदत्तम्' के द्वारा नाट्यकार ने यौगन्धरायण के एक अन्य प्रकार के नीति-कौशल का प्रदर्शन किया है। उदयन

और वासवदत्ता के विवाह की घटना के साथ इसका श्रीगणेश होता है और मगध की राजकुमारी पद्मावती तथा उदयन के विवाह के साथ उसका अन्त होता है।

एक विशेष आवश्यकतावश यौगन्धरायण कुछ दिनों के लिए वासवदत्ता को अदृश्य रहने के लिये सहमत कर लेते हैं और छद्मवेश में उसे पद्मावती के ही पास पहुँचा देते हैं। वे प्रसिद्धि यह कर देते हैं कि महारानी वासवदत्ता आग में जलकर दिवंगत हो गयी। विवाह के उपरान्त वासवदत्ता के सहित पद्मावती जब कौशाम्बी आ जाती है तब उज्जयिनी की महाराणी का सन्देश लेकर धात्री वसुमती आई। उसने राजा को एक चित्रफलक दिया और उनसे उक्त महारानी की ओर से कहा—

उवरदा वासवदत्ता। मम वा महासेणस्स वा जादिसा गोवाल आपालआ तादिसो एव्व तुमं पुढमं एव्व अभिप्पेदो जामादु अति। एतण्णिमित्तं उज्जइणिं आणीदो। अणमि साक्खिअं वीणा ववदेसेण दिण्णा अत्तणो चवलदाए अणिव्वुत्त विवाह मंगलो एव्व गदो। अहअ अम्मेहिं तव अ वासवदत्ताए अ पडिकिदिं चित्तफलआए आलिहिअ विवाहो णिव्वुत्तो। एसा चित्त फलआ तव सआसं पेसिदा। एदं पेक्खिअ णिव्वुदो होहि।

अर्थात्—वासवदत्ता गत हो गयी। मुझे या महासेन को जिस प्रकार गोपालक और पालक (उज्जयिनी के दो राजकुमार) प्रिय हैं, उसी प्रकार तुम भी प्रिय हो। हम लोगों ने पहले से ही तुम्हें दामाद बनाने का निश्चय कर लिया था। इसीलिए इस तरह की व्यवस्था की थी, कि तुम उज्जयिनी लाये जाओ। तुम दोनों का विवाह करने के ही विचार से हमने वासवदत्ता को बीणा सिखाने का अवसर तुम्हें दिया था। अन्त मे अपनी चञ्चलता के कारण-विवाह हुए विना ही तुम लोग भाग निकले। तब हमने तुम्हारा और वासवदत्ता का चित्र बनवाया और उन चित्रों का विवाह किया। वह चित्रफलक तुम्हारे पास भेजा जा रहा है। उसे देखकर अपने शोक का निवारण करो।

उस चित्र को देखने की इच्छा प्रकट करते हुए पद्मावती ने कहा—

अय्यउत्त, चित्तगदं गुरुअणं पेक्खिअ अभिवादेदुं इच्छामि।

(आर्य्यपुत्र, चित्र में अंकित गुरुजन को देखकर मैं उनका अभिवादन करना चाहती हूँ।)

"**पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ** (राजकुमारी, देखिए, देखिए)" यह कहकर वसुमती ने चित्रफलक रानी को दे दिया। रानी ने भी वह चित्र ध्यानपूर्वक देखा और उनके मन में एक विशेष प्रकार के हर्ष और उद्विग्नता के भाव का समन्वय हुआ। राजा ने भी रानी के उस भावान्तर को ताड़ लिया और उन्होंने उसका कारण पूछा। तब रानी ने कहा—**अज्जउत्त, इमीए पडिकिदीए सदिसी इह एव्व पडिवसदि** (आर्य्यपुत्र, इस चित्र के अनुरूप ही एक स्त्री यहाँ रहा करती है।)

इसके पश्चात् ही क्रमशः रहस्य का उद्घाटन हुआ, जिसके फलस्वरूप उदयन का जीवन बहुत अधिक सुखमय हो उठा।

विशाखदत्तकृत 'मुद्राराक्षसम्' नामक नाटक में भी चित्रकला का उल्लेख आया है। नाटयकार ने नन्द-वश के शुभैषी मन्त्रिप्रवर राक्षस के मुख से कहलाया है—

चिंतावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिंदिव जाग्रत
सैवेय मम चित्रकर्मरचना भित्ति विना वर्तते॥

अर्थात्—मन पर चिन्ता का बहुत बडा भार लादे हुए रात-दिन जागते-जागते मैं जिस चित्र की रचना करने में सलग्न हूँ, वह बिना आधार के है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के शुभैषी तथा मौर्य साम्राज्य के सस्थापक चाणक्य के भेदिये ने घर-घर में पहुँचने का साधन यम के चित्र को बनाया था और वह चित्र दिखा दिखाकर कहता फिरता था—

पणमह जमस्स चलणे किं कज्ज देवएहिं अण्णेहि
एसो खु अण्णभत्ताण हरइ जीअ चडपडन्त॥

अर्थात्—यम के चरणो में प्रणाम करो, दूसरे देवताओ से क्या मतलब है? ये दूसरे देवताओ के भक्तो के प्रबल आयुबल का भी अपहरण कर लेते हैं।

वर्तमान युग के नाटककार महामहोपाध्याय श्री शकरलाल शास्त्री कृत 'श्रीकृष्ण चन्द्राभ्युदम्' नामक नाटक में भी चित्रकला का उल्लेख आया है। महाशिवरात्रि के दिन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ब्राह्ममुहूर्त में ही राजभवन से निकलकर समुद्र में स्नान करने तथा श्रीशिव जी के भिन्न-भिन्न स्थानो में स्थापित शिवलिंगो, विशेष प्रभासक्षेत्र में स्थापित श्री सोमनाथ जी का पूजन करने के निमित्त चले गये। इससे शय्या का परित्याग करने पर उनकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ उनका दर्शन न पाकर व्याकुलता का अनुभव करने लगी और वे सब एकत्र होकर स्वामी के विषय में एक दूसरी से पूछ ताछ करने लगी। कुछ देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब स्वामी का दर्शन उन्हें प्राप्त न हो सका तब चित्रशाला की ओर सकेत करके जाम्बवती नाम की पटरानी ने कहा—

देवि रुक्मिणि, देवि सत्यभामे, भगवच्चरण विरहखिन्ना वय। तदीयविरहदुःखदीर्घान् क्षण निकटान् तदीय करकमलालिखितानि विचित्राणीमानि चित्राणि विलोकयन्त्य क्षयमुपनयाम इति मे अभ्यर्थना।

अर्थात्—हे देवी रुक्मिणी, हे देवी सत्यभामा, भगवान् के चरणो के विरह से हम सब खिन्न हैं। इसलिए उनके करकमलो से अंकित किये गये इन चित्रो को देख-देखकर हम सब यह समय व्यतीत करें, यह मेरी प्रार्थना है।

जाम्बवती के इस प्रस्ताव का स्वागत करते हुए रुक्मिणी तथा सत्यभामा ने एक साथ कहा।

सखि, युक्तमुक्तमिद भवत्या। एत, सर्वा एत विलोकयाम।

अर्थात्—हे सखी, आपने ठीक कहा है। आइए, सभी लोग आइए। इन चित्रों को हम सब देखें।

चित्रशाला में भगवान् अथणी-पति के ही पावन-चरित से सम्बन्ध रखनेवाले चित्र थे। उन सब को देख देखकर सभी पटरानियाँ मुग्ध हो उठी।

विज्जका नाम की एक महिला के द्वारा रचित **'कौमुदी-महोत्सव'** नामक नाटक में भी चित्रकला के एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट आदर्श का उल्लेख आया है। इस नाटक की नायिका कीर्तिमती सूरसेन देश के राजा कीर्त्तिषेण की कन्या थी। उनकी रानी राजवन्ती ने कन्या की देख-रेख का भार योगसिद्धि नाम की एक परिव्राजिका को अर्पित किया जो पहले वियन्धरा के नाम से प्रसिद्ध थी और नाटक के नायक राजकुमार कल्याणवर्मा की धात्री थी।

उक्त परिव्राजिका के तत्वावधान में महाराज कीर्तिषेण ने अपनी राजकुमारी को भगवती विन्ध्यवासिनी की आराधना के निमित्त भेजा था। घटना-चक्र से विन्ध्य पवर्त के वन में वर्तमान पम्पा नामक स्थान में राजकुमारी कीर्तिमती तथा राजकुमार कल्याणवर्मा का साक्षात्कार हुआ और वे दोनों ही एक-दूसरे के प्रति आसक्त हुए। अन्त में विरह-व्याकुल कीर्तिमती ने अपना तथा राजकुमार का एक चित्र अंकित किया। वह चित्र अकस्मात् परिव्राजिका योगसिद्धि के हाथ लगा। उसकी सहायता से वास्तविक स्थिति से अभिज्ञ होकर परिव्राजिका ने उन दोनों का विवाह कराया।

विरह की वेदना से व्याकुल होने के कारण राजकुमारी की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में जो आकस्मिक परिवर्तन हो उठा था, उसके कारण परिव्राजिका को बड़ी चिन्ता हुई और वह एकान्त में बैठे-बैठे उसी के विषय में विचार कर रही थी। इतने में अकस्मात् उसके मुँह से निकला—

को नु खल्वेष नभसः श्येनचरण भ्रष्टो निपतितश्चित्रपटः ?

दृष्ट्वा नभस्तः शिखिवर्हभार-
शारोदरं चित्रपटं पतन्तम्।
अनभ्रसंसर्गमभूत पूर्व–
मैन्द्रं धनुः खण्डमनुष्मरामि॥

अर्थात्—अजी, बाज के पंजे से छूटकर गिरा हुआ यह चित्र पट कैसा है ? मयूर-पुच्छों की भाँति चित्र-विचित्र के इस चित्र-पट को देखकर मुझे ऐसा लग रहा है मानो यह कोई अपूर्व प्रकार का इन्द्र-धनुष है, जो मेघ के संसर्ग से रहित है।

परिव्राजिका ने वह चित्र-पट उठा लिया और उसे वह ध्यानपूर्वक देखने लगी।

इतने में राजकुमारी की चेरी निपुणिका वहाँ पहुँच गयी। परिव्राजिका के हाथ में वह चित्र-पट देखकर चकित भाव से उसने कहा—

अहो, एसो चित्तपडो जो एक्कते णिसण्णाय बहुएहि आसाबंधेहि सहीण आमिस-खडलुब्धेण सेणेण आरिव्वत्तो।

अर्थात्—अहा, यह तो वही चित्र-पट है, जिसे अनेक प्रकार की आशाएं करती हुई एकान्त में बैठी सखियो के बीच मे मांस-खंड का लोभी-श्येनपक्षी उठा ले गया था।

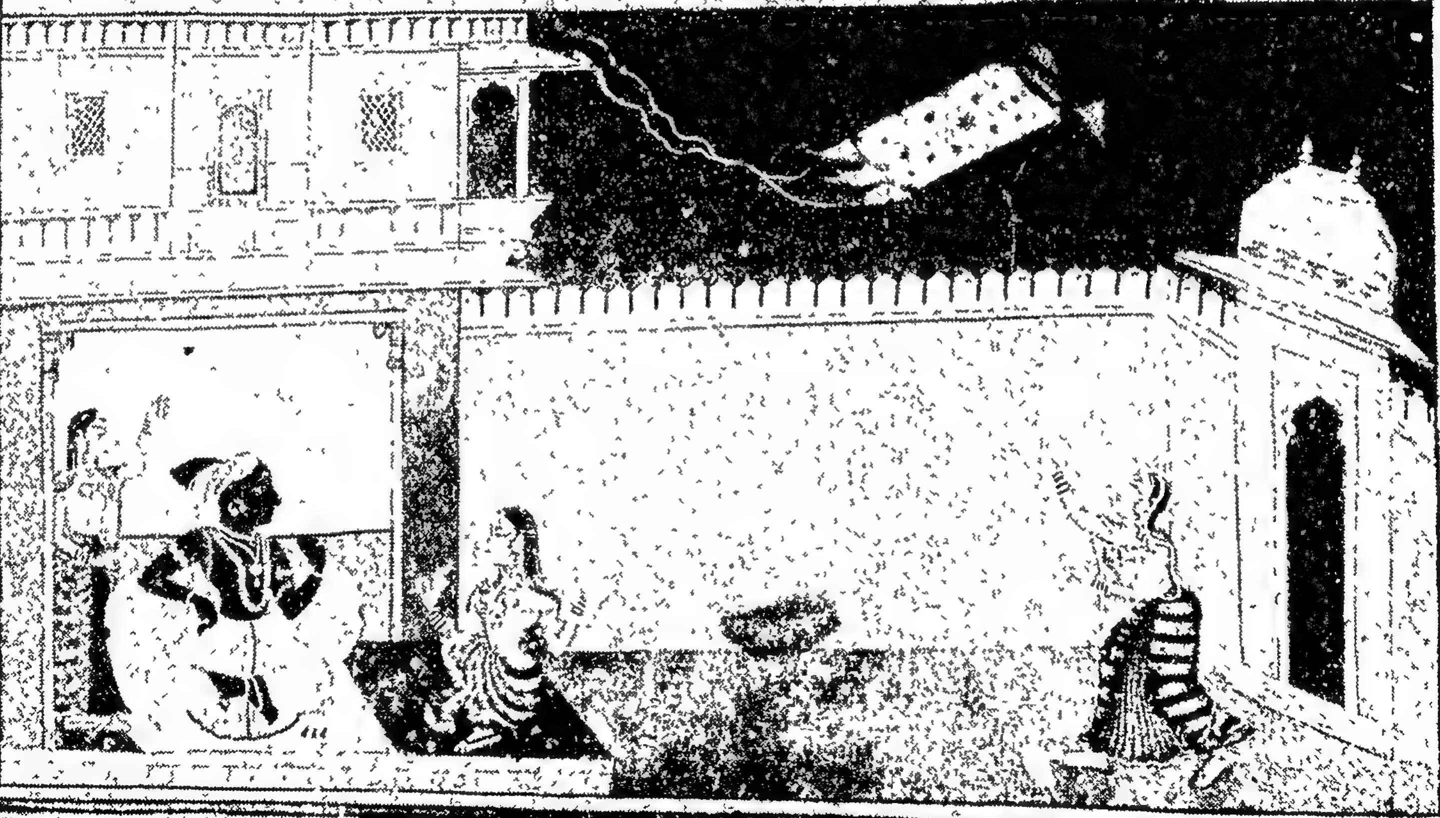
फलत इस चित्र के सूत्र मे रहस्य का उद्घाटन हुआ और राजकुमारी की कामना की पूर्त्ति हुई।

संस्कृत-नाटकों में चित्रकला के और भी कई उत्तम आदर्श हमें देखने को मिलते हैं और वे सभी अत्यन्त ही भव्य और नयनाभिराम हैं।



शिवम्





राजस्थानी शैली

राजस्थानी शैली

राजस्थानी शैली

पं० ब्रजमोहन व्यास

राजस्थानी चित्र-शैली

कलाप्रेमी होते हुए भी राजस्थानी कला की ओर प्रारम्भिक अवस्था में मेरी कुछ उदासीनता ही रही। उसका एक कारण था। उस समय मेरा विशेष परिचय मुगल एवं पहाड़ी शैली के चित्रों से हो चुका था। इन दोनों शैलियों के हजारों उत्कृष्ट चित्रों को देख चुका था। उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया था, विशेषकर पहाड़ी शैली के चित्रों ने। रूप-लावण्य को रेखांकित करने और कोमल रंग भरने में कोई भी शैली उनका सामना नहीं कर सकती। यदि कालिदास के

अधरः किसलय रागः कोमल विटपानुकारिणी बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवन मंगेषु सन्नद्धम्॥

को कलाकार चित्रित करना चाहे अथवा गीत गोविन्द को मूर्त करना चाहे तो अपनी सफलता के लिए उसे पहाड़ी शैली में ही करना पड़ेगा। परन्तु ज्यों-ज्यों मेरा परिचय राजस्थानी शैली के चित्रों से घनिष्ट होता गया और मेरे नेत्रों के सामने से अभारतीय अथवा मिश्रित भारतीय कला धूम्र पटल हटता गया, त्यों त्यों मेरा आकर्षण उसकी ओर बढ़ता गया। उस आकर्षण का विशेष कारण राजस्थानी कला की अछूत भारतीयता है। उसमें अपनापन है।

यद्यपि संसार की सम्पूर्ण कलाएं एक ही करुण सूत्र से बधी हुई हैं। परन्तु सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक निमित्त भेदों से उनके बाह्य रूपों में इतना परिवर्तन देख पड़ता है कि उनके भेदों को सहज में समझ पाना कठिन हो जाता है। भवभूति ने कहा है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुदबुद तरंगमयान विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेवतु तत्समग्रम्॥

जैसे जल को ही लीजिये। निमित्त भेद से वह कभी आवर्त, कभी बुद्‌बुद और कभी तरंग का रूप धारण कर लेता है। पर है यथार्थ मे वह जल ही।

भारतीय कला की परम्परा, उसका तारतम्य, उसका उत्थान एवं पतन अनेक धार्मिक, राजनीतिक तथा उसी से प्रभावित उच्छृखलताओं के होते हुए भी निराली ही रही—इसकी परिस्थिति की तुलना किसी भी देश की चित्रकला की परिस्थिति से नही की जा सकती। अनेक देशों और सभ्यताओं के संघर्ष और आघातो के कारण इसको थम कर पनपने का अवसर बहुत

कम मिला है। फिर भी राजस्थानी शैली की यह एक विशेषता है कि विभिन्न प्रकार के आघातो से जर्जरित एव उपेक्षित होने पर भी उसने

निरास भृग कुपितेव पद्मिनी
न मानिनी ससहतेन्य सगमम् ॥

(जब भ्रमर अन्य पुष्पो पर बैठ कर उनके पराग से रजित अपने घर लौटा और पद्मिनी पर बैठना चाहा तो उसने उसको बैठने नही दिया। क्योकि मानिनी स्त्रिया अपने पति का दूसरे स्त्रियो मे समागम नही सहन कर सकती)।

पद्मिनी की भाँति दूसरी कलाओ का रग अपने ऊपर नही चढ़ने दिया और अपनी भारतीयता को अविचल रक्खा।

तुर्क पठानो के भारत में पदार्पण करने के पहिले, बाह्य आघातो के होते हुए भी, भारतीय चित्रकला अपनी मूल सत्ता की रक्षा करते हुए अपने स्थान पर डटी रही। तुर्क पठानो के आते ही सघर्ष आरम्भ हो गया। साधनो की प्रचुरता, राजसत्ता, शासको की अपनी सभ्यता और संस्कृति तथा अन्य कारणो से, गाव के एक सुसम्पन्न भले घर की पुरन्ध्री, शाही महल की शान शौकत की क्रीडास्थल बन गई और उसकी रगीन, पवित्र, भारतीय चुनरी उतार कर, उसे सूफियाना पर अभारतीय वेश-भूषा से अलकृत कर दिया गया।

हामिदा चमकी न थी इगलिश से जब बेगाना थीं।
अब है शमये अजुमन पहिले चिरागे-खाना थीं॥
—अकबर

यह बात नही है कि शासन के साथ आये हुए गुणी चितेरे भारतीय चित्र कला से प्रभावित न हुए हो। वे भी प्रभावित हुए बिना न रहे। परिणाम उसका यह हुआ कि भारतीय चित्रकला एक खिचडी सी हो गई। न पूर्ण रूप से अभारतीय ही रही और न भारतीय ही। दोनो समयो की शैलियो के चित्रो को देखने से यह विवेचन स्पष्ट झलकता है।

इस आतप से बेचारी राजस्थानी शैली, ग्रीष्म ऋतु मे शिथिलित तथा नि शब्द, भेकवृन्द के भाँति, वर्षा ऋतु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। मुगल साम्राज्य का जब ह्रास होने लगा तब उस शैली ने अपना सर फिर से उठाया और पवित्र कलरव फिर सुनाई पडने लगा। चितेरो के ऊपर से राजछत्र क्रमश हटने लगा। जीविका के लोभ से बँधे हुए अथवा 'यथा राजा तथा प्रजा' के कारण शबीले, दरबारो तथा शिकारगाहो के चित्र बनाते बनाते चितेरे ऊब उठे थे। 'जगमगाते होटलो' में भोजन करते करते वे अपने घर की रसोई और 'हलवाये-बहिश्ती' की ओर लालायित हो उठे। राजस्थानी शैली में पुन द्विगुणित उत्कर्ष से नवयौवन के लावण्य का सचार होने लगा। भारती चितेरे खुल खेले। राजस्थानी शैली निखर कर इस तरह फूट निकली जैसे

शाणोत्कीर्णो मणिरिव, घनाम्भोद मुक्तो विवस्वान्
नि कोषोसि, झटिति विगलत्कञ्चुक पन्नगेन्द्र ॥ —भवभूति



मुग़ल दरबार



पहाड़ी शैली



मुग़ल शैली



पहाड़ी शैली

(शाणे से उतरा हुआ मणि अथवा बादलों से निकला हुआ सूर्य या म्यान से निकली हुई चमचमाती तलवार अथवा केंचुली से निकला हुआ नाग राज)

१८वीं और १९वी शताब्दी में वह फिर अपनी भारतीय वेश भूषा में चमक उठी। यद्यपि कुछ चित्रों में, मुगल शैली में मँजा हुआ चितेरों का हाथ कही-कही उस ओर बहक गया है, फिर भी भारतीयता की दृष्टि से उन चित्रों का भी महत्त्व है। मुगल शासन तथा उसकी कला एवं संस्कृति की ओर अभिरुचि की बागडोर ढीली होते ही उसने 'जय हिंद' का डंका बजा दिया और थोड़े ही काल में उसको नेपाल से तांजोर तक भारतीयता की गहरी फिर से लगा देने में देर न लगी। कारण मुगल शैली का प्रभाव थोड़े ही समय तक था और वह भारतीयों के हृदय में जड़ नहीं जमा सकी थी और सर्वोपरि वह अपनी नही थी। राजनीति कहती है:—

अचिराधिष्ठित् राज्यः प्रकृतिवारूढ मूलत्वात्।
नव सरोहण शिथिलः तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥

(अर्थात् वह शासन जिसका राज्य नया है और जो जनता के हृदय में अच्छी तरह से जड़ नही जमा पाया वह वैसे ही सुगमता से उखाड़ा जा सकता है जैसे नया रोपा हुआ वृक्ष)

परिणामस्वरूप शुद्ध भारतीय राजस्थानी चित्र हजारों की संख्या में बनने लग गये और ऐसे १८वी और १९वीं शताब्दी के चित्र बहुतायत से देश के प्रमुख संग्रहालयों में संगृहीत है। प्रयाग संग्रहालय एवं भारत कला भवन, काशी तो इन सर्वोत्कृष्ट राजस्थानी चित्रों का भंडार है।

राजस्थानी शैली की कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिससे असली चित्रों को पहिचान लेने में विशेष कठिनाई नहीं होती। उदाहरणार्थः—

१. सादृश्य की उपेक्षा और भाव की प्रधानता।
२. विषय को रंगों की सीधी-सादी रेखाओं से चित्रण करना और गतिविधि से उसका रूप खड़ा कर देना।
३. थोड़े से जोरदार रंगों से भारतीय वातावरण का सृजन कर देना।
४. दृष्टि-सरणि (perspective) को विषय (subject) पर गालिब न होने देना बल्कि खुद उस पर गालिब रहना।

हां, मिश्रित राजस्थानी मे मुगल शैली के मिलाव वाले चित्रों को पहिचानने में थोड़ी सी कठिनाई अवश्य होती परन्तु

नीर क्षीर विवेक हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन् अधुनास्यः कुलव्रतं पालयिष्यतिकः॥

(अर्थात् हे हंस! यदि जल और दुग्ध के पहिचानने में तुम्ही आलस्य करोगे तो तुम्हारे इस कुल-त का कौन पालन करेगा।

शचीरानी गुर्टू, एम०ए०, साहित्याचार्य

अर्वाचीन कला की पूर्व पीठिका

मौजूदा कला को किन्ही भी निर्णीत मान्यताओ की कसौटी पर नही परखा जा सकता। अब तक जिन मजिलो को तै करती हुई कला आगे बढी है, नवजागरण के मुख्य-मुख्य सोपान उसके क्रमिक विकास में प्रतिफलित दृष्टिगोचर होते हैं। यह सही है कि अतीत में से उभडते अजस्र कलास्रोत का सुराग मिल चुका है और उसमे अनुप्रेरणा भी मिलती है, तथापि आज के कलाकार की पैनी, सजग दृष्टि सब कुछ समेटना चाह कर भी किसी एक ही तथ्य पर टिक नही पाती। भारतीय हो या विदेशी, कल्पनीय हो किंवा अकल्पनीय, गहरी अनुभूतिशीलता से प्रेरित हो चाहे छिछली उच्छिवृत्तिवादी वृत्ति से, वह कुछ भी अच्छा-बुरा व्यक्त करने से नही हिचकता। नित नये प्रयोगो का आवेश और ख्वाहिश उसमे जग गई है। भले ही उसमें चिन्तन क्षमता नगण्य हो, पर वह कुछ "नया" खोजने व पाने को उत्सुक है, एव अपरितृप्ति और बेचैनी की भावना उसे आगे बरबस ठेल रही है।

कहने की आवश्यकता नही कि सभी प्रकार के दुराग्रहो एव पूर्वाग्रहो मे ग्रस्त कला आज की अतिवादिताओ की शिकार है, जो हलचल भरी विचित्र परिस्थितियो मे "जीवनवाद", "कलावाद", "प्रगतिवाद", "प्रयोगवाद" तथा और भी कितने ही "नव्यवादो", अलग अलग वृत्ति और उद्देश्यो, कृत्रिम रूप-विधाना और प्रतिगामी आलम्बनो, सृजनात्मक प्रवेगशील विविध पद्धतियो और अतिविशिष्ट औचित्य अभिव्यजनाओ की विडम्बना में विवश जकडी है, और उसके डगमगाते कदम प्राय अन्तहीन सी साधना के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। फिर भी इसमें सन्देह नही कि कुण्ठित एव निष्क्रिय कलात्मकता सक्रिय हो उठी है। युगगत व्यापक निरीक्षण, बाह्य एव अतर्जीवन की बिखरी अनुभूतिया, चिंतन की बौद्धिक प्रक्रियाएँ, विविध विजातीय तत्त्व, विभिन्न रुचिया और परस्पर विरोधी नाना प्रकार की असगत कार्यशीलता का सामजस्य उसकी विशेषता है और यही भावधारा उसके विकासक्रम में गतिशील हो उठी है। वह पुरातन और नूतन, देशीय और बहिर्देशीय छोरो को थामे नवीन दिशा की ओर इगित कर रही है। एक ओर कठोर वास्तविकताओ से टकरा कर कलाकार नवीन जीवन-भूमि का निर्माण करने को आकुल और उत्सुक है, दूसरी ओर परिस्थितिया कुछ ऐसी हैं कि बहुमुखी विकास की ओर उसकी निश्चित आस्था डाँवाडोल सी है। लेकिन तर्क-वितर्क, सशय और विषम परिस्थितियो के बावजूद जीवन सम्बन्धी अनुभवो में निरन्तर वृद्धि हुई है। कलाकारो ने खुली आँख और खुले मस्तिष्क से सामाजिक परिवेश की विवशता और द्वन्द्व को समझा और आँका है, जीवन की ऊपरी सतह पर

घटने वाले कार्य-व्यापारों को भीतरी क्रिया-कलापों, भावनाओ, विचारों, आदर्शों से गूंथकर युग-परिस्थितियों की चेतना से प्रभावित और नवीन मान्यताओं से बल संचय कर वे सर्वथा नवीन संभावनाओं की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अन्य देशों में कला की जो परम्परा बन चुकी है सो यहां भी देशीय कला-परम्परा की नीव को वह परिपुष्ट करती जा रही है। यह सच है कि उसमे वादों की नई उपधाराएँ आ जुड़ी हैं और इस प्रकार व्यतिक्रम और अस्तव्यस्तता-सी है; पर जब क्षीण धारा प्रशस्त होती है तो उसमें तूफानी हलचल और वेग का कोलाहल होता ही है। किन्तु कला की उक्त कष्टसाध्य परम्परा में उसका बहुमुखी विकास पूर्णतः निरापद है।

भारतीय कला-सम्पद् अर्से तक अंधकार की सुषुप्ति में समाई रही, पर अनायास पाश्चात्य सम्पर्क ने उसमें नव प्राणों का संचार किया। चूकि पाश्चात्य और खासतौर से अंग्रेजी प्रभाव की यह लहर सर्वप्रथम बंगाल मे आई, अतएव सन् १८५४ में ही औद्योगिक कला सोसाइटी के तत्वावधान में 'कलकत्ता आर्ट स्कूल' की स्थापना हो गई थी। कला में रुचि रखने वाले शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग ने इस नये अध्याय को अपने हाथ में ले लिया, पर पाश्चात्य कला से यह सम्पर्क एक सीमा से आगे न बढ़ सका।

कला के इस नवीन स्वरूप की संभावना पर सब से पहले राजा रवि वर्मा का ध्यान आकृष्ट हुआ। किन्तु पाश्चात्य विचारधारा उनकी चेतना पर हावी थी, फलतः बंगाल के कला-पुनरुत्थानवादियों के समक्ष उनका विशेष महत्त्व न था और आज के वैविध्य और विरोधाभासों की बहुलता के बीच जब कि कलाकार की सृष्टि में भाव और कल्पना के साथ उसकी आस्था, उसका विचार-दर्शन और उसका अपना निष्कर्ष-निर्णय प्राच्य और पाश्चात्य कलारूपों की कशमकश में उलझा है, वह उनके प्रति कोई सद्भाव एवं श्रद्धा नही रखता। फिर भी उनके प्रयत्नों की अवहेलना नही की जा सकती। देवी-देवताओ, पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों नेताओं के 'पोर्ट्रेट' चित्रों, टिशियन या टयूबेन्स का स्मरण दिलाने वाले प्रचुर भारी-चित्रों को आँक कर उदात्त आदर्शवाद की दिशा में भारतीय समाज के आध्यात्मिक सत्यों की रक्षा करना उनका ध्येय था, पर स्थूल रूप में विधान और पश्चिमी प्रभाव से आक्रान्त होने के कारण उनका दान सीमित ही रह गया। नई रोशनी की किरणें भी अभी उन्हें स्पर्श न कर पाई थीं, दूसरे यह हठधर्मी और दकियानूसी प्रवृत्ति भी उनमे उतनी प्रवल न थी जो संकुचित राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन देकर दूसरो से छूत करना सिखाती है। बावजूद उक्त प्रभाव के उनमें धार्मिक प्रवृत्तियाँ पर्याप्त जागरूक थीं। पौराणिक कथाख्यानों को तैल-प्रतिच्छवियों मे अंकित कर उन्होंने जनता तक पहुँचाया, कम से कम यूरोप की सर्जनात्मक कला से उन समानधर्मी तत्त्वों को बटोर कर जो प्रकाश छाया रूप-रंग, रेखांकन, सौन्दर्य-सज्जा में बहुत कुछ यकसां थे, पाश्चात्य शिल्पविधि को भारतीय भावाभिव्यंजना के माध्यम से दर्शा कर एक सर्वथा नवीन स्वरूप की संभावना की ओर इंगित किया। श्री चित्रालयम्, त्रिवेन्द्रम् में 'भिक्षुणियाँ' और 'दक्षिण भारत के जिप्सी' तथा कुछ अन्य कलावृत्तियां बड़ी ही अभूतपूर्व और अविस्मरणीय बन पड़ी है।

एक ओर ऐतिहासिक घटना यह घटी कि दो अंग्रेज विशेषाधिकारियों ने भारतीय कला के

पुनरुत्थान में विशेष रुचि दिखाई, अर्थात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होने यह किया कि प्राच्य कला-परम्पराओ को पाश्चात्य जकडबदी से सर्वथा मुक्त कर के देखा। इनमें एक थे लार्ड कर्जन, जिन्होने भारतीय कला के अनुसधान और प्राचीन स्मारको के सरक्षण का बहुत कार्य किया और दूसरे थे ई० बी० हेवेल, जो कलकत्ता कला स्कूल के अध्यक्ष थे और भारतीय कला के वैविध्य और विराट रूप के अधिक सन्निकट थे। उन्होने सब से पहले तत्कालीन तरुण चित्रकारो की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होने सुझाया कि पाश्चात्य कला रूपो की भद्दी नकल से कोई लाभ नही जब कि भारत का गौरवमय अतीत कला की समृद्धिशाली परम्परा का वाहक है और भविष्य भी मौलिक कलारूपो की प्रतिष्ठापना से उज्ज्वल हो सकता है। हेवेल ने अपने लेखो द्वारा भारत की महान् कला एव सस्कृति पर प्रकाश डाला और नौसिखुए कलाकारो को अब तक विच्छिन्न देशीय कला-परम्पराओ से सग्रथित किया। उन्ही दिनो डॉ० आनन्दकुमार स्वामी विदेशो में उपेक्षित भारतीय कला के स्थान-मान की उपलब्धि करा रहे थे।

किन्तु देशीय एव वहिर्देशीय कलातत्त्वो के समन्वय की मागलिक साधना कलागुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के हाथो सम्पन्न हुई। उन्होने अपनी विशिष्ट शैली मे मौलिक सर्जना द्वारा भारतीय कला के गौरव की प्रतिष्ठा की और चित्रकला उनकी तूलिका का स्पर्श पाते ही मानो जीवन्त हो उठी। अतीत के कला-वैभव में झाँक कर और ऐतिहासिक कला-थातियो के साथ एकात्म्य स्थापित कर उन्होने आर्य-सस्कृति के प्रति अमर विश्वास का स्रोत खोज निकाला और युगानुरूप कलाधारा के रुख को बदलने की चेष्टा की।

यो तो अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने इटालियन कलाकार गिलहार्डी से कला की शिक्षा पाई थी, पर अन्तर्मन की सहज प्रेरणा से उनके भीतर उस स्फूर्तिमयी भावना की सृष्टि हुई कि अपने-पराये का दुर्लंघ्य व्यवधान मिथ्या है और अनिश्चितता के घेरे से घिरी कला का वेग किसी कदर रुक नही सकता, क्योकि हमारे अपने पास उसे शक्ति देने का स्रोत विद्यमान है। अतएव पुनरुत्थान-काल के कलाकारो ने कलागुरु की शह पाकर अजता से प्रेरणा ग्रहण की। कालान्तर में मुगल, राजपूत और पहाडी चित्रवृतियाँ उनका मौडल बनी और पाश्चात्य प्रभावो की अवहेलना कर रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, कालिदास और उमर खैयाम की रचनाएँ, ऐतिहासिक प्रसग, कथाख्यान, उपदेशप्रद और आदर्श कहानी-किस्से उनके चित्रण के विषय बने। सब से बडी बात यह हुई कि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने कला का जो रूप निरूपित किया वह बहुसमन्वय का प्रतिफल और विरोधी तत्त्वो का परिणाम था। लक्ष्यभ्रष्ट होकर कला का रूप सुस्थिर नही किया जा सकता। अत कलाकार में यदि उदारता, समता और समन्वयशीलता न होगी तो वह कला को आगे न वढा सकेगा। अनियन्त्रित साधना कलाकारिता को आहत कर देती है, तब वह प्रेरक नही घातक सिद्ध होती है।

स्वय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने यूरोपीय कलातत्त्वो को प्रश्रय देकर चीनी, जापानी और फारसी टेकनीक को विकसित किया। किन्तु इनके माध्यम मे भारतीय सस्कृति का एक विशिष्ट स्वर वे सदैव मुखरित करते थे। भारतीय कला, सस्कृति, दर्शन एव इतिहास की दीर्घकालीन

परम्परा में नये-नये विचार-दर्शनों का आविर्भाव होता ही रहा है। युग की विविध रूपात्मक प्रवृत्तियों और महान् तत्त्वों के योग से कला के प्रसार की बात को गौण नहीं समझना चाहिये। फलतः उनकी कलाकृतियां अधिक सहज, अधिक स्पर्श्य, अधिक प्रभावपूर्ण और अधिक मार्मिक बन पड़ीं। उनके शिष्य-प्रशिष्यों की कला का विकास भी एकदम नये ही रूपों में बड़ी तीव्रगति से होने लगा। टेकनीक में यूरोपीय पद्धति पर तैल रंगों के प्रयोग का बहिष्कार कर उन्होंने जल-रंगों को अपनाया। पूर्वीय कला-परम्पराएँ और चीनी-जापानी रंग-रेखांकन में रुचि लेते हुए तथा महान् भारतीय कलानिधियों के सौन्दर्य को पीकर वे उनकी रक्त-शिराओं में प्रवहणशील तेजस्विता से अपनी कला को अभिषिक्त कर रहे थे। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की पहली शिष्य-मंडली, जिसमें चार बंगाली : नन्दलाल बसु, समरेन्द्रनाथ गुप्त, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असितकुमार हालदार और एक दक्षिणी के० वेंकटप्पा तथा एक मुसलमान हकीम खाँ सम्मिलित थे, कला के सुनिश्चित क्षेत्र में बड़ी ही तत्परता से निजी शैली का विकास करने लगे और उनके कलारूपों में निर्माण का सहज संकेत मिला। नन्दलाल वसु अजंता से अत्यधिक प्रभावित थे और समरेन्द्रनाथ गुप्त की सुकोमल, उद्वेगमयी कल्पना प्रकाश और प्रकाश के विकास-स्रोत की उस झिलमिल छाया में विचरण करती थी, जिससे बाद में अब्दुर्रहमान चुगतई की अभिव्यक्ति को शह मिली। इनमें सबसे अधिक सुरेन गांगुली में अनुभूति की गहनता और निष्कर्षों की दृढ़ता दीख पड़ी, किन्तु दुर्भाग्य से इक्कीस वर्ष से भी कम आयु में उनकी मृत्यु हो गई। "लक्षमण सेन का भागना" "सूर्य देवता को डांटते हुए" एवं "नहुष" "कुश का स्वप्न", "कार्तिकेय ओर "बालेश सिबसना" आदि उनके कतिपय चित्रों में बड़ी ही सुष्ठु कल्पना और आवेग तरल अनुभूति के दर्शन हुए। कला के क्षेत्र में वे अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित रूप में सामने आते पर असमय वज्रपात ने इस प्रतिभा को कुचल डाला।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के परवर्ती शिष्यों में शैलेन्द्रनाथ दे, शिलीन्द्रनाथ मजूमदार, शारदा-चरण उकील, प्रमोद्कुमार चटर्जी, वीरेश्वर सेन, देवीप्रसाद राय चौधरी, पुलिनबिहारी दत्त और मुकुलचन्द्र दे आदि उत्साही युवक अग्रसर हुए जिन्होंने न केवल कला-सर्जना में रुचि ली, अपितु अपनी रुचियों और कलात्मक अभिव्यक्ति को कलात्मक भव्यता के साथ औरों तक पहुँचाया। इन सभी की कला में भविष्य की सुन्दर संभावनाएँ निहित थीं और ये एक सुनिश्चित क्षेत्र में अपनी निजी कलाशैली का विकास कर रहे थे। भारतीय कला के महत्त्वपूर्ण पहलू, जो अबाध काल के थपेड़ों से ध्वस्त नजर आते थे, वे इन लोगों की कला में उजागर हुए और विभिन्न कला-शैलियों एवं स्कूलों के अग्रगण्य प्रतिष्ठापकों के रूप में उन्होंने कला में आस्था, विश्वास और निष्ठा जगाई। समरेन्द्रनाथ गुप्त पंजाब में, के० वेंकटप्पा मैसूर में, देवीप्रसाद राय चौधरी मद्रास में, शारदाचरण उकील देहली में, शैलेन्द्रनाथ दे राजपूताना में, असितकुमार हालदार लखनऊ में, पुलिनबिहारी दत्त बम्बई में और मुकुले दे कलकत्ता में शिल्पविधि की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसके उद्देश्य-विशेष, निर्दिष्ट सीमा और मूल आधारों को हृदयंगम कर अर्वाचीन कला-परम्परा को अधिक व्यापक एवं सक्षम बनाने में साधनाशील रहे, जब कि आचार्य-श्री के सब से

मेघावी शिष्य नन्दलाल बसु शातिनिकेतन में रहकर अपनी आत्मनिष्ठ सर्जना को कला के अर्तानिहित गुणो और उसके महत् अर्थ में पर्यवसित कर उसकी युगीन घाराओ को नया मोड देने में तत्पर थे।

भारत में कला के इस पुनर्जागरण अथवा बगाल कला-आन्दोलन का ऐतिहासिक महत्त्व है। कला में एक नई जागृति आई और नये विचारो एव विश्वासो से प्राणान्वित उक्त कलाकार-महारथियो ने अत्यन्त संयत और उदात्तवादी कलात्मक भावनाओ की प्रतिष्ठापना का सम्मिलित प्रयास किया। इन सभी की अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी और सत्य की पकड ऐसी अचूक थी कि वे युग के आदेष्टा और सैद्धान्तिक कला के प्रवर्तक माने गए। पर नन्दलाल बसु में पुनरुत्थान काल का प्रबल उन्मेष, उसके उच्चादर्श, उसकी मौलिक सृजन-प्रक्रियाएँ और उसकी उद्दाम ओजस्विता उद्दीप्त रूप में प्रकट हुई। सूक्ष्म निरीक्षण से प्रादुर्भूत कला के अर्थ की गहनता का अपूर्व सयोग उनकी चित्रण-शैली में हुआ। नित्य कला के व्यापार में ही उन्होंने बडे से बडे सत्य को देखा और इसी से उनके सृजन में चमत्कार के साथ-साथ प्रभावोत्पादन की भी अपूर्व क्षमता आई।

अनेक शिल्पशैलियो के अविष्कारक और चित्रकला के क्षेत्र में सदैव अग्रणी आचार्य बसु की कला-साधना कभी भी सकुचित सीमाओ में बँध कर नही चली। उसमें छलछलाती कला का अबाध उन्मुक्त प्रवाह है। कितने ही शिष्य-प्रशिष्यो ने उससे नवीन शक्ति और नवीन प्रेरणा पाई है।

डॉ० सतीशचन्द्र काला एम० ए०, डी० फिल्०

आधुनिक भारतीय चित्रकला

चित्रकला के क्षेत्र में भारत की विशिष्ट देन है। यह सत्य है कि हम प्राचीनता में यूनान तथा मिश्र की चित्रकला के सन्निकट अभी तक नहीं पहुँच पाए हैं; किन्तु वह असंभव नहीं है। दिन-प्रतिदिन नवीन खुदाईयों तथा ऐतिहासिक सामग्री की प्राप्ति के कारण हमारे देश के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ रहा है। हम कल्पना करते हैं कि निकट भविष्य में हमें प्राचीनतम चित्रकला के उदाहरण प्राप्त हो सकेंगे। प्रागैतिहासिक, अजंता, यलौरा, वाघ, राजस्थानी तथा मुगल-शैलियों की जो विलक्षण कृतियां आज दिन उपलब्ध हैं, उनसे दृढ़ परम्पराओं की पुष्टि होती है।

आधुनिक भारतीय कला का जन्म एक विदेशी सत्ता के राज्यकाल में हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् कलाकार छोटे बड़े हिंदू राज्यों में चले गए। राजाश्रय पाकर उनकी प्रतिभा खिल उठी। अपनी कृतियों पर उन्होंने हिंदू धर्म का पुनः जागरण किया। एक व्यापक परम्परा के अंतर्गत उन्होंने स्थानीय शैलियों को भी जन्म दिया। अनगिनित चित्र विभिन्न क्षेत्रों में बने। राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रों का रेखांकन, रंग-विधान, तूलिका-चातुर्य्य तथा विविधता देखते ही बनती है। किन्तु आपसी कलह तथा राज्य-विस्तार के स्वप्नों ने हमारे देश को छिन्न-भिन्न कर डाला। उसकी धुरी ढ़ीली हो गई और सात समुद्र पार करके अंग्रेजों ने, जो प्रारंभ में व्यापारियों के रूप में आए थे, कीली को पकड़ा और उसके स्वामी बन वैठे। अपनी दुर्बलता से ध्वस्त देश भला क्या अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकता था? समाज की विकृती से साहित्य और कला अपनी दृढ़ परम्पराओं से हट गई। अंग्रेजी राज्य के प्रारंभिक काल में चित्रकला किस हीन-दशा को पहुँच गई थी उसका प्रमाण "कंपनी शैली" के चित्रों में मिलता है।

अंग्रेजों की सत्ता भारत में प्रभावशाली थी। उनकी सभ्यता का बड़ा प्रभाव देश पर पड़ा। किन्तु जब अंधकार बढ़ता है तो प्रकाश की खोज की जाती है। पाश्चात्य सभ्यता में जब भारत बुरी तरह से घुल-मिल रहा था, देश में राजा राममोहन राय, ऋषि दयानन्द, आदि नेताओं ने जागरण की चुनौती दी। राष्ट्रीयता के बीज उगे और १९वीं शती के अंत तक अंग्रेजों को निकालने के ठोस प्रयास किए जाने लगे। चित्रकला के क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता के अनुकूल राजा रवि वर्मा ने तैल चित्र बनाए। उनमें अनुभूति तथा कला का प्रभाव है। उनके चित्रों के विषय विशुद्ध भारतीय हैं। राजा रवि वर्मा ने सैकड़ों चित्र बनाए। देश में इनका बहुत अच्छा प्रचार हुआ। किन्तु शैली सदैव विदेशी ही रही।

आधुनिक भारतीय चित्रकला के पीछे यही पृष्ठ भूमि थी। १०१० ई० में कलकत्ते म स्थानीय कला स्कूल के प्रिंसिपल ई० वी० हॅवल तथा डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने इडिया सोसायटी आव ओरियटल आर्ट नामक सस्था की स्थापना की। सस्था के प्रमुख ध्येय परम्परागत कलाशैली तथा आधुनिक विचारधाराओ के समन्वय से एक नवीन शैली का निर्माण करना था। धीरे धीरे सस्था ने कलाकारो को शिक्षा देने का भी प्रबन्ध किया। कालातर में कई प्रतिभाशाली चित्रकार इस सस्था द्वारा निकले। नदलाल बोस, क्षितीन्द्र मजूमदार, असितकुमार हाल्दार, मुकुल दे, देवीप्रसाद राय चौधरी आदि-आदि कलाकारो ने अनेक सुन्दर चित्र बनाए जिससे भावी कलाकार की राष्ट्रीय चेतना को अपूर्व बल मिला। ये कलाकार देश के विभिन भागो में पहुँच गए। इस प्रकार आधुनिक चित्रकला का सदेश समस्त भारतवर्ष में पहुँच गया।

कला के प्रति यह जागरण तो अद्वितीय था, किन्तु इसमें कुछ दुर्बलताए रह गई थी। शैली तो अजता के आधार पर रही और भावना "भारतीय दुखवाद" के अनुकूल। इस कारण कलाकारो ने सदैव मद्दे तथा धूमिल रगो का प्रयोग किया। उच्च कला तो वही है जो कि सब रसो को प्रदर्शित कर सके। प्रारभ में ये सभी चित्र नैराश्य भावना से ओत प्रोत है। उनके अवलोकन मे प्रतीत होता है कि भारतीय समाज का जीवन के प्रति नैराश्य या हार का दृष्टिकोण रहा है। इसके अतिरिक्त इस युग के कलाकारो के विषय सीमित ही रहे। पुराण तथा महाकाव्यो से ही वे निरतर प्रेरणा लेते गए। उन्हे न तो वर्तमान और न भविष्य से ही रुचि रही। इस प्रकार यह कला जीवन से कुछ हट कर ही रही। इन सब बातो के होते हुए भी सब कलाकारो का कार्य ठोस रहा। उनकी कला एक परिवर्तित काल के अनुकूल ठीक ही थी। जब किसी योजना में स्थिरता नही होती तो कमियो का रहना स्वाभाविक ही है।

आधुनिक भारतीय चित्रकला में क्राति उत्पन्न करने वाले वास्तव में प्रमुख कलाकार, स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्व० गगनेन्द्रनाथ टैगोर, स्व० अमृतशेरगिल तथा यामिनी राय है। रवीन्द्र बाबू को कई वर्षों तक ससार एक महान् कवि के रूपमें ही देखता रहा। किन्तु जीवन के सध्याकाल में कवि, चित्रकार के रूप में आए। उनके चित्रो में सुकुमारता तथा लालित्य का प्रभाव है। उनकी चित्रावलियो तथा जीवित प्रतिलिपियो में एक भयकर सघर्ष का प्रतिबिम्ब है। गगनेन्द्रनाथ टैगोर ने सर्वप्रथम भारतीय विषयो के लिए क्यूबिक शैली का प्रयोग किया। उनके द्वारा काले तथा श्वेत रगो में चित्रित आकृतिया रहस्यमयी लगती है। अमृतशेर गिल एक नयी शैली, जो फ्रेंच इम्प्रेशनिष्ट के अतगत थी, को लेकर चित्रकला के क्षेत्र में अवतरित हुई। किन्तु जैसे ही उसकी कला शैशव काल को पार कर रही थी दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो गई। यामिनी राय ने अपनी कला के लिए बगाल के ग्रामीण मृण्पात्रो पर अकित चिन्ह ढूढे। इन चित्रो की दृढता तथा सादगी देखते ही बनती है। इन चार कलाकारो ने भारतीय कला की परम्परा का सर्वप्रथम परित्याग किया। किन्तु इनका कुछ भी असर अन्य कलाकारो पर नही पडा। वे परम्परागत शैली तथा विषयो में ही अनुरत रहे। सफल क्राति के लिए अभी उपयुक्त वातावरण नही बन पाया था। १९३० ई० के पश्चात् बम्बई तथा दिल्ली मे कलाकारो ने कुछ दिशाओ में नए पग उठाए। आल

इंडिया फाईन आर्ट्स तथा क्राफ्ट्स सोसाइटी दिल्ली को अंग्रेज शासकों तथा राजा-महाराजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ। प्रति वर्ष सोसायटी प्रदर्शिनियों की योजना करती रही। चित्रों की भी काफी अच्छी बिक्री इन प्रदर्शिनियों के द्वारा होती गई। इस नए प्रोत्साहन से कला शैली में भी परिवर्त्तन दीख पड़े। कलाकार तत्कालीन जीवन की ओर सजग हुए। उन्होंने वर्तमान जीवन संबंधी दृश्यों का चित्रण करना प्रारंभ किया।

१९४७ ई० में भारत स्वतंत्र हुआ। इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना थी। नवीन आशाएं अंकुरित हुईं। देश के नव निर्माण का संकल्प हुआ। विभिन्न धर्मो, जातियों तथा भाषाओं के इस बड़े देश की समस्याएं बहुत कठिन प्रतीत हुई। हमारे नेताओं ने भारत के राज्यों का विलीयकरण कर देश को एकसूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। जाति तथा धर्म-भेद को भी चुनौती दी। प्रान्तों का शासन सुविधा के लिए पुनर्संगठित किया गया। इस उलट फेर से देश में कई प्रकार के आंदोलन, विवाद तथा अशांतियां उत्पन्न हुई। इन कारणों से कला तथा साहित्य के क्षेत्र में आशातीत कार्य नहीं हो सका। राजधानी होने से दिल्ली सांस्कृतिक धाराओं का संगम हो गया। यहां पर कलाकारों ने कुछ नए प्रयोग प्रारंभ किए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उद्भूत कला की कई प्रमुख विशेषताएं है। फ्रांस की प्रेरणा का प्राधान्य भारतीय कला में पहिले से ही था। मशीन-युग के कारण चित्रों में अलंकरण की प्रवृत्ति आ गई है। चित्र प्रायः तैल में बड़े आकारों में बन रहे हैं। समय की रुचि के अनुसार पोस्टर के आकार के चित्रों की मांग बहुत रही है। चमकीले भड़कीले रंग जो बंगाल कला शैली में तिरस्कृत से ही रहे, अब फिर प्रधानता पाने लगे हैं। रंगों के प्रयोग में रेखाओं को गौण रखा जा रहा है।

इन प्रवृत्तियों से प्रभावित कलाकार देश भर में व्याप्त हैं। इस छोटे से लेख में उन सब की कृतियों का विवेचन करना कठिन है। इनमें रथिन मित्रा, वेंद्रे, कंवल कृष्ण, सतीश गुजराल, चावड़ा, हुसेन, भवेश सान्याल, हेवर, जार्ज कियेट, आरा, प्राणनाथ, आर्य आदि-आदि कलाकारों का नाम उल्लेखनीय है। रथिन मित्रा का "धान काटने वाले" शीर्षक चित्र में संगति का उत्कृष्ट प्रदर्शन है। वेंद्रे के "महाराष्ट्रीय" नामक चित्र में जो तीव्र भावांकन हुआ है वह भी भारतीय चित्रकला में एक नवीन प्रयोग है। कंवलकृष्ण की दृश्यावलियों में दृढ़ता है। सतीश गुजराल के चित्रों में एक विचित्र वेग अंतर्हित है। बुरुश के रंगलें फेरों से उसने मनुष्यों के चेहरों पर भाव राशि अंकित करने की चेष्टा की है। चावड़ा के स्केच बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं। हेवर ने प्रारंभ में अमृत शेर के चित्रों से प्रेरणा ली। किन्तु कालांतर में उसने अपनी निजी शैली निर्माण की। उसका "सर्प का नृत्य" नामक चित्र पूर्व तथा पाश्चात्य तत्त्वों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार ये कलाकार विभिन्न शैलियों में नवीन तत्त्वों का समावेश करने में प्रयत्नशील हैं। भारत में संसार के प्रायः सभी देशों से लोगों का आना प्रारम्भ हो गया है। राष्ट्रीय सरकार भी कला के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्वजनीनता की भावना से हमारे देश की कला आगे बढ़े, इसी आदर्श की कल्पना हम सब कर रहे हैं।

उभार, सभी में एक विचित्र भाव दिखाई देता है। वहाँ प्रकृति के रस-भाव पेशल विभिन्न रूपों में कला का चरमोत्कर्ष समाया हुआ है। मातृदेवी की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ, शिव, पशुपति और नंदी बैल आदि की मूर्तियां देखने योग्य हैं। सिंधु-सभ्यता की इन उपलब्ध कला कृतियों को देखकर प्रतीत होता है कि वहाँ का जन-जीवन कलानुरागी, कलाकार, विद्वान्, योद्धा और दार्शनिक आदि प्रवृत्तियों से युक्त था।

भारतीय राजकुलों में कला का संरक्षण

मौर्य-साम्राज्य का यशस्वी सम्राट् अशोक, बौद्धधर्म का सबसे बड़ा आश्रयदाता था। उसके १३वें अभिलेख से प्रतीत होता है कि कलिंग-विजय की रक्तरंजित-क्रीड़ा ने उसकी राज्य-विजय-लिप्सा को धर्मविजय में परिवर्तित कर दिया था। तभी से वह 'सम्राट्' से 'प्रियदर्शी' बना। उसने बौद्ध-संस्कृति, बौद्ध-साहित्य और बौद्ध-कला के प्रचारार्थ अपने राज्य में तथा विदेशों में अपने दूत भेजे। प्राचीन भारत के विभिन्न अंचलों में अशोक द्वारा निर्मित कराये गए स्तूपों एवं चैत्यों में कला का उजस्व रूप समाहित है।

सारनाथ में अशोकस्तम्भ का सिंह मस्तक और बिहार के रामपुरवा में अशोकस्तंभ का साँड-मस्तक मौर्ययुगीन कला के शक्ति, गति और गुरुता के प्रतीक हैं। मौर्ययुग में लोककला का भी विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप यक्ष-यक्षणियाँ, देवी-देवता आदि लोक-विश्वास संबंधी मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। इन मूर्तियों में सौन्दर्य, आनन्द, शक्ति, भावुकता, विनय और आराधना के विभिन्न भाव दर्शित हैं।

कुषाण-राज्य के संस्थापक कनिष्क ने अशोक के आदर्शों को चमकाया। कनिष्क के युग में भारतीय-यूनानी कला का निर्माण हुआ, बौद्धधर्म के इतिहास में जिसे कला के क्षेत्र में नई संभावनाओं का प्रतीक और बौद्धधर्म एवं बौद्धसंस्कृति की नवीन शाखा कहा गया है। उसकी रचना एवं उसका विकास कनिष्क के ही राज्यकाल में हुआ। अनेक भव्य स्तूप और बड़े-बड़े नगरों की रचना उसके कलाप्रेम और निर्माण कार्यों के परिचायक हैं। अपनी राजनगरी पुरुषपुर (पेशावर) में उसने अगिशान नामक एक ग्रीक शिल्पी द्वारा एक अनुपम कलापूर्ण काष्ठस्तंभ निर्मित करवाया था। उसने कनिष्कपुर (कानिसपोर) में एक नया भव्य नगर भी बसवाया था। अनेक बौद्ध विहारों के निर्माण का श्रेय भी उसको प्राप्त है। उससे पहिले प्राचीन बौद्धकला में तथागत की कोई भी मूर्ति उत्कीर्णित नहीं थी। उसके धार्मिक सुधारों के कारण अब तथागत की भव्य प्रतिमाएँ भी निर्मित होने लग गई थीं।

भारत में ग्रीक जाति के डेढ़-सौ वर्षों के लंबे शासन ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक रूप में प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। ग्रीक संस्कृति का पहिला प्रभाव उसके कलापूर्ण सिक्कों पर पड़ा। भारतीय कला और ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीकों का प्रभाव सर्वथा अपूर्व था। वास्तुकला और तक्षणकला के जो नमूने भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर निर्मित हुए मिलते हैं, उनमें प्रथम शताब्दी ईसवी के तक्षशिला में एक देव मंदिर के ऊंचे 'यवन स्तम्भ'

और कुछ भवन उल्लेखनीय है। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे आविर्भूत गांधार शैली की स्थापना का संपूर्ण श्रेय ग्रीक कलाकारों को ही उपलब्ध है। गांधार शैली की भारतीय कलाकारों की कृतियों मे भगवान बुद्ध की जीवन-घटनाओं संबंधी प्रस्तर-उत्कीर्ण उल्लेखनीय हैं। पेशावर और लाहौर के संग्रहालयों में ग्रीक अनुकरण की कुछ कला-कृतियाँ एवं मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

गुप्त-सम्राट न केवल विद्यासेवी, शिक्षाविद् और बड़े-बड़े कलाकारों के आश्रयदाता थे, वरन्, वे स्वयं भी साहित्य मर्मज्ञ तथा अनेक कलाओं मे निपुण थे। समुद्रगुप्त वीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं। वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तयुग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। झांसी के देवगढ़ मंदिरों और कानपुर के भीतरगाँव मंदिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है। उक्त दोनों मंदिरों की दीवारों मे बड़ी निपुणता से बैठाई गई मृण्मयी मूर्तियों को देखकर विदित होता है कि उस युगमें वास्तुकला अपनी पूर्णावस्था में थी। भीतरगाँव मंदिर की हजारों उत्खचित ईंटे और पकाई गई मिट्टी की खानें आज भी लखनऊ संग्रहालय में देखने को मिलती है।

मूर्तिकला के निर्माण में भी गुप्तयुग बहुत उन्नत था। गुप्तयुग की तक्षण कला, याने भाष्कर्य शैली भारतीय कला-इतिहास के लिए एक अपूर्व देन थी। ग्रीक-प्रभावों से उन्मुक्त कुषाण-युग में जिस गांधार शैली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल मे वह सर्वथा भारतीय रंग-रूप मे परिणत हुई। गुप्तकाल में निर्मित अनेकों दिव्य मूर्तियाँ न केवल उस युग के धार्मिक अभ्युदय की सूचना देती हैं, अपितु, वे तत्कालीन भाष्कर्य कला की व्यापकता पर भी प्रकाश डालती हैं। भगवान बुद्ध की समाकर्षक धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा तत्कालीन भारतीय तक्षकों के असाधारण कला-कौशल का जीवित उदाहरण है। हजारों की संख्या में निर्मित कलापूर्ण मृण्मयी मूर्तियाँ गुप्तकालीन कला-शिल्पियों के अपूर्व पांडित्य की परिचायिका है। सारनाथ और मथुरा के संग्रहालयों की सजीव मूर्तियों को देखकर इन कलाकारों की ऊँची प्रतिभा को आँका जा सकता है। गुप्त युग की इन कृतियों में सजीवता, सादगी, गति और टेकनीक सभी का एक साथ समावेश है।

अजंता के जगत्प्रसिद्ध कला-वितान के निर्माण का अधिकांश श्रेय गुप्तयुग को ही है। गुप्तकालीन कला के भव्य नमूने एलोरा, बाघ और यहां तक कि मध्य एशिया के भित्तिचित्रों में देखने को मिलते हैं। तत्कालीन सोने के सिक्कों, मूर्तियों और देवताओं की कलापूर्ण आकृतियों पर भी गुप्तकला के उत्कृष्ट प्रमाण अंकित हैं। गुप्तयुग के जैसे सिक्के फिर कभी भी भारत में निर्मित नही हुए। जिस प्रकार यूनानी और पम्पयाई कला मे स्थूल शारीरिक एवं मासल सौंदर्य अपनी चरमावस्था को पहुंचा, उसी प्रकार गुप्तकाल में अलंकरण सज्जा, मुद्राओं का शास्त्रीय ढंग से चित्रण, आत्मा का आह्लादपूर्ण सौंदर्य, शांतिस्थ प्रकृति के हर्ष-अमर्ष आदि की अभिव्यक्ति में भारतीय कला अपनी परिपक्वावस्था में पहुंची। गुप्त-सम्राटों ने अनेक सुन्दर मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण करवाया; स्तूपों, स्तंभों एवं विशाल देवमंदिरों पर चित्रकला के भव्य नमूनें अंकित करवाये।

फजल की पुस्तक 'आइने-अकबरी' में देखने को मिलता है। चित्रकला से नफरत करने वाले लोगों से अकबर को नफरत थी। कलाप्रेम उसको विरासत में मिला था, और हिन्दू-पत्नियों के सहयोग से उसकी रुचि में भी परिष्कार हो गया। अकबर की चित्रशाला में हिन्दू और मुस्लिम दोनों प्रकार के मुसव्वर थे।

अकबर के शासन में पुस्तकों के चित्रित करने की प्रथा में काफी वृद्धि हुई। उसके शाही पोथीखाने में २४,००० हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं, जिनमें सैकड़ों सचित्र थीं। चित्रों से विभूषित कुछ पोथियाँ तो ऐसी भी थीं, जिनमें एक की लागत लाख रुपये से भी ऊपर थी। उसका यह शाही पुस्तकालय तीन नगरों में था आगरा, दिल्ली और लाहौर। ब्रिटिश शासन के समय ये बहुमूल्य पोथियाँ अधिकांशतया लंदन और कुछ फ्रांस तथा अमेरिका के संग्रहालयों में पहुँची। अकबरकालीन सचित्र पोथियों की उपलब्धि भारत के जिन पुस्तकालयों में संभव है, उनके नाम हैं राजकीय संग्रहालय जयपुर, खुदाबख्श लाइब्रेरी पटना, राजकीय संग्रहालय हैदराबाद, भारत कला भवन वाराणसी, महाराज बलरामपुर का संग्रहालय, राजकीय संग्रहालय रामपुर और राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली।

अकबर के बाद उसका पुत्र जहाँगीर ने शाहंशाहत संभाली। वह हिन्दू-पत्नी से प्रसूत था। इसलिए जन्मतः ही उसमें हिन्दुत्व की भावना थी। उसके युग में चित्रकला का सर्वथा भारतीयकरण हुआ। वह सर्वगुणसंपन्न और उच्चकोटि का कला-पारखी था। उसके संबंध में कहा जाता है कि उसकी समीक्षाबुद्धि इतनी प्रबल थी कि अनेक चित्रकारों द्वारा तैयार किए गए एक ही चित्र के विभिन्न कलाकारों के अंशों को वह अलग-अलग कर सकता था। उसने अपने कलाकारों को धन, उपाधि और सम्मान दिया। कला का वह इतना शौकीन था कि जो भी सुलिपि में लिखी हुई पोथी उसके सामने से गुजरती, उसे रोक कर वह उसकी पोस्तीन पर अपने दस्तखत कर दिया करता। अच्छे-अच्छे चित्रों के अलबम तैयार करने का उसे गजब का शौक था। उसके युग के चित्र आज भी भारत के और विदेशों के संग्रहालयों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

उसके बाद भी मुगलवंश में शाहजहाँ, दारा आदि शासक हुए। ये भी चित्रकला के प्रति अनुरक्त और कलाकारों के आश्रयदाता रहे, किन्तु इनके युग की ऐसी महत्वपूर्ण देन शेष नहीं, जिससे कि उनके व्यक्तित्व का अलग से उल्लेख किया जा सके। औरंगजेब की कलुषित रीति-नीति ने तो चित्रकला की पूर्वार्जित धरोहर को सर्वथा तहस-नहस कर डाला।

हिन्दू-चित्रकला का पुनरुत्थान

यद्यपि मुगलों के राज-वैभव के साथ-साथ भारत में ईरानी उस्तादों का भी आगमन हो चुका था, और शासन के स्वामी होने के कारण मुगलों के दरबारों में उन्हीं का अधिक बोल-बाला, रोब-दाब रहा, फिर भी हम देखते हैं कि मुगलकाल के मुसव्वरों में तीन-चौथाई कलाकार हिन्दू ही थे। और संभवतया यही कारण था कि ईरानी उस्तादों के अधिपत्य में भी भारतीय कला-

कारों की निजी विशेषताएँ सर्वथा विलुप्त या ईरानी संस्कारों में सर्वथा विलयित नही हो पाई थी।

ईरानी उस्तादों ने, अधिक यत्नशील होने पर भी, रागमाला के वैसे रस-भाव पेश, मार्दव-पूर्ण, स्वाभाविक एवं निर्दोष चित्र नही उतार सके, भारतीय चित्रकारों को जो निपुणता विरासत से मिली थी। फिर भी इसका कदापि यह अर्थ नही है कि ईरानी शैली के मुगल चित्रकार भारतीय चित्रकारों से किसी कदर कमसीन एवं कम अनुभव वाले थे। बल्कि उन्होंने प्रतिबिंव चित्र तैयार करने और ईरान के सुन्दर वर्ण-वैचित्र्य को दर्शित करने में हिन्दू चित्रकारों की अपेक्षा अधिक यश कमाया।

दाक्षिणात्य शैलियाँ

दशवीं शताब्दी ईसवी से लेकर पंद्रहवी शताब्दी ईसवी तक के पॉच शतकों मे सचित्र पोथियों का निर्माण हुआ, जिनके बंगाल, बिहार और नेपाल तीन प्रमुख केन्द्र थे। नालन्दा और विक्रमशिला आदि तत्कालीन विद्या-निकेतनों में इस प्रकार की सचित्र पोथियाँ मुख्यतया लिखी गई। इन तीनों केंद्रों की चित्र शैली प्रायः एक समान थी। जैन, पाल और गुजरात शैलियो के आविर्भाव का यही युग था।

दाक्षिणात्य कला-पद्धतियों की एक सर्वथा अपने ढंग की मौलिक निष्पत्तियों के निर्माण का भी लगभग यही समय था। दाक्षिणात्य कला की प्रमुख तीन पद्धतियाँ थी: द्राविड़, वेसर और नागर। पहिली पद्धति का जन्म दक्षिण में ही हुआ और वहीं सीमित रह कर उसने अपना विकास किया। नागर पद्धति, जो आर्यावर्त शैली के नाम से भी विश्रुत है, उत्तर से निर्मित होकर दक्षिण में गई। शिलपकला के क्षेत्र में द्राविड़ कलाकारों ने बहुत ही उत्कृष्ट आकृतियों का निर्माण किया।

दाक्षिणात्य चित्र शैली के स्वतंत्र अस्तित्व के इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लव, चोल और बीजापुर के आदिलशाही राजवंशों का संबंध १३वी, १४वी शताब्दी में सीधे फारस से था और संभवतया उन्होंने फारसी चित्रकारों को बुलाकर अपने रंग महलों को चित्रों से सुसज्जित किया। १४वी १५वी शताब्दी तक के दाक्षिणात्य चित्रों पर स्पष्टतया फारसी प्रभाव है। किन्तु निश्चित रूप से इस सबंध में इस लिए कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि १६वी शताब्दी से पहिले का दाक्षिणात्य शैली का कोई भी चित्र उपलब्ध नही होता है।

अठारहवी शताब्दी के अंत और उन्नीसवी शताब्दी के आदि में हिन्दू चित्रकला कई उप-शाखाओं में विभाजित होकर अपनी चरमोन्नत अवस्था में पहुँची। इस युग की प्रमुख चित्र शैलियों के नाम हैं: जयपुर, काँगड़ा, गढ़वाल, नाहन, मंडी, बसौली, ओड़छा, दतिया, जोधपुर, उदयपुर, गुजरात, महाराष्ट्र और हैदराबाद।

राजस्थानी शैली

भारत से मुगल सल्तनत का उन्मूलन होने से पूर्व ही मुगल चित्रकला का ह्रास होने लग गया था। मुगल काल में निर्माणक कलाकार अपने आश्रयदाताओ का अनुकूल रुख न देखकर अपनी कार्य-कुशलता के बलपर विभिन्न हिन्दू रजवाडो में सरलता से ही शरण पा गए थे। पूरब में वे लखनऊ, पटना उत्तर में काश्मीर, हिमाचलप्रदेश, गढवाल, पश्चिम मे राजस्थान, पजाब और दक्षिण में महराष्ट्र, तजोर तथा मैसूर तक के सुदूर भू-भागो में बिखर कर भारतीय कला के क्षेत्र में नये प्रयोगो, नई निष्पतियो के निर्माण में जी-जान से जुट गए थे।

राजस्थानी चित्रशैली का अस्तित्व मुगल शैली जितना प्राचीन है। राजस्थानी चित्र-शैली, क्योकि हिन्दू-जीवन से सबद्ध थी, अतएव अपनी रूप-सज्जा और भावाकन के लिए उसने अजता की लोकप्रिय शैली को अपनाया, किन्तु इधर मुगलकला से उसका सगा सबध रहने के कारण उसमें शृगार-प्रसाधनो की भी अधिकता रही। सच तो यह है कि राजस्थानी कलाकारो ने एक ओर तो तुलस , सूर और मीरा की दिव्य आध्यात्मिक भावनाओ को अपनी तूलिका द्वारा साकार मूर्तिमान् कर दिया, किन्तु दूसरी ओर केशव, देव, बिहारी पर उनका ध्यान आकर्षित होते ही उद्दाम शृगार की चरमोत्कर्ष दशाओ को रूप, रग और वाणी देने में भी उन्होने कसर नही की। यही उनके सर्वांगीण कला-जीवन की सफलता थी।

राजस्थान के प्राकृतिक वातावरण में सर्वत्र ही कला का आवास है। वहाँ के दुर्ग, वहाँ के प्रासाद, वहाँ की उच्चावच्च पार्वत्य भूमि, वहा के मदिर, हवेलियाँ, राजप्रासाद, वहा के सामान्य घरो के चौको, दीवालो आदि सभी में एक अनोखा आकर्षण है। जयपुर नगर राजस्थानी चित्र कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। राजस्थानी चित्रकला का भरा वैभव यद्यपि भारतीय चित्रकला के वैभव के साथ ही समाप्त हो गया था, तथापि वहा आज भी ऐसे चित्रकारो की कमी नही है, जो इतनी सुन्दर प्रतिकृति तैयार कर लेते है कि मूलचित्र और उसकी प्रतिलिपि में भेद करना कठिन हो जाता है।

पहाडी कला-शैलिया

पहाडी चित्रशलियो की आवासभूमि हिमाचल का विस्तृत भू-भाग जम्मू, टेहरी गढवाल पठानकोट, कुल्लू, चम्बा, बसौली, कागडा, गुलेर, मडी आदि पर्वतीय इलाके है। यद्यपि पहाडी चित्रशैली का निर्माण सत्रहवी शताब्दी के मध्यभाग में ही हो चुका था, किन्तु अठारहवी शताब्दी में पहुँचकर उसने लोकप्रियता प्राप्त की। पहाडी शैली के निर्माण में मुगल, काश्मीरी और राज-स्थानी, तीनो का सहयोग रहा है, किन्तु उसके मौलिक प्रयोगो, यथार्थवादी दृष्टिकोणो और भावनापूर्ण अकनो ने उसकी उपयोगिता को अतिशय रूप से चमकाया। पहाडी शैली के चित्र-कारो की एक अतुलनीय विशेषता यह रही है कि उन्होने जिस भी विषय को स्पर्श किया, उसी में चार चाद लगा दिए। दैनिक जीवन से सबद्ध छोटे-से-छोटे चित्रो से लेकर पौराणिक ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्यमय, कथापरक आदि सभी विषयो पर पहाडी शैली के कलाकारो ने ढेर-के-ढेर

चित्र उतारे, और वे भी एक-से-एक उत्कृष्ट ! वाल्मीकि, व्यास से लेकर मतिराम और बिहारी तक के ग्रंथों के उन्होंने दृष्टांत चित्र बनाये। इसीलिए कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों ने अजंता की चित्रावली के बाद पहाड़ी शैली को ही भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में ऊँचा स्थान दिया है। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध तक पहाड़ी शैलियों का स्वर्ण-युग रहा है।

श्री शचीरानी गुर्टू के शब्दों में "पहाड़ी चित्रकारों ने हृद्गत भावनाओं और वास्तविक अनुभवों को दर्शित करते हुए भावोद्रेक के चित्र आँके हैं। नायक-नायिकाओं की भी विविध मनोदशाओं, केलि-क्रीडाओं और जीवनोल्लासों को ज्यों-का-त्यों इन चित्रों में उतारा गया है। भाव और सौंदर्य की अनुभूति के योग से उनके वर्ण्य-विषय बड़ी ही मधुरता और सच्ची लगन से चित्रित किए गए है। कहना न होगा कि ये पहाड़ी कलाकार अंतर्वृत्तियों के निरूपक, कलागत सौंदर्य के नाना भेदों के संवेदनशील दृष्टा, लौकिक एवं अलौकिक प्रणय-लीलाओं तथा संयोग-वियोग की अंतर्दशाओं के मार्मिक चितेरे, प्रेमरस से सिक्त भीतर की उमंगों में पैठने वाले और कला की चारु-रम्यता को रहस्यमय रंगों से संजोने वाले सच्चे स्वच्छन्द दृष्टा थे; संकरे वातावरण में पंख फड़फड़ाने वाले वंदी नहीं।"

भारत का आधुनिक कलामंच

उन्नीसवी शताब्दी की बिदाई के साथ-साथ भारत की प्रधान कला-शैलियाँ : मुगल, राजपूत, पहाड़ी और उनसे प्रभावित अनेक उपशाखाएँ विलुप्त हो गईं। इसका कारण भारत में यूरोपीय कला का प्रवेश था। यूरोपीय शैली के भारतीय चित्रकारों मे पहिला नाम त्रावणकोर के स्व० राजा रविवर्मा का है। उनसे भी कुछ पहिले मदुरा के चित्रकार श्री अलाग्री नायडू इस क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और इन्हीं से राजा रविवर्मा ने शिक्षा ग्रहण की। पौर्वात्य और पाश्चात्य कला-शैलियों को संमिश्रित रूप में अपनाने वाले भारतीय कलाकारों में अवनीन्द्र बाबू, गगनेन्द्र बाबू, नंदलाल वसु, असित कुमार हालदार, समरेन्द्रनाथ गुप्त, के० एन० मजूमदार, शैलेन्द्र नाथ दे, के० वेंकटय्या, शारदा उकील, डी० पी० राय चौधरी और वीरेश्वर सेन आदि का नाम लिया जा सकता है। बंगाल के इस कला-आंदोलन का प्रभाव समस्त भारत के चित्रकारों पर पड़ा और भारत के सभी हिस्सों में यूरोपीय चित्रकला की शैली में भारतीय विधानों को दर्शित करने की प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती रही।

आधुनिक भारत की चित्र-शैलियो पर राजनीति का विशेष प्रभाव रहा है। उन्नीसवी शताब्दी के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्णाधिपत्य हो जाने पर भारत के विभिन्न अंचलों में विदेशी सत्ता के विरोध में जो राष्ट्रीय आंदोलन हुए, भारतीय चित्रकला पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस राष्ट्रीय चेतना ने कवियों, कलाकारों, साहित्यकों, पत्रकारों और राजनीति के नेताओं को एक सर्वथा नई दिशा की ओर मोड़ा। इन आरंभिक कला-कृतियों में जो दुःख, उत्पीड़न, अपमान, घृणा, निराशा और विषाद की भावनाओं का प्राबल्य दिखाई देता है, उसका एकमात्र

कारण यही राष्ट्रीय जागृति थी। अवनींद्र और गगनेंद्र, इन टैगोर-गुरुओ के अतिरिक्त विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर यामिनीराय, सुधीर खास्तगीर आदि ने उक्त राष्ट्रीय जागरण को अपनी कला-कृतियाँ में उतारा।

भारतीय कला की एक शाखा देश के चारो ओर विस्तारित जन-जीवन की वास्तविक समस्याओ को लेकर भी प्रकाश में आ रही है। इन कला-कृतियो में जीवन की यथार्थताओ के दर्शन हैं। समाज की आर्थिक विषमताओ के कारण जो एक महान द्वैतीभाव आ गया है, उससे उत्पन्न परिस्थितियो का चित्रण करना भी आधुनिक कला का एक विषय है। ग्राम्य-जीवन की ओर भी आधुनिक कलाकार सजग है। बुद्धिजीवी वर्ग का असतोष और शिक्षित बेकारो की जो दुर्दशा है उसके भी व्यग्यचित्र आज निर्मित हो रहे हैं।

श्री शम्भुनाथ मिश्र

भारत में चित्रकला का आन्दोलन

भारतीय चित्रकला की एक नई धारा का विकास मुगल एवं राजस्थानी चित्रकला के पश्चात उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हुआ था। इस नई धारा का प्रवाह पाश्चात्य तथा योरोपियन चित्रकला से संबद्ध रहा है। इस नई दिशा में स्वर्गीय राजा रविवर्मा की चित्रकला का विषय उल्लेखनीय रहा है। रविवर्मा ने योरोपियन पद्धति के अनुरूप भारतीय चित्रकला के नवजागरण में महान योगदान किया था।

सन् १८४८ में रविवर्मा का जन्म ट्रावंकोर में हुआ और सन् १९०५ में उनका देहान्त हुआ। रविवर्मा ने अपनी आयु के लगभग तीस वर्ष भारतीय चित्रकला के प्रचार एवं उसके नव-निर्माण की दिशा में व्यतीत किए। उस समय पत्र-पत्रिकाएँ तथा चित्रों की छपाई के आधुनिक साधन नहीं थे। रविवर्मा ने अपने चित्रों के प्रकाशनार्थ बम्बई के लीथोग्राफ का प्रेस खोला था और उसी के द्वारा रविवर्मा के चित्र सारे देश में प्रचलित हुए थे। उनके बनाए हुए पौराणिक चित्रों का विशेष रूप से आदर हुआ था। आज भी रविवर्मा प्रेस असंख्य चित्र प्रकाशित करता है। रविवर्मा ने देश के राजे-महाराजे एवं प्रमुख व्यक्तियों के पोर्ट्रेट चित्र भी अंकित किए थे। ब्रिटिश सरकार ने उनकी चित्रकला को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया था तथा समस्त संसार की चित्र प्रदर्शिनियों में रविवर्मा के चित्र प्रदर्शित किए गए थे। और भारी संख्या में रविवर्मा को पदक पुरस्कार मिले थे और उनकी प्रशंसा हुई थी।

१९०५ से समय परिवर्तनशील हुआ। भारतीय चित्रकला की इस नई धारा में भारतीय जनस्वातंत्र्य संग्राम एवं भारतमाता की नयी भावना का विकास हुआ। इस नई भावना का मूल आधार असहयोग आन्दोलन था। इस आन्दोलन में अंग्रेजी राज्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के वहिष्कार का एक जनव्यापी भावना का उदय हुआ। कला के क्षेत्रों पर भी इसका भारी प्रभाव पड़ा था। देश के कलाकारों में अपनी राष्ट्रीय कला के अनुसन्धान और उसके खोज की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने परम्परा वादीचित्रशैलियों पर ध्यान दिया और प्राचीन पद्धतियों को अपनाने की चेष्टा की। उन प्राचीन पद्धतियों में अजंता शैली, मुगल एवं राजस्थानी चित्रशैलियों की परम्परा ग्रहण की गई। इस सम्वन्ध में स्वर्गीय डॉ० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की चित्रकला ने विशेष रूप से देशव्यापी प्रभाव उत्पन्न किया। इसमें संदेह नहीं कि रविवर्मा ने जो पृष्ठभूमि तैयार की उसी के विरुद्ध बंगाल से भारतीय चित्रकला के नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था।

रविवर्मा के चित्रो के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ स्वर्गीय आनन्दकुमार स्वामी ने बडी कटु आलोचना की है। उन्होने लिखा है कि 'रविवर्मा के चित्र नाटकीय है।' कुमारस्वामी के इन शब्दो में अधिक अतिशयोक्ति नही है। रविवर्मा के चित्रो में तथा पौराणिक चित्रो में भी नाटकीय भावभगियो का स्पष्ट समावेश है। रविवर्मा की चित्रकला तथा उस समय के रगमच से सीधा सम्बन्ध था। इसके बहुत से आधारभूत कारण भी थे। रविवर्मा ने स्वय कहा था कि उन्होने प्राचीन पौराणिक वेशभूषाओ की खोज की थी और इसके लिए वे उत्तर भारत एव राम और कृष्ण के पवित्र तीर्थस्थानो का पर्यटन भी किया था, किन्तु वे अपनी खोज में सफल नही हो सके। अतएव उन्होने तत्कालीन लोक जीवन तथा उस समय प्रचलित नाटक मडलियो से प्रेरणा ग्रहण की थी और बहुत कुछ उसी आधार पर प्राचीन देवी देवताओ के तथा पौराणिक चित्रो को प्रस्तुत किया था। भारतीय कला के क्षेत्र में गत तीस चालीस वर्षों में जो नई खोजें हुई है उनका रविवर्मा के समय कुछ पता नही था। राजा रविवर्मा अपने कार्य में अकेले थे। उनका प्रयास व्यक्तिगत रहा है। कला-सम्बन्धी नई चेतनाए नई धारणाएँ जो रविवर्मा के पश्चात् विकसित हुई उनमें एक सामूहिक जागृति और प्रयत्नो के लक्षण मिलते है। विशेष रूप से डॉ० अवनीन्द्रनाथ का प्रयत्न अपनी दिशा में रविवर्मा से भिन्न था। अवनीन्द्रनाथ ने अपनी शिष्य परम्परा के द्वारा भारतीय चित्रकला के सगठित आन्दोलन को जन्म दिया था। इस आन्दोलन के समर्थन में उन्हें पत्रो के सम्पादक, लेखक तथा राज्य के सहयोग प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में रामानन्द चटर्जी, डॉ० आनन्दकुमार स्वामी, अर्धेन्दुकुमार गागुली और प्रिन्सिपल हैवेल के नाम उल्लेखनीय है।

डॉ० अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तथा उनकी शिष्य परम्परा ने चित्रकला के क्षेत्र में जो कुछ किया वह भावस्वातन्त्र्य का एव प्रयोगवाद था। इसीलिए किसी एक विशेष शैली को हम टैगोर-शैली नही कह सकते। टैगोर शैली के अन्तर्गत अनेको चित्रशैलियाँ प्रचलित हुई और अदृश्य हो गईं। कुछ लोग, वाश शैली के चित्रो को टैगोरशैली कहकर सन्तुष्ट हो जाते है। वस्तुत टैगोरशैली केवल वाशशैली के चित्र नही है। इसमें कोई सिद्धान्त भी नही रहा। चित्रो में वाश देना कोई विशेष नियम नही है। उदाहरण के लिए भित्ति-चित्रो को ले लीजिए। कलकत्ता आर्ट स्कूल मे अवनीन्द्रनाथ के तथा विश्वभारती शान्ति निकेतन में अवनीन्द्र के शिष्य नन्दलाल वसु के अनेक भित्ति-चित्र है। किन्तु उनमें कही भी वाश नही दिया गया। यह तो अनाडी और अनभिज्ञतापूर्ण धारणा है कि अवनीन्द्रनाथ एव उनकी शिष्य परम्परा वाशशैली की पथिक है।

चित्रकला में शैली सवस्व नही होती। चित्रकला का सर्वस्व उसकी भावधारा है। अवनीन्द्रनाथ ने जिस चित्रकला को जन्म दिया वह हमारा ध्यान प्रकृति एव प्रकृति के अतस्तल की ओर आकर्षित करती हैं। इसीलिए अवनीन्द्रशैली के चित्रो में नाना प्रकार के रूपभेद और कल्पनाएँ है। प्रकृति का विराट रूप सुजला सुफला सभी कुछ है। इसके अतिरिक्त अवनीन्द्र की चित्रशैली ने भारतीय लोक जीवन की स्वाभाविक प्रेरणा ग्रहण की और उसने भारतीय एव योरोपियन



शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कृत
उत्कृष्ट शिल्प

—आचार्य क्षितीन्द्रमोहन
मित्र के सौजन्य से।

भावधारा एवं दोनों के भेद स्पष्ट किए और भारतीय चित्रकला के आन्दोलन में राष्ट्रीय चेतना प्रदान की--इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

चित्रकला की नई प्रगति

अवनीन्द्र शिष्य परम्परा के पश्चात् शान्ति निकेतन से स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा चित्रकला के क्षेत्र में एक और नई धारा का विकास हुआ। कुछ विशेषज्ञों का कथन है कि रवीन्द्र-नाथ ने पाश्चात्य चित्रकला से प्रेरणा ग्रहण की थी।

रवीन्द्रनाथ विश्वकवि एवं महा न् साहित्यकार थे। उनके द्वारा जिस चित्रकला की नई धारा का विकास हुआ वह भारत में विश्वव्यापी चित्रकला के आधारभूत आन्दोलन की भूमिका मात्र थी। इसलिए रवीन्द्रनाथ ने यदि विश्वमात्र से प्रेरणा ग्रहण की हो तो कुछ आश्चर्य नही। विश्वव्यापी चित्रकला का आन्दोलन तथा भारतीय चित्रकला के आन्दोलन में एक विशेष अंतर रहा है। यह ठीक है कि भौगोलिक दृष्टि से भारत की स्थिति समस्त विश्व एवं संसार से पृथक् नही है इसलिए भारतीय कला की भौगोलिक सीमा आज के विशाल जनजीवन में व्यावहारिक नहीं। भारतीय कला एवं चित्र कला विश्वव्यापी चित्रकला से भिन्न नहीं रहनी चाहिए। आज कला की नयी प्रगति तथा नयी व्याख्या देश काल एवं सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि उसका दृष्टिकोण विराट एवं व्यापक चेतना का अनुगामी है। भावना की इस विशाल कसौटी पर आज चित्रकला की नयी प्रगति आगे बढ़ रही है। इसमें सन्देह नही कि भावना की दृष्टि से संसार की प्रत्येक चित्रकला एक दूसरे से दूर नहीं और न इसमें भारतीय एवं भारतीयता का प्रश्न है। किन्तु जब तक इस समस्त विश्व में देशों एवं राज्यों की अपनी अपनी सीमाएं रहेंगी तब तक कला में भी एक प्रकार की सीमा अवश्य रहेगी। फ्रांस की चित्रकला में विश्वव्यापी चेतना हो सकती है किन्तु उसे फ्रेंच-कला ही कहा जाएगा।

इस प्रकार प्रत्येक देशों के पृथक् नामकरण अपनी कला की भी सीमा निश्चित कर देते हैं। कला के वाह्यरूप और उसके समस्त साधन देश काल की सीमाओं से बंधे हैं। इस दृष्टि से भारतीय कला की अपनी एक सीमा है। भारत के अर्थ में ही भारतीय चित्रकला का भी अर्थ सन्निहित है।

भारत स्वयं अनेक राज्य, प्रांत, जाति, समाज, और धर्मो का क्षेत्र है। यहां की चित्र-परम्पराएं भी अनेक प्रकार की रही है। बँगाल, बम्बई, गुजरात, राजस्थान तथा अन्य चित्रकलाएं प्रत्येक राज्य एवं प्रांत की दृष्टि से अपने अतीत के गौरव को झांक रहे हैं। इसीलिए आज भारतीय चित्रकला का आश्रयदाता स्वयं एक समस्या है। इस देश में अब भी असंख्य जनता स्वर्गीय राजा रविवर्मा की चित्रपरम्परा को अपनाती है। वह उसे पसन्द करती है। अवनीन्द्र शैली के चित्रों की व्यापकता किसी से छिपी नहीं है। किन्तु इन दोनों शैली तथा परम्पराओं की गणना नयी प्रगति में नही है।

नयी प्रगति का अर्थ यह है कि चित्रकला में विचारकों का प्रतिनिधित्व अधिक होना

चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि आजकल इस कठिन युग में एक चित्र का पूर्ण रूप से फिनिश करने का तथा एक चित्र के निर्माण में कई दिन लगाने का समय कहा—यहा तो आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार सक्षेप में विचार मात्र की अभिव्यक्ति करे और शेष उन्नति तथा पूणता का भार पीछे आनेवाली पीढ़ी के लिए छोड दें।

चित्रकला में परम्परा शैली तथा टेक्नीक पर विचार करना एक बात और विचार शक्ति का प्रादुर्भाव दूसरी बात है। विचार शक्ति के लिए हमें परम्परावादी होने की आवश्यकता नही है और न किसी स्कूल के पीछे चलना चाहिए। चित्रकला के आन्दोलन में इस प्रकार की भावभरी विचारधाराएं प्रभावशाली तो होती हैं किन्तु भारत में वे सफल होती दिखाई नही पडती क्योंकि इस देश की परिस्थितियां अन्य देशों से भिन्न हैं। इसलिए चित्रकला की नई प्रगतियां क्षण-मात्र के लिए कुछ सीमाओ तक ही रह सकती हैं।

श्री रविशंकर रावल

चित्रकला का मर्म

हमारा सुशिक्षित समाज कलाओं से सम्पर्क साधे बिना ही केवल ऊपरी बातों की विवेचना करनेवालों के प्रवाह में बहकर, चाहे जिस तराजू से उसे तौलने लग जाता है, किन्तु इसमें भी दोष हमारे यह की शिक्षा-प्रणाली का ही है। यूरोप से आने वाले विद्वानों को हमारे देश की पूर्वकालीन कला देखकर उसे समझने और आनन्द प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, किंतु हमारे विद्वान् उसी को देखकर आश्चर्य करते हैं। फिर भी कला का मर्म समझकर उससे आनन्दानुभव करने के लिए जिस सामान्य बुद्धि और नित्य-परिचय की आवश्यकता होती है, उसे वे संपादन नही करते। कला को या तो वे कोई अगोचर अस्पर्श्य तत्त्व मानते हैं अथवा फुर्सतवालों की धुन मात्र समझते हैं। दूसरी ओर धर्म की जिस गहरी मर्मज्ञता और एकनिष्ठ उपासना ने उच्च कला को जन्म दिया था, उन्हीं धर्मो में अब केवल सांप्रदायिकता की रक्षा करने का आग्रह और दिखावा ही शेष रह गया है। उनकी कलापूर्ति में अब नकली अलंकार और आडम्बर पूर्ण उत्सव ही बच रहे हैं। उनके चित्र कुरुचि पूर्ण एवं तड़क-भड़क वाले होते हैं और दूसरी ओर उन्ही की प्राचीन पैतृक कला के नमूनें नीलाम पर चढ़ाये जाकर मिट्टी के मोल बिक रहे हैं। अतः मानव कल्पना की छोड़ी हुई इस परंपरागत धरोहर अथवा भूतकाल को वर्तमान से जोड़ने वाली इन कलाकृतियों की रक्षा करके सृजन की चेतना प्राप्त करने के लिए संग्रह या संग्रहालयों की बड़ी आवश्यकता है।

कला की चर्चा करने से पूर्व कला का परिचय और दर्शन होना आवश्यक है। यदि बचपन से ही उसमें विविध रूपों के मानने का प्रयत्न न किया जाय तो बड़ी अवस्था होने पर उसमें केवल विचित्रताएँ ही दिखाई देंगी। जीवन के विविध अनुभवों का मूल्य समझने के लिए कला की आवश्यकता अनिवार्य है। संस्कृति की पहचान भी इसी के द्वारा होती है और संवृद्धि भी इसी के द्वारा।

कपड़े की छपाई में जो सुरम्यता और व्यवस्था दिखाई देती है, वैसी ही व्यवस्था और सम्मिलन से मानव देश काल के अनुकूल बनकर सुयोग्य जीवन बिता सकता है। साथ ही कला के संयोग से वह अपने निवासस्थान और वातावरण को नवीन स्वरूप प्रदान कर जीवन को मूल्यवान् बना सकता है।

कितने ही महान् तत्त्वज्ञानियों और यवनों में कला की यह सामान्य भावना भी नहीं होती। किंतु इसी पर से उन्हें संवेदनहीन नहीं समझ लेना चाहिए। क्योंकि अपना जीवन वे एक महान् ध्येय के स्वर से मिला देते हैं, अतएव उनका जीवन ही स्वयं सुन्दरतारूप बन जाता है। ऐसे मनुष्य स्वयं ही कला के प्रतीक बन जाते हैं। जिस प्रकार बिजली एक तत्वरूप है, उसी प्रकार

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्त तद्विविध भवेत्।
विषयेस्वप्रकाशत्वाद्धियाऽप्येव तदक्षिणात्॥ (पचदशी ७—४९)

उसके दशन से मनुष्य क्रियान्वित न बन जाय और आसक्ति रखे बिना उसका रसास्वाद कर सके। किंतु उस रसास्वादन के लिए हममें स्वास्थ्य होना चाहिए, हमारी मनोवृत्तियो में एक प्रकार का निग्रह होना चाहिए अन्यथा मन विक्षोम और उलझन में पड जायगा। अत यदि स्वास्थ्य के साथ लीला वैविध्य रहे तो जागृति और चेतना सभव है।

शक्य जेतु मनोराज्य निर्विकल्प समाधित।
सुसपाद क्रमात्तोऽपि सविकल्प समाधिना॥ *(पचदशी ४—६१)
मनसो निगृहीतस्य लीला भोगोऽल्पकोपिय।
तमेवालब्ध विस्तार विलष्टत्वाद्बहु भयते॥ (पचदशी ७—१४९)

प्रकृति मे पुष्प एक सुदर दृष्टान्त रूप है। अर्थात् पुष्पो को देखते ही हमें यथार्थ में अन-सक्त आनद और आकर्षण होता है। साथ ही उसमें रसोर्मियो का साक्षात्कार भी होता है। किंतु कला कृति मे विशेष तत्त्व यह होता है कि हमें अनुभव करानेवाले के हेतु और प्रेरणा के साथ हमारा सम्बन्ध हो जाता है। जितने अश में कला प्रगाढ और उत्कृष्ट होगी, उसी प्रकार उसमें प्रदर्शित ऊर्मिय। भी अपने सृजनकर्ता के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध कर सकेंगी। मानो हमारे अतर में चिरकाल से कोई बात थी, किंतु हमें उसकी कल्पना नही थी, उसी को कलाकार ने अपने निवेदन द्वारा प्रकाश में ला दिया। इस प्रकार का अनुभव होना रस प्रतीति के लिए आवश्यक है।

रसोऽयमात्मा

अर्थात् आत्मा रस रूप है। किंतु अतर जीवन की भूख को मिटाने वाले रसो को यदि न पहचाना हो, तो उस जीवन का क्या अथ हो सकता है? मनुष्य जीवन के लिए कल्पित जीवन कहाँ तक आवश्यक होता है, यह बच्चो की लोरियो से भली भाति जाना जा सकता है। अर्थात् माता के शब्दो या भाषा को बालक यद्यपि समझ नही सकता, किंतु फिर भी उसे रोते हुए से चुप करने के लिए वह (माता) जब लोरियाँ गाने लगती हैं, तो उसकी स्वर-लहरिय। बालक के अत करण को स्पर्श करती है और वह तृप्ति लाभ कर समाधिस्थ हो जाता है। ठीक इसी तरह बडे हो जाने पर मनुष्य के लिए भी कला यही कार्य करने को निर्माण की गई है। सतप्त हृदयो के समाधान और विश्राम के लिए अथवा दैनिक जीवन को क्षुद्र बना देनेवाली घटनाओ से दूर हटा कर आतर जीवन को उद्दीपन और पोषण प्रदान करनेवाली यही दिव्य जडी बूटी है।

कला की प्रशस्ति में सौदर्य की व्याख्या भी अनेक बार उलझती हुई दिखाई देती है। सौन्दर्य की मीमासा इतने अधिक विद्वानो ने की है कि उसके लिए कोई अतिम बात कह देना धृष्टता मात्र ही माना जायगा। ग्रीको ने कोई मानव शरीर के गठन और सुडौलपन को सौन्दय मान कर इस सिद्धान्त की पूर्ण परिपक्वता हुए बिना ही उसमें विकृति उत्पन्न कर दी। किंतु ऐसी भूल भविष्य में नही होनी चाहिए। कलाकृति में जब सहेतुक सुसपादन और लीला वैविध्य का

अनुभव होता है, तभी हमे वह सुन्दर जान पड़ती है। किंतु यदि उसके द्वारा हमारे मनोभावों में भी सुसंपादन और लीला वैविध्य का उद्रेक होने लगे, तो चित्ताकर्षक सौन्दर्य का भी आग्रह नही रहता। इसी कारण कला-सृष्टि में सर्प, नाग, गरुड़, असुर अथवा अन्य विकृत जान पड़नेवाले स्वरूपों के आलेखन और प्रतिमा-विधान आकर्षक एवं दर्शनीय वन जाते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य शब्द का अर्थ हमें दो प्रकार से समझना पड़ता है। प्रथम तो वह जिसमें विशेष नेत्राकर्षण होता है, और दूसरे वह जिसमें चित्र का संपादन कार्य एवं लीला भाव प्रकट होता है। इस प्रकार सर्वथा कुरूपता के लिए भी इसमें गुंजायश हो सकती है। सारांश यह कि कल्पना-जगत में इसका जितना प्रबल आविर्भाव होगा और जैसी छाप पड़ेगी, उतने ही परिमाण में उससे आनन्द की प्राप्ति होगी।

संपूर्णता

कलाकृति का एक प्रधान अंग उसकी संपूर्णता है। अर्थात् एक अखंड पात्र के रूप में उसे हमारे मन पर अंकित करने के लिए संपूर्णता एक आवश्यक तत्त्व है। यह यदि न हो तो भावना भी अखंड रूप में प्रकट नहीं हो सकती। फलतः उसकी पूर्ति के लिए हमें वाहरी उल्लेख या आधार खोजने के लिए दौड़ना पड़ता है। इस संपूर्णता का साधन करने के लिए चित्र के सम्पूर्ण आकर्षणों को उसमें संतुलन-पूर्वक केन्द्रित रखना होगा। इस समविभाजन से दृष्टि चित्र की मर्यादा में घूम जाती है।

किसी भी चित्र का संयोजन इस प्रकार के विविध व्यवस्था बंधनों पर ही मूल्यवान सिद्ध होता है। कई लोग केवल निरर्थक आकारों के व्यवस्था-बंधनों की रचना करते हैं; किंतु जिस समय एक ही रेखा का प्रभाव किसी मानव की गर्दन को झुका दे, उसी समय उसका मूल्य बदल जाता है। क्योंकि उसमें आंखों के आकर्षण का केन्द्र जुदी ही दिशा निर्देश करता है। इस प्रकार भौमितिक परिबन्धनों का हिसाब चित्रों में विक्षोभ पाता है और अनेक बार तो वह अटपटे दाँव में भी फँस जाता है।

विभिन्न युगों में विभिन्न संप्रदायों की कला में रेखा-परिबंधन, आवेग और आलेखन के भी अनेक भेद-विभेद हुए हैं। किंतु कपड़े की बनावट पर के भौमितिक चित्र-संपादन कार्य में जिस सबल और उत्थापक योजना की आवश्यकता होती है, उस रेखाबन्धन की साधारण चित्र में आवश्यकता नहीं हो सकती। किंतु चित्र-संपादन में दो भेद हमें दृष्टिगोचर होते हैं। केवल किसी चौखट (फ्रेम) में लगे हुए चित्र के आकर्षणों को महत्त्वपूर्ण मान लेने की हमें आदत पड़ गयी है। किंतु चित्रों के और भी कई रूप हैं, जिन पर हमे ध्यान देना उचित है भारत के प्राचीन, दीवारों पर बने चित्रों को देखते समय उसके विराट विस्तार पर दर्शक की आँखें स्वच्छन्द घूम जाती हैं, और उसके चित्त पर कथा के प्रवाह की तरह उन स्वरूपों के विवरण जैसे-जैसे प्रसार पाते जाते है, वैसे वैसे सम्पूर्ण कथानक ही सम्यक् रूप से चित्र पर अंकित होता चला जाता है। चीन के चित्र लम्बे 'जन्मपत्रिका' की तरह के कागजों पर बनाये जाते हैं; जिन्हें एक हाथ से खोलते जा

कर दूसरे मे लपेटते जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण चित्र-मालिका देखने में सारा ही क्रम समझ में आ सकता है साथ ही मन पर उसका आनद भी छा जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो हमने किसी विस्तृत प्रदेश की यात्रा लम्बा मार्ग चल कर पूरी की है, और उसके सुन्दर सस्मरण एक के बाद दूसरे के क्रम से जागरित हो रहे हैं। इस प्रकार की समग्रता का भान कविता और सगीत तो कराते ही हैं, किंतु दृश्य-कला में भी उक्त पद्धति इससे मिलती हुई ही है। इसमें समग्रता वही समझी जा सकती है, जहा कि आकृतियों के दर्शन से पूर्वापर का सम्बन्ध और सस्मरणों की शृखला जुडी रहती है। ऐसे चित्रो पर जैसे जैसे दृष्टि घूमती है, वैसे वैसे मुसपादन और लीला विस्तरण (Variety) के तत्त्व हमारे चित्त को भी उसी स्थिति में ला पहुँचाते हैं। ऐसे चित्रो के लिए भौमितिक चौखट के बधन न होने पर भी उनमें सपूर्णता (समग्रता) अवश्य होती है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि मनुष्य के आतर जीवन के विकास और उत्क्रांति के लिए कला की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। सासारिक जीवन के स्वरो को जगाने या सयत करने के लिए इसी से पूर्ण सहायता मिल सकती है। प्रकृति सर्वप्रथम शारीरिक आवश्यकताए पूर्ण करने को विवश करती है। किंतु हमें यही प्रतीत होता है कि उन आवश्यकताओ के पूर्ण होने पर ही हमारा वास्तविक जीवन आरम होता है। इसीलिए जिनके जीवन में केवल पेट भरने की चिंता ही प्रधान बनी रहती है, उनके लिए यही समझना चाहिए कि उन्हें यथार्थ रूप में मानव जीवन का अधिकार ही प्राप्त नही हुआ।

यही कारण है कि पूजीवाद में धन-सचय एक स्थान में रख कर इस प्रकार के कला-सग्रह (जो कि वास्तव में निकम्मे होगे) स्थापित करने की बात कही जाती है। किसी समय धनपतियो की विपुल सहायता के विषय में भी ऐसा ही कहा जाता था। महान् कृतियो और महान् अन्वेषणो के लिए द्रव्य-व्यय आवश्यक होता है, किंतु वह मिले कहा से ? कुछ लोग पिछले समय के राज्याश्रय और धनाधीशो की उदारता का स्मरण करते हैं, किंतु आज तो इतना काम सामने पडा हुआ है कि बडे बडे राजभडारो का द्रव्य भी उनके लिए पर्याप्त नही हो सकता। ऐसी दशा में प्रश्न यह होता है कि कलाकार का कर्तव्य किसकी अभिरुचि को तृप्त करने के प्रयत्न में लगे या अपनी ऊर्मियो को व्यक्त कर पहचानने का उद्योग करे ?

धनाढ्य लोग अथवा राज्य या राजसत्ता से जब किसी को आर्थिक सहायता मिलती है, तो उसके साथ वे कुछ न कुछ प्रतिज्ञा अथवा प्रतिबध लगा ही देते हैं, और इतने पर भी वे ऐसी वस्तु को खरीदने की आशा रखते हैं जो पैसो के बल पर प्राप्त नही हो सकती। अर्थात् वे यह मान बैठे हैं कि जिस प्रकार स्त्री या मकान अथवा गाडी घोडे खरीदे जाते हैं, उसी प्रकार कला भी प्राप्त की जा सकती है, और चितेरे या चित्र बेचने वाले तथा उनके सहायक ऐसा कर सकने का उन्हें विश्वास भी दिला देते हैं। किंतु सौन्दर्य का चेतन स्पर्श इस प्रकार कैसे मिल सकता है ? उसके लिए तो स्वय ही जीवन भर प्रयत्नशील रहना पडता है। पूर्वकाल के गर्थ श्रीमान सयोग-वशात् अवश्य इस प्रयोग को साध सकते थे, और मानवीय कलाकारो के लिए अनुकूल जीवन निर्वाह सुलभकर उन्हे इच्छानुसार कला-विहार करने की सुविधा भी देते थे।

किंतु आज तो भारत में ये दोनों ही वर्ग नामशेष हो गये हैं। यूरोप में तो ये १९वी सदी में ही समाप्त हो गये। इसीलिए आज उनके नाम पर दूसरों की बन पड़ी है। आज कहीं भी कलाकार अपनी कला का यथार्थ प्रदर्शन करने की शक्ति नही रखता। वरन् दूसरों की मांग की पूर्ति के लिए ही तूलिका घिसता हुआ जीवन-भार वहन कर रहा है। इधर खरीदने वालों को जब पता चला कि उन्हें कला प्राप्त नही हो रही है, तो उन्होंने इनसे उपराम होकर भूतकालीन विस्मृत कला खरीदना आरंभ कर दिया। किंतु इसमें भी व्यापारी-विद्या ने नकली नमूने चला दिये हैं।

दूसरी ओर इस देश के विश्वविद्यालयों की घोर उपेक्षा भी अक्षम्य ही है। क्योंकि इन संस्थाओं से निकले हुए व्यक्तियों, अधिकारियों अथवा शिक्षा-शास्त्रियों एवं पत्रकारों में से किसी ने भी कला का गंभीर अध्ययन, चिंतन या आदर करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यही कारण है कि आज चित्रकार के लिए जो भी काम मिले, उसे पूरा करके जीवन निर्वाह करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रह गया है।

द्रव्य अथवा आजीविका का लोभी चाहे जैसा चित्रकार भी इस बात को अच्छी तरह समझता है कि किसी तत्वज्ञानी या वैज्ञानिक की ही तरह वह भी अपनी विद्या या कला बेचने में असमर्थ है, अप्रसन्न है। क्योंकि वह पैसे कमाने का प्रयत्न भी केवल इसीलिए करता है, जिसमें कि अपनी सर्जक शक्तियों को स्वतंत्रता से विकसित होने का कभी अवसर मिल सके। अतः यदि कला के खरीदार उसे पैसे के बदले कला व्यक्त करने की सुविधाएं प्रदान करें तो वे अधिक उपकारक सिद्ध हो सकते हैं। किंतु ऐसा कोई करता नहीं। चित्रकार के मन में खरीदारों के प्रति एक प्रकार का दर्द-सा उभड़ने लगता है। और इसीलिए हाथ में लिए हुए काम में वह जुट जाता है, यह बात नही है। कलाकार किसी के लिए काम कर ही नही सकता। वह तो अपने ही आत्म-सृजन के लिए उत्सुक रहता है और उसी के द्वारा वह अपना जीवन सफल कर सकता है। साथ ही आत्म-सृजन के द्वारा ही वह मानव-जाति को संग्रह के योग्य कुछ दे भी सकता है।

जनता के कला जीवन के लिए आवश्यक सर्जक कलाओं के पोषण के लिए द्रव्य की तो कमी नहीं है, किंतु फिर भी कला-प्रेमी धनिकों के मन इस ओर से उदासीन हैं। अतः जो कला-मर्मज्ञ अपनी सच्ची कमाई में से थोड़ी थोड़ी रकम बचा कर समाज के कोनों में पड़े हुए कलाकारों को प्रकाश में लाने एवं उनका निर्वाह-प्रबन्ध करते हैं, वे ही इस देश की कला लक्ष्मी के सच्चे सेवक हैं। यदि ऐसों के हाथ में द्रव्य-विभाजन का अधिकार सौंप दिया जाय तो उनका संग्रह देश का अमूल्य कला-भंडार बन सकता है।

श्री केदार शर्मा

भारतीय चित्रकार और उनकी आध्यात्मिक चित्रकला

हमारे वेदो के बारे में जैसे यह प्रामाणिक सत्य है कि वह ससार का सब से प्राचीनतम ग्रथ है, भारतीय दर्शनो के लिए जैसे यह कहा जाता है कि इससे ऊँचा ज्ञान एव बुद्धि विलास का और कोई दूसरा साधन नही है, ठीक उसी प्रकार निश्चित रूप से यह कहना भी उपयुक्त है कि भारतीय चित्रकला ससार का सब से प्राचीन एव श्रेष्ठतम कलाकृति है। भारतीय चित्रकला में सत्य शिव सुदरम् का जो रूप स्पष्टत निहित है, वह अन्य किसी भी देश अथवा राष्ट्रो की चित्र कला में दृष्टिगोचर नही होता। भारत की टूटी-फूटी चित्रकला के जो उदाहरण हमें वर्तमान में उपलब्ध है, समसामयिक अन्य कोई भी विदेशी चित्रकला उनके सम्मुख तुलना में पसगा के बराबर भी नही ठहरती। इसके कई कारण है।

आदि काल से मनुष्यो में चित्रकला की प्रवृत्ति पायी जाती है। परतु कला का विकसित और चमत्कारिक प्रभाव वही दिखाई देता है जहा के मनुष्य उन्नत हो। जिनका सामाजिक स्तर उच्चकोटि का हो। देश समृद्धिशाली हो। ज्ञान, विज्ञान और विवेक के चरम उत्कर्ष पर पहुचे बिना किसी भी देश का मनुष्य न तो उत्तम चित्रकार बन सकता है, न वह सजीव चित्रो का निर्माण ही कर सकता है। भारतीय गौरव-गाथा का इतिहासो में जो वर्णन मिलता है, उसमें यह सिद्ध हो चुका है कि भारत एक प्राचीन राष्ट्र है। इसकी सभ्यता अति प्राचीन है। यहा का कला-कौशल सदा से जगद्विख्यात रहा है। आध्यात्मिक ज्ञान में तो यह सभी का गुरु रह चुका है। जहा सोने की वर्षा होती हो, दूध-घी की नदिया बहती हो, जो अन्य देशो के लिए रत्नाकर हो, वहा की चित्र कला यदि सब से सुदर प्रतिभा-सम्पन्न हो तो आश्चर्य क्या है?

पाश्चात्य देश आरभ से ही भौतिकवादी रहे है। भौतिक जीवन पर बराबर उनकी दृष्टि रही है। भौतिक विज्ञान में उन्होने बहुत उन्नति की है। आदि काल से ही उनकी चित्रकला मे भी उसी भौतिकता की स्पष्ट झलक रही है। अब भी वे दृश्य पदार्थों को वैसा ही चित्रित करना पसन्द करते है, जैसा वे अपने स्थूल दृष्टि से देखते है। परतु वे अब तक इसमें पूर्ण सफल न हो सके। कारण स्पष्ट है। जिस प्रकाश और छाया (लाइट एव शेड, एनाटमी और प्रस्पेक्टिव) शारीरिक गठन-अनुपात और यथार्थ चित्रण में समीप और दूरी को उन्होने प्रधानता दी, वही उनके सामने बाधक उपस्थित हो गया। वे अपने मनोगत भावो को उस प्रकार न समझा पाये जैसा भारतीय चितेरे समझा सके है।

पाश्चात्य शैली के दृष्टिकोण से यदि किसी ने अभिसारिका का चित्र अंकित किया है, तो चित्र में केवल कालिमा ही दिखेगी। न तो अभिसारिका का रूप-रंग ही दिखेगा न वस्त्राभूषण ही। इसी प्रकार यदि कोई चित्र द्वारा यह वर्णन करना चाहता है कि श्रीराम जी का विवाह महल के मंडप में हो रहा है। राजा दशरथ अपने राजसभा में ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा बाँट रहे हैं। अयोध्यापुरी की जनता हर्षोन्मत्त है। तो पाश्चात्य शैली के चित्रों में यह संपूर्ण कथा एक ही चित्र में दिखाना असम्भव हो जायगा। एक समय में वे कथा का कोई एक भाग ही दिखा पायेंगे।

भारतीय शैली के चित्रों में ये त्रुटियां नही दिखाई देती। न यहां के चित्रकारों में कहीं ऐसी विवशता है कि वे अपने मनोगत भावों अथवा कल्पनाओं को साकार करने में असमर्थ हों। वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उनको चित्रों में स्पष्ट पढ़ा जा सकता है। सांकेतिक प्रतीकों द्वारा वे अपनी भाषा में सब कुछ कहने का सामर्थ्य रखते हैं। रेखाओं पर नियंत्रण उसमें लोच, पटुता एवं पुष्टता भारतीय चित्रकला की प्रधान विशेषता रही है। किसी की 'शबीह' (पोर्ट्रेट) रेखाओं द्वारा अंकित करने में भारतीय चित्रकारों को परिपूर्णता प्राप्त थी। यह कार्य बिना किसी अन्य रेखाओं अथवा छाया-प्रकाश के सहारे करना अत्यन्त कठिन माना जाता है।

भारतीय चित्रकला की सब से प्रधान विशेषता यह रही है कि उसका आलंबन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक था। इसी कारण भारतीय कला की प्रभा और प्रतिभा सदा सर्वतोन्मुखी जाज्वल्यमान रही है। इस कला को भारत ने कभी वासनाओं की तृप्ति का साधन नहीं बनाया। भारतीय चित्रकला समाज को निम्न स्तर के विचारों से सदा बचाती रही। इसकी सात्विक कल्पनाएं समाज को बराबर सत्य के प्रेरणादायक प्रकाश से आलोकित करती आयी है। आलंकारिक शैली भी इसकी अपनी और सर्वोत्कृष्ट थी। इसमें जड़-चेतन पशु, पक्षी आदि के उत्तम उदाहरण मिलते हैं।

मध्यकालीन मुगल शैली में भारतीय चित्रकला का ह्रास प्रारंभ हुआ। शृंगारिक नायिका भेदादि के चित्रों की ओर प्रवृत्ति झुकी। फिर भी इसका उतना पतन न हो पाया जितना पाश्चात्य शैली द्वारा हुआ। पुरुष एवं नारियों के नग्न चित्रण की पद्धति यहां बृटिश युग के पाश्चात्य यथार्थ चित्रण द्वारा ही पनपी। आधुनिक शैली की आजकल जो नयी प्रवृत्तिधारा बह चली है, वह भी पाश्चात्य मनोवृत्तियों की देन है। प्राचीन भारतीय चित्र-परंपरा मे भी आधुनिक प्रवृत्तियों के चित्रों का अभाव नहीं है। इस शैली मे यहाँ के जो चित्र मिलते हैं, वे सार्थक हैं। प्रत्येक विषयों के सांकेतिक चिह्न हैं, जिनका उपयोग बड़ी सावधानीपूर्वक किया गया है। उन सांकेतिक चिह्नों को देखने समझने की चेष्टा प्रत्येक चित्रकला-रसिकों को करनी चाहिए। उन चिह्नों, मुद्राओं आदि को समझे बिना भारतीय चित्रों से रस निकाल पाना कठिन है। पाश्चात्य आधुनिक चित्रकला की भांति न तो ये अनाप-शनाप, कपोल-कल्पित अथवा मनगढंत कल्पनाएं हैं न स्वप्निल उड़ान। ये कुल प्रतीकात्मक चिह्न बहुत ही सोच-समझ कर निर्धारित किये गए हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का विचारपूर्वक अध्ययन के बाद स्वरूप निर्धारण हुआ हैं। जिनके द्वारा

भारतीय चित्रकला का आध्यात्मिक रूप निखर आया है इसी कारण यहा के कलाकार अपने भाव व्यजनो में सफल और सर्वोच्च सिद्ध हो सके है।

भारतीय चित्रकला सासारिक दुखमय जीवन को सुखद, सरस और आनदमय बनाने के साथ ही समस्त मानव मात्र का मानसिक उत्थान कर उसके परम लक्ष्य जीवन के सत्य का साक्षात्कार करा देती है। ऐसे आध्यात्मिक कला-साधना द्वारा यहा के कलाकार और उनकी कला सर्वदा लोक कल्याण करती हुई चिरकाल तक अमर रहेगी ।

डॉ० वासुदेव उपाध्याय

भारतीय कला में नाग-प्रदर्शन

भारतवर्ष में नाग की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। विद्वानों का मत है कि इस 'नाग सम्प्रदाय' का सम्बन्ध अनार्य लोगों से है तथापि बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्मों में नाग को स्थान दिया गया। इसकी पूजा के कारण ही नाग देवता माने गए और उनके कलात्मक उदाहरण पाए जाते हैं। यद्यपि नाग को अवैदिक देवता मानते हैं, परन्तु अथर्ववेद में गन्धर्व तथा नाग सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में विशाल के वंशज तक्षक का नाम मिलता है। अप्सरा के गृह्यसूत्र में भी सर्पबलि का वर्णन मिलता है। ग्रामीण जनता नाग तथा नागिनी की ओर अर्धदैवीरूप से देखती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष के आदिवासियों द्वारा पूजित नाग को आर्य जनता ने भी अपना लिया और समाज, धर्म व कला में स्थान दिया। मनसा तथा नाग पंचमी का त्यौहार आज भी प्रचलित है। बौद्ध साहित्य में कई नागराज—मूचलिन्द, कालिय, इलायत्र आदि के नाम आते हैं तथा बौद्ध कला में मूचलिन्द तथा इलायत्र को प्रमुख स्थान दिया गया था। जैन धर्म में भी पार्श्वनाथ से नागराज का सम्बन्ध स्थापित किया गया और उनके सिर के पीछे नाग-छत्र स्थिर किया गया, जिस चिह्न से पार्श्वनाथ की प्रतिमा पहचानी जाती है।

यह कहा जा चुका है कि नाग को अनार्य जाति से आर्यो ने ग्रहण किया। भारतीय कला का जन्म बौद्धधर्म को लेकर हुआ था, इसलिए बौद्धों ने ही सर्वप्रथम नाग को कला में प्रदर्शित किया। भगवान् बुद्ध के सिंहासन को उठाते हुए दो नागराज की आकृति दिखलाई गई। भारहुत तथा बोधगया में इलायत्र तथा मूचलिन्द को स्थान दिया गया। यही सब से प्राचीन नाग देवता का प्रदर्शन है। भारहुत के प्रसेनजित स्तम्भ पर पानी से निकलता हुआ नाग दिखाई पड़ता है तथा सिरे की ओर उसकी पत्नी की आकृति है। उसी स्थान पर निचले भाग में इलायत्र (मनुष्य के रूप में) अपनी भार्या के साथ बुद्ध के (बोधि वृक्ष) पूजा निमित्त आ रहा है तथा सिर झुकाकर अभिवादन कर रहा है। बोधगया की वेदिका पर मूचलिन्द बुद्ध की सूर्य तथा जल से रक्षा करता प्रदर्शित है।

मथुरा में नाग की दो प्रकार की मूर्तियां मिलती है। एक साधारण नाग के (जीव जन्तु) रूप में तथा दूसरा नागराज के रूप में। नाजराज की आकृति सदा मनुष्य की आकृति में बनाई जाती थी तथा सिर के पीछे से नाग का फन निकला दिखलाया जाता रहा। मथुरा के संग्रहालय में इस तरह की अनेक प्रतिमाएं हैं। मथुरा क्षेत्र से नाग सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व मालूम पड़ता है। इसी के समीप नाग वंशी राजा शासन करते रहे। उनके अनेक सिक्के इसी भू-भाग से मिलते हैं।

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में इस का वर्णन मिलता है कि समुद्र ने रुद्रदेव मतिल नागदत्त गणपति नाग आदि राजाओ को उत्तरी भारत में पराजित किया था, जो मथुरा के समीप राज्य करते रहे। मथुरा में कृष्णलीला के प्रसग में नाग फमाने का वणन सर्वविदित है। इस तरह का विवरण अन्यत्र नही पाया जाता जैसा कि नाग सम्प्रदाय का सम्बन्ध मथुरा के प्रदेश से प्रकट होता है। सारी मूर्तिया पूजित की जाती थी। पहली सदी में कुषाण वशी हुविष्क के एक लेख में भी "प्रियत्ति भगवा नागो" लिखा मिला है। वोजेलम होदय का मत था कि बलदेव की प्रतिमा नागराज के सदृश तैयार की गई थी। यहा तक कि यह विचारधारा प्रचलित हो गई कि बलदेव शेषनाग के पुत्र थे। अतएव आदिम निवासियो के युग से लेकर मथुरा में नाग सम्प्रदाय का प्रचार तीसरी सदी ई० स० तक पाया जाता है। यदि कला का इतिहास देखा जाय तो पता चलता है कि समकालीन गाधार तथा मथुरा की कला में नागराज को मनुष्य की आकृति में प्रदर्शित किया गया है। मथुरा से अमरावती (दक्षिण भारत) में कला के नमूने समाविष्ट किए गए। नाग की कल्पना भी अमरावती तक पहुँच गई।

गुप्तकाल में वैष्णव मत राजधर्म हो गया था। गुप्त सम्राट् परम भागवत की पदवी से विभूषित किए गए थे। यही युग था जब नाग का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित किया गया। एक ओर नाग के शत्रु गरुड पर भगवान् विष्णु सवारी करते है तो दूसरी ओर शेपनाग पर शयन करते है। भिलसा के समीप उदयगिरि पवत तथा उत्तरा प्रदेश देवगढ मदिर में शेषशायी विष्णु की प्रतिमा (शयन आसन में) खुदी हुई है। वराह अवतार में भगवान् विष्णु शेपनाग को पैरो से कुचलते दिखलाए गए है। वहा पर सिर का भाग मनुष्य का तथा निचला भाग सप का है। इस प्रकार गुप्तकाल में वैष्णव धर्म से नाग का विचित्र ढग से सम्बन्ध स्थापित किया गया।

गुप्त युग के पश्चात् नाग का कलात्मक प्रदशन बहुत ही सुन्दर ढग से किया जाने लगा। कुछ विद्वानो का मत है कि गणपति की कल्पना भी नाग से सम्बन्धित है। डॉ० कुमारस्वामी का मत था कि गणपति यक्ष का ही रूप है और गणेश का सूड नाग का रूप है क्योकि नाग शब्द से हाथी तथा सर्प दोनो का बोध होता था। इसलिए यक्ष के मुख में नाग की आकृति जोडने से वह गणेश की प्रतिमा हो जाती है और भ्रमवश गणेश के सूड का हाथी से सम्बन्ध दिखलाया गया।

गुप्त युग के वृहत्सहिता के प्रतिमा लक्षण में नाग का वणन है। कलात्मक नमूने तो यह बतलाते है कि जैन, बौद्ध लोगो के पश्चात् ही ब्राह्मण धर्म में नाग का पूजन प्रचलित किया गया। यहा तक कि तपण तथा श्राद्ध मत्रो में भी हिदुओ ने नाग का नामोल्लेख किया है। गुप्तकाल में नाग का प्रदर्शन अर्द्ध मनुष्य के रूप में पाया जाता है परन्तु बाद मे नागराज तथा नागिनी को साक्षात् मनुष्य का रूप दिया गया। उडीसा तथा पूर्वी बगाल से ऐसी नागराज की प्रतिमाए मिली ह, जो स्वतत्र रूप से तैयार की गई है। उसका एकमात्र उद्देश्य पूजा का था। नाग तथा नागिनी की प्रतिमा के सिर से पीछे नाग-फन वर्तमान रहता है। नागिनी की मूर्ति तो पूव मध्ययुग शैली की बनी है। कभी-कभी चार या छ हाथ भी दिखलाया गया है। उडीसा-शैली के मदिरो में भी

नाग या नागिनी की सुन्दर मूर्तियां वनी हुई हैं। भुवनेश्वर के राजा-रानी तथा लिगराज मंदिरों के दीवारों पर अर्द्ध नाग तथा मनुष्य-आकृतिवाले चित्र सुन्दर ढंग पर खुदे हुए हैं। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि १२ वीं सदी तक भारतीय कला में नाग का प्रदर्शन किसी न किसी रूप में किया गया है।

भारत की वास्तुकला तथा तक्षणकला के प्रदर्शन के अतिरिक्त मथुरा तथा बरेली (उत्तर प्रदेश) के जिलों से प्राप्त सिक्कों पर भी नाग की आकृति मिलती है, जिसका दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक है। अहिछत्रा (जिला बरेली) से पांचाल राजा जयगुप्त के सिक्के पर नाग की आकृति है जो आदि नाग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी तरह भूमिमित्र के सिक्के पर भी और उज्जैनी की मुद्रा पर नाग की आकृति मिली है। इस तरह हमें प्रस्तर के अतिरिक्त धातु के सिक्कों पर भी नाग की आकृति बतलाती है कि अवैदिक देवता होते हुए भी नाग का पूजन हिन्दू लोग पर्याप्त रूप से किया करते थे। इस तरह की पूजा का जो कुछ भी कारण हो, पर यह तो सही है कि सर्प एक विनाशकारी जन्तु था और भय के कारण आदिम निवासी या आर्य लोग पूजा करते थे तथा करते रहे। इसे देवता मान कर पूजा करने का भाव स्वभावतः समाज में आ गया। वैदिक युग से आज तक भारतवर्ष में नाग देवता की आराधना होती रही है। कलाकारों ने भी नाग को स्थान दिया और जैन, बौद्ध तथा हिन्दू कला में नाग का प्रदर्शन विभिन्न रूप से किया गया।

श्री रामलाल

कला का स्वरूप-चिन्तन

कला सच्चिदानन्द घन परमात्मा की परम तथा अन्यतम अभिव्यक्ति की माध्यम-भूमि है। कला वस्तु अथवा प्रतीक (रिप्रेजेन्टेशन) तथा (आबजेक्ट) नहीं है, वह अनुकृति (इन्टर-प्रेटेशन) और आत्माभिव्यंजन (सबजेक्ट) है। तदनुकृति—परमात्मा की अनुकृति की विशिष्टतम संज्ञा कला है। कला वस्तु के पीछे सत्य, शिव और सौन्दर्य का समन्वयात्मक भाव-निदर्शन है। सम्पूर्ण सृष्टि कलामयी है, परमात्मा के अभिव्यक्ति-साम्राज्य की अधिष्ठात्री आदिशक्ति कला है—यह निर्विवाद है, निश्चित और नित्यसिद्ध है। कला आस्तिकता की जननी है, श्रद्धा की प्राणमयी प्रतिष्ठा की सिन्दूर-लालिमा है, साधारण-से-साधारण और असाधारण-से-असाधारण कलाकृति विश्वास और श्रद्धा के ही सहारे नित्य नवीन तथा चिर सुंदर है। कला जड़ नहीं, चेतन है, परम ज्योतिमयी है। कला के उद्गम परमात्मा हैं, वे ही सब से पहले थे।

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे

—ऋग्वेद १०।१२१।१

यह वेदऋचा प्रमाण है कि समस्त सत्य-शिव और सुन्दर परमात्मा से ही उद्भूत हैं, सौन्दर्य की प्राणशक्ति—कला इसका अपवाद नहीं है। कला अनन्त है, सौन्दर्य अनन्त है। परमात्मा के सौन्दर्य की विज्ञप्ति-चेतना कला कहलाती है।

'ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

—ऐतरेयोपनिषद् १।१।१

आशय यह है कि यह जगत् पहले एकमात्र परमात्मा ही था। परमात्मा के सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था, परमात्मा ने लोकरचना का विचार किया। परमात्मा ही आदि कलाकार हैं, उनकी कला में सत्य है, यह सुन्दर और कल्याणकारी है। निर्गुण लक्षणवाले कलाकार परमात्मा से चिन्मय तदात्मक सगुण सृष्टि की उत्पत्ति है, इस सम्बन्ध में भगवान् व्यास प्रमाण हैं

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।

—ब्रह्मसूत्र ३।२।१४

सगुण कलाकार परमात्मा की सृष्टि केवल लीलामात्र है और यह सृष्टि उनकी निर्गुण

कलाभूमि में उन्हीं की इच्छा से तल्लीन हो जाती है। ब्रह्म—परमात्मा मूर्त और अमूर्त दोनों हैं; अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति-चेतना ही कला है।

'द्वे वाव ब्रह्मणे रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च
मर्त्यं चामृतं च स्थितं चयच्च सच्च त्यच्च।'
—बृहदारण्यक २।३।१

परमात्मा की मूर्तता—व्यक्तता ही कला है। कला की विशिष्टता की मूल भूमि अलौकिकता-चिन्मयता है; प्रत्येक कलाकार किसी कृति के निर्माण के पहले उसे आत्मदृष्टि से परखने का संयोजन करता है। इस तरह परखने का संयोजन अथवा उपक्रम ही कलाकृति का दिव्यीकरण करता है। इसी दिव्यीकरण के आलोक में कलाकृति सौन्दर्य से अभिप्रेत हो उठती है। कला का कार्य सौन्दर्यसृजन है, सौन्दर्य की विज्ञप्ति कला ही करती है। कला सौन्दर्य की मापिका है। सौन्दर्य प्रकृति का नहीं, कला का गुण है। कला की दूसरी विशिष्टता यह है कि वह सौन्दर्य का मूल्यांकन करती है; कला के प्रकाश में सौन्दर्य सत्य और शिव का अलंकार हो जाता है। इस तरह के सौन्दर्य बोध से आत्मा (अहम्) का विस्मरण हो जाता है तथा परमात्मा (ब्रह्म) का स्मरण मिलता है। आत्म विस्मरण का परमात्मा के स्मरण में पर्यवसान कला की पराकाष्ठा है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' ही भारतीय दृष्टिकोण से कला का परम बोध स्वीकार किया जा सकता है।

कला की निश्चित व्याख्या तथा परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न देशों के विद्वानों के अपने-अपने मत हैं पर उनके निर्णय में मूल अलौकिकता—अमरता तथा सनातनता ही है। कला विनश्वरता की सीमा से परे है। ताजमहल की भौतिक आकृति काल से प्रभावित हो सकती है पर शाहजहान और बेगम मुमताज के शाश्वत सम्बन्ध—प्रेम के प्रति श्रद्धा स्थायी और चिरन्तन है। कला मरती नही है; यदि कलाकृति मर जाती है तो वह कला ही नहीं है। जिस प्रकार कला के अर्थ की व्याख्या कठिन है उसी प्रकार कला के कार्य का विश्लेषण भी सुगम नहीं है। कला का मुख्य उद्देश्य आनन्ददान है; यह आनन्द क्षणिक नही, आत्मस्पर्शी अथवा अनश्वर होता है। यह मानव जाति की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। कला के माध्यम से किसी देश के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके विकास और उत्थान का परिचय मिलता है। जीवन और कला का शाश्वत सम्बन्ध है; जीवन तो चला भी जाता है पर कला रह जाती है। महामति गेटे का कथन है कि कला की सबसे बड़ी कृति वह है जिसमें परम उत्तम सत्य निहित रहता है। प्लेटो के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर वस्तु को अपना प्रेमास्पद चुनता है। प्लेटो के दृष्टिकोण से कला का प्राण सौन्दर्य है। बारहवीं शताब्दी के कलाकार कुस-जो-हस की उक्ति है कि कला का रहस्य कलाकार में ही अन्तर्निहित रहता है। गेटे का कथन है कि सौन्दर्य-दर्शन करने वाला (समस्त बन्धनों से) अपने आप मुक्त हो जाता है। कलाकार जब तक किसी सत्य-वस्तु के रूप-रंग की अनुभूति अपने भीतर नहीं कर लेता तब तक वह उसे किसी भी स्थिति में अभिव्यक्त ही नही करता है। विलियम

मारिस का कथन है कि मेरे जीवन का एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता है, जिसमें मुझे समस्त जगत् अभिव्यक्त न दीख पड़ता हो।

भारत में कला का विषय आत्मपरक है, भारतीय कला को समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा है। कला पांचभौतिक प्रतीक नहीं है, उसकी आत्मा है। कला निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य (दोषातीत), निरञ्जन, अमृत के परम सेतु तथा परम ऐश्वर्यमय ब्रह्म की चेतनता की आधारशिला है। कला के स्वरूप-चिन्तन की सीमा में यह स्वीकार तो करना ही पड़ता है कि वह अविकल सच्चिदानन्दमयी है। परमात्मा आनन्द है, इसलिए नैसर्गिक रूप से उनकी अभिव्यक्ति की चेतन भूमि आनन्दमयी होनी ही चाहिए। परमात्मा सम्पूर्ण कलामय होने के नाते सम्पूर्ण आनन्दमय है

'आनन्दमयोऽभ्यासात्'।
—ब्रह्मसूत्र १।१।१२

आनन्दमय ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही—तदनुकृति है, कला है। बाह्य जगत अन्तर्जगत की रहस्यात्मक अभिव्यंजना है। 'सकल' परमात्मा 'अकल' तथा अमृत परमात्मा है। कलापुरुष परमात्मा की सत्ता सोलह कलाओं से प्रकाशित है। समस्त सृष्टि इन्हीं से ओतप्रोत है। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल का उपाख्यान है, उसमें सत्यकाम के प्रति वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी) ने क्रमश प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान् कलारूपों पर प्रकाश डाला है। वृषभ ने प्रकाशवान् का निरूपण किया, कहा कि पूर्व, पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिक्कला ब्रह्म का प्रथम पाद है। अग्नि ने अनन्तवान् कला रूप के वर्णन में बताया कि पृथ्वी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है, समुद्र कला है, यह ब्रह्म का दूसरा पाद है। प्रकाशवान् काल के निरूपण में उपनिषद् का वाक्य है,

'ब्रह्मणश्च ते पाद ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मण प्रकाशवान्नाम।'
—छान्दोग्य ४।५।२

अनन्तवान् रूप का विश्लेषण है,

'ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथ्वी कलान्तरिक्ष कला द्यौ कला समुद्र कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम।'
—छान्दोग्य ४।६।३

हंस ने ब्रह्म के तीसरे पाद निरूपण में ज्योतिष्मान् कलारूप की व्याख्या की —

'ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्नि कला सूर्य कला चन्द्र कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम।'
—छान्दोग्य ४।७।३

हंस न कहा कि अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है, विद्युत् कला है, यह ब्रह्म का चतुष्कल-पाद ज्योतिषमान् नामवाला है।

मुद्ग जलचर पक्षी ने ब्रह्म के चौथे पाद की व्याख्या में आयतनवान् कलारूप का चित्रण किया।

'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम।'

छान्दोग्य ४।८।३

परमात्मा से सम्बद्ध होने के नाते ये समस्त कला चिन्मय, सत्य और सुन्दर हैं, सच्चिदानन्द की बोध-भूमि हैं। कला की तो वास्तविकता यही है कि तद्गत समस्त वस्तुओं में सच्चिदानन्द रमण करें। तदनुकृति कला की यही रहस्य-लिपि है। निस्सन्देह ब्रह्म-परमात्मा के चार पाद प्रकाशवान अनन्तवान्, ज्योतिषमान् और आयतनवान् के द्वारा ही कला का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप समझ में आता है, यही संस्कृति है। कला अमूल्य है, कलाकार व्यापार की प्रवृत्ति से कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता है। जिस प्रकार प्रेम आत्मा का धर्म होने के नाते अमूल्य है उसी प्रकार कला भी आत्मा का धर्म होने के नाते अमूल्य है। [कला का सबसे बड़ा मूल्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामञ्जस्य में सन्निहित है; कलाकार की प्रवृत्ति जब किसी कृति के निर्माण की ओर जाती है तब वह पहले उसे अपने भीतर ध्यान योग के माध्यम से स्थापित कर उसका रसास्वादन कर निवृत्ति पा लेता है; निवृत्ति से उसे प्रवृत्ति—अभिव्यक्ति की स्फूर्ति मिलती है, यह स्फूर्ति ही चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला तथा शिल्पकला के क्षेत्र में तदनुकृति कहलाती है; तदनुकृति ही कला का रूप ग्रहण कर लेती है।] परमात्मा की अनुकृतिगत कला इसीलिए नितान्त अमूल्य है।

कला सदा क्रियात्मक होने से सत्य की उपासना है; कलाकार सत्य का उपासक होता है। उसे वही सत्य सुन्दर दीखता है जो पूर्ण रूप से शिवमय होता है; भारतीय कला की शिव-मयता ही उसकी पारमार्थिकता अथवा आध्यात्मिकता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य-संगीत कला आदि अध्यात्मपरक हैं। नाट्य कला की चिन्मयता और आनन्दपरकता के सम्बन्ध में महाकवि कालिदास की शास्त्रसम्मत उक्ति है; उनके मालविकाग्निमित्र नाटक में पात्र गणदास की उक्ति है:

देवानामिदमनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा॥
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥

—मालविकाग्निमित्रम् १।४

नाट्यकला परम दिव्य स्वीकार की गयी है भारतीय साहित्य शास्त्र में। इसी प्रकार संगीत कला की दिव्यता और पारमार्थिकता में अटल विश्वास प्रकट किया गया है। संगीत की उत्पत्ति परमात्मा

से है। ऐसा कहा जाता है कि जगदम्बा पार्वती और शिव के सयोग से राग की उत्पत्ति हुई। महादेव के पाच मुख से पाच और देवी के एक मुख से छठें राग की उत्पत्ति बतायी जाती है। महादेव के सद्योजात मुख मे श्री, वामदेव मुख से वसन्त, अघोरमुख से भैरव, तत्पुरुषमुख से पचम, ईशान मुख से मेघ और गिरिजा के मुख मे नट्ट नारायण राग उत्पन कहे जाते हैं। सगीत दामोदर मे वर्णन है कि श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियो ने गीत गाना आरम्भ किया तो सोलह हजार राग उत्पन हुए

गोपीभिर्गीतिमारब्धमकैक कृष्णसन्निधौ।
तेन जातानि रागाण सहस्राणि तु षोडश॥

सगीत कला गीतवाद्य नृत्य का समन्वय है। सगीतशास्त्र उपवेद कहा जाता है। सगीत मोक्ष प्रदान करता है, जीवात्मा को परमात्मा के आनन्दराज्य में प्रतिष्ठित करता है। गान्धर्ववेद में वर्णन मिलता है

"एक सगीत विज्ञान चतुर्वर्गफलप्रदम्।'

इसी प्रकार विज्ञानेश्वर का कथन है कि वीणावादनतत्वज्ञ रागविद्याविशारद तथा मूर्च्छनाश्रुति सम्पन्न प्राणी मोक्षपथ मे जाता है। उल्लेख मिलता है

वीणावादनतत्वज्ञ श्रुतिजातिविशारद।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥

——याज्ञवल्क्यस्मृतिधृत पाठ ३।११५

सगीत चार वेदो का सरस सार है, सगीत सहिता कहती है कि पूजा से कोटिगुण श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यान से कोटिगुण श्रेष्ठ जप है, जप से कोटि गुण श्रेष्ठ गान है। गान से श्रेष्ठ कुछ भी नही है। सगीत में तो परमात्मा भी अभिव्यक्त होते हैं। भगवान् की नारद के प्रति स्वीकृति है

नाह वसामि वैकुण्ठे योगिना हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

——नारदसहिता १।७

भारतीय साहित्य में शिल्पकला, चित्रकला तथा हस्तलेखा आदि का प्रचुरता से वर्णन मिलता है, देवमूर्ति, देवचित्र आदि जीवात्मा को मोक्षदेने वाले ही निरूपित और निर्मित किये गये हैं। अजन्ता एलौरा आदि की चित्रकलाएँ इस कथन की प्रामाणिकता की पुष्टि करती हैं। वास्तव में अजन्ता तथा एलौरा आदि कलातीथ हैं, इनके दर्शन से ही प्राणी अलौकिक चेतना और निवृत्तिपरक जीवन से सम्पन हो जाता है। समस्त भारतीय कला-चिन्तन में तदनुकृति——भागवती सृष्टि की ही व्यापकता का दर्शन होता है। वे अमरता की ही चिन्मय कालातीत प्रतीक-चेतनाएँ हैं।

धम, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ के क्षेत्र में कला मोक्षस्वरूपा है, धर्मार्थकाम—त्रिवर्ग से सयुक्त होकर वह प्राणीमात्र को निवृत्ति—त्यागमय आनन्दसाम्राज्य में ले जाती है। मोक्ष

की विधायिका होना कला का सांस्कृतिक स्वरूप है। भारतीय कला की सीख है कि परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम का यथानुपात सेवन करना चाहिए। भारतीय जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि भी इस त्रिवर्ग के सेवन की सीख देती है। भारतीय कला इसी त्रिवर्गसेवन से प्रस्फुटित होकर संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। अपने परिष्कृत मस्तिष्क से महामति वात्स्यायन ने कामसूत्र के आरम्भ मे ही इसी त्रिवर्ग की वन्दना की है :

'धर्मार्थकामेभ्यो नमः।'

—कामसूत्र १।१।१

इसी प्रकार महामति चाणक्य ने त्रिवर्ग-सेवन के सम्बन्ध में कहा है :

धर्मार्थ विरोधेन कामं सेवेत्।
समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुवन्धम्।

—कौटलीय अर्थशास्त्र १।७।६, ८

कला ने धर्म, अर्थ काम को समानरूप से सदा प्राणान्वित किया है, उनमें सत्य का दर्शन किया है। कला पांचभौतिक अविद्यागत 'अहंम्' की विस्मृति द्वारा चिन्मय विद्यागत 'ब्रह्म'—परमात्मा के शाश्वत स्मरण का दान करती है। कलाकार को कला की वस्तु—सौन्दर्यतत्व से आत्म सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए; पर्वत और सरिता आदि के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करने पर ही वह अपनी कला द्वारा चित्रण का विषय बना सकता है। चीन देश की घटना है: सुंग वंश के अधिपति लि लुंग मेन ने ताव-जें नाम के कलाकार से किसी दृश्य को चित्रित करने की बात कही; वह विना किसी चित्रण के लौट आया और उसने कहा कि प्रकृति को मैंने हृदयस्थ कर लिया है। कला प्रतीक नहीं, अप्रतीक की विधायिका है; वह अ-प्रतीक से प्रतीक का निर्माण करती है, अप्रतीक होना उसका स्वरूप है; प्रतीक का दान करना उसका कार्य—धर्म है। कला तो परम चिन्मय है, वह प्रतीकगत है ही नही। जिस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा जाता है:

'न प्रतीके न हि सः।'

—ब्रह्म सूत्र ४।१।४

उसी प्रकार कला के अप्रतीक स्वरूप-चिन्मय तत्व के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि वह प्रतीक में नहीं है, कला तो भावराज्य की अधिष्ठात्री देवी है। वह अमरता की संज्ञा है।

कला सत्य, शिव और सुन्दर की आत्मा है। कला के विज्ञान ने ही नरक और स्वर्ग का अन्तर बताया है; सत्य और असत्य, शिव और अशिव तथा सुन्दर और असुन्दर का रहस्य बताया है।

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

प्रागैतिहासिक कला

कतिपय क्षेत्रो में प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य के सबध में यह एक भ्रामक धारणा फैली हुई है कि उस युग के मनुष्य का मानसिक गठन आज के मनुष्य से भिन्न रहा है। परन्तु बात ऐसी नही है, विशेषज्ञो के अनुसार, सुदूर अतीत से लेकर आज तक सभी जातियो में मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया एक जैसी ही रहती आयी है।[1] आबालवृद्ध तथा नर-नारी की अनुभूति-प्रवणता, चिन्तन-पद्धति एव आचार-व्यवहार सबमें एकरूपता है और उसकी मौलिक वृत्तियो की क्रिया-प्रक्रिया में कोई भेद नही। जो बाह्य अन्तर दिखलायी भी देते है, वे भौतिक साधनो के विकास एव प्रसार के कारण है। हास-रुदन, उमग-उल्लास और केलि-क्रीडा सम्बधी सवेदनाए सभी में समान रूप से काम करती दिखाई देती है। विजय मिलने पर उल्लास अनुभव करना और पराजय होने पर उदास हो जाना मनुष्य मात्र का स्वभाव है। इसमें काल तथा स्थान कभी भी कोई व्यवधान अथवा व्यतिक्रम उपस्थित नही कर सका है। प्रत्येक युग के सभी श्रेणी के मनुष्यो में शुभ-अशुभ, भला-बुरा और उचित-अनुचित की एक न एक मान्यता एव मर्यादा रहती आयी है। सौन्दर्यानुभूति अथवा सौन्दर्यबोध के चाहे जो भी स्तर अथवा आलबन रहे हो, मनुष्य सदा सौन्दर्य पर मुग्ध रहता आया है। ऐसा कोई भी युग नही रहा है जिस पर अविकसित मस्तिष्क अथवा चमत्कारपूर्ण परिस्थिति का आरोप लगाया जा सके।

ताल-स्वर तथा छद की गति में किसी वस्तु अथवा शरीर का सचालन नेत्रो और कानो को प्रिय लगता है। इनके द्वारा कलात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है, जिसका परिणाम सुखद होता है। ससार के सभी आदिवासियो मे कथा कहने, सगीत-नृत्य करने और चित्र एव मूर्ति बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह इस बात का प्रमाण है कि अपनी अनुभूति को अपने-अपने ढग से व्यक्त कर आनन्द एव सतोष अनुभव करने की योग्यता सबमें रही है।

"कला" शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया मिलता है। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में यह शब्द "कल्" धातु से बना है जिसका अर्थ है—प्रेरणा करना। सस्कृत साहित्य मे ज्ञान को विद्या और उपविद्या दो श्रेणियो में विभक्त किया गया है। "कला" उपविद्या की कोटि में आती है। दण्डी के अनुसार यह कामोद्दीपन में सहायता करती है।[2] क्षेमराज तक ने "कला" को रूप

१ बोआस प्रिमिटिव आर्ट, प्रिफेस, पृ० १।

२ नृत्य गीत प्रभृतय कला कामार्थ सश्रया।

संवारने वाला ही स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार इनकी दृष्टि में "कला" को उपयुक्त स्थान नही प्राप्त हो सका, उसे गौण ही समझा गया। आगम ग्रन्थ भी कर्तृत्व शक्ति के रूप में "कला" को छत्तीस तत्वों में से केवल एक मानता है।[2] कामशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र से लेकर दर्शन शास्त्र तक में "कला" का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया गया दीख पड़ता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि भारतीय विचारधारा सत्य ब्रह्म को चिन्तन का ही विषय मानती रही है। उसे केवल यही जानता है जो द्रष्टा है और उसे जान कर वह वही बन जाता है।[3] ऐसी दशा में उसे भौतिक अर्थ में कला का विषय बनाना संभव नही। अवतारवाद के प्रादुर्भाव के बाद भी भगवान् का कोई न कोई रूप पहले किसी न किसी देवलोक का देवता है, फिर अवतार इसलिए सामान्य प्राणी के लिए उसका वास्तविक रूप हृदयंगम कर पाना असंभव प्राय है। उसे ऐसी भक्ति का विषय बना दिया गया है जिसकी मूर्ति तक की पूजा ध्यान द्वारा अर्थात् मानसिक स्तर पर की जाती है। किन्तु अनुभूतिविहीन कोरी कल्पना के आधार पर कोई कला पनप नहीं सकती। सभी कलाओं से पार्थिव जगत् के सक्रिय जीवन का एक न एक सम्बन्ध रहना ही चाहिए। भारतवर्ष में ऐसी कला का विकास, नाना कारणों से, अवान्तर काल में हुआ। नश्वर जगत् को तो महत्व देने का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में उनकी अन्तर-वृत्ति ही अधिक सक्रिय रही है जिसको प्रश्रय देने में योग का भी प्रबल हाथ रहा है। इसके अतिरिक्त 'रसो वै सः" की उक्ति द्वारा भी अमूर्त कल्पना का ही प्राधान्य लक्षित होता है।

पाश्चात्य विद्वानों तथा विचारकों ने इसके विपरीत कला को यथेष्ट महत्त्व प्रदान किया है। रस्किन "कला" को दैवी कृति के प्रति मनुष्य के आह्लाद की अभिव्यक्ति मानता है। गैटे के अनुसार "कला" सत्य की साकार अनुकृति है। टाल्सटाय का मत है कि "कला" स्वानुभूति को विविध साधनों द्वारा दूसरे के हृदय तक पहुँचाती है। परन्तु फ्रायड के मतानुसार "कला" सुप्त वासनाओं का प्रकट (जागृत) रूप है। क्रोचे अभिव्यंजनावादी होने के नाते "कला" को प्लेटो की भांति प्रकृति का विम्ब-प्रतिबिम्ब नहीं मानता, अपितु उसे प्रभाव-प्रधान स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति-मन का अत्यधिक महत्त्व है। अरस्तू अनुकरण की प्रवृत्ति को प्रश्रय देता नही दिखायी देता। यह प्रकृति के सामान्य रूप का चित्रण करने का पक्षपाती है; वस्तु का नहीं, वस्तुगत गुणों का चित्रण करने का समर्थक है। अधुना विचारक शिलर का मत है कि मनुष्य की विशेपता इस बात को लेकर है कि वह कल्पना के सहारे अनुकृतियों में भी वही आह्लाद अनुभव करता है जो स्वतः प्रकृति द्वारा उपलब्ध है। इन सबसे भिन्न बेकन और कूजां जैसे विचारकों का मत है कि "कला" प्रकृति की अपूर्णताओं की पूर्ति करती है। वास्तव में "कला" इसलिए

---

१. कलयति स्वरूप आवशयति वस्तूनि वा।

२. सर्व कर्तृत्व रूपावै क्रिया शक्तिः : कला भवेत्——परशुराम कल्पसूत्र।

३. तस्मात्तत्सर्वमभवत् बृ० उ० १।४।१० : रामचरित मानस–(अयोध्या काण्ड) जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई।

सुन्दर अथवा आकर्षक नहीं है कि वह प्रकृति की प्रतिकृति है, अपितु वह कलाकार की अभिव्यक्ति में सौन्दर्यग्राह्यता के कारण "कला" है। यह सौन्दर्यग्राह्यता केवल वस्तुगत सौन्दर्य का ही परिणाम नहीं है, अपितु कलाकार की सौन्दर्यानुभूति अथवा सौन्दर्यबोध को अपनी प्रतिभा द्वारा स्थायित्व प्रदान करने के सफल प्रयास में है।

परन्तु "कला" व्यक्तिगत कृति होकर भी समाज-सापेक्ष है। अतएव युग विशेष की "कला" का अध्ययन करते समय तत्कालीन युग के जीवन एवं प्रवृत्ति से भी परिचय प्राप्त कर लेना वाञ्छनीय है। मनुष्य की शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाशीलता की भांति कला का भी मौलिक सम्बन्ध अधिकतर उत्पादन से है। क्योंकि कलात्मक प्रेरणाएँ भी भौतिक साधनों पर ही आश्रित हैं और यह बात इतिहास पूर्व कला पर अधिक लागू है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, जर्मन अर्थ-शास्त्री कार्ल बुशर का तो मत रहा है कि ताल, गीत और कविता का प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक श्रम-साधना से हुआ है। उसका कथन था कि यदि काम-काल में शरीर-सचालन ताल के अनुसार हो तो कम से कम थकान में अधिक से अधिक कर्तृत्व शक्ति की दक्षता प्राप्त हो सकती है।[1] इससे भी बढ़कर रोचक बात यह है कि उसके अनुसार झुण्ड के झुण्ड काम करने वाले श्रमिकों को, काम में दक्षता एवं सुसम्बद्धता लाने के लिए गति को ताल में बाधना पड़ता था। मासपेशियों के तनाव होने पर उनके मुह से ध्वनि निकल पड़ती थी। इन ध्वनियों के साथ तत्कालीन मानव ने शब्दों को मिला दिया। फलस्वरूप गीत और कविता की रचना हो गई। इसी प्रकार औजारों के लगने से जो ध्वनिया निकलती थी, उनका अनुकरण स्वर के माध्यम से कर लिया जाता था। इन्ही का विकास वाद्य यन्त्रों में हुआ। परन्तु जो लोग काव्य एवं कला का उद्गम आनन्द से मानते हैं, उन्हें उक्त व्याख्या शायद सन्तोष प्रदान न कर सके। यद्यपि रचनात्मक श्रम का भी अपना आनन्द है।

प्रागैतिहासिक कालीन समाज के सम्बन्ध में कुछ वर्ष पूर्व तक समाजशास्त्रियों एवं अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास रहा है कि तत्कालीन समाज सामुदायिक रहा है। बिखरे हुए व्यक्ति उक्त समाज में समझौते द्वारा व्यक्ति विशेष को मुखिया मानते रहे और अज्ञात काल से चले आने वाले परिवार ही आगे चल कर पृथक्-पृथक् समुदाय में बट गये। परन्तु इतिहास पूर्व संस्कृति के नृतत्व विषयक विद्वान् अब इस तथ्य से परिचित हो चुके हैं कि वास्तव में, बात ऐसी है नहीं। लिंग-भेदगत श्रेणियों के समूह शिथिल, किन्तु निश्चित गति से विभिन्न दलों में विभक्त होते गये जहा से, परिवार के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति का इकाई रूप में प्रादुर्भाव हुआ जो प्रारम्भिक अवस्था में चल-सम्पत्ति के रूप में रहा। यहा तक कि खाद्य सामग्री भी चल-सम्पत्ति के ही रूप में रही।[2] कुछ लोगों ने उनके आर्थिक जीवन के सबंध में यह सन्देह प्रकट किया है कि प्रारम्भ में उन्हें किसी प्रकार का अर्थबोध था भी अथवा नहीं। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि शिकार द्वारा प्राप्त अतिरिक्त

---

१ हैरप सोशल रूट्स ऑव द आर्ट, पृ० ११।

२ प्लेखनोव आर्ट ऐण्ड सोशल लाइफ, पृ० ५७।

मांस को वे भविष्य के लिए सुरक्षित रखा करते थे और इस प्रकार की अन्य अर्जित वस्तुओं का भी संचय किया करते थे। सामूहिक प्रयास द्वारा अर्जित शिकार अथवा लूट का माल समुदाय के सभी लोगों में बांटा जाता था और उसका एक न एक अंश प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य मिल जाता था। समुदायों के समय-समय पर छोटे-छोटे दलों में विभक्त होने पर भी इस कारण उनकी सामाजिकता अक्षुण्ण बनी रहती थी।

प्राचीन कलाकारों द्वारा निर्मित जो कला-कृतियां आज उपलब्ध है, वे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के लिए पर्याप्त नही है। कला-शैली की प्रेरक शक्तियों को समझने के लिए अधिक उपयुक्त सामग्री की आवश्यकता है। प्रागैतिहासिक काल की जो वस्तुएँ खुदाई में मिली है उनमें प्रस्तरकालीन पत्थर के औजार और आभूपणादि है। कुछ ऐसे भी चिह्न मिले है, जिनके द्वारा अग्नि-प्रयोग का भी संकेत मिलता है। कालान्तर मिट्टी के बर्तन तथा कृषि सम्बन्धी वस्तुएं मिलने लगती है और आगे चलकर धातु की बनी चीजें भी उपलब्ध होने लगती हैं। इन सबके पीछे प्रेरणा के दो श्रोत रहे है: पहला रूप का आश्रित और दूसरा रूपजन्य भावना से सम्बद्ध। आभूषण के मूल में केवल रूपसज्जा की भावना ही नही काम करती रही है, अपितु वे किसी न किसी वस्तु का प्रतीक बनकर भी आये है।

प्रागैतिहासिक कालीन पुरातत्व की सामग्रियों से पता चलता है कि संसार के विभिन्न भागों में सामान्यतः सांस्कृतिक-प्रवाह एक-सा ही रहा है; लगभग यही स्थिति कला के भी क्षेत्र मे रही है। अन्तर केवल इतना रहा है कि कभी-कभी कलात्मक जीवन की शृंखला सहसा भंग भी हो जाया करती है।[1]

अवशिष्ट कला-कृतियों में तत्कालीन जीवन के संकेत भी मिल जाते हैं। ऐसा लगता है कि उनका अधिकांश समय, जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं आजीविका एवं आत्मरक्षा-के प्रश्न को सुलझाने में ही निकल जाता था। इसी कारण, उनकी चित्तवृत्ति अधिकतर पशुओं में ही रमण करती रही, जो स्वभावतः उनकी प्रारंभिक कला-कृतियों में भी प्रमुख स्थान पा सके। इनकी अभिव्यक्ति में अनुभूति एवं उत्कृष्ट भावना दोनों का ही हाथ था। गुफाओं में चित्रित भीत्ति-चित्रों मे अंकित पशु वास्तविक रूप मे उत्सुक शिकारी की ओर बढ़ता हुआ जान पड़ता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पशुओं के ऐसे चित्र गुफा के दिवसीय प्रकाश वाले भाग में न होकर घोर अन्धकार मग्न खण्डों में निर्मित है। ऐसे स्थानों के सम्बन्ध में अनुमान किया गया है है कि वे देवालय के काम में आते रहे होंगे।[2] तत्कालीन कला का एक अन्य रोचक पहलू भी देखने में आता है कि एक स्थल पर हृदय की जगह प्रथानुसार हृदय का ही चित्र प्राचीन प्रतीकात्मक रूप में अंकित कर दिया गया है।[3] इसके मूल श्रोत पर विचार करते समय कुछ लोगों ने अनुमान

---

१. बोआस : प्रिमिटिव आर्ट, प्रिफेस, पृ० ७।

२. आर्पेन : द आउट लाइन ऑव् आर्ट, पृ० ८।

३. वही, पृ० ९।

द्वारा सिद्ध करना चाहा है कि अध-युग की कला चमत्कारपूर्ण रही है। जो कालान्तर, विकसित होकर शक्ति एव सौन्दर्य के योग से "शुद्ध कला" बन गयी।[1] परन्तु उक्त अनुमान कदाचित् अनुमान मात्र ही है, क्योकि मनुष्य की भावधारा द्वारा इसकी पुष्टि होती नही दिखायी देती। अधिक से अधिक स्वाग रचकर पशुओ तथा दूसरे लोगो पर चमत्कारपूण प्रभाव डालने की बात सभव जान पडती है। कुछ लोगो ने अनुमान किया है कि उनके अधिकाश नृत्य ऐसे ही स्वाग के परिणाम स्वरूप है। परन्तु नृत्य की एक अन्य प्रेरणा आनन्दोल्लास भी है, इसमें सन्देह नही।

मध्ययुग "कला" का उत्कर्षकाल कहा जाता है। परन्तु प्रागैतिहासिक काल की "कला" के कुछ ऐसे नमूने है जो कला की दृष्टि से आगे बढ कर है। इसके उदाहरण नीग्रो आकृतियो में देखे जा सकते है। मीदियन लोगो के इतिहास पूर्व पुराने खानाबदोश गिरोहो की कला-कृतियो के कुछ ऐसे नमूने है जिनमें चीनी कला के मूल तत्त्व अत्यन्त सजीव रूप में है।[2]

भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक काल की कला के कुछ नमूने रायगढ, होशगाबाद, मिर्जापुर जिला, चक्रधरपुर और विजयगढ की गुफाओ आदि में आज भी उपलब्ध है। इसका एक अन्य रूप साज-सज्जा और धार्मिक कृत्यो के अवसर पर अभिप्रायों (मोटिफ्स) के रूप में भी देखा जा सकता है।

---

१ वही, पृ० ९।

२ गांगुली स्टडीज ऑन इण्डियन आर्ट, पृ० ९।

श्री महेन्द्रनाथ सिंह

भारतीय चित्रकला में हस्ति-आलेखन का महत्त्व

आदि काल से हाथी भारतीय चित्रकला के चित्रण का एक प्रिय विषय रहा है। इन हाथियों से भारतीय कलाओं को अनेक प्रेरणाएँ मिली है। हमारे आदि आराध्यदेव 'गणेश' स्वयं हाथी थे। भगवान् बुद्ध भी एक जन्म में छः दांत वाले हाथी थे जिनकी जीवन-घटनाओं से अजंता की संपूर्ण चित्रकारी रची गयी है। वहां इन हाथियों का पारिवारिक जीवन बड़ी सजीवता से अंकित किया-गया है। बुद्ध गजराज के वेश में अपनी दो हस्ति-पत्नियों के साथ वट वृक्ष की सुखद छाया में विश्राम मुद्रा में अंकित किये गये है। शान्ति, सौम्य, वैराग्य का भाव प्रत्येक अंग से झलकता है। एक दूसरे स्थल पर 'गज-जातक' चित्रावली भी दर्शनीय है। इसमें हाथियों का परस्पर-स्नेह उनके मिलने-जुलने का ढंग हमें द्रवित कर देता है। सम्पूर्ण चित्रावली से करुण और वात्सल्य की रसधार बह रही है। कही-कही पर हाथियों के जुलूस-चित्र भी देखने को मिलते है वहां पर उनके अंग प्रत्यंग से शौर्य-पराक्रम टपकता है परन्तु उनके अधिकांश चित्र यहां धार्मिक दृष्टि से ही अंकित किये गये है। जहां उनकी मुद्रा में शान्ति, करुण रस की ही प्रधानता दिखाई देती है। इन चित्रकारों ने अत्यन्त प्रवाहपूर्ण और कोमल रेखाओं से उनकी रूप रचना में सौंदर्य और स्वाभाविकता भरी है। इसी-लिए हाथियों के ये चित्र देखने में यथार्थवादी प्रवृत्ति के अधिक निकट लगते है। परन्तु वास्तव में आदर्शवादी भित्ति पर ही सम्पूर्ण कला मंडप खड़ा है। इतने कलात्मक अभिरुचि के मार्मिक हस्ति-आलेखन एक मात्र हमें 'अजंता' में ही प्राप्त होते हैं, जिनसे मानवमात्र सदियों से अनेक प्रेरणाएँ प्राप्त करता आ रहा है तथा जिनके बल-बुद्धि, ऐश्वर्य-पराक्रम, दया करुणा आदि बहुमूल्य गुणों से अपने को विभूषित भी करता आ रहा है।

हाथियों का दूसरा उपयोग अजंता की डिजाइनों में बड़े ही कलात्मक ढंग से किया गया है। भारतीय धर्म, जीवन और दर्शन की व्याख्या में इन चित्रकारों ने हाथी और कमल से बड़ी सहायता ली है। हाथी की रूप-रचना स्वयं ही कला पूर्ण है और दूसरे जब हम उसका उपयोग चित्रों में कलात्मक ढंग से करते है तो वह हमारे मुख्य आकर्षण का विषय बन जाता है। कमल का फूल भी रूप-रस गंध और गुण में अद्वितीय होता है। इसीलिये अपने आलंकारिक आलेखन (डिजाइन) के लिए इन चित्रकारों ने हाथी और कमल को ही अपनाया और अपनी कल्पना और उद्भावना से उन्होंने एक से एक अनमोल आलेखनों से कला-मंडप को अलंकृत किया है। भारतीय चित्रकला में बुद्ध की भांति ये हाथी भी अमर हो गये और तभी से भारत की अन्य चित्रशैलियों में हाथी चित्रण की परम्परा चल पड़ी।

इसके बाद जैन चित्रशैली में हाथी आलेखन हमें अपने सरलतम रूप में प्राप्त होता है। यहा भी हाथी अकनो में वही धार्मिक भावना लहरा रही है। देवी-देवताओ की सवारी में इन हाथियो का उपयोग किया गया है अलकारिता की प्रधानता होते हुए भी चित्र में सवत्र सादगी है। जैन चित्रो की बन्दीदार मज्जा अपना सरल सहज आकर्षण रखती है। हाथिया के मूट और पीठासन की वस्त्र मज्जा और देवी-देवताओ के वस्त्र अलकरण और उनके आभूषणो की रचना में उन चित्रकारो की मौलिक कल्पना भरी हुई है। यहा भी हाथियो से करुणा और दया का ही भाव टपक रहा है।



झूमते हाथी काशी शैली

मध्यकालीन चित्रकला के क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ हाथी—आलेखनो में हम विषय और वस्तु दोनो ही दृष्टियो से नवीनता पाते है। मुसलमानो के आक्रमण के बाद हमारे जीवन में एक नया मोड आता है और हम यहा पर हाथी की सामाजिक उपयोगिता को अपनी आवश्यकतानुसार स्वीकार करने को बाध्य हो जाते है। अत इस काल मे हाथियो का चित्रण हमारे सामने दो मुख्य रूपो में उपस्थित होता है। हमारे धार्मिक कृत्यो और उत्सवो में हाथी को पहिले से ही उच्चासन प्राप्त था। तत्कालीन समाज ने हाथी के बल और बुद्धि दोनो का समान रूप मे स्वागत किया और उसे पूर्ण उपयोगी समझ कर अपने नित्य जीवन में जुलूस उत्सवो, मगल कृत्यो व्याह, लडाई, आखेट आदि में बराबर काम लेने लगा। फलस्वरूप हाथी भारतीय कला का एक अभिन्न अग बन गया। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, बूदी, आदि चित्र शैलियो में हाथी आलेखनो की भरमार हो गयी। इन स्थानो में हाथियो के जोरदार और जानदार रेखाकन दीवाल और कागज दोनो पर बडी कुशलता से अकित किये गये है। रग-विधान अपारदर्शी (टेम्परा) पद्धति से किया गया है। रेखाओं में गति के साथ बल और लोच भी पहिले से अधिक मात्रा में दिखाया गया

है। हाथियों का चित्रण जहा उत्सव-समारोह के सिलसिले में हुआ है वहां, अलंकारिता को प्रमुखता प्राप्त है और आखेट-लड़ाई वाले चित्रों में स्वाभाविकता को प्रधानता दी गयी है।

हाथी चित्रण की यह परम्परा राजस्थानी चित्रशैली में एक नयी ज्योति लेकर प्रकट होती है। चित्रकारों को हाथियों की प्रकृति का गहरा अध्ययन है और वे उनके प्रत्येक हरकतों और खूबियों से अच्छी तरह परिचित जान पड़ते है। १८ वी शताब्दी की 'बसौली' शैली की एक हस्तिक्रीड़ा देखने योग्य है। चित्रकार द्वारा अंकित रेखाओं पर उसका पूरा अधिकार देखने को मिला है। इन लचीली और प्रवाहपूर्ण रेखाओं से भावाभिव्यक्ति इतनी स्पष्ट है कि उनसे हाथियों का चिग्घाड़ ध्वनित हो रहा है। उनकी केलिक्रीड़ा की मुद्राएं तो मन मुग्ध कर लेती है। यह रेखांकन (ड्राइंग) अपनी सजीवता और गतिमयता से अपने में पूर्ण है। इस शैली के रेखा-रंग संयुक्त हाथी-आलेखनों से वह भावव्यंजना और रस निष्पत्ति नहीं हो पाती है, जो इन प्रवाहपूर्ण कोमल रसांकनों में हमें देखने को मिलती है।

राजस्थानी शैली में हाथियों के आलंकारिक आलेखन अपनी अलग ही छाप लिये हुए प्रकट होते है। इन लचीली रेखाओं में बल और वेग को दर्शाने मे लड़ाई आखेट संबंधी हाथी आलेखन बहुत मिलते है। इस प्रकार के आलेखनों में चित्र-संयोजन (कम्पोजिशन) बड़े कौशल से किया गया है। उन्हे देखने से ऐसा लगता है कि यह सब दृश्य प्रत्यक्ष ही घटित हो रहा है। इस शैली मे कल्पना परिपूर्ण एक विशुद्ध आलंकारिक हाथी का चित्र दर्शनीय है। कृष्ण राधा के साथ एक मतवाले हाथी पर अंकुश से उसके संवेग को नियंत्रित करते हुए चित्रित किये गये है। इस सम्पूर्ण चित्र मे कृष्ण की माया का विशद एवं मार्मिक अकन प्रस्तुत किया गया है। चित्रकार की अपूर्व कल्पना और उसकी नवीन उद्भावना से यह हाथी चित्र अवश्य ही अनूठा कहा जायेगा।

'मुगल-मिनीयेचर' में हाथियों के एक से एक दिलचस्प हाथीचित्र हमें देखने को मिलते है। कही सजी-सजाई हाथियो पर शेर के लिये बादशाहों की सवारियां, कही शिकार में शेर, चीते भालुओं आदि से हाथियों की भिड़न्त, कही लड़ाई में मतवाले हाथियों का चिग्घाड़ कर जूझना तो कही नवरोज के मेले में वेल-बूटे से संवारी हुई हाथियाँ लम्बे लम्बे झूल और बड़े बड़े हौदों से दिल को दहला रही है। ऐयाशी और लड़ाई ही उनकी जिन्दगी के दो मशहूर पहलू है और इसमें हाथियों से उन्हे बहुत सहायता मिलती है। इस कला में हाथियों के शौकिया-लड़ाई के भी चित्र देखने को मिलते है। इन सभी चित्रों मे सजीवता खूब भरी हुई है। अन्य चित्र शैलियों से ये चित्र अलग इसलिए है कि इन चित्रों में छाया-प्रकाश और 'दृष्टि-क्रम' का पूरा पालन किया गया है। मुगल 'तरहो' और 'महीनकारी' से हाथियों में जान और रौनक आ गयी है। इस शैली में वास्तविकता और अलंकारता को समान स्थान प्राप्त है। इन चित्रों मे हाथियों की चंचलता, एव आक्रमणकारी मुद्राओं तथा रंग-रेखाओं से परिस्थिति और वातावरण खिल उठा है। एक सामान्य दर्शक भी इन हाथी चित्रों में उनकी, खूबियों और हरकतों को ठीक ठीक देख पाता है।

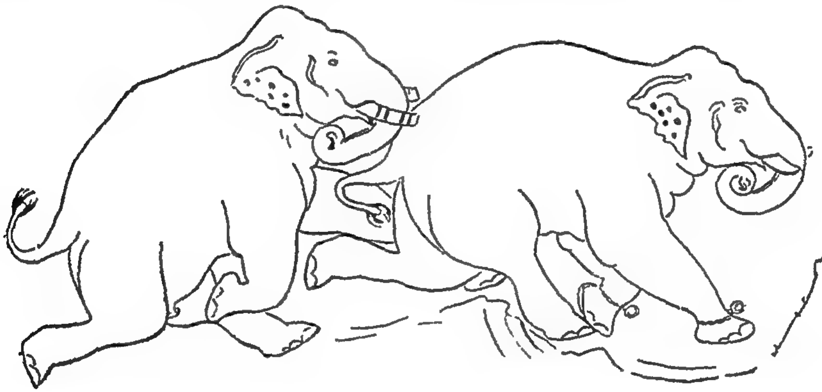
अब हम पहाड़ी शैली के हाथी चित्रों पर विचार करेंगे। इस काल में यथार्थ और आदर्श के सम्मिश्रण से एक मध्यवर्ती चित्रशैली का जन्म होता है जिसे हम अभिव्यंजनात्मक शैली कह

सकते हैं। इस शैली की सबसे बडी विशेषता होती है कि भाव जितनी सरलता से इसमे व्यक्त होते हैं उतनी यथार्थवादी शैली मे नहीं हो पाते। यह शैली फूल जैसी कोमल सुकुमारियो मे लेकर हाथी जैसे पराक्रमी पशुओं का अकन समान रूप से कर सकती हैं। इस शैली की दूसरी विशेषता यह है कि आलेख्य-वस्तु के मर्यादित स्वरूप ही सामने लाये जाते हैं। इस शैली में एक हाथी, प्रेमी-प्रेमिका के स्वर्ग-सोपान के रूप में चित्रित किया गया है। हाथी अचल पर्वत समान शान्तिपूर्वक खडा है। उसका महावत प्रेयसी को दासी के सहारे अटारी मे उतार रहा है। महावत और प्रेयसी के मिलन की उत्सुकता तथा महावत के आखो में चिन्ता और दिल में शका का स्वाभाविक अकन दर्शनीय है। हाथी अपनी अधखुली आखो से सामने वाले महावत की चेष्टाओं और हरकतो से सारी परिस्थिति को समझ रहा है। हाथी की भावपूर्ण मुद्राओं के चित्रण में चित्रकार ने सराहनीय प्रयत्न किया है। इस शैली के अन्य हाथी चित्रो में भी हमें उनके बल-बुद्धि का ऐसा ही हृदयहारी चित्रण सर्वत्र प्राप्त होता है।

आधुनिक भारतीय चित्रकला में हाथी आलेखन की परम्परा एक प्रकार से लुप्त होती जा रही है। आज के विज्ञान ने दुनिया का नक्शा ही बदल दिया है। जब उसने बडे-बडे पहाडो को उखाड फेंका तो भला बिचारे उन हाथियो का बिसात ही क्या? जिस धार्मिक भावना से प्रेरित होकर हम उसे पूजते थे वह विश्वास भी उठ गया और न तो उसके बल बुद्धि की आज हमें उपयोगिता ही जान पडती है। आज समस्त साहित्य और कलाओं पर विज्ञान छा गया है। हमारी मान्यताओं और आस्थाओ पर उसका एकाधिकार हो गया है। उससे प्रभावित हुए बिना कौन बच गया है आज यह कहना अत्यन्त कठिन है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि आये दिन उसकी प्रगतियो से आख मूद कर कोई राष्ट्र अपना हित नही कर सकता। विज्ञान की यह प्रगति मानवमात्र की प्रगति है। इस पर किसी को एतराज नही हो सकता। हा, आपत्ति तो वहा होती है जहा मानव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को तिलाजलि देकर उसका मुहताज हो जाता है। वह अपनी प्राचीन सभ्यता सस्कृति साहित्य कला आदि से एकदम सबध विच्छेद कर तीव्र गति से आगे बढना चाहता है। आज उसे प्रत्येक कार्य में वैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्षित हो गया है। परन्तु यहा के लोक जीवन में अभी विज्ञान का प्रवेश नही के बराबर ही हो पाया है। अत कला में परम्परागत चित्रण ऐसी ही जगहो में प्राप्त होते हे जहा की सस्कृति आज भी अपने महत्त्व को बनाये हुए है।

भारत के लोक जीवन में बडे उत्साह और चाव के साथ लोक कलाकार कला की बाग-डोर सम्हाले कला का काय कर रहे हैं। वहा की कला आज भी अपने सरल स्वाभाविक रूप में पनपती नजर आ रही है। काठ के बने बनारसी खिलौने में परम्परागत वृत्ति की स्पष्ट झलक आज भी वतमान है। हाथी घोडे आदि खिलौनो की भरमार है। खिलौनो की बडी छोटी प्रत्येक दुकानो पर हाथियो की साज सज्जा ही मुख्य रूप से हमें आकर्षित करती है। वैसे यहा के कुम्हारो में भी हाथियो के प्रति अगाध प्रेम है। मिट्टी के खिलौनो में हाथी को एक प्रमुख स्थान मिलने के बावजूद भी यहा के दीवाल कला पर भी इनका अच्छा प्रदर्शन देखने को मिलता है। मागल्कि अवसरो पर तो विशेष रूप से हाथी घोडे आदि रचाने की प्रथा यहा के प्रत्येक घरो में है। वाराणसी

उन स्वनामधन्य नगरों में से एक है, जो अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये सतत प्रयत्नशील है। यहां से प्रस्फुटित काशी चित्रशैली इसका प्रमाण है? यद्यपि यह नगर विज्ञान के प्रसार और प्रचार से खाली नही है तथापि सांस्कृतिक सूर्य से भी यह उतना ही आलोकित है। काशी चित्रशैली परम्परागत विभूतियों से विभूषित एक आधुनिकतम प्रगतिशील चित्रशैली है। यह अपनी लोकानुभूति एवं समवेदनशीलता के लिये भारतीय चित्रशैलियों में एक विशिष्ट स्थान रखती है। मानव प्राणी जैसा पशुपक्षियों के प्रति भी इस शैली के कलाकार जागरूक है। इस शैली में तो हाथियों के पर्याप्त कुशल अंकन देखने को मिलते हैं। इन कलाकारों ने हाथियों के कलात्मक स्वरूप से मुग्ध होकर अनेक स्थलों पर विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्हें चित्रित किया है। इस शैली के बने चित्रो में अकसर मकान या दरवाजे की साज-सज्जा के लिये डिजाइन के रूप में हाथियों के अंकित चित्र मिलते है। अथवा चित्रित पात्रों के घड़े बर्तनों पर रचे आलेखनों (डिजाइन) में भी इनका चित्र प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यहां स्वतंत्ररूप से भी हाथियों के प्रभावोत्पादक चित्र बनाये गये है, जिसमे उनके स्वभाव की मस्ती को सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। इस शैली का 'झूमते हाथी' चित्र इसी भाव की अभिव्यक्ति करा रहा है।



खेलते हुए दो हाथी —राजस्थानी शैली

वास्तव में हाथी एक पूर्ण कलात्मक प्राणी है। उसके दिव्य कलात्मक स्वरूप से मानव ने सुरुचि और सुबुद्धि प्राप्त की और उसके समुन्नत भव्याकृति से उसने साहस और शक्ति का संचयन किया। हाथी के घुमावदार एवं प्रवाहपूर्ण रेखाओं के अभ्यास से ही यहां के चित्रकारों ने अपनी तूलिका में लोच, गति और बल प्राप्त किया है। हाथियों के लचीले रेखांकन के अभ्यास के कारण ही चित्रकारों के हाथ मज पाये है। यही कारण है कि भारत की प्रत्येक चित्र शैलियों में हाथी आलेखनों की भरमार है। वस्तुतः हाथी आलेखनों ने भारतीय कलाओं को समृद्धशाली बनाया है। एक समय था जब हाथियों का बाजार भाव था, "सड़लो हाथी तो नौ लाखी" परन्तु आज के चकाचौंध करनेवाले सस्ते वैज्ञानिक 'बल्वों' के सामने गजमुक्ता की रोशनी और कीमत ही क्या है?

श्री कुमारशील

आधुनिक चित्र-कला का महत्त्व

आधुनिकवाद ही आधुनिक कला की नीव है। प्रतीकवाद, विववाद, तथ्यातिरेकवाद = "वास्तविकता की मान्य सीमा के बाहर मे कला में वह सामग्री लायी जाय जिसका अबतक प्रवेश न हुआ हो",[1] अभिव्यजनावाद, घनवाद = जिसके प्रवर्त्तक पिकासो है इसके अनुसार किसी एक वस्तु के विभिन्न पक्ष ऐसे दृष्टिकोण में प्रस्तुत किये जाय जिनमें वे एक ही कृति में मनमाने ढग से सघटित ह।",[2] तथा इम्प्रेशिनिज्म आदि। वास्तव में विना इन वादो का विस्तृत रूप से अध्ययन किये कोई भी व्यक्ति आधुनिक कला का आनन्द नही पा सकता। यही कारण है कि साधारणजन इसे ऊटपटाग और निरथक कृति कहते है, काशी के कुछ शास्त्रीय साहित्यिक वर्ग के नये साहित्यिको ने इसे "भकाऊ कला" की भी सज्ञा दे दी है।

आधुनिक कला के महत्व को दृष्टि में रखने पर इसकी परख के दो दृष्टिकोण हमारे सामने आ जाते हैं = १ राष्ट्रीयता को ध्यान में रखकर, तथा २ शुद्ध कला को ध्यान में रखकर। किन्तु जब भी हम राष्ट्रीयता को ध्यान में रखकर इस प्रश्न पर विचार करेंगे हमारे सामने इसका विदेशीपन आयेगा और प्रत्येक विदेशी वस्तु जिसने हमारी राष्ट्रीय निधि, चाहे वह कला हो, साहित्य हो, राजनीति हो, धम हो, पर प्रभाव डाला हो, उसे अव्यवस्थित किया हो, उसका हमारे सम्मुख कुछ भी महत्व न होगा। विशेप रूप से आज की स्थिति में जबकि नव निर्मित देश के ऊपर विदेशी कला हावी हो और देश के अधिकाश कलाकार आखें मूदकर उस ओर बढे चल जा रहे हो।

हम इसके महत्त्व का मूल्याकन दोनो ही दृष्टियो का समन्वय करके उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे। यद्यपि यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह बात नही कि प्राचीन भारतीय कला में वे तत्त्व नही थे और इस आधुनिक कला ने कोई एक बहुत बडी वस्तु हमारे सम्मुख ला रखी है, जिसका हमारे लिये महत्त्व है। फिर भी कुछ दृष्टियो से हमें इसका महत्व स्वीकार करना ही पडता है।

यह निश्चित तथ्य है कि आधुनिक कला का जन्म सघर्ष और प्रतिशोध की भावना के साथ ही हुआ है और इसके कारण रहे हैं, १ कलाकार को उचित सम्मान न मिलना, २ जन

---

१ समीक्षा शास्त्र आचार्य प० सीताराम चतुर्वेदी।

२ वही।

साधारण द्वारा उचित मूल्यांकन के प्रति उदासीनता, ३. आज के सुशिक्षित समाज में अधिकांश कम शिक्षा प्राप्त कलाकारों की आत्महीनता की भावना, आदि। साथ ही शाश्वत सौन्दर्य पा सकने की साधना और तपस्या के प्रति उदासीनता, आधुनिक समाज की व्यस्तता और जनता में कुतूहल उत्पन्न कर ध्यान केन्द्रित करने की भावना। आधुनिक कला का महत्त्व कला के विभिन्न पक्षों में नयी दिशा देने के कारण माना जा सकता है। आगे हम उन्हीं का वर्णन करेंगे।

रंगों के क्षेत्र में आधुनिक कला ने मनोविज्ञान से भी सहायता ली है। यह सभी जानते हैं कि रंगों का प्रभाव प्रत्येक प्राणी पर पड़ता है।[1] इसके पूर्व साधारणतः प्राप्त चित्रों में रंगों का प्रयोग कलाकार की पसंद के अनुसार ही होता था, उसमें व्यक्त वातावरण को रंगों द्वारा चित्रित करने का प्रयास नही रहता था और न इस दिशा में कोई वर्णन ही था। किन्तु आधुनिक कलाकार जो कुछ चित्रित करता है वह यह प्रयत्न करता है कि रंगों द्वारा वह ऐसी सृष्टि कर दे कि भाव मुखर उठे, रेखाओं और आकृतियों का प्रयोग चाहे ठीक हो या न हो। यही कारण है कि रेखाओं का आधुनिक कला मे कोई महत्त्व नही रह गया है, जब कि भारत की कला शैलियों में रेखाओ पर अत्यधिक बल दिया गया था। यहां तक कि बीसवी सदी में प्रचलित बंगाल शैली की नींव भी रेखाओं पर ही है। यदि इससे रेखोऍं छीन ली जायं तो उनकी कला का कोई मूल्य न रह जायगा। वास्तव में अंग्रेजी के "पेंटिग" शब्द से रंगों का प्रयोग ही ध्वनित होता है।

इसी क्रम में यह भी कह दूँ कि आधुनिक कला अपारदर्शक (टैम्परा) रंग शैली में ही प्रयुक्त हुई है, हालांकि भारत के लिये यह कोई नवीन वस्तु नही है, क्योंकि यहां कभी भी पारदर्शक (वाश) शैली का प्रचलन नही रहा। किन्तु बंगाल शैली ने न जाने क्या समझ के इस विदेशी शैली का प्रचलन यहां प्रारंभ किया था। पारदर्शक शैली में रंगों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि उसका मौलिक प्रभाव धोकर नष्ट कर दिया जाता है। अस्तु, आज की आधुनिक कला ने रंगों का अध्ययन करने उनका मनोवैज्ञानिक रूप से प्रयोग उपस्थित किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मूर्तिकला और चित्रकला में आजतक सबसे बड़ा भेद यही माना जाता रहा कि मूर्तिकला शरीर की मोटाई और गोलाई (डाइमेंन्सन) का भी चित्रण कर सकती है जब कि चित्रकला में चिपटे रूप ही उपस्थित किये जा सकते हैं। आकृति चाहे एकचश्म बने, दो चश्म या तीनचश्म, किन्तु उससे किसी भी प्रकार आकृतियों की मोटाई और गोलाई का ज्ञान नहीं हो सकता। यह कभी चित्रकला के लिये वास्तव में खेदपूर्ण रही। यही कारण था कि आधुनिक कला ने इस दिशा में भी प्रयास किया। इसके फलस्वरूप हमारे सम्मुख घन आकृतियां आई, मोटाई और गोलाई लाने का प्रयत्न किया गया। यह प्रयास सचमुच महत्त्वपूर्ण रहा क्योंकि वह कमी जो मूर्तिकला की अपेक्षा इसमें थी वह इस प्रयास से समाप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त छाया का बहुल प्रयोग

---

१. "अजन्ता" मासिक, नवंबर १९५४, "रंगों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव"।

भी इस दिशा में उल्लेखनीय हैं, यद्यपि यह कला को कैमरा कला में अधिक करीब ले जाती है। आधुनिक कला का यह प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।

आजतक चित्रकला में वर्ण्य विषय का यही अर्थ माना जाता रहा है कि वह दीख पडनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष आदि अन्य प्राकृतिक वस्तुओ के रूपो का ही चित्रण है । यह होना चाहिये, अभी भी लोग यही समझते हैं, और यही कारण है कि जब उनके सम्मुख आधुनिक घनवादी तथ्यातिरेकवादी चित्र आते हैं तो वे मौन हो जाते हैं या उसे ऊटपटाग की सज्ञा देते हैं। घनवाद के अनुसार "कला चित्रकार के आत्मा की अभिव्यक्ति है, और साथ ही वे प्रकृति के रूप और अलकरण से इनकार करते हैं।" या "वास्तविकता की मान्य सीमा के बाहर से वह सामग्री लाई जाय जिसका अबतक प्रवेश न हुआ हो।" आधुनिक कला का यह प्रयोग कला के और भावों के क्षेत्र में नई जागृति उपस्थित करता है। प्रकृति की नकल मात्र करना ही निर्माण नही है, निर्माण तो तभी हो सकता है जब नये नये रूपो का निर्माण किया जाय, ऐसी आकृतियो की कल्पना की जाय, जिसका ससार में अस्तित्व ही न हो। इसी के द्वारा कलाकार के कल्पना की उडान का माप और उसकी रचनात्मक शक्ति का ज्ञान होता है।

इससे कोई इनकार नही कर सकता कि नये रूपो का निर्माण ठीक नही अथवा इनका महत्व नही है। किन्तु नये रूपो का यह निर्माण समस्या भी है। ससार की सभी स्थिति वस्तुओ का मानवमात्र ने अपनी भाषा के अनुसार नामकरण किया था और इसी से उन वस्तुओ की पहचान की जाती रही है। इन आधुनिक रूपो का निर्माता अधिकाश कलाकार इन कृतियो पर शीर्षक भी नहीं देते, क्योकि उन्होने क्या रूप बनाया इसे वे स्वय भी नही जानते और दूसरे वे रूप के ही पडित होते हैं भाषा के नही। इसका फल यह होता है कि कृतियो का मूल्य उन्ही के लिये रह जाता है या कुछ ऐसे पारखियो के लिये जो केवल इसीलिए ही प्रशसा करते है कि कलाकार ने नया रूप दिया है। मेरा विचार तो यह है कि जबतक इन नये रूपो का नामकरण नही हो जाता, उसका कोष नही बन जाता तबतक उनका मूल्य नही। हमारे पूर्वजो ने विभिन्न प्राणियो और वस्तुओं तथा उनकी विभिन्न जातियो का भिन्न-भिन्न नामकरण किया था, यह नामकरण की प्रक्रिया, सहस्रो वर्ष तक चलती रही। तभी आज हम इतने समर्थ है कि इन्हें जान-पहचान सकें, फिर इन नये रूपो को कोई तत्काल कैसे समझ सकता है। उसे क्या कहा जाय ? यह समस्या हमारे ही सामने नही है वरन् कलाकारो के सामने भी है। इसलिए इस आधुनिक कला का महत्व होते हुए भी तात्कालिक महत्त्व प्राप्त नही हो पाता।

आजतक चित्रो में हमें किसी घटना का ही चित्रण दीखता रहा या रूपो के आगिक चित्रण से ही हमें यह ज्ञात होता था कि पात्र क्या कर रहा है। आधुनिक कला को केवल इतने से ही सतोष न हुआ और उसने यह प्रयास किया कि चित्रित पात्र की मनस्थिति और मनोभावो का भी चित्रण किया जाय, इस प्रकार बाह्य अगो का चित्रण ही नही मन में स्थित भावो का चित्रण भी चित्रकारो ने प्रारभ कर दिया। यही नही कलाकार अपनी भावाभिव्यक्ति उस रूप में करने लगा जिस रूप में या जिस कोण में वह किसी वस्तु को देखता था। प्रकृति में फैली विभिन्न आकृतियो

पर सभी व्यक्ति ध्यान नहीं देते, किन्तु कलाकार मेघ, पर्वत, और वृक्ष तक ही नही अन्य वस्तुओं में भी एक विशेष कोंण से एक आकृति पाता है और वह उस आकृति को जैसा वह स्वयं देखता है चित्रित कर देता है। जैसे-जैसे कला समूहगत से व्यक्तिगत होती गई वैसे-वैसे घटना चित्रण से भाव चित्रण होने लगा। आज पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी कला है। इससे भी आगे बढ़कर अमरीकी चित्रकार ल्योनैल अपनी "ब्ल्यू मैरिन" नामक कृति में आता है। जिसके विषय में वह स्वयं कहता है "मैं वस्तु को चित्रित नहीं करता, वरन् वस्तु के चारों ओर के स्थान का। वातावरण में चलती हुई एक नाव बनाती है चाप और गति अपने चारों ओर की वायु में, और इसी को मैं देखता और चित्रित करता हूं।"[1] यह पहले जर्मनी के अभिव्यजंनावादी समूह में था।

आज का मानव इतना व्यस्त है कि वह कलाकार द्वारा प्रस्तुत किसी भी वस्तु को पूर्ण रूप से बारीकी के साथ परख सके। इसी से कलाकार ने रूपों को सरल या उनके प्रतीक अथवा विंब मात्र देने की चेष्टा की। केवल प्रतीक या बिब से वह संपूर्ण वर्णन केन्द्रित करके उपस्थित करने लगा। प्रतीक का प्रयोग हम प्राचीन भारतीय कला में भी देखते हैं। पूर्ववर्त्ती कलाओं में हम गौतम बुद्ध की मूर्ति के अभाव में स्तूप, पादुका, धर्मचक्र आदि प्रतीकों का प्रयोग पाते है।'

ऊपर हमने आधुनिक कला द्वारा स्थापित उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया जिनके कारण आज आधुनिक कला का महत्त्व है। वास्तव में आज के दर्शक के पास इतना अल्प समय रहता कि वह कलाकृति का पूर्ण आनन्द नही ले पाता और इसलिए उसे समष्टि रूप में जो कुछ भी भाव हों वे सम्मुख मिल ,जाते हैं।

किन्तु यह बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि आधुनिक कला, कला कम और विज्ञान अधिक है। साथ ही आधुनिक कला की सबसे बड़ी कमी और कमजोरी यह है कि सौन्दर्य भाव का अभाव रहता है। साथ ही प्रेम और उल्लास जो मानव जीवन के प्रिय भाव हैं उनका चित्रण आधुनिक कला में हो ही नहीं सकता। इसका प्रमाण यही है कि किसी भी आधुनिक चित्रकार का इन भावों का एक भी चित्र नही है जव कि युद्ध, हिंसा, वर्बरता, कठोरता, घृणा आदि अनेक भावों का बहुतायत से चित्रण हुआ है। इस प्रकार यह पूर्णरूप से एकांगी कला है। मानव के सूक्ष्म और उत्साहवर्धक या पवित्र भावों का जिस कला में स्थान नहीं वह कला कम से कम भारतीय भावों के साथ मेल नहीं खा सकती।

इतना होने पर भी आधुनिक कला के महत्त्वपूर्ण प्रयोगों से इनकार नही किया जा सकता और इनके अधिकतर नवीन प्रयोग हमारे लिये उत्साहवर्धक और नयी दिशा की ओर संकेत करते हैं। हम इनका वही तक प्रयोग कर सकते है जहां तक कि हमारी कला में नयी वस्तु और सुस्पष्ट होकर आ सके और भारतीय कला की वैयक्तिकता को नष्ट न करें। यदि वे ऐसा करतीं हैं तो भारत की कला के लिये उनका मूल्य नहीं, क्योंकि भारतीय कला में इनमें से कई गुण पहले से ही वर्तमान थे।

---

१. अमेरिकन पेंटिंग केटलाग।

श्री रामचन्द्र शुक्ल

आधुनिक चित्र-कला का मूलाधार

मनुष्य प्रकृति का ही एक अग है और प्रकृति में ही रहता है। प्रकृति से ही मनुष्य सीखता है, उसी से उसे अपनी सारी आवश्यक वस्तुए प्राप्त होती हैं, उसी में उसकी रुचि तथा अरुचि दोनो ही प्राप्त होती हैं। प्रकृति के पक्षी जगत में हस, कोयल तथा तोता उसे पसन्द है, उल्लू, गीध तथा कौवा उसे नही भाते। इसी प्रकार मनुष्य ने प्रकृति से ही अपनी रुचि की सारी बातें प्राप्त की है तथा उसी से प्रेरणा लेता है। प्रकृति से ही उसने सौन्दर्य भी प्राप्त किया है और कुरूपता भी। यह सौन्दर्य और कुरुपता की परिभाषा प्रकृति में है या नहीं पर प्रकृति के ही अग मनुष्य ने



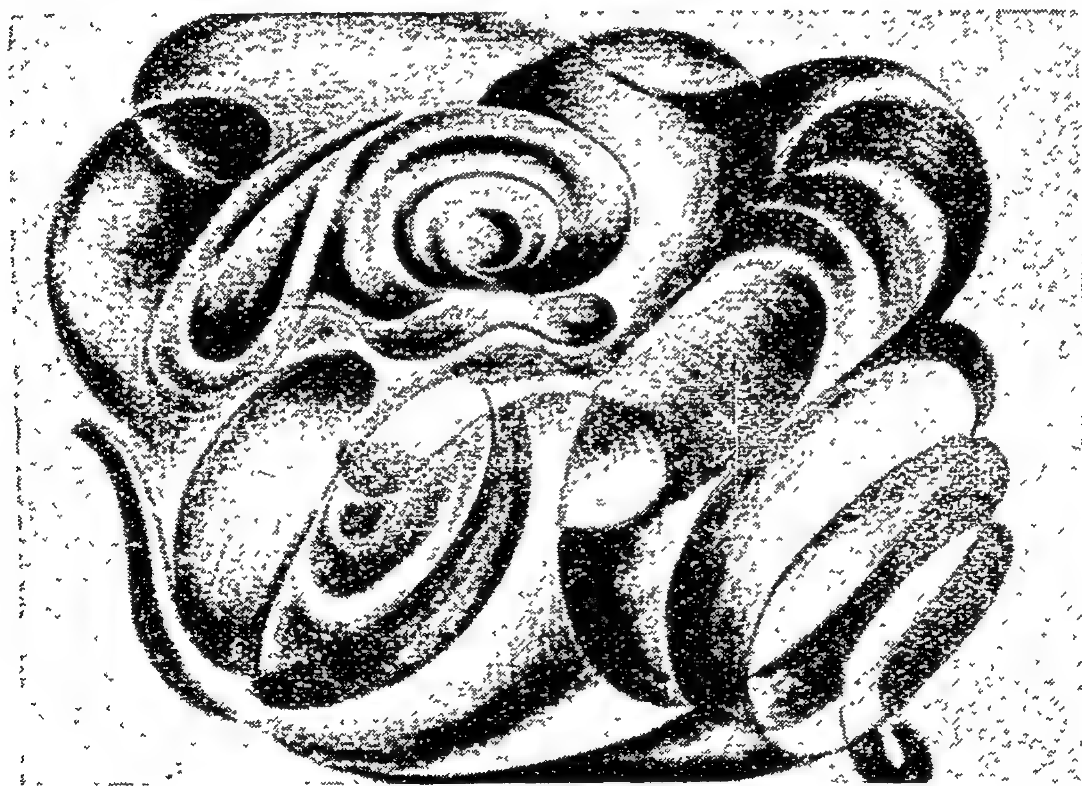
एक स्वप्न

अपनी बुद्धि तथा रुचि के आधार पर किसी को सुन्दर तथा किसी को कुरूप मान लिया है और इस प्रकार की परम्पराऍं रुढि बन कर जडता भी प्राप्त कर चुकी हैं। जो भी हो, यह तो सत्य है कि

प्रकृति का एक-एक कण अभूतपूर्व सत्य के सिद्धान्तों पर चालित है और प्रगतिशील है। कलाकार यदि रचना करना चाहता है तो उसे प्रकृति को ही अपना गुरु मानना होगा और उसके निर्माण के सिद्धान्त समझने होंगे। प्रकृति महान है और उसकी महानता का जो आधार है वही कला की रचना का भी आधार होगा और कला भी तभी महान हो सकती है।

सौन्दर्यानुभूति

प्रकृति में हमें सौन्दर्य कहां और क्यों दृष्टिगोचर होता है ? कौवा क्यों कुरूप है और मयूर सुन्दर ? कौवा साधारणतया हमारे काम नहीं आता बल्कि हमें नुकसान ही पहुंचाता है। प्रत्येक जगह कौवा नजर आता है और रोज नजर आता है। देखते-देखते तबियत ऊब जाती है। कौवा कर्कश स्वर में कांव-कांव करता है। जूठा-मीठा मल-मूत्र, सड़ी-गली गन्दी चीजें खाता है। देखने



एक अनुभूति

में काला-काला बिलकुल अरुचिपूर्ण रंग। शरीर की बनावट भोंडी सी छोटा सा सर, गोल-गोल आंखे, लम्बी सी पैनी चोंच, टेड़े मेढ़े खुर, कोई साज न सज्जा। और मयूर ? कहां राजा भोज और कहां गगू तैल। ! मयूर ! छबीले कृष्ण का प्रिय पक्षी जिसका पंख वे अपने मुकुट में धारण करते थे।—मयूर ! जो मनुष्य के दुश्मन सांप को खोज-खोज कर खत्म करता है। सांवन की घटाओं में रंगीले पंख फैलाकर ठुमुक ठुमुक कर नाचता है। नीलम सी रंगी लम्बी लोचदार गर्दन, सर के ऊपर फूलों का कलंगी, चमचमाते पंखों का दुशाला और अर्सफियों से बिखरे मुलायम हरे भरे पंख। आनन्द से विभोर होकर घने जंगल में जब वह पियू-पियू कर चीख उठता है तो पथिकों को

अपनी प्रिया याद आ जाती है। कितना रस है मयूर में और कितनी उदासी, एव मनुहसियत है कौवे के काव-काव में !

तो आइए कला की दृष्टि से विचार करें कि मयूर प्रकृति की एक अनुपम कृति क्यो है। कला में रूप, रग, सज्जा, बनावट ही प्रधान अग होते हैं। मयूर का रूप, रग, सज्जा तथा बनावट देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी चतुर चितेरे ने बैठकर एक-एक रग तूलिका से सभाल-सभाल कर लगाया हो। रग-विधान का एक भी सिद्धान्त ऐसा नही जो मयूर के रग-चयन में प्रयुक्त न हुआ हो। गाढे चमकदार नीले रग के साथ हरे सुनहले पख, पीली बूटियो के बीच सुनहली आभा सचमुच रग विधान का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। रगा के सामजस्य की दृष्टि से भारतीय मयूर प्रकृति की एक अनुपम कृति है।

अब विचार कीजिए कि मयूर मे किन कारणो से हम सौन्दर्य का दर्शन कर पाते हैं। मयूर रग-बिरगा है, उसका आकार या गढन सुन्दर है। उसकी नाचने की प्रवृत्ति, उसकी स्वच्छन्दता, उसकी मस्ती, उसका पिया-पिया पुकारना, कृष्ण के मुकुट में शोभायमान होना, साप का दुश्मन होना, घटायें देखकर प्रसन्न होना, महाकवि कालिदास के मेघदूत में वर्णित होना इत्यादि के कारण उसके प्रति हमारी सौन्दर्यानुभूति सहज ही जागृत हो जाती है। जो बाते मनुष्य की प्रकृति में भी है और मयूर में भी उनके कारण सहज ही हमारी सहानुभति मयूर से हो जाती है।

कौवे में शायद कोई भी ऐसी बात नही मिलती जो मनुष्य की प्रकृति में हो, और यही कारण है वह हमें अच्छा नही लगता। मनुष्य को काला रग पसन्द नही, कर्कश आवाज पसन्द नही, गन्दी चीजें खाना पसन्द नही और इसलिये कौवे से हमारी सहानुभूति नही जागृत होती। कौवे हमें पसन्द नही। उसमें हमें सौन्दर्य नही दिखाई पडता।

इस प्रकार सौन्दर्य बोध के लिये निम्न बातें आवश्यक हो जाती है —

१ रूप, रग, आकार तथा सज्जा।
२ मनुष्य के स्वभाव से मेल खाती प्रवृत्ति।
३ मनुष्य के लिये उपयोगी हो।
४ पुराने सम्वन्ध तथा धारणायें (Associations)।

उपर्युक्त बातो में से किसी एक के होने से भी वस्तु हमें पसन्द आ सकती है, परन्तु पहली बात रूप, रग, आकार तथा सज्जा होना अति आवश्यक है। यह न होने से चीज पसन्द भले आवे पर उसमें सौन्दय है, यह कहना कठिन होगा, कोयल कू कू गाती है, पपीहा पी-पी करता है। कवियो ने इन्ही को अधिक महत्व भी दिया है अपनी रचनाओ में पर क्या देखने में ये दोनो मयूर से सुन्दर है ? नही। मयूर का रूप, रग, आकार तथा सज्जा कोयल और पपीहे को प्राप्त नही। इसलिये सौन्दर्य की दृष्टि मे मयूर इन दोनो से अधिक अच्छा है। इसलिये जिन वस्तुओ में रूप, रग, आकार तथा सज्जा नही उसमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर नही होता।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार के रूप, रग, आकार तथा सज्जा हमें अधिक पसन्द आते हैं ?

हंस में रंग नहीं होता या कहिये वह धवल वर्ण का होता है। सज्जा भी कोई खास नही होती। तो भी हंस में सौन्दर्य है और कुछ लोगों को उसमें मयूर से अधिक सौन्दर्यानुभूति हो सकती है। ऐसा क्यों है ?

ऐसा भी हो सकता है कि कोई वस्तु हमें केवल रूप तथा आकार की दृष्टि से ही सौन्दर्य-पूर्ण लगे। उसमें रंग का महत्व उतना न हो। जैसे हंस।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु केवल रूप या आकार के कारण भी सौन्दर्यानुभूति प्रदान कर सकती है।

किन्तु सभी वस्तुओं के रूप तथा आकार हमें क्यों सौन्दर्यानुभूति प्रदान नहीं करते ? वगुला भी धवल होता है और हंस भी——तो हंस ही——क्यों अधिक सुन्दर है ?

रूप तथा आकार

इसका तात्पर्य यह हुआ कि रूप या आकार में भी विशेषता होनी चाहिये। जैसे रूप तथा आकार मनुष्य को सुन्दर लगते हैं ? धवल वस्तुओं को ही लिया जाय तो हमें हंस पसंद है, चम्पा का पुष्प पसन्द है, खरगोश भी पसन्द है और सभी में सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है। यह सभी सुन्दर हैं। अव यदि कहा जाय इनमें कौन अधिक सुन्दर है तो शायद कहना कठिन होगा। ऐसा प्रश्न भी असंगत लगेगा। परन्तु फिर भी क्या इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है ? यहां हम सम्वन्ध को यदि छोड़ दें और केवल दिखाई पड़नेवाले रूप तथा आकार ही पर विचार करें तो भी साधारणतया यह कहना कठिन हो जायगा कि कौन अधिक सुन्दर ह और क्यों। किसी को हंस पसन्द आयेगा, किसी को चम्पा का पुष्प और किसी को खरगोश। साधारणतया सभी सबको पसन्द आयेंगे पर सम्बन्ध (Association) के कारण हम बड़ी आसानी से इनमें से एक पसन्द कर लेंगे। लेकिन किसमें अधिक सौन्दर्य है यह निर्णय करना कठिन है। सच वात तो यह है कि इनमें से कोई भी कम या अधिक सुन्दर नही है। हंस, चम्पा, तथा खरगोश तीनों ही प्रकृति की अनुपम रचनायें हैं। तीनों में प्रकृति की अद्भुत रचना शक्ति का योग है तीनों में एक ही शक्ति कार्य करती है तो कोई अधिक सौन्दर्यपूर्ण कैसे हो सकता है ? हां मनुष्य उनमें अपनी पसन्द या रुचि के अनुसार चुनाव कर सकता है और किसी एक को सर्वश्रेष्ठ मान सकता ह। पर सत्य तो यही ह कि सभी सुन्दर हैं।

इसलिये कलाकार के सम्मुख यह प्रश्न नही है कि कौन वस्तु कम सुन्दर है और कौन अधिक बल्कि यह कि कोई वस्तु क्यों सुन्दर है। हंस-क्यों सुन्दर है, चम्पा की सुन्दरता का क्या रहस्य है तथा खरगोश की सुन्दरता का क्या आधार है अर्थात् प्रकृति का वह कौन सा आधार है जिस पर वह नाना प्रकार की अपूर्व सुन्दर वस्तुओं की रचना करती है और निरन्तर करती रहती है।

प्रकृति का आधार

कला या कलाकार से सौन्दर्य का उतना महत्वपूर्ण सम्वन्ध नहीं है जितना इस वात से

कि प्रकृति किन सिद्धान्तो या आधार पर पूर्णता प्राप्त करती है। क्योकि कला सज्ञा नही है बल्कि काय में पूर्णता प्राप्त करने का तरीका है, क्रिया है । तो कलाकार के लिए यही ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है और इसी को प्राप्त कर वह प्रकृति की भाति महान्, अनुपम तथा पूर्ण रचना कर सकता है और तभी उसकी कला महान कहला सकती है। यह ज्ञान कैसे प्राप्त हो?

१ प्रकृति निरीक्षण से।
२ प्रकृति के अनुसार चलने से।
३ प्रकृति के रहस्य पर मनन करने से
४ प्रकृति और अपने कार्यो मे एकता लाने से।

यदि हम यह मान लेते है कि प्रकृति की सभी रचनाओ मे पूणता है, सभी में प्रकृति की अद्‌भुत शक्ति है तो प्रकृति की किसी एक ही वस्तु को लेकर उसका पूण निरीक्षण करके तथा उसके आधार-भूत रचना-सिद्धान्तो को जानकर हमें उसकी शक्ति, उसकी रचना-शक्ति का रहस्य ज्ञात हो सकता है, जो उसकी सभी रचनाओ मे एक ही प्रकार से निहित है। हमें प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को नही जाचना है, केवल एक ही वस्तु को जाचकर, समझकर हम सत्य को प्राप्त कर सकते है। प्रकृति की प्रत्येक बडी से बडी या छोटी से छोटी वस्तु मे वही एक ही अद्‌भुत रचना-शक्ति या तरीका निहित है। बडी से बडी वस्तु या छोटी से छोटी वस्तु की कल्पना करना भी मनुष्य के लिये आसान नही। इसलिये किसी एक वस्तु को आधार माना जा सकता है—समझने के लिए, फिर भी यह कठिनाई उपस्थित ही रहती है कि कोई एक वस्तु भी खोजना कठिन है। यदि पेड लें तो उसमे पत्ते, डालिया, जडे तमाम वस्तुयें है तथा पेड में मिट्टी, पानी, अग्नि, इत्यादि तमाम अलग अलग चीजें हो सकती हैं जिनसे उसका निर्माण हुआ है। इसलिये प्रकृति की किसी वस्तु को आसानी से एक कहना भी कठिन है।

विज्ञान का आधार

आज विज्ञान ने हमें इस इकाई को समझने मे बडी दूर तक सफलता प्रदान कर दी है। अणु। ऐटम। सिद्धान्त इसी प्रकाश पर डालता है। और इसी इकाई तक पहुचने तथा उसके रूप, रग, आकार, सज्जा तथा सयोजन(कम्पोजिशन) को समझने में ही इतनी प्रगति कर सकी है। अणु को छोटी से छोटी इकाई मानते हुए भी वैज्ञानिक यह करते है कि अणु सबसे छोटा है पर उसके भी भाग है जो एक निश्चित सिद्धान्त पर नाचते है और एक दूसरे को खीचते तथा दूर करते रहते है। एक प्रकार का नृत्य अणु के हिस्सो में होता रहता है और इस नृत्य, खिचाव तथा विलगाव को यदि छेडा जाय या भग किया जाय तो प्रकृति के वातावरण में महान शक्ति के साथ विस्फोट होता है जिसे आटम शक्ति कहते है। कलाकार का कितना सम्बन्ध इस विस्फोटवाली शक्ति से है नही कहा जा सकता परन्तु अणु के अन्दर किस आधार पर नृत्य होता है यही ज्ञान प्राप्त

करना अधिक महत्व का है और इसी नृत्य की गति, संयोजन तथा डिजाइन के तरीके को समझ कर कलात्मक सत्य को भी प्राप्त किया जा सकता है।

मूल भूत सत्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति का आधार केवल बाहरी रूप, रंग, आकार तथा सज्जा ही नहीं है, बल्कि इन सभी का संयोजन जिस मूलभूत संयोजन-सिद्धान्त पर होता है वही अधिक महत्वपूर्ण है। इस मूल-संयोजन–सिद्धान्त को चाहे हम जानें या न जाने पर यही आधार है जिसपर पूर्ण रचना हो सकती है, सौन्दर्यानुभूति हो सकती है और इसी आधार पर ही वस्तुयें हमें सुन्दर भी लगती हैं। यह ज्ञान प्रकृति-निरीक्षण, चिन्तन, मनन तथा ज्ञान के आधार पर प्राप्त हो सकता है, पर जब यही आधार संसार के एक एक जर्रे का है, हमारे शरीर का भी है, तो अचेतन आधार पर भी मनुष्य इसी मूलाधार को साधना तथा अनुभूति के बल पर जान सकता है। मनुष्य जब इसी मूल-भूत सिद्धान्त पर स्वयं चालित है तो जाने अनजाने वह इसी आधार पर ही कार्य कर सकता है। बहुत से महान कलाकारों को चेतन तरीके से यह ज्ञान नही भी प्राप्त रहता पर वे कार्य करते करते स्नेह, साधना, तथा अनुभूति के बल पर इसी सत्य को प्राप्त कर लेते हैं और इसी आधार पर उनकी रचना निर्मित होकर महान कहलाती है। इसी मूलभूत संयोजन-सिद्धान्त पर सारा ब्रह्मांड, सारे नक्षत्र और इनका एक एक जर्रा निर्मित है। इसे ही हम ब्रह्म-ज्ञान कह सकते हैं, इसे ही हम नियति की चाल कह सकते हैं। इसे संसार-सृष्टि का मूल-भूत आधार कह सकते हैं। इसी के कारण प्रवृत्ति का निर्माण होता है, उसमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, सत्य, शिव, तथा, सुन्दर तीनों उसी के नाम है। यही मूलभूत सिद्धान्त का ज्ञान ही सारी सांसारिक विद्याओं, दर्शन, धर्म तथा विज्ञान का लक्ष्य ह और इसी को प्राप्त कर मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है, परमानन्द या मुक्ति लाभ हो सकता है। इस प्रकार आज सभी प्रकार के ज्ञान केन्द्रित होकर इसी मूलभूत सत्य तक पहुंचने का प्रयास कर रहे है यही होना उचित भी है।

सुन्दर और असुन्दर

संसार में अनेक तथा असंख्य वस्तुयें है और इतने विभिन्न रूप हैं कि साधारणतया उनके अन्दर का सार्वभौमिक आधार जल्दी दृष्टिगोचर नही हो पाता। यह केवल एकाग्र चित्त होने से ही प्राप्त होता है या जिन वस्तुओं पर मन शुरू से ही एकाग्रचित्त हो चुका रहता है, और उसी आधार पर सौन्दर्य या आनन्द प्राप्त हुआ रहता है, और धीरे धीरे इस प्रकार आनन्द लेने की आदत सी पड़ जाती है, वे ही वस्तुएं हमें आसानी से सुन्दर तथा आनन्ददायक दिखती हैं। क्योंकि सभी वस्तुओं पर हम एकाग्रचित्त नही हुये रहते और उनके बारे में कोई धारणा नही बनी होती, इसलिये सभी वस्तुएं अच्छी नही लगती, और कोई नई वस्तु देखने पर तो कठिन ही हो जाता है—उसका आनन्द लेना क्योंकि हमारा मस्तिष्क तमाम चीजों में उलझा रहता है, माया में फंसा रहता है, सच्चाई का बोध नहीं हो पाता। नई वस्तु देखकर अचम्भा होता ह,

कुतूहल होता है, अनजाने उसमें सुन्दरता भी नजर आती होगी पर चैतन्य उलझा हुआ मन नही जान पाता उसमें उसे सौन्दय प्राप्त हो रहा है कि नही, क्योंकि सार्वभौमिकता या एकता जहा आसानी से, एकाएक सहसा दृष्टिगोचर हो जाती है वही हमें आसानी से सौन्दर्य बोध हो पाता है। यह सार्वभौमिकता, तथा एकना अचेतन मन से भी हमें वस्तुओ में दिखाई पडती है और इसी आधार पर कभी कभी बिना उसे पहिचाने भी हमें चीजें सुन्दर लग जाती है। तब हम उससे प्रभावित होकर बिना इस सार्वभौमिकता या एकता के आधार को समझे ही उस वस्तु का सुन्दर कहते है और सहसा "अहा हा ! !" कह बैठते है।

एकता में अनेकता और अनेकता में एकता

कौन सी चीजो को देखकर हम आसानी से "अहा हा ! !" कहते है ? जब हम विशाल अनन्त नील आकाश पर एकाग्रचित्त होते है, जब विशाल अनन्त समुद्र, वृक्षो का समूह, जगल, रेगिस्तान, पहाड, हरियाली, सूर्य का प्रकाश, जन समुदाय तथा इसी प्रकार एक साथ, एक समय, एक स्थान पर इसी प्रकार एक बार में अनेक वस्तु देखते है या एक ही रग, एक ही रूप को अनन्त रूप में विस्तृत होते देखते है। निरन्तर एक गति से बहती नदी को,झरने को बहते देखकर हमें सौन्दय-बोध होता है। एकता नज़र आती है, अनन्त का बोध होता है। पहाडो को जब हम अनन्त रूप मे फैले हुए देखते है, पेडो को जगल मे जब हम अनन्त रूप से विस्तृत होते देखते है, समुद्र की जल राशि को जब हम अनन्त रूप से उमडते देखते है, सूय की लाल-लाल किरणो को समुद्र के किनारे जब हम अनन्त रूप से प्रकाशित होते देखते है, किसी लम्बे चौडे मैदान में जब घास की हरियाली को हम अनन्त रूप मे लहलहाते देखते है तो हमें एकता, सार्वभौमिकता, अनन्त के आधार पर सौन्दर्यानुभूति होती है। एक अनन्त विस्तृत घास के मैदान में जब हम एक ही प्रकार की घास की इकाई को अनेक होते देखकर फिर भी एक साथ अनन्त तक फैले देखते है सौन्दर्य लाभ करते है। अत जब-जब एक ही वस्तु को हम अनन्त रूप मे विस्तृत होते देखते है तो हमें सौन्दर्यानुभूति होती है।

चित्र-रचना का मूलाधार

समुद्र में हम एक ही रग के जल, एक ही तरह की लहरें सामान्य रूप से अनन्त तक देखते है। आकाश में एक ही प्रकार का खालीपन हम अनन्त तक देखते है। जगल में हम पेड ही पेड देखते है। रेगिस्तान में जब हम बालू ही बालू देखते है, आसमान में जब हम बादल ही बादल देखते है इसी प्रकार जब हम किसी जगह एक ही प्रकार की वस्तु को अनन्त रूप से विस्तृत होते देखते है तो सहज ही सौन्दर्यानुभूति होती है आनन्द प्राप्त होता। सादे शब्द में किसी वस्तु के अनन्त समूह को देखकर सौन्दर्यानुभूति होती है, यही गुण चित्रकार अपने चित्र में उत्पन्न कर सकता है।

चित्र में एकता का (यूनिटी) होना आवश्यक है। जैसे चित्र में एक ही मुख्य रग का विस्तार एक ही प्रकार की वस्तुओ, रूपो, आकारो का विस्तार एक ही प्रकार की रेखाओ का विस्तार, एक ही दिशा में सारी रेखाओ का चित्र में चलना इत्यादि में से किसी न किसी रूप में सारे चित्र में

एकता होनी आवश्यक है। जैसे क्यूबिज्म वाले चित्र में सभी वस्तु धन के रूप में ही चित्रित हो-कर एकता उत्पन्न करती है। चित्र की प्रत्येक वस्तु में जब एक ही प्रकार की लय, छन्द, गति, रहती है एक ही प्रकार के रूप कोने, एंन्गिल, या फार्म्स का प्रयोग होता है तो एकता उत्पन्न होती है। चित्र में विभिन्न वस्तुयें रहती हैं पर उनके रूप, रंग आकार में जब एकता होती है तो सहज ही ही सौन्दर्यानुभूति होती है। इसी प्रकार चित्र में भावों की एकता, रंगों की एकता तथा विचारों में एकता होनी चाहिए। यही एकगुण (एकता) चित्र को पूर्ण सौन्दर्य प्रदान कर सकता है। चित्र में अनन्त रूप से जब एकता दृष्टिगोचर होती है तो सार्वभौमिक गुण भी उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार विविधता के साथ एकता होने पर ही सत्य, शिव तथा सुन्दर प्रतिलक्षित होता है। विविधता में एकता होनी चाहिये और एकता में विविधता। यही प्रकृति का आधारभूत सत्य जिस पर निर्मित हो वह महान है और इसी आधार पर निर्मित हो मनुष्य की कला भी महान हो सकती है।

सार्वभौमिक लयात्मकता

इसी को यूनिवरसल हारमनी कहते हैं। कलाकार यामिनीराय ने अपने चित्रों के प्रत्येक रूप को लयात्मक ढंग से सरल कर एक प्रकार की यूनिवरसल हारमनी अपने चित्रों में उत्पन्न की। जिसके कारण उनके चित्र इतने विख्यात हो सके।

यह आवश्यक नहीं है कि चित्रकार इसी प्रकार से ही केवल यूनिवरसल हारमनी उत्पन्न कर सकता है। एक ही प्रकार के चित्र देखते-देखते भी अरुचि हो जाती है इसलिये कलाकार को विभिन्न तरीकों से अपने चित्रों में यूनिवरसल हारमनी उत्पन्न करते रहना चाहिये। आधुनिक समय में घनात्मक (क्यूबिज्म) आधार पर या सूक्ष्मता (एक्सट्रैक्टशनिज्म) के आधार पर भी यूनिवरसल हारमनी उत्पन्न की जाती है, जैसे प्रो० रवीन्द्रनाथ देव तथा प्रो० रामचन्द्र शुक्ल के चित्र में यूनिवरसल हारमनी का उपयोग अनेकों प्रकार से होता है, और होता जायगा, पर कला-सृष्टि का यह मुख्य आधार है जो प्रत्येक महान कलाकार जानता है। बंगाल शैली के चित्रकार अपने चित्रों में वाश के द्वारा रंगों में यही गुण उत्पन्न करते थे। जापानी, चीनी, चित्रकार तथा योरोप का विख्यात चित्रकार टर्नर भी यही करता था। सारे चित्र को एक रंग में डूबोकर यूनिवरसल हारमनी उत्पन्न करता था: यथार्थवादी-नैचुरलिस्टक चित्रकार प्रकृति के आधार पर उसकी नकल कर बिना समझे ही चित्रों में यूनिवरसल हारमनी उत्पन्न करते थे। आज प्रकृति के रूपों का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि यही यूनिवरसल हारमनी विविध रूपों से चित्रित करने की आवश्यकता है।

एक-एक कण से रेगिस्तान बनता है,
एक-एक ईट से दीवार बनती है,
एक-एक बूंद तथा लहर से समुद्र बनता है,
यही महानता है सृष्टि की।

श्री लालचद श्रीवास्तव

चित्र और चित्रकार के संबंध में पिकासो की मान्यताएँ

"विश्व मे कोई वस्तु शाश्वत नही है परन्तु कला अमर रहेगी। जब तक ससार में मनुष्य का अस्तित्व है, कला का भी अस्तित्व रहेगा।" महान चित्रकार श्री पैबलो पिकासो ने कला के सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट करते हुए लिखा है, कला ही जीवन है। कला के माध्यम से मनुष्य की आत्मा अपने आपको अभिव्यक्त करती है। कला साक्षात् मनुष्य है—उसकी आत्मा है।

अपूर्णता कला का जीवन है। जिस कृति में सशोधन की सारी सभावनायें समाप्त रहती है, वह कृति कलाविहीन एव मृत है। सुन्दर कलाकृति प्रेरणा देती है, सोचने के लिए बाध्य करती है एव आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। किसी अपूर्ण कलाकृति में ही यह क्षमता होती है कि दर्शक को अपने विषय में सोचने एव आलोचना करने के लिए बाध्य करे पूर्ण कलाकृति आगे का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। उसमें आगे बढने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस विषय में पिकासो ने स्पष्ट लिखा है कि—

"लोगो की कला-कृतिया खरीदने का एक मुख्य कारण यह भी है कि कला-कृतिया असमाप्त (Unfinished) होती है और समाप्त (Finished) वस्तुओ से मनुष्य शीघ्र ही ऊब जाता है। एक चित्र पूर्ण एव समाप्त हो सकता है लेकिन महान् चित्र सर्वदा अपूर्ण होता है। एक चित्रकार अपनी किसी कृति में अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है, परन्तु दस वर्ष बाद कोई दूसरा कलाकार उससे नई अनुभूति तथा प्रेरणा लेकर एक नये चित्र का सृजन कर सकता है। अपूर्णता एक महान चित्र की अपनी विशेषता है।" पिकासो ने आगे लिखा है—"समाप्त एव अपूर्ण वस्तु कला की कोटि में कदापि नही आ सकती —क्योकि समाप्त तो मृतक-सदृश है। एकेडेमिक चित्र की समाप्ति में ही विषय की समाप्ति सन्निहित है।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि पिकासो कला की अपूर्णता में ही उसकी पूर्णता देखता था। उसके विचार से मनुष्य भी एक अपूर्ण रचना है इसलिए मानव और उसके जीवन के प्रति आकर्षण मोह, एव लगाव है। इसी तरह कला भी है।

लोग सुन्दरता और कुरूपता के पीछे न जाकर जीवन के प्रति आकृष्ट होते है। महान् कला सर्वदा जीवित रहती है। जीवन के कण उसमें सर्वदा विद्यमान रहते है और यही कारण है कि लोग उसे चाहते है। वस्तु में सुन्दरता अथवा असुन्दरता का कोई स्थान नही। महत्वपूर्ण बात तो उसका जीवनमय होना है। वास्तव में हम सुन्दरता को नही,

वरन् उसमें सन्निहित कला को चाहते हैं। कोई वस्तु सुन्दरता के आधार पर प्रिय अथवा घृणित नहीं होती वह तो उसकी वह जीवनदात्री कला है जो हमें अपनी ओर आकृष्ट करती है, कल्पना के सुन्दर पंखों पर बिठाकर अनिर्वचनीय सुख की रसानुभूति कराती है और हमें एक ऐसी जगह पहुँचा जाती है जहां से हमारे सामने का प्रशस्त मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

उससे पूछे गये एक प्रश्न, कि आधुनिक चित्रों को खरीदने के लिए कृपण व्यापारी भी हजारों रुपये क्यों खर्च कर डालते हैं ? के उत्तर में पिकासो ने लिखा है कि ये व्यापारी अधिक मोल तोल करने वाले होते हैं इसीलिए वे इतना अधिक इन आधुनिक चित्रों के पीछे खर्च कर देते हैं। व्यापारी उन चित्रों का इतना अधिक मूल्य नही देता वरन् अपने पास उस तरह की अनेक कृतियों का मूल्य बढ़ाता है। इतना अधिक मूल्य देने से उसके पास के अनेक चित्रों का मूल्य स्वभावतः बढ़ जाता है। मनुष्य के आत्मा की अभिव्यक्ति कला में होती है इसीलिए वह इन चित्रों और कलाओं के पीछे अधिक से अधिक रुपया खर्च करके भी प्रसन्नता का अनुभव करता है।

कलाकार एक बंदर की तरह नकलची नहीं होता—बंदर और कलाकार में महान् अंतर है। कला की महान कृतियों से आज की एक महान कृति का सृजन करने वाले कलाकार को एक बंदर और 'एकेडेमिक' चित्रकार की कोटि में रखा जा सकता है जो दूसरों के आधार पर नकल या अनुकरण करके एक कला या चित्र का निर्माण करते हैं। ऐसे 'एकेडेमिक' चित्रकारों की कृति को कला नहीं मानी जा सकती और न ऐसे कलाकार कला का सृजन ही करते हैं। ये कलाकार एक मशीन की तरह हैं, जो केवल किसी चित्र का प्रतिरूप देती हैं।

अमूर्त कला के संबंध में पिकासो का मत है कि अमूर्त कला पक्षियों के लिए है। न यह सच्ची होती है और न इसमें किसी प्रकार का निर्माण ही होता है। क्यों कि कलाकार की कूंची यथार्थ का सृजन करती है।

अंत में यह महान चित्रकार लिखता है कि कला असीम को प्रदर्शित करती है। वह हमेशा बहुमूल्य होती है। किसी भी काल या अवस्था में उसका मूल्य गिरता नही। वह कहता है कि 'यदि मै जेल में भी होऊँ और मेरे पास कला के सृजन का कोई साधन न हो तो मै अपनी गीली जीभ से धरा पर कला का सृजन करूँगा। कला के सृजन के लिए किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता नही।'

शुभ काय का श्रीगणेश करते हैं। सब से पहले उसी देवता के चित्रण का उदाहरण लीजिए। समस्त सुख, समृद्धि और कल्याण की भावना के प्रतीक-स्वरूप देवता गजवदन का स्थूल रूप यदि वैसा चित्रित किया गया तो किस भाव से किया गया, इस पहलू पर ध्यान दीजिए। और, फिर उनके वाहन चूहे का अवलोकन कीजिए। तब कुछ सोचिए। यहा विदेश की व्यग्यचित्र कला खडी नही हो सकेगी।

तत्पश्चात् अतुल बल, तेज और शौर्य के मूर्तिमान् अवतार महावीर हनुमान की उस लाली-लसित छवि का स्मरण कीजिए और अनुमान करने की चेष्टा कीजिए कि वह वैसी क्यो दर्शित की गई है और अपने उस रूप में किस दिशा की ओर सकेत करती है। यहा भी विदेशो के व्यग्य-चित्रकला-गर्व को नतमस्तक होना पडेगा।

और, दूसरी ओर, अराजकता तथा अत्याचार के मूर्त रूप रावण के चित्र को लीजिए। फिर सोचने की कृपा कीजिए कि दशानन की वह रूपरेखा क्यो और किसलिए उस प्रकार अकित की गई है और उसका एक सिर गधे का कैसे हो गया है?

इसी प्रकार हमारे यहा चतुर्भुज, अष्ठभुजा, सहस्रबाहु, सहस्रपाद आदि जैसे प्रयोग भी विद्यमान है। वे किस अर्थ में किये गये है, यह कला की दृष्टि से सोचने की बात है। यही नही, विभिन्न अवतारो की विभिन्न विचित्रताए चित्रो के रूप में जो दृश्य उपस्थित करती है, उनके मूल में क्या है, यह प्रश्न भी कुछ कम महत्वपूर्ण नही है?

इसका तात्पर्य यह नही है कि इस प्रकार के अन्यान्य चित्रण व्यग्यचित्र कला से अधिक कुछ नही है। किन्तु, इस सत्य से भी आखें नही चुराई जा सकती कि इस प्रकार के वर्णन या चित्रण करने वालो के मस्तिष्क में वह वस्तु थी और अवश्य थी, जिसे व्यग्यचित्र कला के ज्ञान की बहुत बडी कुजी कहा जा सकता है।

मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैं बच्चा था और पाच-सात वर्ष का बालक होकर भी इधर-उधर कुछ सीधे-टेढे चित्र बनाया करता था, तब एक विद्वान पडित ने यह चेतावनी दी थी कि चित्रकला के चक्कर में पडने वालो के जीवन सुखी नही हुआ करते और, साथ ही, यह राय भी दी थी कि यदि कोई चित्रण-कार्य करना ही चाहे तो केवल देवताओ के चित्र बनायें। यह सच है कि बचपन में मैं बहुधा घर और बाहर की दीवारो पर हनुमानजी के रगीन चित्र अकित करने लगा था। तब मैं यह नही जानता था कि मुझे, आगे चलकर, भारत का एक व्यग्यचित्रकार होना है। मुझे क्या पता था कि देवताओ के चित्र बनाने की शिक्षा देकर ही उस विद्वान पडित ने सफल व्यग्यचित्रकार होने का पहला पाठ मुझे परोक्ष रूप से पढा दिया था।

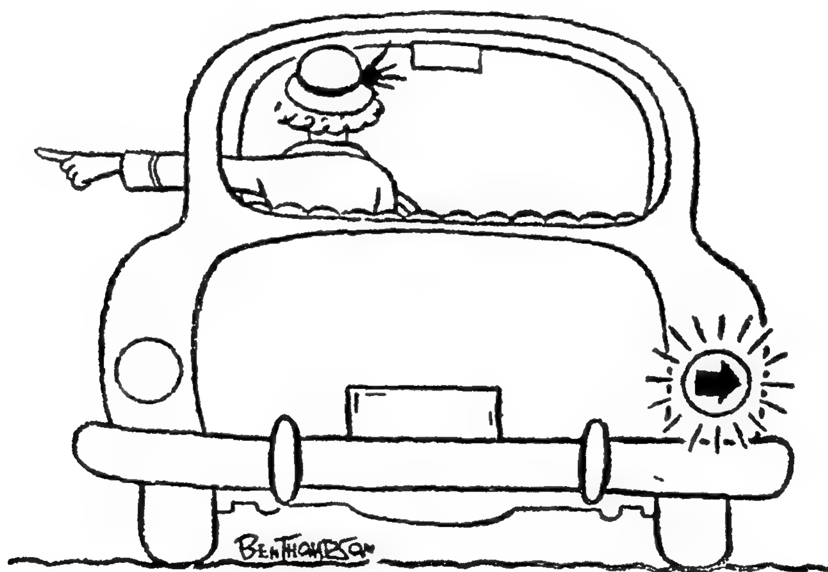
इस दृष्टि से व्यग्यचित्र कला इस देश के लिए कोई नया ऊँट नही है, और, यह कथन भ्रममूलक है कि भारतवर्ष ने व्यग्यचित्र कला के बीज पश्चिम से उधार लिये है। यहा की प्राचीन मूर्तिकला और प्राचीन ग्रथो की उपलब्धिया किसी और ही बात की गवाही देती है।

यह बात और है कि सब से पहले पश्चिम ने व्यग्यचित्र कला को राजनीतिक जामा

पहनाया और इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि राजनीतिक दॉव-पेंच और कूटनीति के हथकंडों की गहरी चालों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रयास उधर ही किये गये थे।

जहां तक राजनीतिक व्यंग्यचित्र का सम्बन्ध है, वह निर्विवाद रूप से एक भिन्न कोटि में रक्खा जा सकता है और अपने ढंग का अनोखा माना जा सकता है। किन्तु, राजनीतिक व्यंग्यचित्र पूर्णतया राजनीति पर निर्भर करता है और, इसलिए, राजनीति का एक बहुत महत्वपूर्ण अस्त्र अथवा राजनीतिक प्रचार का सशक्त साधन बन कर रह जाता है। परिवर्तन के नाम पर उसमें जो तथाकथित परिवर्तन होता है, वह बस राजनीति की बहती और बदलती हुई धारा के साथ ही हुआ करता है, उससे अलग होकर नहीं। और, जिस कला में निरन्तर और स्वतः परिवर्तन होने की गुंजाइश नहीं होती, वह कला समय बीत जाने पर बासी नहीं तो ठंडी अवश्य लगने लगती है। कला की दृष्टि से राजनीतिक व्यंग्यचित्र का यह पक्ष सबल नही कहला सकता।

जगत-प्रसिद्ध राजनीतिक व्यंग्यचित्रकार डेविड लो की एक पुस्तक में किसी आलोचक के इस कथन का उल्लेख किया गया है कि "एक व्यंग्यचित्र कुछ ही रेखाओं द्वारा, दस हजार शब्दों की अपेक्षा, अधिक कह देता है।" बात किसी सीमा तक ठीक है। किन्तु, वही व्यंग्यचित्र-



व्यंग्य चित्रकार बेन थाम्पसन का एक रेखाचित्र

कार अपनी बहुत पहले की एक पुस्तक के प्राक्कथन में लिखता है, "बड़ों को उनके अरक्षित क्षणों में पकड़ने के योग्य, स्पष्टवादी केमरों की पूर्णता के साथ 'पोर्ट्रेट कैरिकेचर' की कला अनावश्यक हो गई। अब, ऐसा लगता है कि व्यंग्यचित्रकार को और बीतती हुई घटनाओं को मूर्खता की हद तक घटाने वाली उसकी कला को निर्मूल करके उसका स्थान वह समाचार-चित्र-पट लेने वाला है, जो मात्र सीधे-सादे सत्यों का प्रदर्शन करता है।.......कैरिकेचर बनाने वाले

का वास्तविक व्यक्तित्व उभर कर सामने आया, वरन् उसके कला-पक्ष को भी खुलकर खेलने का पूरा अवसर मिला। उसे सही मार्ग मिल गया और उसकी युग-युग की वह घुटन समाप्त हो गई। अब न उसे घिसे-पिटे ढर्रे पर ऍडिया रगडने की चिन्ता है, न पुराना पड़ने का भय।

मनुष्य बौद्धिक जीव है और बुद्धि ही उसकी सच्ची जिन्दगी है। व्यग्यचित्रकार ने विशुद्ध बौद्धिक व्यग्यचित्र बनाने का सब से नया ढग खोजकर स्थायी सफलता की कुजी प्राप्त कर ली, जिससे उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और असीम हो गया।

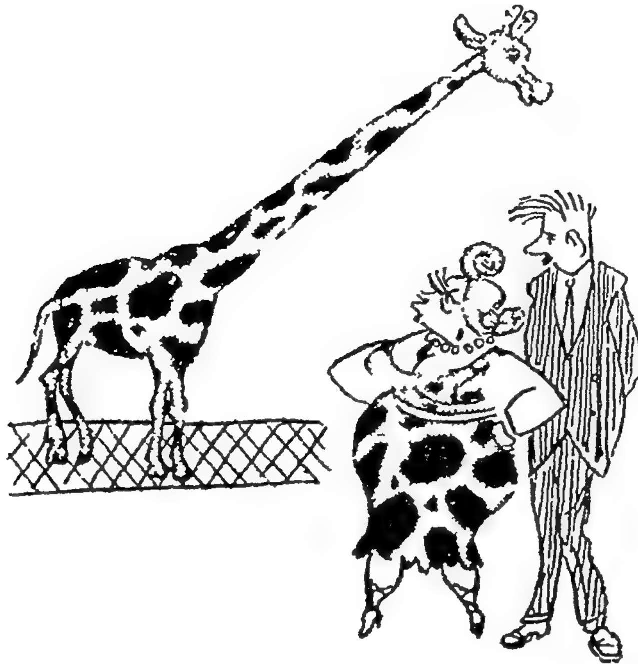
आधुनिक व्यग्यचित्रकार ने सब से पहला कार्य यह किया कि चित्रण-शैली के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक सतर्क रहने की हथकडी तोड डाली और दूर की कौडी लाने के लिए सूझ के तीखेपन को अधिक महत्व दिया। रेखाए खुरदरी और रूप बेढगे बनते है तो क्या हुआ? मस्तिष्क का विलक्षण चमत्कार दिखलाने की पूरी छूट तो रहती है। घी के लड्डू टेढे-मेढे ही सही।

शैली के प्रति बढने वाली यह उदासीनता बढते-बढते इतनी बढ गई कि कतिपय व्यग्य-चित्रकारो ने पेसिल और रबड घिसने की थकाने वाली परम्परा को तिलाजलि देकर सीधे फाउटेनपेन या लेखनी या तूलिका से ही व्यग्यचित्र बनाना आरम्भ कर दिया। यहा तक कि कही-कही व्यग्यचित्रो में दियासलाई की सीको जैसी सीधी-सादी आकृतिया अपने अनूठे रूप में दृष्टिगोचर होने लगी। दियासलाई के मसाले वाले सिरे की तरह एक काला-सा गोला बना दिया, वही आदमी का सिर हो गया और उसके हाथ-पैर आलपिन-जैसी सीधी रेखाए खीचकर दिखला दिये। बस, काम बन गया। परन्तु, हर अवस्था में हर ऐसे व्यग्यचित्र की सब से पहली शर्त्त यही रहती है, अर्थात् उसमें बुद्धिमत्ता की पुट, विचार की गहराई, अवश्य-अवश्य रहनी चाहिए।

क्या शैली, क्या भाव, दोनो बातो मे आधुनिक व्यग्यचित्रकार ने सकेतात्मकता के महत्व पर सब से अधिक बल देना ठीक समझा। रूप-रेखा बनाई तो उसमें सूक्ष्म विवरण देने का ध्यान नही रक्खा और भाव भरा तो उसमें कुछ बूझने के लिए छोड दिया। वह चित्रण की गिचपिच हो या विचारो की, उससे दूर रहना ही व्यग्यचित्रकार ने अपने लिए श्रेयस्कर समझा।

लदन के 'पच' में प्रकाशित होने वाले बौद्धिक रेखाचित्रो में एक निराली परिपाटी के दर्शन होते है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे प्राचीन परम्परा को छिन्न-भिन्न करके भी अग्रेज व्यग्यचित्रकारो ने अपनी एक नयी परम्परा स्थापित कर ली है। इस नयी परम्परा के अन्दर भी एक और रूप, छोटी-सी परम्परा, का निहित है। जिस प्रकार ब्रजभाषा के कवि समस्यापूर्त्ति किया करते थे, कुछ उसी प्रकार की रचना-प्रणाली 'पच' के व्यग्यचित्रकारो ने भी अपना रक्खी है। जिस तरह उर्दू के प्राचीन कवियो ने अपने लिए गुल, बुलबुल, गुलशन, आशियाना, सैयाद, साकी, सागर, मैखाना, जाहिद, आशिक, माशूक, बुत, बुतखाना जैसे अनेक विषय निर्धारित करके अपने काव्य को सीमाबद्ध कर रक्खा था, यदि ठीक उसी तरह नही तो आशिक रूप

से उसी पैमाने पर अंग्रेज व्यंग्यचित्रकारों ने भी अपनी कला को एक विचित्र मोड़ दिया और उसका पूरा निर्वाह भी किया। किन्तु, ऐसा होने पर भी, उन पर एकरसता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। होता यह है कि कोई एक व्यंग्यचित्रकार किसी विषय को चुन कर अपने ढंग से उस पर एक विचारोत्पादक रेखाचित्र बना देता है और, तब, दूसरा व्यंग्यचित्रकार



'सोवियत भूमि' से उद्धृत अज्ञात कलाकार की एक कृति

उसे देखकर चुप नही बैठा रहता। वह भी उसी विषय पर एक दूसरा रेखाचित्र तैयार करता है, जिसमें बिलकुल नयी सूझ का समावेश होता है। इस प्रथा से अनुकरण की गन्ध कभी नहीं आती। हां, इसे एक तरह से नहले पर दहला रखने की प्रवृत्ति अवश्य कहा जा सकता है। विषय वही होता है, पर उसे प्रस्तुत करने का ढंग बिलकुल अलग होता है और दृष्टिकोण अपना निजी एवं सर्वथा मौलिक। इस प्रकार हर ऐसा व्यंग्यचित्रकार इस भांति चुने हुए हर विषय को नया से नया रूप देता रहता है और हर दशा में अपनी ओर से कोई न कोई नयी बात पैदा करके अपने कुशाग्र मस्तिष्क की प्रखरता का परिचय देता रहता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इंग्लैण्ड का आधुनिक व्यंग्यचित्रकार अपने पैरों में परकार बांध कर कुछ इने-गिने विषयों के घेरे में ही चक्कर लगाता रहता है। उसकी उस विषय-सूची में नये से नये और ताजे से ताजे आधुनिक विषयों का समावेश बराबर होता रहता है। एक ओर यदि वह फारस की उड़ने वाली जादू की दरी या भारत के फकीर की कंटक-शय्या को लक्ष्य बनाकर अपने रेखाचित्र तैयार करता है, तो दूसरी ओर उड़न-तश्तरी या नये फैशन की निराली कुर्सी को लक्ष्य करके अपना कमाल दिखलाता है। इस प्रकार उसकी वह सूची निरन्तर लम्बी होती रहती है। आधुनिक व्यंग्यचित्रकार की पैनी दृष्टि से छोटी से छोटी वस्तु भी बच नही पाती। संसार की हर गतिविधि को वह बड़े ध्यान से देखता रहता

है। नवीनतम आविष्कार और नयी चाल के नये नमूने उसके अक्षय भंडार की वृद्धि करते रहते हैं। जैसे-जैसे नित्य नयी वस्तुएं सामने आती जाती हैं, वैसे ही वैसे वह अपने कार्यक्षेत्र को और विस्तृत करता जाता है।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि, जहां तक शैली का सम्बन्ध है, आधुनिक व्यंग्यचित्रकार का हाथ एक अबोध बालक का हाथ भी हो सकता है, अर्थात् वह बहुधा ऐसे रेखाचित्र भी बनाता है, जो यों देखने में किसी शिशु के हाथ का काम लग सकता है, और जहां तक भाव की गहराई का सम्बन्ध है, आधुनिक व्यंग्यचित्रकार की खोपड़ी एक प्रौढ़ व्यक्ति की पुरानी खोपड़ी मानी जा सकती है। आधुनिक कलाकार कलात्मक कम और भावात्मक अधिक होता है। कलम से अधिक वह समझ से काम लेता है।

बात पूरी न होगी, यदि, फ्रांस की आधुनिक व्यंग्यचित्र कला का उल्लेख न किया जाये। जितने व्यंग्यचित्र फ्रांस में प्रति सप्ताह प्रकाशित होते हैं, उतने शायद ही किसी अन्य देश में होते हों।

इंग्लैण्ड और फ्रांस की व्यंग्यचित्र कला में एक बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। जहां लंदन 'पंच' के व्यंग्यचित्रों के संग्रहों में इंग्लैण्ड के आन्तरिक जीवन की वास्तविक झलक भी देखने को मिलती है, वहां फ्रांस के व्यंग्यचित्र-संग्रह कुछ और ही तरह के होते हैं। उनमें न स्थानीय जीवन की झांकी दिखलाई पड़ती है, न वहां के रंग-ढंग की छाया। ऐसा लगता है, जैसे वहां का व्यंग्यचित्रकार अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति पूर्णतया उदासीन हो गया है, जैसे उसे अपने यहां की परिस्थितियों से कोई मतलब नहीं है, हलचलों से कुछ लेना-देना नहीं है। फिलिप हाल्समैन के शब्दों में "अपने पूर्वाधिकारियों के विपरीत, वे (फ्रांस के कलाकार) टीका-टिप्पणी नहीं करते—वे अत्यधिक ऊब चुके हैं। इस असम्भव संसार से भाग कर वे एक ऐसे संसार में चले जाते हैं, जहां हर वस्तु सम्भव है,—एक ऐसा संसार, जिसकी सृष्टि वे कागज के एक छोटे-से टुकड़े पर करते हैं।"

इंग्लैण्ड की व्यंग्यचित्र कला के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि वह समय का साथ देना भली भांति जानती है और युग की छाप लेकर आगे बढ़ती है। यहां तक कहा जाता है कि "हास्यास्पद पक्ष देख सकने की योग्यता से हमें (अंग्रेजों को) युद्ध की कुछ महाकठिन अवधियों से पार पाने में सहायता मिली है।" यही नहीं, व्यंग्यचित्र को ब्रिटेन की सुरक्षा का एक बहुत बड़ा अस्त्र तक माना गया है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ब्रिटेन को और वहां के निवासियों के चरित्र को अपने विचित्र ढंग से चित्रित करने में वहां के व्यंग्यचित्रकारों ने पूरे मनोयोग से काम किया है और इस दृष्टि से वहां के जीवन को समझने के लिए उनके व्यंग्यचित्रों को ठीक से समझना आवश्यक हो जाता है।

फ्रांस के आधुनिक व्यंग्यचित्रकार ने न तो कोई ऐसा नियम बनाया, न अपनी कला-कृतियों द्वारा बाहर वालों को अपने देश, समाज और काल को समझने का अवसर ही दिया।

परन्तु, यह सोचना अनुचित होगा कि, फ्रांस की व्यंग्य चित्रकला का प्रारम्भिक इतिहास

कुछ कम गौरवशाली रहा है। इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि फ्रांस के तत्कालीन व्यंग्यचित्रकारों ने अत्यधिक सफलता के साथ लुई फिलिप के शासन का तख्ता उलटने में १८४८ के विद्रोह को बहुत कुछ सहायता प्रदान की थी।

तब की बात और थी।

फ्रांस के आधुनिक व्यंग्यचित्रकार ने अपने उन पूर्वाधिकारियों की तीक्ष्ण सामाजिक व्यंग्य परम्परा को आज बिलकुल छोड़ दिया है और, उससे नाता तोड़कर, अपने को परम स्वतंत्र मान लिया है। फलतः कला राजनीति के लिए नहीं रही, कला कला के लिए भी नहीं रह गई, अब कला केवल बुद्धि के लिए है। और, वही आज वहां की जीवित कला मानी जा रही है।

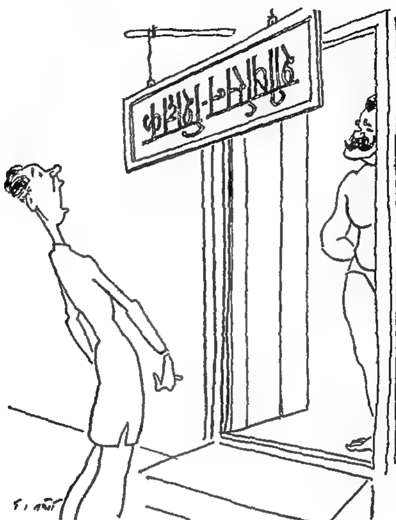
इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य ऐसी है, जो हमारे निकट कुछ खटकने वाली है। फ्रांस, का आधुनिक व्यंग्यचित्रकार नारी को चित्रित करने में आवश्यकता से अधिक स्पष्टवादिता का प्रयोग और निरंकुशता का दुरुपयोग कर रहा है। उसके लिए आज यह बहुत साधारण-सी बात हो गई है। सम्भव है, उसकी सामाजिक सहनशीलता उसे इस बात की खुली छूट देती हो, या, कला का उच्च स्तर किसी नैतिक स्तर को स्वीकार करने के लिए तैयार न हो। यह भी सम्भव है कि वहां का कलाकार जीवन के इस पहलू को बड़े सरल और सहज ढंग से देखता और ग्रहण करता हो। किन्तु फिर भी उसका यह हल्का ढंग, रोचक होकर भी, बहुत सुरुचिपूर्ण और स्वस्थ नहीं प्रतीत होता। यहां हम उससे असहमत हैं और वह हम से। यही समझौता अच्छा भी रहेगा।

फ्रांस की भाषा में एक नया शब्द आ मिला है और वह है 'लाउफोक', जिसकी उत्पत्ति हुए बहुत दिन न हुए होंगे। 'लाउफोक' का अर्थ सनकी और निरे पागल के बीच में कुछ सोचा जा सकता है। इस शब्द विशेष का इतना अधिक प्रभाव फ्रांस की आधुनिक व्यंगचित्र कला पर पड़ा है कि उसका ठीक अनुमान लगाना बहुत कठिन है। वहां के व्यंग्य चित्रकार आये दिनों कल्पना की ऐसी-ऐसी उड़ानें भर रहे हैं कि दांतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उनकी अत्यधिक काल्पनिकता से कभी-कभी ऐसा आभास मिलता है, जैसे उनकी सूझ का पंछी धरती छोड़कर स्वप्न-लोक में विचरण कर रहा है।

अमरीका की व्यंग्यचित्र कला के विषय में अधिक कुछ न कहकर इतना ही कह देना बहुत होगा कि वह बहुमुखी विविधता का पल्ला पकड़ कर आगे बढ़ रही है। उसे एक अर्थ में खिचड़ी कहना मिथ्या न होगा। यह भी कहा जा सकता है कि अमरीका में व्यापारिक कला को व्यंग्यचित्र कला से अधिक महत्व दिया जा रहा है।

रूस की व्यंग्यचित्र कला के सम्वन्ध में भी बहुत कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश नही है। रूसी व्यंग्यचित्र कला यदि प्रचार के अनिवार्य मोह का परित्याग कर सके तो इससे बढ़कर अच्छी बात और कोई नही होगी। उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होकर भी और अधिक प्रशस्त हो सकता है। वैसे, कोई यह नहीं कह सकता कि रूसी व्यंग्यचित्रकार किसी अन्य अर्थ में किसी से पीछे हैं।

भारत के व्यग्यचित्रकार का उत्साह बढ रहा है। उसकी सम्भावनाए बहुत है। विविध देशो की व्यग्यचित्र कला के गुण-दोष का विचार करके, विभिन्न विचित्रताओ को ध्यान में रखते हुए, भारतीय व्यग्यचित्रकार को अपने लिए सब से अलग मार्ग खोजना होगा। उन गहरे गड्ढो



प्रस्तुत लेख के लेखक की एक कृति

से बचना होगा, जो विदेशी व्यग्यचित्रकार के आगे मुह खोले पडे है और उन ऊँचाइयो को और अधिक ऊँचाई देनी होगी, जिन पर विदेशो के व्यग्यचित्रकार बराबर चढते जा रहे है। तभी अपना व्यक्तित्व उभरेगा और अपने देश को व्यग्यचित्र कला के क्षेत्र में अपना निज का स्थान प्राप्त हो सकेगा।

व्यग्यचित्र को सम्पादकीय टिप्पणी का सा स्थान दिलाने से अब काम नही चल सकेगा। राजनीति के साथ गाठ बाध कर चलने से भी बात नही बनेगी। नीरस, शुष्क और पुराना होना कोई प्रशसनीय गुण नही हो सकता। समाजसुधार के हार्मोनियम के स्वर में स्वर मिलाकर वही राग अलापने से भी कुछ नही होना है। बासी कढी में उबाल लाने की चेष्टा मे सिर खपाने

से क्या लाभ ? हर दशा में समय के पिछड़ जाने के परिणाम को अपने सामने रखकर देखना चाहिए। कला के क्षेत्र में अकाल मृत्यु का कटु अनुभव अब तक बहुत किया जा चुका है। अब उससे दूर ही रहना है। यह नवीनता का युग है और नवीनता आधुनिक कला की एक बहुत बड़ी मांग है।



एक अन्य रूसी व्यंग्य चित्रकार की एक रचना

परन्तु, नवीनता के नाम पर कहीं की नकल चाटना अपनी असलियत को भूलना होगा। उधार मांगा हुआ आधार कभी टिकाऊ नहीं हुआ करता। इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है, जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना अकारण नहीं कहा जा सकता। जूठन से पेट भरने वाला भिखारी होगा, कलाकार नही।

इस विशाल देश में, कम से कम, वुद्धि का अकाल कभी नहीं पड़ा। तब कोई ऐसा कारण नहीं कि भारतीय कलाकार हर दृष्टि से सर्वथा विशुद्ध बौद्धिक व्यंग्यचित्रों का सृजन न कर सके।

तो फिर आधुनिक भारतीय व्यंग्यचित्रकार को बस अपनी वुद्धि ही टटोलनी है। जिसके

पास पराई बुद्धि हो, वह इस माग से जितने शीघ्र अलग हो जाय, उतना ही अच्छा। वास्तव में बुद्धि ही आधुनिक व्यग्यचित्र कला की असली जड है। आधुनिक व्यग्यचित्रकार का प्रत्येक रेखा-चित्र उसकी तीव्र बुद्धि का जीवित और हँसता-बोलता टुकडा होना चाहिए। विचारशक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग करने और रेखाओ की अधिक से अधिक मितव्ययिता बरतने से सफलता की सीढी अवश्य ही आगे खडी मिलेगी। साथ ही, यह बात भी है कि वह बिना किसी विशेष कठिनाई के मिलनी चाहिए। आधुनिक व्यग्यचित्र परिश्रम का बोझ ढोने से इनकार कर चुका है।

हठ करके हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न उतना आवश्यक नही रह गया, जितना आवश्यक मस्तिष्क-मन्थन का प्रश्न है। उस प्रश्न को हम आधुनिक व्यग्यचित्र कला की प्राणवायु भी कह सकते है। यदि वास्तविक अर्थ में विचारोत्पादक न हुआ तो वह आधुनिक व्यग्यचित्र नही। मात्र विकृति अथवा मात्र अत्युक्ति भी अब सब कुछ नही मानी जाती।

सब से अन्तिम किन्तु सब से बडी बात यह है कि भारत के होनहार व्यग्यचित्रकार को भारतीय जन-जीवन में पैठ कर, उसकी गहराई मे झाक कर, और बन पडे तो डूबकर, देखना होगा। तभी उसकी कृतिया शुद्ध रूप से स्वदेशी हो सकेंगी।

भारत को भारत के व्यग्यचित्रकार से बडी-बडी आशाए है।

इसमें सन्देह नही कि इस दिशा में आज अथक परिश्रम और पूर्ण प्रयत्न किये जा रहे है। भारतीय व्यग्यचित्रकार अपनी धुन का पक्का है। उसकी लगन सच्ची है। उसकी शक्ति भी कुछ कम नही। बस, देखना यह है कि उसका उत्साह किसी तरह शिथिल न पडने पाये।

जैसा कि आरम्भ में ही सकेत किया जा चुका है, भारतीय व्यग्यचित्र कला की जडें यहा कि मिट्टी के अन्दर बहुत अधिक गहराई में मौजूद हैं। उनको सीचना और उनसे पूरा लाभ उठाना आज के उगते-उभरते हुए भारतीय कलाकार का काम है।

सारे लक्षण शुभ ही दिखलाई पडते है। वह दिन बहुत दूर न होना चाहिए, जब इस देश के दैनिक, साप्ताहिक और मासिक साहित्य मे आज की अपेक्षा कही बडी सख्या में ऐसे विशुद्ध बौद्धिक व्यग्यचित्र देखने को मिलेंगे, जिनसे जनगण का बौद्धिक स्तर ऊँचा हो सकेगा और मानसिक क्षुधाशान्ति का सब से नया साधन यथेष्ट मात्रा में सब के लिए सुलभ हो जायेगा।

खाद्यान्न के ही नही, हमें मानसिक भोजन के अभाव को भी दूर करना होगा और यह अनुष्ठान इस देश में उतना ही पवित्र और आवश्यक समझा जाना चाहिए।

श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, शास्त्री

चित्र-काव्य

हमारे संस्कृत-साहित्य में रसों के ज्ञान के लिये विभाव, अनुभाव आदि की जो सहायता आवश्यक समझी गई है, ठीक उतनी ही सहायता इन चित्रों के ज्ञान के लिये भी आवश्यक है। जैसे रस, अलंकार आदि से अनभिज्ञ समाज उत्तम से उत्तम काव्य की उपादेयता का निर्णय अथवा रसास्वादन नही कर सकता, उसी प्रकार रस, अलंकार आदि से अनभिज्ञ समाज कलात्मक चित्रों के लोकोत्तर अनुभव एवं उनकी उपादेयता से भी सर्वथा वंचित रहता है।

मनुष्य प्रयत्नशील बनकर अपने को अभ्युदित देखना चाहता है। अतः वह प्रतिक्षण किसी भी विषय के अन्वेषण में लगा रहता है। वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि जो विषय हमारे सामने जिस रूप में उपस्थित है, वही पर्याप्त है, इसीलिये काव्य की आत्मा ध्वनि को प्रधान काव्य माना है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष अर्थ यद्यपि स्पष्ट रहता है तथापि व्यंग्यरूप जो अर्थ उससे निकलता है वह लक्ष्यार्थ की अपेक्षा चमत्कारपूर्ण होता है। ऐसे ही चित्रों में—जो कि कुशल कलाकार की तूलिका एवं विविध रंगों के सम्मेलन से प्रस्तुत होते हैं, प्रत्यक्ष में वे अपने आकर्षण से आकृष्ट करते हुए भी अपनी उस अन्तर्निहित भाव भंगिमा को विदित कराने में समर्थ होते है। जैसे शृगार आदि रसों को काव्य में शब्दों के लालित्य से स्पष्ट किया जाता है, उसी को चित्रकला में रंगों के विधान से दिखाने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता है जो कि सर्वथा पूर्ण एवं सहृदय व्यक्तियों का विशेष आनन्दवर्धक होता है।

काव्य से सम्बन्ध रखने वाले रस.शृंगारादि, गुण:माधुर्यादि, रीति.शैली:—गौड़ी आदि जिस प्रकार निरन्तर इसकी संर्वागीण शोभा को बढ़ाने में अनवरत सहायक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार यह समस्त सामग्री चित्रकला में अक्षुण्ण रूप से प्राप्त होकर कला के अभिनव सौन्दर्य की वृद्धि करती रहती है। अतएव साहित्य एवं कला का घनिष्टतम सम्बन्ध चिर एवं स्थिर है, क्योंकि कला को साहित्य की, साहित्य को कला की प्रतिक्षण आवश्यकता बनी रहती है।

यद्यपि शब्दों की सुन्दरता के द्वारा काव्य का आनन्द अभिव्यक्ति हुआ करता है, किन्तु इस शब्द सुन्दरता के विभावादि में सम्मिलित न हो सकने के कारण इस पर शृगार आदि का ज्ञान निर्भर नही हुआ करता और इस प्रकार रस के आस्वाद में इसका विशेष हाथ नही रहता। बिना शब्द के अर्थ की सुन्दरता का कोई आधार न होने के कारण यही मानना आवश्यक है कि शब्द और अर्थ काव्य सौन्दर्य के लिये अत्यन्त उपयोगी है और दोनों के रचना-सौष्ठव पर कवि का परि-

श्रम बराबर होने से दोनों ही उपादेय हैं। इन दोनो की सुन्दरता का निर्णय एक दूसरे पर आश्रित हैं। इनमें एक को "शब्दचित्र" दूसरे को "अर्थचित्र" कहते हैं, जहा अर्थ की उपेक्षा कर कवि का हृदय शब्द की विचित्रता में उत्सुक रहता है वहा "शब्दचित्र" ही समझना चाहिये। और जहा पर शब्दो की विचित्रता भी अनुप्रास के रूप में स्पष्ट प्रतीत होने पर अर्थ की प्रधानता रहती है वहा "अर्थचित्र" काव्य मानना आवश्यक है।

चित्रकाव्य वह काव्य है जिसमें एक रचना विशेष में रखे हुये वण, पद्म, खड्ग, मुसल आदि अनेक आकृतियो का निर्माण करते प्रतीत होते हैं। अग्निपुराण के ३४२ वें अध्याय में "चित्रकाव्य" का यही स्वरूप बताया गया है —

> अनेकधा वृत्त वर्ण विन्यासै शिल्प कल्पना।
> तत्तत्प्रसिद्ध वस्तूना बन्ध इत्यभिधीयते ॥अ० पु०

वर्णों के द्वारा कविन्द जो वर्णशिल्पका एक विशेष रूप से विन्यास करते है, और जिसमें भिन्न आकार प्रकार की वस्तुओ की रूप-रेखा देखी जा सकती वह एक चित्र है, वही बन्ध है। काव्यालकार के ५वें अध्याय में रुद्रट ने स्पष्ट कहा है कि मम्मट के पूर्ववर्ती मनीषी कवि "चित्रकाव्य" के भेद प्रभेदो के प्रदर्शन में पर्याप्त रुचि रख चुके हैं।

श्री सत्यपाल चुघ

रेखाचित्र कला

हिन्दी साहित्य में इस 'गद्यकाल' में गद्य की अनेक नूतनविद्याओं का विकास हुआ है जिनमें रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण आदि आधुनिकतम कलारूप हैं। आज के संघर्षजटिल व्यावसायिक यांत्रिक युग में कला-रूपों का कलेवर छोटा ही होता रहा है। समाचार-पत्रों ने भी इस संक्षिप्तता की प्रवृत्ति में योग दिया है। अतएव उपन्यासों में 'लघु उपन्यासों' का प्रचलन हुआ, 'लघु कहानी' ने अतिलघु कहानी (short-short story) का आकार धारण किया और कविता के क्षेत्र में लघु मुक्तकों का प्राधान्य हो गया है। कहानी और निबन्ध के लाघव की प्रवृत्ति की परिणितियों में एक कला-रूप रेखाचित्र (sketch) भी है।

यथार्थवाद की प्रवृत्ति ने साहित्यकार को युग की सामयिकता की ओर विशेष जागरूक किया। आज के क्रान्तिकारी युग की दैनन्दिन की वास्तविकता से कलाकार के सामंजस्य की हेतुता ने उल्लिखित अभिनव अभिव्यक्ति-माध्यमों की सृष्टि की है। इनमें से भी रियोर्ताज और रेखा-चित्र अपनी यथार्थ अनुरूप कला के कारण आज की द्रुतगामी वास्तविकता के अधिक निकट है।

आलोचकों में यह प्रश्न विवाद का विषय है कि कला के इन नूतन रूपों की पृथक् सत्ता स्वीकार कर ली जाय अथवा जिनके भीतर से इनका विकास हुआ है, उन पुरातन रूपों के एक प्रकार-विशेष के रूप में इनका उल्लेख होता रहे। रेखाचित्र की दृष्टि से विचार करने पर यही स्थिति हमारे सामने आती है। हिन्दी में कहानी तथा निबन्ध दोनों पर लिखी आलोचना-पुस्तकों में रेखाचित्र का उल्लेख हुआ है। इनमें रेखाचित्र को कहानी तथा निबन्ध कला की सहायक शैली मान लिया गया है। अथवा कहानी निबन्ध की रचना-सीमा को बढ़ा कर उसी के भीतर इसको समेट लिया गया है। यथा हिन्दी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास दिखाते हुए डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने लिखा है—"सम्यक् कहानी-शैली से लेकर उसमें रेखाचित्र विश्लेषण चित्र से लेकर सूचनिका (Reportes) कैमराविधान (Camera-techuique) और न्यूजरील-विधान तक कहानी-रचना की सीमा को बढ़ा दिया।"[1] सतत परिवर्तनशील युगीन-परिस्थितियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह में जब साहित्यिक व्यक्तित्व नूतन

---

१. हिन्दी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ० २९२।

प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति के लिए अभिनव माध्यमो को अपनाता है वैसे भी प्रचलित कला-रूप चिर-स्थिर नही रहते, अभिव्यक्ति-आवश्यकता के अनुरुप बदलते हैं—तब या तो आलोचक रूढ रुपो की सीमाओ को बढाकर उनकी परिभाषाओ को और लचीला बना देता है अथवा उसे किसी नूतन साहित्यिक-विधा के आगमन की घोषणा करनी पडती है। इसलिए अभिव्यक्ति-माध्यमो में नित्य नये परिवतन किसी कला-रूप की सुनिश्चित परिभाषा को असभव बना देते हे। आज उपन्यास कहानी, निबन्ध आदि की परिभाषा करने में यही कठिनाई आ रही है। वस्तुत-साहित्य में विभिन्न अभिव्यजना-रूपो की परिभाषा वर्गीकरण तथा नामकरण की समस्या बडी जटिल होती हैं। किसी कला-रुप के समझने की सुविधा, अनुशासन तथा परिष्कृति के लिए ही परिभाषा, वर्गीकरण आदि अपेक्षित होते हैं। अतएव यदि नूतन कला-माध्यमो का पूर्व प्रचलित रूढ-रुपो मे समाहार किया जाता रहा और ऐसा करने में परिभाषाओ को व्यापक बनाना पडा, तो अतिव्याप्ति दोष से समझने में असुविधा ही हो सकती है। जीवन-जगत् के गतिशील प्रवाह को समझ कर, तदासाधारित नूतन अभिव्यक्ति-प्रयत्नो का स्वागत अपेक्षित है अन्यथा रूढ रूपो एव टाइपो के अनुसार साहित्य को चलाने की कामना अथवा उन्ही मे इनका समाहार करते जाना मात्र पुरा-पूजन ही समझा जायगा। कथाकार यशपाल ने उक्त तथ्य की ओर सकेत करते हुए यह ठीक लिखा है कि "शब्द-चित्रो (sketches), गद्यकाव्यो की कहानी न मानने से उनकी रचना, कौशल या कलात्मकता से इन्कार नही किया जा सकता। यह कहानी की कला से प्रेरणा पाकर उत्पन्न हुई कला की नवविकसित स्वतन्त्र शाखा है। ऐसे ही साहित्य के विभिन्न माध्यमो द्वारा सामाजिक कत्तव्य निवाहने पर उन्हें कहानी ही कहते जाने की जिद् अनावश्यक है———।" अतएव उक्त तथ्यानुरूप अपने लेखन के सबन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए वे आगे लिखते हैं—"समय-समय पर विचारवस्तु के लिए उपयोगी माध्यम चुनने के विचार से मैंने स्वय शब्दचित्रो और अनुभूति प्रधान निबन्धो आदि की शैली का उपयोग किया है और उन्हें प्रकाशन की सुविधा के लिए सग्रहो में सम्मिलित भी कर लिया गया है। परन्तु ऐसी रचनाओ को कहानियाँ मान लिये जाने का आग्रह मै नही करता।"[1] यशपाल यदि रेखाचित्र को कहानी में अन्तर्भूत करने की जिद् छोडने को कहते है तो डा० नगेन्द्र हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र निर्मित करने की दृष्टि से उचित प्रश्न करते हे—'———महादेवी के रेखाचित्रो को आप बलात् 'ऐसे'[2] की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे?[1] उक्त मतो से, तथा कहानी निबन्ध दोनो प्रकार की पुस्तको में रेखाचित्र के विवेचन मे एक बात स्पष्ट होती है कि रेखाचित्र पृथक् साहित्यिक-विधा

---

१ "तुमने क्यो कहा था मै सुदर हूँ?" की भूमिका पृ० ७ यशपाल।

२ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तद्विषयक आलोचनात्मक लेख को 'स्केच या रेखामात्र निबन्ध' का शीर्षक दिया है। दृष्टव्य 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृ० १३२।

१ विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० ८५।

है; कहानी और निबन्ध के मध्य की वस्तु है और किंचित् अनुकूल परिवर्तन-वर्द्धन से कहानी या निबन्ध का रूप धारण कर सकती है।

रेखाचित्र शब्द से स्पष्ट है कि यह चित्रकला का शब्द है। साहित्य चित्रकला से बराबर सहायता लेता रहा है। 'साहित्य, विशेष रूप से कविता, तर्क के बिना काम चला सकती है किन्तु, अपने स्वभावानुकूल, चित्र से नहीं।'[1] अतएव प्रसाद कविता को 'वर्णमय चित्र'[2] लिखते हैं और पन्त भी कविता के लिए 'चित्रभाषा'[3] की आवश्यकता पर बल देते हैं। अवश्य ही कविता में 'बिम्बग्रहण' आवश्यक है अतएव अनेक प्रकार की चित्रात्मकता के साथ 'रेखाचित्र' का भी सर्वप्रथम प्रयोग कविता में हुआ, तदुपरान्त इसका ग्रहण साहित्य के अन्य रूपों में हुआ। पंत जी ने 'ग्राम्या' की एक कविता का शीर्षक ही 'रेखा चित्र' दिया है। इसमें उन्होंने प्रकृति को रेखांकित किया है। यथा—

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गंगा धारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाय नभ सारा!
फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह तुंड सा फैला,
छितरी जल रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला!
जिस पर मछुओं की मँड़ई
औ, तरबूजों के ऊपर,
बीच बीच में, सरपत के मूंठे
खग से खोले पर[4]!

वस्तुतः उक्त कविता में वर्णनात्मकता आ गई है, 'ग्राम्या' में और भी रेखाचित्र हैं चाह उनका शीर्षक उक्त कविता के समान 'रेखा चित्र' नही,' यथा बुड्ढे का चित्र अधिक व्यञ्जक है—

---

१. Leterature, poetry in particular, can dispense with logic, but it cannot, within its nature, dispense with the image.,

२. "कविता वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करती है।"
—स्कन्दगुप्त नाटक में मातृगुप्त

३. "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है...जो झंकार में चित्र और चित्र मे झंकार है"—पल्लव की भूमिका।

४. ग्राम्या—पृ० ७१, (चतुर्थ संस्करण)।

खडा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पजर,
चिमटी उसकी सिकुडी चमडी
हिलते हड्डी के ढाचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठटरी से हें लिपटीं,
पतझर में ठूठे तरु से ज्यो
सूखी अमर बेल हो चिमटी।[1]

फिर भी रेखाचित्र गद्य में ही ठीक रूप से लिखे जा सकते हैं।

चित्रकला में चित्रकार चित्राभास से चित्रलेखन और चित्रलेखन से साकेतिक तथा प्रतीकात्मक चित्रलिपि की ओर बढ़ा। जिसमें रेखा और वर्ण बोलते हैं और चित्रकार के मानस-पट पर बिम्बित अमूर्त भावो की साकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे शब्दो मे, चित्रकला के रेखाचित्र प्रकार-विशेष का मूलाधार वे रेखायें होती हैं जो स्वतन्त्र न रहकर चित्रकार के अमूत भावो का सकेत देती हैं। चित्रकार थोडी सी रेखाओं से मानो चित्र की भूमिका-मात्र प्रस्तुत करने में ही विषय का पूर्णाभास दे देता है। यह ध्यान रहे कि रेखाचित्र में दो ही (dimensions) होती हैं। साहित्य में रेखाओ का उक्त काय शब्दो द्वारा हो सकता है इसलिए 'रेखाचित्र' को 'शब्दचित्र' की सज्ञा प्राप्त है। रेखाचित्र तथा शब्दचित्र की समान प्रकृति का परिचय रेखाचित्रकार प्रकाश-चन्द्र गुप्त इस प्रकार देते हैं—"अपने लिए उपयुक्त साहित्यिक माध्यम अनेक प्रयोग करने के बाद ही मैं खोज सका, और कुछ स्केच लिख चुकने के बाद उनके लिए रेखाचित्र शब्द मेरे मस्तिष्क में बार-बार प्रतिध्वनित होने लगा था। मैं शब्दो की रेखाओ से अपने अनुभव के चित्र उतारने का प्रयास कर रहा था, और निरन्तर सोचता था कि मैं इन रेखाओ को तूलिका या पेन्सिल से खीच सकता तो कितना अच्छा होता।"[2] अवश्य ही शब्दचित्र में शब्दशिल्पी साहित्यकार वास्तविकता (व्यक्ति या वस्तु) के पहलू विशेष का अपने कुशल शब्द-विन्यास से इस रूप में चित्र प्रस्तुत करता है कि सपूर्ण अन्तर्बाह्य स्थिति व्यजित हो जाती है। यदि परिभाषा का प्रयास करें तो कहा जा सकता है कि साहित्य का वह गद्यात्मक रूप जिसमें एकात्मक विषय-विशेष का शब्द-रेखाओं मे सवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया जाता है, रेखा-चित्र या शब्द चित्र है।

अब हम उक्त परिभाषा में आये तथ्यो का स्पष्टीकरण करेंगे।

---

१ वह बुड्ढा, पृ० २९।

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि, पृ० ११४। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूरतें' पुस्तको में शब्दचित्र के साथ-साथ चित्रकार इन्द्र दुगड ने रेखाचित्र भी निर्मित किये हैं।

'गद्यात्मक रूप'—हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि रेखाचित्र कविता में मिलता है किन्तु उसका पूर्ण वैभव गद्य में ही खिलता है! कवि को गद्यकार की सुविधा नहीं, अतएव कविता के रेखाचित्र में अपेक्षाकृत वर्णनात्मकता अधिक आ जाती है।

'एकात्मक'—यह शब्द ही रेखाचित्र को कहानी से पृथक करता है। "रेखाचित्र में दो डायमेन्शन होती हैं; एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की संबंध-रेखा और दूसरी इस सम्बद्ध-रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है; उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक डायमेन्शन और बढ़ जाती है, यह अतिरिक्त डायमेन्शन विषय के अन्तर्गत होती है; कहानी का विषय एकात्मक नही रह सकता, उसमें द्वैत भाव होना चाहिए अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने आप में होना कहानी के लिए काफी नहीं है। कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा—प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा; अपने में सिमट कर रह जाना काफी नही होगा। अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक विन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोजक-रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेन्शन है जो कहानी में बढ़ जाती है।"[१] कहानी के द्वैतभाव का स्पष्टीकरण एक विद्वान के कहानी-सम्बन्धी इस कथन से भलीभांति हो सकता है—"आदमी को कुत्ते ने काटा, यह घटना हुई, आदमी ने कुत्ते को काटा, यह कहानी बन गई; अथवा 'एक राजा था और उसकी एक रानी थी'—यह कोई कहानी नहीं बनी; किन्तु 'एक राजा था तथा उसकी दो रानियां थी; या एक रानी थी उसके दो राजा थे'—यह कहानी बन गई। रेखाचित्र की पीठिका विषय के साथ ही नैसर्गिक रूप में होती है, पृथक् नही।"

'विषय'—शब्दचित्र का लक्ष्यव्यक्ति भी हो सकता है, वस्तु भी; चेतन भी और जड़ भी। अतएव हमने मात्र विषयशब्द का प्रयोग किया है जिससे किसी निश्चित निर्धारित वस्तु का बोध नहीं होता।[२] इसमें व्यक्ति, प्राणी, प्रकृति आदि सब का चित्रण हो सकता है।

'विशेष'—विषय के साथ विशेष शब्द के दो अभिप्राय हैं—(१) विषय की अनुभूत

---

१. 'विचार और विश्लेषण'—डा० नगेन्द्र, पृ० ८५

२. डा० भगीरथ मिश्र ने अपने काव्यशास्त्र पृ० ९७ मे 'विजय' के स्थान पर 'विलक्षण व्यक्तित्व' अथवा 'सामान्य विशेषताओं से मुक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र' का प्रयोग किया है। अवश्य ही महादेवी के 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाये' पुस्तकों के आधार पर यही ठीक है किन्तु अनेक लेखकों तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त के ऐतिहासिक भग्नावशेषों, खण्डहरों पर लिखे रेखाचित्र या बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' मे लिखे 'पहली वर्षा' (प्रकृति-चित्रण) (पृ० १२१) आदि रेखाचित्र कोई विलक्षण व्यक्तित्वों को लेकर नहीं लिखे गये। अतएव 'विषय' शब्द ही ठीक रहेगा।

वास्तविकता, (२) विषय की असाधारणता—संवेदना-स्फुरण में सक्षम विषय। रेखाचित्र का विषय प्राय अनुभूत्यात्मक होता है, काल्पनिक नहीं। महादेवी के रेखाचित्रात्मक कृतियों के नामों—'स्मृति की रेखायें', 'अतीत के चलचित्र'—से, दूसरी कृति की भूमिका से इससे भी बढ कर उनकी सघन संवेदना से यह स्पष्ट है कि इन रेखाओं में चित्रकर्त्री ने उनको चित्रित किया है 'जो स्मृति पट से हटते ही नहीं'[1] या जो 'धूमिल चलचित्रों के उज्ज्वल आधार हैं',[2] जिनकी ममता सुन्दर सरलता शिव और मनुष्यता सत्य रही है,[3] मानो जो धूलि के रत्न हैं और जिन्हें किसी पारखी ने पहचाना। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी 'पुरानी स्मृतियां' पुस्तक में उन व्यक्तियों के चित्र बनाये हैं जिनके बीच उनका शैशव खेला है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने 'भूले हुए चेहरों' की याद को रेखाओं में बांधा है।

'शब्द-रेखायें'—चित्रकला के 'रेखाचित्र' से समानता स्पष्ट करने के लिए हमने परिभाषा में 'शब्द-रेखाओं' का प्रयोग किया है। जैसे रेखाचित्र में रेखाओं का आधार होता है रंग आदि का नहीं—रेखाओं से ही बहुत कुछ व्यंजित हो जाता है उसी प्रकार 'शब्द-चित्र' में भी गिने चुने शब्दों के विन्यास से बहुत कुछ संकेतित होता है, एक ऐसा सूचक चित्र प्रस्तुत हो जाता है कि 'माटी की मूरतें'[4] और 'प्रतिमाएं'[5] मुखरित तथा 'रेखायें बोल उठती हैं।'[6]

'संवेदनशील'—चाहे वस्तु का चित्र हो या व्यक्ति का, उससे पाठक की संवेदनाओं की जागृति आवश्यक है। यही रेखाचित्र की प्रभावान्विति का प्रमाण हो सकता है। उक्त शब्द को परिभाषा में स्थान इसलिए भी दिया गया है कि सजीव शब्द-चित्र के लिए लेखक की गहरी आत्मीयता अपेक्षित है। चित्रांकन में तटस्थता अपेक्षित है फिर भी वैयक्तिक स्फूर्ति इसके लिए अनिवार्य है। महादेवी के रेखाचित्रों की मर्मस्पर्शिता जहां जगत् की 'मुर्झाई कलियों' तथा 'आंसू-लडियों' के कारण है वहां महादेवी की गीली पलकों, उनकी भावुक करुणा को भी नहीं भूला जा सकता। महत्व दोनों का है—महादेवी की करुणा ही तथाकथित क्षुद्रों की निहित महानता को अनावृत कर सकी है। इसी अर्थ में शब्दचित्र को वैयक्तिक कला कहा जा सकता है। वैसे रेखा चित्र कोई लेखक का अपना नहीं होता किसी और का ही होता है, इसलिए रेखाचित्र में सामान्यत आत्मत्व तथा परत्व का अद्भुत सामंजस्य रहता है—वह अन्तर्वाह्य चित्र होता है।

---

१ स्मृति की रेखायें, पृ० ३०।

२ द्रष्टव्य 'अतीत के चलचित्र' का समर्पण।

३ वही।

४ "माटी की मूरतें"—रामवृक्ष बेनीपुरी।

५ "बोलती प्रतिमा"—श्रीराम शर्मा।

६ "रेखायें बोल उठीं"—देवेन्द्र सत्यार्थी।

ये सब रेखाचित्र हैं।

अन्य मिलते-जुलते कलारूपों से अन्तर जान लेने पर रेखा-चित्र का स्वरूप और भी स्पष्ट हो सकेगा।

रेखाचित्र और कहानी

आज की चरित्र प्रधान कहानी और रेखा-चित्र बहुत निकट है। संक्षिप्तता, व्यंजना-प्रधानता की दृष्टि में भी उनमें समता है। "आज दिन कहानी की यह परिभाषा या व्याख्या स्वयं ही सर्वआत्म हो गई है कि किसी का ऐसा कारण सम्बद्ध वर्णन कहानी है जो भावोद्रेक, कर सके।"[1]

फिर भी उनके मूल अन्तर का निर्देश हम कर चुके हैं कि किस प्रकार कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है। (२) दोनों कला-रूपों के नामों से भी यह अन्तर स्पष्ट है कि कहानी के लिए कहानी आवश्यक है—चरित्र प्रधान कहानी भी कहानी ही है। इस तत्त्व से नितान्त अछूती कहानी को कहानी कहना व्यर्थ है। रेखाचित्र का प्रमुख कार्य व्यक्ति या वस्तु का चित्र प्रस्तुत करना ही है। (३) इन दोनों विद्याओं का अन्तर तव और भी स्पष्ट हो जाता है जव रेखाचित्र का विषय कोई वस्तु-विशेष होती है, व्यक्ति नही। (४) प्रसिद्ध विचारक लेसिग ने ठीक संकेत किया है कि काव्य के गत्यात्मक स्वभाव तथा वस्तु-वर्णनों के स्थिर स्वरूप में तात्विक विरोध है। कहानी की गतिशील प्रवृत्ति तथा रेखाचित्र की स्थिर प्रकृति को उक्त आलोक में समझना आवश्यक है, (५) यहीं से यह व्यंजित होता है कि कहानी का सम्वन्ध देश-काल से ह रेखाचित्र का मुख्यतः देश से। (६) कहानी अपेक्षाकृत कल्पना प्रधान तथा रेखा-चित्र अधिक यथार्थ चित्रण है। (७) रेखा चित्र कहानी से कही अधिक वैयक्तिक कला है—उसका सम्बन्ध साक्षात अनुभवों से अधिक है। इस दृष्टि से वह कहानी की अपेक्षा 'संस्मरण' के अधिक निकट है। (८) इसलिए कहानी-कथन की अनेक विधियों में से रेखाचित्रकार के आत्म वृत्तात्मक विधि को विशेष रूप से अपनाया है। रेखाचित्रकार स्वयं एक पात्र के रूप में अपने अनुभवों को अधिक सुविधा से मूर्त कर सकता है। महादेवी के रेखाचित्र इसका सजग प्रमाण हैं।[2]

---

१. द्रष्टव्य—"तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ", पृ० ६—यशपाल।

२. आत्मतत्त्व के सन्निवेश से रेखाचित्रकार यथार्थता-वास्तविकता का जो आभास देना चाहता है, और इस दृष्टि से कहानी से जो उसका अन्तर हो जाता है, वह महादेवी के निम्नस्थ कथन से स्पष्ट हो जायेगा—

"इन स्मृति चित्रों मे मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था।....मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपान्तरित हो जायेगा। फिर जिस परिचय के लिये कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है उसी परिचय के लिये मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहनाकर दूरी की सृष्टि क्यों करती !

—'अतीत के चलचित्र' की भूमिका, पृष्ठ २

रेखाचित्र और सस्मरण

अपनी साक्षात् सम्पर्क जन्य अनुभूति के वल पर, अपनी उज्ज्वल स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए जो रेखाचित्र लिखे गये हैं, वे सस्मरणो के अत्यधिक निकट हैं। महादेवी के सस्मरणो ने ही रेखाचित्रो का रूप धारण किया है।[१] बेनीपुरी की 'माटी की मूरतों' की भी यही अवस्था है।[२] इस रूप में रेखाचित्र सस्मृत व्यक्तियो का ही कलात्मक रूप हो जाता है। सस्मरणो का आधार लेकर ही रेखाचित्रो में आत्म-कथा का अश आ जाता है। क्योकि सस्मरण आत्मकथा के उल्लेखनीय क्षणो का लेखा होता है। पर इसी से रेखाचित्र से इसका अन्तर भी स्पष्ट होता है---सस्मरण प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिखते हैं किन्तु रेखाचित्रकार के लिए यह आवश्यक नही है। (२) सस्मरणो में देशकाल का वर्णन रेखाचित्र से अधिक होता है, यात्रा सम्बन्धी सस्मरणो में यह विशेषता अधिक पायी जाती है। (३) यह आवश्यक नही कि सस्मरण का लेखक रेखाचित्रात्मक-शैली---को अपनाये। (४) सस्मरण रेखाचित्र से अधिक आत्मनिष्ठ प्रकार है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

फ्रासीसी भाषा के शब्द 'रिपोर्ताज' तथा अग्रेजी 'रिपोर्ट' शब्द में घनिष्ट सम्बन्ध है। पत्रकार कला से भी इसका गहरा सम्बन्ध है। पत्र की जिस घटना को, सत्य की रक्षा करते हुए कलात्मक रूप में---सवेदनानुभूति की शक्ति के साथ---प्रस्तुत किया जाता है, वह रिपोर्ताज नामक साहित्यिक विधा की कोटि में आ जाती है। रिपोर्ताज और रेखाचित्र में कथनीयाश की यथार्थता की विश्वसनीयता के साथ सीमित विस्तार से विषय को चित्रित करने की समानता है। सवेदनानुभूति भी दोनो के लिए आवश्यक है। मुख्य अन्तर एक के घटना प्रधान और दूसरे के चरित्र प्रधान होने में है। दूसरे रिपोर्ताज में परिवेष्टन-परिस्थितियो का चित्रण आवश्यक है। और रेखाचित्रकार को विषय के भीतर से ही नैसर्गिक पीठिका उपलब्ध हो जाती है। तीसरे सूचनिका में रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामयिकता है, क्योकि इनका सम्बन्ध पत्रकार-कला से है।

रेखाचित्र और गद्य काव्य

वैयक्तिकता के कारण अपनी सवेदनाओ के प्रवाह में रेखाचित्रकार की शैली में गद्य काव्य का सा प्रवाह भी आ जाता है। फिर भी गद्य काव्य रेखाचित्र से कही अधिक आत्मनिष्ठ

---

१ दृष्टव्य---'अतीत के चलचित्र' की भूमिका।

२ "हजारी बाग सेन्ट्रल जेल के एकान्त जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरी ननिहाल के कुछ ऐसे लोगो की सूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगीं"---माटी की मूरतों की व्याख्या में लिखी भूमिका, 'ये माटी की मूरतें'।

साहित्य प्रकार है। गद्य काव्य की गम्भीर प्रकृति रेखाचित्रकार के हास्य-व्यंग्य को भी नहीं सम्भाल सकती।

अपनी भावात्मक-विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने से रेखाचित्रों में निबन्ध के तत्व भी आ जाते हैं।[1]

साहित्य के अन्य प्रकारों से अन्तर जान लेने के पश्चात् अब हम रेखाचित्रों के विधायक तत्वों को गिना सकते हैं। ये चार हैं—१. पात्र या वस्तु, २. पृष्ठाधार, ३. शैली, ४. उद्देश्य। इन सभी का कुछ परिचय हम परिभाषा को स्पष्ट करते हुए दे आये।

१. पात्र या वस्तु—यह शब्द रेखाचित्र का मुख्य तत्व है। यही वह तत्व है जिसकी झांकी शब्द चित्रकार को देनी होती है। उसे विषय के उस कोण विशेष को प्रस्तुत करना होता है जो सम्पूर्ण वास्तविकता को व्यंजित कर दे—जैसे यदि व्यक्ति है तो उसकी बाह्य आकृति से लेकर आचार-व्यवहार सब का संकेत मिल जायेगा। अपने आप में पूर्णता का आभास चित्र में अवश्य मिलना चाहिए।

२. पृष्ठाधार—चित्रांकन के लिए पट चाहिए। वैसे ही शब्द चित्रकार का वर्ण्य भी किसी स्थान विशेष पर आधारित होता है। वस्तु या पात्र की गोचरता के लिए ही इसकी सार्थकता है। इससे अधिक की शब्द चित्र में गुंजाइश नहीं। वस्तुतः विषय अपने अस्तित्व के लिए एक नैसर्गिक पीठिका लिये होता है, शब्द चित्रकार का आधार वही है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध देश से है, काल से नहीं। संगति के लिए काल व्यंग्य ही रहता है।

३. शैली—शब्द चित्रकार का यह दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। इस पर असामान्य अधिकार के अभाव में 'शब्द-चित्रकार की सफलता सम्भव नहीं। क्योंकि सामान्य रूप से कुछ लिखने की बात यहाँ नही। लेखक को सीमित परिधि मे शब्दों से रेखाओं का काम लेकर कोण को सम्पूर्ण बनाना होता है, जो विशेष लाघव—संक्षिप्तता-स्फूर्ति—का काम है। शब्द चित्रकार की सफलता इसमें है कि वह विषयानुरूप शैली का प्रयोग करके कहां तक उद्दिष्ट को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सका ह। रामवृक्ष बेनीपुरी की अपनी पुस्तक 'गेहूं और गुलाब' की प्रस्तावना मे कहे निम्नस्थ शब्दों में रेखाचित्र-कला का सार आ गया है—"ये शब्द-चित्र, पिछले शब्द चित्रों से भिन्न हैं—छोटे, चलते, जीवन्त! मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैपशॉट; आलोचक ने उस दिन डांटा—हाथी दांत पर की तसवीरें!" लघुता, पैनापन तथा मार्मिकता शब्द-चित्र शैली के लिए आवश्यक हैं। शब्द चित्र में शब्द-विन्यास तथा वाक्य-विन्यास की विशिष्टता होती है। एक शब्द

---

१. महादेवी के रेखाचित्रों मे ऐसा बहुत हुआ है, यथा ठकुरी बाबा के चित्र मे लेखिका ने कवि, ग्रामीण समाज तथा आधुनिक कवि सम्मेलनों पर अपने विचार प्रकट किये है। दृष्टव्य—"स्मृति की रेखाये", पृ० ९४—९५। वे निबन्धकार के समान विषयान्तर करके, उद्दिष्ट विषय से कुछ दूर जाकर, कभी अपनी कभी भक्तिन की, और कभी सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुस्थिति की चर्चा कर लेती हैं।

का एक वाक्य, तथा अपने में चित्र हो सकता है। एक पंक्ति का ही प्रघटक हो सकता है। पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य-खण्ड से ही काम चला लिया जाता है और 'है' 'था' आदि सहकारी क्रियाओं की बेजा मुदाखलत भी बरदाश्त नहीं की जाती। इन्हीं साधनों से तो शब्द रेखायें बनती हैं।[1] चित्र की प्रकृति के अनुरूप ग्रामीण शब्दों-मुहावरों का आश्रय भी लिया जाता है—रेखाचित्रकार की तूलिका में स्थानिक रंग भरा जाना आवश्यक है।[2] (स्थान स्थान पर पात्रानुकूल चरित्र-व्यंजक वर्तालाप भी रेखाचित्रों में मिलता है। इनकी भाषा पात्रानुकूल होती है[3]। चुभते-चित्रोपम विशेषण, साम्यमूलक अलंकार,[4] लक्षण-व्यंजना आदि कवित्वपूर्ण प्रसाधनों से चित्र को सजीव किया जाता है, यथार्थ के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों से ध्वनि-चित्र,[5] रंगों का उल्लेख कर वर्ण-चित्र अंकित किए जाते हैं। मिलते जुलते शब्दों में से प्रभाव-वर्द्धन किया जाता है।[6] एक ही वाक्य को एक छोटे से चित्र में अनेक बार दुहरा कर स्थिति के प्रभाव को मानस-खण्ड पर

---

१ बेनीपुरी के छोटे छोटे वाक्य, सहकारी क्रियाओं के बिना कैसे कार्य करते हैं, देखिये—"सिर के मुंडे हुए छोटे-छोटे बालों के रंग से चहरे का रंग प्रतियोगिता करता हुआ। बालों ने चारों ओर से जिस पर मुदाखलत-बेजा कर रखी है, वह छोटा-सा ललाट, चिपटा-सा! ललाट की कालिमा में पतली भौंओं की रेखा खोई-खोई-सी। छोटी-छोटी आँखें—जिनका पीला रंग राजेन्द्र बाबू की आँखों की याद दिलाता है।—'गेहूँ और गुलाब' का 'नयुनिया' चित्र पृ० २८।

२ बेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' पुस्तक में ग्राम्य जीवन के स्केचों में ग्रामीण शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। कोमलकांत-पदावली लिखने वाली महादेवी ने भी रेखाचित्रों में उनका स्वाभाविक-संगत आश्रय लिया है।

३ महादेवी की भक्तिन की भाषा देखिए—"हम मर जाब तौ इनकर का होई, कउन बनाई खियाई। कउन इन पर कर ई अजायबघर देखी-सुनी"—स्मृति की रेखाएं, पृ० ७२।

४ महादेवी की कविता तथा गद्य की उपमाओं में बड़ा अंतर आ गया है। सामयिक युग के पात्रों के लिए उपमाएँ भी दैनन्दिन के जीवन से ली गई हैं। यथा—"मेरी किसी पुस्तक के प्रकाशित होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता की आभा वैसे ही उद्भासित हो उठती है जैसे स्विच दबाने से बल्ब में छिपा आलोक"—वही पृ० १५।

समान आकृति वाले व्यक्तियों को महादेवी 'कावन की कापियाँ' कहती हैं, (२१)।

५ 'हड़ हड़ करती मोटर' गण्डक के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी (८८)
'मोटर सर-सर सर-सर भागी जा रही थी। (८९)
ललन भी बोल रहे हैं—वा—वा वा—वा वा—आ—आ " (१०६)।
ललन जी रोने लगे—आ—आ वा—बा—वा भ मा ." (१०७)।
—'गेहूँ और गुलाब

६ अगल-बगल के अनेक स्वरों को यों ही कुचलती, दबाती, दबोचती'।

मुद्रित करने का संकल्प होता है।[1] रेखाचित्र में विराम चिन्ह मात्र स्पष्टीकरण के लिए नही आते, वे भी बोलने लगते हैं।[2] हास्य-व्यंग्य शैली को मनोरंजक तथा तीखा बनाते हैं।[3]

उद्देश्य—सोद्देश्यता से कला मूल्यवान बनती है। हृदय-परिष्कार द्वारा मानवता के कल्याण-निर्माण में अग्रसर करना, सभी प्रकार की कलाओं से अपेक्षित है। सोद्देश्यता का कला तथा आनन्दानुभूति से किसी प्रकार का विरोध नही। महादेवी की ये सारगर्भित पंक्तियां किसी भी कला का आदर्श हो सकती हैं—"कला के पारस का स्पर्श पा लेने का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नही, सत्य के अतिरिक्त कोई पूंजी नहीं, भाव सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नही और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।" अवश्य ही चित्रण की कुशलता कला का आदर्श है, जीवनोन्नायक तत्वों का उद्‌बोधन चित्रण का आदर्श-रेखाचित्र-कला की सार्थकता इसी में है। शब्द-चित्र-चित्रण में ऐसा प्रभाव अपेक्षित है कि पाठक के भाव-विचार जागृत हुए बिना न रह सकें। यह प्रभावक उद्देश्य चित्र के भीतर से ही आए, बाह्यारोपित न हो—चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता के ही अभीप्सित आदर्श का बोध हो जाए। बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें', ग्राम्य जीवन यथार्थ चित्र है। यथा तथ्य चित्रण होते हुए भी लेखक का अभीष्ट स्कैच के अन्त पर ध्वनित हो उठता है और पाठक का विचारोद्‌बोधन हुए बिना नही रहता इस दृष्टि से उक्त लेखक का 'नथुनिया'[4] आदर्श स्केच है जहां आदर्श, मात्र व्यंजित होता है—लेखक अपनी ओर से तनिक नही कहता; उसकी सारी संवेदना शब्दों को सजीव करती और रेखाओं से ही मुखरित हो उठती है।

---

१. 'डोमखाना' एक लघुचित्र मे, 'बाप रे, मरे रे' वाक्य को चार-बार दुहराया गया है—वही, ८५—८७।

२. बेनीपुरी ने अपने चित्रों मे इनसे विशेष सहायता ली है। इनका मत है—"बोलने के समय जो काम हम चेहरे की भाव भंगिमा से लेते है, लिखने के समय वे ही काम हमें विराम-चिन्हों से लेना है।—देखिए 'हवा पर' पुस्तक मे 'मै कैसे लिखता हूँ' लेख, पृ० ८।

३. महादेवी का एक मार्मिक व्यंग्य लीजिए, आप दाद दिए बिना नहीं रह सकते—'जैसे तिथि-पर्वो में कथावाचक क कथा कह चुकने पर श्रोता, हाथ मे रखे हुए अक्षत-फूल फेंक देता है वैसे ही वे, धर्म खरीदने के लिए लाए हुए सस्ते अन्न से कभी एक मुट्ठी चावल, कभी चने, कभी जौ, बूढ़े के सामने बिछे हुए अंगोछे पर बिखेर कर राह नापते हैं। कोई साहसी पाई डाल जाता है, कोई जल्दबाज धोखे मे पैसा फैंक कर चल देता है। इन सब की भाग-दौड़ देख कर लगता है कि इन्हे ठीक संगम मे, अतल गहराई की सीमा रेखा पर, अनेक डुबकियाँ लगाने पर भी पाप के डूब जाने का विश्वास नहीं।...बीच बीच मे यह दान लीला भी मानो उसी अजर-अमर और निरंतर संगी को दूसरी ओर बहका देने का प्रयास मात्र है। यह बहकाना भी लग जाय तो तीर नहीं तो तुक्का तो है ही'—स्मृति की रेखायें, पृ० ५१—५२।

४. 'गेहूँ और गुलाब', पृ० २८—२९।

सवेदनानुभूति वढाने में महादेवी के रेखाचित्र सर्वाधिक सफल कहे जा सकते है। जिस उदास-उन्मन लघुता ने उनके सवेदन को दिशा तथा भावना को गति दी उसी के कुशल चित्रण मे वे पाठको को भी प्रभावित करने में समर्थ हुई है। अवश्य ही महादेवी (तथा अन्य लेखको) ने यत्र तत्र विपयातर करके भी, अपनी प्रतिक्रियाओ के दृष्टिकोण को व्यक्त किया है—और ऐसा करने से रेखाचित्रकार मानो निवन्ध तत्व का उपयोग करता है—फिर भी पाठक को मूल सवेदनानुभूति पात्रो के कुशल-करण चित्रण द्वारा ही होनी है। सस्मरणात्मक रेखाचित्रो में आत्मतत्व के सहज सन्निवेश के कारण प्रसगानुसार व्यक्त हुई लेखक की मानसिक-हार्दिक प्रतिक्रियाए अनाधिकार चेष्टा नहीं लगती।

मानवेतर रेखाचित्र भी किसी न किसी सत्प्रेरणा को लेकर ही लिखे जाते है—मानवेतर होते हुए भी वे मानव हिताय होते है।[1]

यह उल्लेखनीय है कि रेखाचित्र के उद्देश्य की प्रभविष्णुता लेखक से गहरी सवेदन की माग करती है। गहन सवेदना के अभाव में स्तुत्य उद्देश्य भी चित्रो में ही सिमट कर रह जाता है। रेखाओ का पैनापन, कला का कलन भी इस कमी को पूरा नहीं कर सकता।

रेखाचित्र के वर्गीकरण के दो आधार हो सकते है—

१ वर्ण्य विपय २ शैली।

वर्ण्य विपय की दृष्टि से इसके दो प्रकार हो सकते है—१ मानव सम्वन्धी २ मानवेतर।

शैली की दृष्टि से इसके मुख्यत दो प्रकार हो सकते है—१ शुद्ध रेखाचित्र २ मिश्र रेखा चित्र।

शुद्ध रेखाचित्र में साहित्य की अन्य विधाओ की सहायता नही ली जाती। मिश्र रेखाचित्र में कहानी, निवन्ध, सस्मरण आदि के तत्वो से सहायता ली जाती है। पहले का उदाहरण वेनीपुरी का 'नथुनिया' स्केच हो सकता है और दूसरे के उदाहरण महादेवी के रेखाचित्र है।

शुद्ध रेखाचित्रो में भी अनेक कलाप्रवृत्तियो का विकास हो चुका है और उनको ये नाम दिए गए है (या दिए जा सकते है)—सवेदना-चित्र, व्यग्य-चित्र, अध्ययन चित्र, छवि आदि। इन अनेक शैलीगत प्रकारो का आधार यही है कि रेखाचित्रकार किस सीमा तक विपय की अनुकृति करता है, भीतर को कितना अभिव्यक्त कर सका है और किस सीमा तथा किस कोटि की आत्माभिव्यक्ति भी कर सका है। शुद्ध रेखाचित्र से 'प्रकाश छाया' में एक डायमेनशन बढ जाती है।

मिश्र रेखाचित्र कहानी प्रधान, निवन्ध प्रधान, सस्मरण प्रधान आदि हो सकते है।

---

१ इसी तथ्य को व्यक्त करने वाला प्रकाशचन्द्र गुप्त का कथन पठनीय है—"मेरे पहले सग्रह 'रेखाचित्र' की देहली रेडियो पर आलोचना करते हुए अज्ञेय जी ने कहा था कि मैंने मानवता का चित्रण न करके खडहरो का चित्रण किया था। यह सच था, लेकिन मानवता से प्रेरणा पाकर ही मैंने अपने विचार और भाव ऐतिहासिक भग्नावशेषो पर आरोपित किए थे।"—आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि, पृ० ११६।

श्री श्रीकान्त व्यास

भारतीय चित्रकला का पुनर्जागरण और श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर

अवनी बावू अपने चाचा रवि बावू की भांति भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावधारा के प्रमुख संदेशवाहकों में थे। स्वयं महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक बार उनके बारे में कहा था, "उन्होंने देश को आत्महीनता के पाप से बचाया है और उसे निराशा के गर्त से निकाल कर वह सम्मानपूर्ण पद प्राप्त कराया है, जो अधिकार से उसका था। मानवता के विकास में भारत की देन के प्रति उन्होंनें विश्व की सहानुभूति प्राप्त की। भारत की कलात्मक चेतना के पुनर्जागरण से आज देश में एक नये युग का आरम्भ हो रहा है। इस प्रकार अवनीन्द्र बाबू के प्रयास से बंगाल को देश में एक गोरवपूर्ण सम्मान प्राप्त हो रहा है।"

जिन दिनों अवनीन्द्रनाथ ने चित्रकला के क्षेत्र में प्रवेश किया उन दिनों हमारे चित्रकार पश्चिमी देशों की नकल में लगे हुए थे, न केवल माडल के चुनाव में बल्कि हर चीज में पश्चिम की नकल थी। चित्रकला जगत् से मौलिकता और कल्पनाशक्ति का मानो जनाजा उठ चुका था। देश की पुरानी चित्रकला परम्परा को आगे बढ़ाने की बात तो दूर रही, अपने आसपास के प्राकृतिक और प्राणि-जगत् के चित्रण में भी हमारे चित्रकार विदेशी चित्रकारों की नकल में लगे थे। रवि वर्मा की भांति जो कुछ चित्रकार धीरे धीरे भारतीयता की ओर उन्मुख हो रहे थे, देश की प्राचीन परम्परा के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण और कल्पनापूर्ण मौलिकता का परिचय नही दे पा रहे थे। अवनीन्द्र बाबू में न तो कल्पना का ही अभाव था और न मौलिक सूझ का ही। उन्होंने इस परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया। उनके इस विद्रोह में साथ दिया कलकत्ता आर्ट स्कूल के तत्कालीन प्रिंसिपल ई० बी० हावेल ने। उन्होंने प्राचीन और तत्कालीन भारतीय जीवन के भावनामय दृश्यों का चित्रण आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में वे भारतीय जीवन के निखरे हुए रूप को बिलकुल भिन्न और मौलिक अभिव्यक्ति देने लगे।

आरम्भ में उनके इस नवीन प्रयोग का बिलकुल स्वागत नहीं हुआ। यूरोपियन शैली के अभ्यस्त भारतीय चित्रकारों और कला-मर्मज्ञों ने उनके इस नवीन प्रयोग को महत्व देने से इनकार नहीं कर दिया बल्कि वे कई स्थानों पर उनका मजाक भी बनाने लगे। अवनीन्द्र बाबू के चित्रों की तत्कालीन आलोचना में कटुता और द्वेष का पुट अधिक रहने लगा। लेकिन वे ऐसी आलोचना से घबराने या झुकने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे अपने प्रयास में लगे रहे। धीरे-धीरे भारतीय चित्रकला

जगत में उन्होने न केवल अपना स्थान ही बना लिया बल्कि उनका विद्रोही व्यक्तित्व अपने समकालीन नये चित्रकारो को प्रभावित भी करने लगा और एक दिन उन्हीं लोगो को, जिन्होने उन्हें आरम्भ में हतोत्साहित करने का प्रयत्न किया था, उनकी प्रतिभा और मौलिक सूझ का लोहा मानना पडा। न केवल भारतीय आलोचको ने बल्कि विदेशी कला-मर्मज्ञो ने भी स्वीकार किया कि अवनी बाबू की कला में भारत की आत्मा बोल रही है।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म सन् १८७१ में जोरासांकू के ठाकुर-परिवार में जन्माष्टमी के दिन हुआ था। उनका पालन-पोषण आरम्भ से ही बडे कलात्मक और सास्कृतिक वातावरण में हुआ था। घर में देश-विदेश के बडे-बडे कलाकारो और विचारकों की उठ-बैठ बराबर लगी रहती थी। उनके पिता जी कला और सस्कृति की चर्चा में, उसकी सेवा में बडा रस लेते थे। उनके यहा साहित्य, सस्कृति और कला सम्बधी बडे-बडे गूढ प्रश्नो पर प्राय वार्तालाप और चर्चा चलती रहती थी। बालक अवनीन्द्रनाथ की कलाप्रियता के विकास में इस आरम्भिक वातावरण का बहुत बडा हाथ रहा। उनके बौद्धिकविकास पर उनके चाचा स्वय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भी बहुत बडा प्रभाव पडा।

कुछ दिनो तक आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होने पढाई-लिखाई बन्द कर दी और चित्रकारी का अभ्यास आरम्भ कर दिया, क्योकि इसी ओर इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी थी। कला की शिक्षा लेते हुए अवनी बाबू ने देखा कि तत्कालीन भारतीय कलाकार, चाहे, बडे हो चाहे छोटे, एक विचित्र आत्महीनता की भावना मे ग्रसित थे और विदेशी लोगो की नजर में अपने आपको ऊचा और अधिकाधिक आधुनिक सिद्ध करने के उद्देश्य से उनके अधानुकरण मे ही अपनी प्रतिभा की इतिश्री मान रहे थे। उन्हें न तो अपने देश की सास्कृतिक परम्परा का ही कोई ज्ञान था और न उसके प्रति कोई मोह। वे अपने आसपास भी जो कुछ देखते थे उसे एक अजीब उधार ली हुई दृष्टि से देखते थे, उसे बिलकुल यूरोपियन शैली में ढाल कर उपस्थित करने का प्रयास करते थे। अवनी बाबू को यह बिलकुल पसन्द नही आया। वे कुछ दूसरी तरह से सोचना और व्यक्त करना चाहते थे लेकिन उन्हें भी तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार दो विदेशी कला शिक्षको से शिक्षा लेनी पडी। इनमें से एक तो प्रसिद्ध इतालवी कलाकार सिग्नोर गिल्हार्दी थे और दूसरे थे चार्ल्स एल० पामर, जो उन्हें चित्रकला में यूरोपियन शैली की शिक्षा दिया करते थे।

अवनी बाबू ने अपने शिक्षणकाल का पूरा उपयोग किया, और अपनी कला के विकास के लिए काफी परिश्रम करते रहे। इस काल मे उन्होने कलकत्ता के आसपास के प्राकृतिक स्थलो के कई सुन्दर स्केच बनाये तथा यूरोपियन शैली में कई चित्र भी तैयार किये। लेकिन इन प्रयोगो से उन्हे सतोष नही होता था। उनमें अपनी आतरिक अनुभूतियो को रग और कूची की सहायता से साकार रूप देने की भावना धीरे धीरे बलवती होती गई, लेकिन उन्हें सही ढग से अभिव्यक्त करने का उचित माग और ढग अभी उनकी पकड मे नही आ पा रहा था। इस काल के अपने अनुभवो के बारे में उन्होंने लिखा है कि "मै बहुत व्याकुल हो उठा। मेरे हृदय में एक प्रकार की चाह और इच्छा उठ रही थी। मै उसका अनुभव तो किया करता था पर उसे व्यक्त नही कर पाता



Yours sincerely,

Abanindranath Tagore

था। मै बराबर वड़े ताज्जुब से सोचता था कि अब क्या होगा ?" अंतःमंथन के उन दिनों में सौभाग्य से उन्हें भारतीय चित्रों का संग्रह और कुछ विशेष अंग्रेजी के कला-प्रयोग मिल गये। इन चित्रों की सजावट और सौन्दर्य से मुग्ध होकर उन्होंने ऐसे भारतीय विषयों की खोज आरम्भ की, जिन्हे वे रंग और कूँची के सहारे अपने ढंग से रूपायित कर सकते थे। रवि बाबू की सलाह से उन्होने विद्यापति और चंडीदास के गीतों को चित्रित करने का प्रयास आरम्भ किया। इस ओर उनके प्रथम प्रयोग प्रायः असफल ही रहे, क्योंकि अभी वे यूरोपियन प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर पाये थे। इसलिए अब उन्होंने एक अन्य सज्जन से भी शिक्षा लेना शुरू किया जो भारतीय चित्रकला पर अपना अच्छा अधिकार रखते थे। नये शिक्षक से उन्हें काफी मदद मिली और वे राधाकृष्ण संबंधी चित्र तैयार करने लगे। अपने इस नये अनुभव के बारे में उन्होंने लिखा है कि "मैं उस समय क्या अनुभव करता था इसे किन शब्दों में प्रकट करूँ, लेकिन इतना अवश्य था कि मै रात-दिन चित्रों के बारे में ही सोचता रहता था, उन्ही के विचारों में डूबा रहता था। बस जरा आंख बन्द करने की देर थी कि चित्र मेरे दिमाग में तैरते चले आते थे, पूरे रूप मे रूप रंग, रेखा, बनावट, छाया, आदि, सब की दृष्टि से बिलकुल पूरे, हूबहू। मै झट कूंची उठा लेता था और बस, उन्हें चित्रित कर देता था।"

कुछ दिनों बाद उन्होंने तैल-रंगों की चित्रकारी छोड़ दी और पानी से घुलने वाले रंगों में चित्र बनाना शुरू कर दिया। धीरे धीरे वे कलकत्ता के सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल श्री इ० वी० हावेल के संपर्क में आये जिन्होंने अवनी बाबू को आर्ट स्कूल के अन्तर्गत संगृहीत चित्रालय में राजपूत और मुगल चित्रकला के कुछ उच्चकोटि के चित्र दिखलाये और उनका अध्ययन करने की प्रेरणा दी। अवनी बाबू ने श्री हावेल की देखरेख में नये ढंग के भारतीय प्रयोग आरम्भ कर दिये और "बुद्धजन्म" "बुद्ध और सुजाता" "ताजमहल का निर्माण" "शाहजहां की मृत्यु" आदि कई सफल चित्रों का निर्माण किया। धीरे धीरे स्वयं हावेल साहब अवनीबाबू की प्रतिभा के कायल होते गये और उन्हे विश्वास हो गया कि यह कलाकार अवश्य भारतीय कला को यूरोपियन प्रभाव से मुक्त कर उसमें एक नई जान फूंकेगा। श्री हावेल ने एक जगह लिखा है कि अवनीन्द्र बाबू संस्कृत और फारसी साहित्य के अच्छे ज्ञाता होने के कारण भारत के प्राचीन महाकाव्यों, जैसे महाभारत, और कालिदास के काव्यों तथा उमर खैयाम की रुबाइयों से अपने चित्र के लिये प्रेरणा पाते हैं। सन् १९०१-१९०२ के करीब अवनीचन्द्र बाबू पहले-पहल दो जापानी कलाकारों के सम्पर्क में आये। इन कलाकारों का नाम था योकाहामा तैकवान और हिसिदा। इन जापानी कलाकारों के संपर्क का भी अवनीबाबू ने पूरा लाभ उठाया। उनके "भारत-माता", "संध्यादीप" आदि कई चित्र, जो उन्होंने उसी काल में बनाये थे, जापानी शैली द्वारा प्रभावित हैं।

देश के बढ़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव कला और संस्कृति पर भी पड़े बिना नही रहा। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने अपने गीतों और अन्य प्रकार की रचनाओं से साहित्य और संस्कृति में पुनर्जागरण की भावना को बल पहुंचाया और उसका नेतृत्व किया। अवनी बाबू भी स्वभावतः इससे दूर न रह सके, बल्कि उन्होंने कला क्षेत्र का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और

अपने आस पास नये विचारो के प्रतिभाशाली कलाकारो को एकत्र कर "इडियन सोसायटी आव ओरियन्टल आर्ट" नामक एक कला-सस्था की स्थापना भी कर डाली। इस सस्था का उद्देश्य देश की कलागत परम्पराओ का पुन विकास और सवर्धन था। अवनी बाबू के इस आन्दोलन में श्री सुरेन्द्रकर, नन्दलाल वसु, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, असित हालदार सरीखे प्रतिभासपन्न बगाली कलाकार उनके साथ थे।

इस नयी कला सस्था की स्थापना और इसके नेतृत्व में देश में चलने वाले एक नये सास्कृतिक आन्दोलन में ही हम अवीनीबाबू की वास्तविक ऐतिहासिक भूमिका को देख सकते हैं। इस सस्था के अन्तर्गत कार्यक्रमो में विदेशों से प्रसिद्ध कलाकारो और कला-मर्मज्ञो को निमन्त्रित किया जाता था और कला के भाव और रूप पक्ष के बारे में मुक्त विचार-विनिमय किया जाता था तथा कलाकारो में आपस में सौहार्द और सद्भावना के विकास का भी प्रयत्न किया जाता था। यही नही, इसके अन्तगत नये कलाकार नित नये प्रयोग करते थे और उन्हें सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित भी किया जाता था, ताकि जनता में कला-प्रेम की भावना का विकास हो और उसकी राष्ट्रीय चेतना को भारतीय कला परम्परा का पुट प्राप्त होता रहे। इसी उद्देश्य से वे एक पत्रिका भी प्रकाशित करते थे।

तत्कालीन कलामर्मज्ञो और पुराने ढंडे के चित्रकारो को अवनीबाबू का यह आन्दोलन कुछ जचा नही। उन्होने इससे असहयोग करने के साथ ही साथ इसकी कडी आलोचना भी आरम्भ कर दी। लेकिन अवनी बाबू और उनके साथी अपने स्थान पर अडिग रहे और नये-नये कला-प्रयोग करते रहे। आखिरकार लोगो को उनके प्रयत्नो की सराहना करनी ही पडी। विदेशो में उनके इन प्रयोगो की काफी अच्छी वार्ता आरम्भ हो गई। इस प्रकार उनका सदेश देश के आम सस्कृति-प्रेमी लोगो तक पहुचता गया और लोगो में हर बात के लिये पश्चिम की ओर देखने की प्रवृत्ति का ह्रास होने लगा। लोगो को पता लगा कि भारत के पास उसकी एक अपनी पुरानी और उज्ज्वल सस्कृति भी है जिसे आज की आधुनिक सास्कृतिक मागो की पूर्ति के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है और आज की भावधाराओ के अनुसार विकसित भी किया जा सकता है।

अवनीन्द्र बाबू एक महान कलाकार ही नही थे वे एक सफल और योग्य शिक्षक भी थे। उनके निर्देशन में काम करनेवाले कई कलाकारो ने उनकी परम्परा को आगे बढाया है। अवनीबाबू का अपने शिष्यो के प्रति बहुत सुन्दर और मनोवैज्ञानिक व्यवहार रहता था। वे व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास में विश्वास करते थे। उन्होंने कभी अपने विचार और अपनी कला सबधी मान्यताए अपने शिष्यो पर नही लादी। ऐसी कई, घटनाए गिनायी जा सकती हैं तब उन्होने अपने शिष्यो को उनके चित्रो के बारे में दी गई सलाहें और आदेश वापस लिये हैं और नये कलाकारो को अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग करने की छूट दी है।

एक बार श्री नन्दलाल वसु अपने प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चित्र "उमा की तपस्या" के निर्माण में लगे हुए थे। अवनी बाबू ने उसके बारे में अपनी कुछ सलाह दी और चले आये। लेकिन उन्हें रात भर नींद नही आयी और वे बराबर यह सोचकर परेशान होते रहे कि मुझे

नन्दलाल पर अपनी राय थोपने का कोई अधिकार नहीं है। अन्त में सवेरे जल्दी उठे और श्री नन्द-लाल के यहां जाकर उन्होंने उनसे कहा, "तुम मेरी सलाह को कोई महत्व मत देना अपनी समझ और कला से काम लेना।" अपने शिष्यों के मुक्त विकास का इतना ध्यान रखने वाले इस कलागुरू का यह व्यक्तित्व उनकी अतिशय विनम्रता, आत्मसंतोष की भावना तथा आत्म-दर्शन के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा का ही दूसरा रूप है।

अपनी आयु के ५० वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष्य में जब कलकत्ता आर्ट स्कूल की ओर से उन्हे सम्मानित करने की तैयारी होने लगी तो उन्होंने कहा था, "मुझे अब एकांत में ही रहने दिया जाय तो ज्यादा अच्छा है। मुझे विश्वास है कि मुझ से भी अच्छे कलाकार आगे पैदा होंगे और भारत की सांस्कृतिक परम्परा को उज्ज्वल कर सकेंगे।"

अवनीन्द्र बाबू एक महान कलाकार और कलामर्मज्ञ तो थे ही साथ ही साहित्यिक प्रतिभा के भी धनी थे। अगर वे एक कुशल चित्रकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त न करते तो भी बंगला साहित्य-जगत् में उनके लिए स्थान सुरक्षित था। उनकी "राज काहिनी", "बुडो बंगला", "शकुं-तला", "खीरेरपूतल", "भूत परीर देश", "पथे-विपथे", आदि पुस्तकें बंगला साहित्य में बहुत लोकप्रिय हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित कला संबंधी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गये उनके भाषण जो "वागेश्वरी प्रवंधावली" के नाम से संगृहीत हैं, कला और साहित्य की एक अमूल्य निधि माने जाते हैं। चित्रकला के ६ अंगों के संबंध में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक "षडांगा" कला के सैद्धांतिक पक्ष पर एक आधिकारिक कृति मानी जाती है। इस पुस्तक का अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। अवनीन्द्रबाबू सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। अभि-नय-कला और मंच-निर्माण में उनकी दक्षता और कलात्मक सूझ की प्रशंसा रविबाबू वरावर किया करते थे। रविबावू के कई नाटकों की सफलता के पीछे अवनीन्द्रबावू का हाथ था।

अवनीन्द्रबाबू की प्रतिभा का सम्मान करते हुए आज हमारा ध्यान भारतीय सांस्कृतिक विकास और कला की वर्तमान स्थिति की ओर आकर्षित हुए बिना नही रहता। लगता है, जैसे आज हमारे कलाक्षेत्र में एक अवनीन्द्रनाथ, एक नये अवनीन्द्रनाथ की बहुत बड़ी जरूरत है। आज हमारी कला युग की बदली हुई मांग को पूरा करने में कुछ असमर्थ-सी हो रही है। आज का भारतीय समाज पुनरुत्थान नही परिवर्तन के युग से गुजर रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे कला-साधकों के लिए अवनीबावू के ऐसी सांस्कृतिक प्रतिभाओं से प्रेरणा लेने के साथ ही एक नयी दृष्टि अपनाने की भी आवश्यकता है। इस जगह कला क्षेत्र में अवनीन्द्रबाबू की पुनरुत्थानवादी प्रतिभा हमें अपनी महान सांस्कृतिक परम्परा के प्रति उन्मुख होने की प्रेरणा अवश्य देगी, लेकिन साथ ही हमें एक नया जीवन-दर्शन भी अपनाना पड़ेगा, तभी हम आज के युग की बदली हुई सांस्कृतिक मांग को पूरा कर सकेंगे। उस सांस्कृतिक मांग को जो चाहती है कि गुणों की दासता से बंधन-मुक्त होने के लिये मानव आज जो शानदार संघर्ष कर रहा है उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति हो—ऐसी सबल अभिव्यक्ति, जो उसके इस ऐतिहासिक संघर्ष को प्रेरणा दे सके।

श्री मुकन्दीलाल, बैरिस्टर

कवि और चित्रकार मोलाराम

मोलाराम (१७४३-१८३३) के वशज जो मुस्सवरो के खानदान से प्रख्यात थे, गढवाल राज्य की पुरानी राजधानी, श्रीनगर में हमारे पूर्वजो के पडोसी थे।[1] और अब नये श्रीनगर में हमारा व उनका मकान आमने-सामने है। मोलाराम के परपौत्र बालकराम और तुलसीराम से हमारी घनिष्ट मित्रता बचपन से रही। तुलसीराम (१८८६-१९५०) हमारे बालसखा, लगोटिया यार, थे। तुलसीराम को हमने बाल्यावस्था में चित्रलेखन करते देखा है। तुलसीराम ने चित्रलेखन छोड दिया। किन्तु जरगरी (सुनार काम) जारी रखी। सोने चादी के कार्य मे उनके पूर्वज बडे प्रवीण थे। मोलाराम के पुत्र ज्वालाराम (१७८८-१८४८) और परपौत्र हरीराम (१८५८-१९०६) तक चित्रलेखन इन मुस्सवरो के खानदान में जारी रहा। परन्तु ज्वालाराम की मृत्यु के पश्चात चित्रकला देवी ने इन चित्रकारो का घर छोड दिया। इसका कारण था कि मोलाराम के कुछ वशज जो चित्रकला में दक्ष थे वे विक्षिप्त हो गये। अस्तु इन लोगो का ख्याल हुआ कि चित्रलेखन करने वाले पागल हो जाते है। इसलिये मोलाराम के वशजो ने चित्रकला मे पीठ फेर ली। किन्तु तब भी शिल्पकला से मुह नही मोडा। और सुनार का काम करते रहे। परन्तु अब उन्होने इस शिल्पकला को भी त्याग दिया। हमारे परममित्र, तुलसीराम, की मृत्यु (१९५०) के साथ शिल्पकला भी उनके खानदान से लोप हो गई। सोने चादी का काम इन मुस्सवरो के खानदान में नही होता है।

मोलाराम का चित्र-सग्रह

मोलाराम, उसके पिता मगतराम, पितामह हीरालाल, और प्रपितामह श्यामदास, तथा मोलाराम के पुत्र ज्वालाराम प्रपौत्र हरीराम, व मोलाराम के शिष्य मानकू और चैतू के बनाये हुये हजारो चित्र मोलाराम के चित्र-सग्रह में थे। मोलाराम की मृत्यु के बाद उसके चित्र सग्रह के सहस्त्रो चित्र मोलाराम के विक्षिप्त प्रपौत्रो ने बरबाद किये। सैकडो चित्र ज्वालाराम

---

१ पुराना श्रीनगर, जो १२वीं सदी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक गढराज (गढ़वाल) की राज्यधानी रही, सन १८९४ अगस्त की गौनाल्फड (बाड) द्वारा नष्ट हो गया। उस पुराने श्रीनगर का (मोलाराम के पुत्र ज्वालाराम का खींचा) चित्र और एक फोटो भी मौजूद है। नये श्रीनगर का नौटियाल कृत तैल चित्र भी मौजूद है।



प्रोषितपतिका

(१७८८-१८८४), जो कुमायूं प्रान्त के पहिले कमिश्नर Sir Henry ramsay (१८४०-१८८०) के अहलमद नियुक्त हुये थे, उन्होंने अपने मित्र, और समकालीन सरकारी पदाधिकारियों की भेट किये। रियासतों में यह रिवाज था कि राजकुमारियों के विवाह के समय दहेज के साथ चित्र भी दिये जाते थे। सैकड़ों चित्र मोलाराम संग्रह के गढ़राज कुमारियों के विवाहों में अन्य पहाड़ी रियासतों में गये। थोड़े से चित्र जो बच रहे उनको बालकराम (१८६७-१९५६) ने अपने कब्जे में कर लिया था।

चित्रकला से बाल्यावस्था से ही हमारा अनुराग था। हमारी छात्रावस्था में एक बार सन् १९०८-९ में बालकराम जी ने बड़ी उदारतापूर्वक हमें मोलाराम संग्रह के कुछ चित्र दिखाये। हमें चित्र बहुत उच्चकोटि के प्रतीत हुये। अस्तु, हमनें सोचा कि मोलाराम की चित्रकला व चित्र-संग्रह से संसार को परिचित कराना चाहिये। इसलिये हमने पहले पहल अक्तूबर १९०९ के "माडर्न रिव्यू" में मोलाराम के विषय में एक छोटा-सा लेख लिखा। और उसके साथ, नमूने के ढंग पर, "गोबर्धन" चित्र का रंगीन प्रतिबिम्ब प्रकाशित कराया। यह एक अपने ढंग का विलक्षण चित्र मोलाराम का है। मोलाराम का परिचय सबसे पहिले भारतीय चित्रकला प्रेमियों को इसी हमारे नोट द्वारा हुआ था। गोवर्धन धारण-चित्र मोलाराम के हाथ का उस समय का है जब तक मोलाराम मुगल कला शैली से अभी बहुत दूर नही गया था। मुगल चित्रकला शैली का असर उसमें मौजूद रहा है। हमारी धारणा है कि पहाड़ी कलाकार आरम्भ में मुगल शैली में चित्रालेखन करते थे। इस बात का उदाहरण हमें मोलाराम के रेखा और रंगीन चित्रों में मिला है। और अपनी अंग्रेजी पुस्तक "गढ़वाल स्कूल आफ पेंटिंग" में हमने विस्तार पूर्वक लिखा है।

इस बीच, सन् १९०८-१९०९ में, जब हम हिन्दू कालिज बनारस में पढ़ते थे, हमको अपने परम मित्र श्रीप्रकाश के पिता, बाबू भगवानदास जी के भवन "सेवाश्रम" में डाक्टर आनन्द-कुमार स्वामी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक गढ़वाली मसल है "पैलेई बूड गितांग छै, अब त नाती ह्वेगे" अर्थात् बुढ़िया पहिले ही गुनगुनाने (गाने) की शौकीन थी, अब तो पोता (नाती) पैदा हो गया। अब तो उसे सुलाने के लिये और भी अधिक गुनगुनाया करेंगी। हमें चित्र-कला से प्रेम तो था ही, भारतीय चित्रकला के अद्वितीय मर्मज्ञ और आलोचक, आचार्य डा०, आनन्दकुमार स्वामी से परिचय होने से हमें भारतीय कला के आदर्श, सिद्धान्त और लक्षणों को समझने व उनका मनन करनें का अच्छा अवकाश मिला। उनके संग्रह के चित्रों का भी हमने अव-लोकन किया। भारतीय चित्रकला से हमारी जानकारी बढ़ने लगी। हमारे गुरु डा० कुमार स्वामी के द्वारा कलकत्ते के जगद्विख्यात चित्रकार डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर और उनके बड़े भाई गगनेन्द्र-नाथ टैगोर (जो अपने ढंग के अनोखे व अद्भुत चित्रकार थे) उनसे तथा अवनीन्द्र बाबू के विख्यात शिष्य नन्दलाल बोस व असितिकुमार हल्दर और प्रसिद्ध भारतीय चित्रकला के आलोचक व चित्रकला पर लिखने वाले श्री बोधेन्द्रचन्द्र गांगुली, से हमारी मैत्री हुई। और हमारी चित्रकला के ज्ञान-भण्डार की वृद्धि होने लगी।

मोलाराम के चित्रो की प्रथम प्रदर्शनी

भारतीय चित्रकला अनुरागियो को मोलाराम के चित्रो को स्वय देखने का अवसर सन् १९१०-११ की इलाहाबाद की विख्यात शिल्प कला प्रदशनी में मिला। बडे आग्रह के साथ हमने बालकराम से मोलाराम के कुछ चित्र इस प्रदशनी में रखवाये। उनको देखकर मोलाराम के ६ चित्र डा० आ० कुमारस्वामी ने बालकराम से खरीदे और कुछ श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर के बडे भाई गगनेन्द्र बाबू ने भी खरीदे। अब टैगोर सग्रह के वे चित्र अहमदाबाद के धनाढ्य कस्तूरी भाई लाल भाई के सग्रह में ह। हम उनके सग्रह को देखने सन् १९४९ में अहमदाबाद गये। वहा लेखक ने मोलाराम के हाथ का वह चित्र पाया जिसका रेखाचित्र लेखक के सग्रह में सन् १९३० ई० से हैं। कुछ और भी चित्र गढवाल शैली के उस सग्रह में मिले।

पत्रो में मोलाराम के चित्रो का प्रकाशन

इसके दो वर्ष बाद हम विलायत चले गये थे। वहा से लौटने पर अपने मित्र श्री बोधेन्द्रचन्द्र गगोली के आग्रह से सन् १९२१ अक्तूबर मास के "रूपम" में हमने मोलाराम के विषय में एक लेख, उस सामग्री के आधार पर लिखा, जो हमको तब तक, मोलाराम के सम्बन्ध में प्राप्त हो चुकी थी, और उसके साथ मोलाराम के सात चित्र भी हमनें छपवाये।

इसके बाद सन् १९२८ की जनवरी मे "विशाल भारत" के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के विशेष आग्रह करने पर हमने "विशाल भारत" के पहले भाग के प्रथम अक के लिये "राजपूत (पहाडी) चित्रकला और चित्रकार मोलाराम" पर एक लेख लिखा, जिस लेख को "विशाल भारत" के सम्पादक की उदारता व गुणग्राहकता के कारण "विशाल भारत" के पहिले भाग के पहले अक में पहला स्थान मिला।

फिर अपने मित्र डा० ताराचन्द के अनुरोध से हमने जुलाई १९३२ से "हिन्दुस्तानी" में "चित्रकार कवि मोलाराम की चित्रकला और कविता" पर लेखमाला आरम्भ की, जो सन् १९४२ में समाप्त हुई।

इस बीच जो कुछ और सामग्री हमको मोलाराम की चित्रकला व जीवन चरित्र के सम्बन्ध में प्राप्त होती गई हम उसका सग्रह करते गये। नवीन सामग्री जो कुछ हमें १९३२ के बाद मिली हैं उसका प्रयोग हमनें सक्षित में, एक लेख "भारतीय चित्रकला मे मोलाराम का स्थान" में की हैं जो सितम्बर १९४० की "सरस्वती" में छपा हैं।

अब अधिक सामग्री की प्रतीक्षा न कर हमने अपने आज तक की अनुसधान और खोज के आधार पर मोलाराम व उसकी चित्रकला पर लिखने का साहस किया हैं। इससे पहले दिल्ली से प्रकाशित "रूपलेखा" में भी चार पाच वर्ष हमारी अग्रेजी में "गढवाल चित्रकला" पर लेखमाला निकलती रही।

मोलाराम की चित्रकला का विदेशों में प्रचार

मोलाराम की ख्याति अब अमेरिका व योरोप तक पहुंच चुकी है। अमेरिका में हमारे गुरु डा० आनन्दकुमार स्वामी ने मोलाराम का परिचय प्रकाशित कराया।

मि० जे० सी० फ्रेन्च बंगाल की सिविल सर्विस में थे। उनको भारतीय चित्रकला से इतना प्रेम था कि वे स्वयं कांगड़ा के पहाड़ों में, उन स्थानों में गये जहां पहिले चित्रकार रहते थे। हमारे 'मार्डन रिब्यू" और "रूपम" वाले लेखों को पढ़कर मि० फ्रेंच १९३० में लैन्सडौन में हमारा चित्रसंग्रह देखने हमारे मकान पर आये। और वे मोलाराम के घर श्रीनगर भी गये। वहां बालकराम व तुलसीराम से मिले। मोलाराम के कुछ चित्र उन्होंने देखे और कुछ उन्होंने खरीदे। विलायत जाकर मि० फ्रेंच ने सन् १९३१ में "हिमालय आर्ट" (पहाड़ी-चित्रकला) पर एक पुस्तक लिखी। उस पुस्तक द्वारा मि० फ्रेंच ने मोलाराम का परिचय योरूप में कराया।

मि० फ्रेंच मोलाराम को अठारहवी सदी का एक आदर्श कलाकार मानते हैं। अर्थात् मोलाराम की चित्रकला उस शताब्दी की थी जिसमें राजपूत चित्रकला अपनी पराकाष्ठा को पहुंची। मोलाराम के चित्र साफ पहिचाने जा सकते हैं।

मोलाराम प्रख्यात इतिहास-सिद्ध चित्रकार माना जा चुका है। सन् १९३३ में श्री नानालाल चमनलाल मेहता आई० सी० एस० ने "भारतीय चित्रकला" पर पुस्तक लिखी उसमें उन्होंने लिखा है कि:—

"सन १९२१ में श्री मुकन्दीलाल ने टिहरी-गढ़वाल[1] के कवि-चित्रकार मोलाराम का पता लगाया, क्योंकि यही एक नाम उस वक्त मालूम था। और इसी से उनके चित्रों की कुछ विशेष प्रसिद्धि भी हुयी। पर अब कई हिन्दू चित्रकारों के नाम उपलब्ध हैं। टिहरी गढ़वाल के ही मोलाराम के सामकालीन दो चित्रकारों के नाम चैतू और माणकू अथवा मानक-मुझे टिहरी महाराज श्री नरेन्द्रशाह के संग्रह में सन् १९२४ में मिले। इनके कई चित्र प्राप्त हुये हैं। और चित्रकला में ये मोलाराम से किसी तरह कम नहीं हैं। मोलाराम के चित्रों की विशेषता इनके चित्र और कवित्व के समन्वय में है।"[2] मानकू और चैतू मोलाराम के शिष्य थे और गढ़वाल के निवासी थे न कि टिहरी गढ़वाल के।

मोलाराम की चित्रकला की ख्याति और उसके चित्रों के सौन्दर्य की चर्चा दूर-दूर देशों में पहुंच चुकी थी। नैपाल में मोलाराम के चित्र पहुंच चुके थे। उसकी चित्रकला की प्रशंसा नैपाली शासनकर्त्ताओं ने भी की है। गोरखा शासक (गवर्नर) हस्तिदल चौतरिय ने जब गोरखा युद्ध

---

१. मि० मेहता की धारणा गलत है कि मोलाराम या और कोई चित्रकार टिहरी मे थे। टिहरी की स्थापना सन् १८१८ में हुई। वहाँ चित्रकारों के कोई घर नहीं थे। न वहाँ कोई कला थी।

२. "भारतीय चित्रकला"—"हिन्दुस्तानी" एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० ५०—५१।

के बाद सन् १८०३ में श्रीनगर में शासन आरम्भ किया उसकी मुलाकात मोलाराम से हुई। हर्म्मिदल ने मोलाराम की बनाई हुई तस्वीरें खुद देखी। तब उसने मोलाराम से कहा —

कान्तिपुर में कीरति तुहारी सुनत रहे।
आंख निहारी चित्र विचित्र तुम्हारे देखे॥

मोलाराम की चित्रशाला

मोलाराम के हस्तलिखित कविता ग्रन्थो में कई स्थानो पर हमको उसकी चित्रशाला का परिचय मिला है। इसमें तनिक सन्देह नही कि मोलाराम की अच्छी खासी बडी चित्रशाला थी। जिसमें मोलाराम स्वय चित्रालेखन करता था, अपने शिष्यो को भी सिखाता था। वहाँ उसका चित्र सग्रह रखा रहता था।

मोलाराम की हस्तलिखित ऐतिहासिक और अन्य पुस्तको से पता लगता है कि मोलाराम राजकाय और राज्य तन से तटस्थ रहता था। वह राजनीतिक मामलो में दखल नही देता था। वह अपनी चित्रशाला में निमग्न रहता था। उसकी सहायतार्थ व परामर्श के इच्छुक उसकी चित्र-शाला में आते थे।

गढनरेश जयकृत शाह (१७८०-८५) के मत्रियो में परस्पर वैमनस्य था। उसके देहरा-दून के फौजदार अजबराम तथा घमर्डसिह राजा के खिलाफ हो गये और श्रीनगर पर चढ गये थे। तब —

महाराज अति दुखित भयो।
चित्रशाल मांहि हमको कह्यो॥
मोलाराम काम तजि जावो।
चित्रशाल नाहक हि बनावो॥
चित्र लिखो तुम क्या पायो।
हमको दुस्टन आन दबायो॥
याको कछु उद्यम ठहरावो।
हमरी अपनी जान बचावो॥

जयकृत शाह ने मोलाराम से कहा कि तुम सिरमोर (नाहण) के राजा जगप्रकाश के पास जाकर उससे इस सकट में सहायता की याचना करो।

मोलाराम स्वय नाहण नहीं गया। उसने जयकृत शाह की ओर से जगप्रकाश को सहायता याचना सूचक एक पत्र पद्य में लिखा —

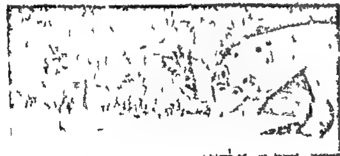
जयप्रकाश तुम भानु सम, तुम हमहू कियो ग्रास।
ग्राह गह्यो ज्यों गजही कों, घमड सिंह दिय त्रास॥



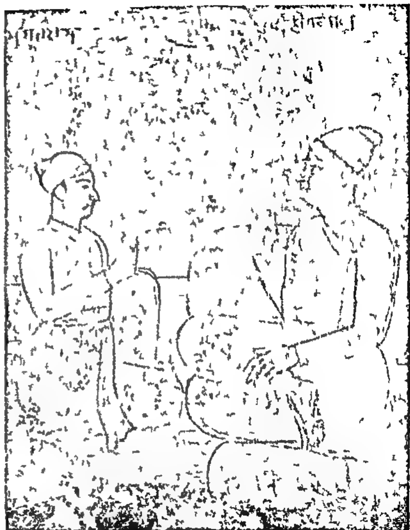
चकोर खेलावत हैं।

प्रतीक्षा में





राजा ललितशाह को स्वलिखित ग्रन्थ भेट करते हुए कवि मोलाराम।



मोलाराम के पिता (बाईं ओर)

कीच के बीच मे हाथी फंसै।
तब हाथी को हाथ दे हाथी निकारै॥

और इन पद्यों के अनुसार मोलाराम ने एक चित्र भी तैयार किया था—

इह छन्द हम दियो बनाई।
चित्र सहित लिख दियो पठाई॥

इससे स्पष्ट है कि मोलाराम अपनी चित्रशाला में तसवीरें बनाने में निमग्न रहता था और सांसारिक व राजकीय कार्यो से दूर रहता था।

सन् १८०३ ई० में गोरखाओं के आक्रमण के कारण गढ़वाल के राज्य परिवार ने अपनी पुरानी राजधानी, श्रीनगर, छोड़ दी थी। और १८१५ में अंग्रेजों की सहायता से गोरखों को परास्त कर आधा टिहरी गढ़वाल वापिस लेकर श्रीनगर से ३० मील की दूरी पर भागीरथी व भिलंगना के संगम पर, टिहरी में, आ बसे थे। महाराजा सुदर्शन शाह (१८०४-१८५९) के चाचा, प्रीतमशाह टिहरी से श्रीनगर, मोलाराम के पास, सत्संग, चित्र-विनोद और चित्रकला के अभ्यास के हेतु प्रायः आया करते थे। मोलाराम ने प्रीतमशाह के बार-बार उसके पास जाने पर उससे कहा :—

टिहरी मे तिरत रहे , गुरुद्वारे श्रीनग्र।
आवत जातहिं पग थके, दियो कवी नहीं सग्र[1]॥
प्रीतम शाह प्रवीन तुम, करौ कबिन सौं प्रीति।
सुजस करें हम आपको, राखो कुल की रीति॥

इस वार्तालाप और 'राखो कुल की रीति' शब्दों से पता लगता है कि गढ़वाल के राजा व उनके वंशजों को चित्रकला से सदैव अत्यन्त प्रेम रहा है। वे चित्रकारों के गुणग्राहक थे। मोलाराम व उसके पूर्वज गढ़वाल के राजदरबार के मुस्सवर थे। गढ़नरेश चित्रकारों के अन्नदाता, संरक्षक और कलाकारों के चित्र संग्रहकर्ता थे।

गढ़ नरेशों का कला प्रेम

जब गोरखा आक्रमण के कारण गढ़राज वंश श्रीनगर छोड़कर चला गया, तो उस भाग-दौड़ में दरबार के चित्र-संग्रह का क्या हुआ, इसका पता नहीं। हां जो चित्र मोलाराम की चित्र-शाला में थे, वे सुरक्षित रहे।

आधे गढ़वाल की राजधानी सन् १८१८ में टिहरी (जहां सन् १८१५ तक कोई आबादी नही थी, केवल दो चार झोपड़ी मल्लाहों की थी) स्थापित हुई। वहां राजमाता, (महारानी गुलेरिय) राजा प्रतापशाह (१८७२-१८८६) की विधवा रानी के पास गढ़वाल कला और

---

१. सग्र = सगर = सब।

अन्य पहाडी प्रदेशो (कागडा, गुलेर, मडी इत्यादि) की कला के बहुत सारे चित्र थे। राजमाता की मृत्यु के बाद वह सारा सग्रह उनके लाडिले पुत्र कुवर विचित्रशाह के पास आ गया। कुवर साहब के सग्रह से कुछ चित्र महाराजा नरेन्द्रशाह (१९१३-१९५०) की भेंट हुये, कुछ दीवान रायबहादुर चन्द्रधर जुयाल को मिले, कुछ भारत कला-भवन बनारस पहुचे। कुछ पटने के बैरिस्टर मानक ने खरीदे। और बाकी अब भी कुवर साहब के ज्येष्ठ पुत्र, राव वीरेन्द्रशाह, के पास हैं। हमारे परम मित्र राव साहब की असीम कृपा से उनके सग्रह का एक चित्र जो हमें मोलाराम की कलम का "राधाकृष्ण मिलन" (Krishna visiting Radha) हमारे सग्रह में है। यह चित्र, गढवाल कला का अच्छा नमूना और खास कर मोलाराम के हाथ का होने के कारण भारतीय कला की प्रदर्शिनी में सन् १९४७ में लदन, में प्रदर्शित हुआ। वहा से लौटने पर भारतीय सग्रहालय (नेशनल म्यूजियम) में भी कुछ समय यह रहा।

कुवर प्रीतमशाह के बाद गढराज वश के ठाकुर केशर सिंह, ठा० चित्र सिंह, कुवर वीरेन्द्र सिंह, अपने मनोरजन के लिये चित्र बनाते थे। परन्तु वे चित्र बहुत निम्नकोटि के थे। वस्तुत टिहरी गढवाल में न कोई गण्य चित्रकार थे न वहा कला की जड ही जम पाई। अत "टिहरी-गढवाल चित्र कला" कहना नितान्त गलत है।

मोलाराम के पूर्वजो का गढवाल में आगमन

गढवाल चित्रकला (Garhwal school of Painting)[1] के इतिहास और पहाडी कला के विकास की जानकारी हासिल करने के लिये मोलाराम की हस्तलिखित पुस्तको और चित्रो में बहुत सामग्री है। मोलाराम की सब रचनायें, अठारहवी सदी की प्रथा के अनुसार, पद्य में है। उसकी कविता की भाषा सरल हिन्दी है। मोलाराम ने, अपने पूर्वजो का गढवाल में आने का कारण, गढराज वश इतिहास अपने धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचार अपने समय की राजनीतिक स्थिति और अपनी चित्रशाला के विषय में, और शृगार रस पर सरल पद्य मे कई पुस्तकें लिखी है। जो अभी हस्तलिखित है।

गोराओ ने गढवाल के राजा प्रद्युम्नशाह (१७८५-१८०४) को परास्त कर १९०३ ई० में गढवाल राज्य पर अधिकार कर लिया था, और १२ वर्ष गढवाल में शासन किया। मोलाराम के चित्र नैपाल की राजधानी कातिपुर (काठमाडू) में पहुच चुके थे। जब गोरा गवनर हस्तिदल श्रीनगर (गढवाल) में मोलाराम से मिला तो उसने मोलाराम से कहा "हम तुम्हारे चित्र कातिपुर में (नैपाल) देख चुके थे। पर अब यहा, तुम्हारी चित्रशाला में, अतिसुन्दर अनेक तसवीरें देख रहे हैं"। हस्तिदल ने मोलाराम से आग्रह किया कि वह गढराज-वश का इतिहास और अपने पूर्वजो को श्रीनगर में आने का हाल सुनाये।

---

१ लेखक ने गढ़वाल चित्रकला (Garhwal School of Painting) पर एक पुस्तक लिखी है। जिसे रगीन चित्रो के साथ भारतीय सरकार प्रकाशित करने वाली है।

'हस्तिदल बूझे तुमसौं, कहो तहां की बात हि हमसौ ।"

तब मोलाराम ने विस्तारपूर्वक गढ़राज वंश का वृतांत जैसा उसने अपने पिता और पितामह से और समकालीन राज कर्मचारियों से सुना तथा स्वयं देखा था, पद्य में लिखा।

गढ़राज इतिहास[1] में मोलाराम ने लिखा है कि उसके मूलपुरुष शामदास और हरदास शाहजादे सुलेमान शिकोह के साथ मई १६५८ ई० में श्रीनगर (गढ़वाल) आये थे। औरंगजेब ने अपने पिता शाहंशाह शाहजहां को कैद कर अपने बड़े भाई, दारा, का अधिकार छीन कर, दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया था। दारा उस समय लाहौर में और उसका लड़का शाहजादा सुलेमान शिकोह, इलाहाबाद में था। सुलेमान शिकोह ने चाहा कि वह औरंगजेब की सेना, जो देश (मैदान) में थी, उससे बचकर, पहाड़ के रास्ते, लाहौर अपने बाप, दारा के दल में शामिल हो जाय। नगीना पहुंच कर उसने गढ़वाल के राजा पृथ्वीपत शाह को लिखा कि वह उसे श्रीनगर (गढ़वाल) में शरण दें। पृथ्वीपत शाह ने उत्तर दिया कि मेरे राज्य में खाद्य पदार्थों की कमी है। यदि आप केवल थोड़े से आदमी साथ लायें, तो मैं आपका स्वागत करूंगा। तब शाहजादा सुलेमान शिकोह अपने अन्य साथियों को नगीना छोड़ कर केवल १७ मुसाहिबों और नौकर चाकरों को लेकर मई १६५८ को श्रीनगर आया। वहां राजा ने शाहजादे का अच्छा स्वागत किया। और अपने महल के एक भाग में उसे ठहराया। १७ आदमी जो सुलेमान शिकोह के साथ आये थे उनमें मोलाराम के पूर्वज, दिल्ली के दो मुसावर, पिता और पुत्र, शामदास और हरदास भी थे।

जब औरंगजेब को सुलेमान शिकोह के गढ़वाल में आने का पता लगा तो उसने गढ़नरेश को, शाहजादे को, उसके हवाले करने के लिये मजबूर करने की गरज से राजा जयसिंह के पुत्र कुमार रामसिंह के नेतृत्व में सेना भेजी। यह फौजी दस्ता पहाड़ की तलहटी में रामगंगा के तट पर पाटलीदूण में आया। गढ़नरेश ने औरंगजेब की सेना से लड़ने का बहाना कर सुलेमान शिकोह को अपने फौज का सेनापति बनाकर गढ़वाली सिपाहियों के साथ पाटलीदूण के लिये रवाना कर दिया।

शामदास और हरदास को शाहजादे के सामान के साथ श्रीनगर में रोक लिया।

जो सैंजादे को गढ़ छूट्यो।
माल वादसाही सब लूट्यो।।
जफत दिवान मुसदी कीने।
राखे कैद लूट सब लीनै।।
श्यामदास अरु हरदास ही।
पिता पुत्र दोऊ राखे पास ही।।
तूंवर जान दिवानंहि जाने।
राखे हित सौं अत मन माने।।

---

१. "मोलाराम के शब्दों में 'गढ़राज इतिहास' लेखक ने लिखकर तैयार कर दिया है। पर अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

कमल विकास पर राजै, चद इन्द्रवधू।
की धौं सोम अक पर, दुज भोम वार से॥
मानक से जगै की धौं, कुदन खचित।
चारु जडे हं, झुमक ये काम सुनियार के॥
हेरत हि हरे मन, मानो जग जीत वे को।
कचन के पत्र लिखे, मन वसि कारे को॥
आनन्द के सदन कहत, वियोग हुं के।
प्यारी जू क बदन पर रवन प्यार के॥
शुभम। सवत १८६९ चैत (सन १८१२ ई०)

इस कवित्त में मोलाराम ने प्रोपितपतिका नायिका भेद नही दिया है। वह एक और रगीन प्रोपितपतिका, चित्र, जो महाराजा टिहरी के सग्रह में है और जिसका रेखाचित्र हमारे सग्रह मे है, उसमें प्रोपितपतिका नायिका भेद लिखा है। प्रस्तुत (उद्धृत) कविता में मोलाराम ने केवल प्रोपितपतिका के सौन्दर्य की प्रशसा की है। उसकी तुलना चाद और इन्द्राणी से की है। उसके शृगार और गहनो की सराहना की है जिनकी आभा ने उसके यौवन और सौन्दय को वढा दिया है, और जिनके कारण उसकी इस छवि को देखकर उसका पति, जो परदेश में है केवल वही वश में नही हो जायेगा, वरन वह अपने सौन्दय से जगत को जीत सकती है। अपने सोने के गहनो द्वारा मानो, उसने प्रवासी पति को पत्र भेजा है। और उसे याद दिलाई है कि परदेश जाने से पहिले जो प्रेम प्रदर्शन उसने किया था, उस प्रेम सूचक दातो के निशान उसके मुख पर अभी मौजूद है, जो उसके वियोग में उसका साथ दे रहे है। इस कविता में कवि मोलाराम ने अपने पूर्वजो के पेशे की भी प्रशसा की है कि वे कितने अच्छे सौन्दर्यवर्द्धक गहनें बनाते थे।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ

अमृत शेरगिल

अमृत शेरगिल की याद करते समय मुझे हमेशा प्रेमचंद की याद आती है और उनकी कृतियों का मूल्यांकन करते समय तुरंत ही यह विचार ध्यान में आता है कि किस प्रकार सन् १९३४ से ३६ ई० के आसपास चित्र कला भी यथार्थोन्मुख, स्वस्थ-समाज की स्थापना के लिए चिर चंचल हो उठी थी। सन् १९३४ ई० के लगभग पेरिस की चित्रशालाओं से चित्रकला का अभ्यास प्राप्त करके कुमारी अमृत शेरगिल भारत में आकर शिमला में रहने लगी। उस समय वह लगभग बीस वर्ष की ही होंगी, किन्तु उनकी चित्रशाला में गोग्याँ, सेजाँ, मातीश जैसे योरोपीय छविकारों की तलस्पर्शिनी कला-परंपरा ऐशियाई-अंकुरों में पनप रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिमालय की गोद में दुलराई गई सुकुमार, मधुर और नवोन्मेष-शालिनी काँगड़ा-कलम के लुप्तप्राय हो जाने के बाद, आधुनिक पुनर्जागरण के साथ ही स्वदेश में दो महान् कलाकारों ने दो पृथक कलाशैलियों को जन्म दिया। राजा रवि वर्मा के तैल-चित्र पाश्चात्य-तूलिका की अंधी-अनुकृति होने के साथ साथ 'ऐकेडेमिक' थे। किन्तु उनमें भारतीय पौराणिक-कथाओं के माध्यम से पुनर्जागरण का शिक्षा-पक्ष मुखर हो उठा था। दूसरी ओर अवनीद्रनाथ ठाकुर की 'ठाकुर-चित्रशैली' में, जो उस समय देश में छा-सी गयी थी, अनेक त्रुटियां थीं। कल्पना और सौंदर्य की रंग भरी रोमांटिक प्यालियों में करुणा, पीड़ा, दरिद्रता को छिपा लेनेवाली यह शैली आधुनिक भारतीय जन जीवन और आकांक्षाओं को व्यक्त करने में पूर्णतः असमर्थ होकर अतीत के दिवा-स्वप्नों में भूल गई थी। उसमें रेखांकन एवं चित्रांकन का कम कौशल था; वह अजंता का परिपार्श्व ग्रहण करके भी उसकी आत्मा में नहीं पहुँच पाई थी। इस बंगाली-शैली द्वारा काफी अर्से तक नवीनता का विरोध होता रहा। उधर बंबई-शैली की कला में भी पश्चिम के 'एकेडेमिक स्कूल' की नकल हो रही थी।

अतः पिछले कलाकार चित्रों द्वारा सौंदर्य स्वप्न में डूबे-से रहे, तो अमृता ने यथार्थ सत्यों को क्रांतपंथी बनाया।

इनका जन्म सन् १९१३ ई० में हंगरी की राजधानी बूदापेस्त में हुआ था। माता हंगरी की और पिता सरदार उमरावसिंह अमृतसर के धनी घराने के। आरंभ से ही चित्रकला की ओर उनकी विशेष रुचि थी। अतः ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही वे अपनी माता के साथ इटली गई

चित्रो में अंकित हुए। ये दोनो प्रकार के विषय-चयन अमृत की भारत के प्रति अनुरक्ति और आत्मीयता को प्रकट करते हैं। जबकि गोग्याँ पीडित मानवता को भूलकर "जादू भरे ससार" में खो जाना चाहता था और इसीलिए पेसिफिक-सिंधु-स्थित ताहिती द्वीप में जाकर उसने आदिम-जातियो को आदिम-शैली में अंकित किया। अमृत ने भारतीय जीवन में सक्रिय रूप से एकात्म होकर जनता की अमर-आत्मा, महान् सस्कृति और मानवता की महान विरासत को अंकित किया। गोग्याँ स्वप्नो के देश में भटक गया, अमृता ग्राम्य के पथो को पा गई, गोग्याँ कल्पना के इद्र धनुषी पखो पर उड कर मानवता को देखने लगा, अमृता यथार्थ के सघर्षों में जूझकर रोमांटिक सत्य खोजने लगी। अमृता ने अत्यत स्थूल और अत्यन्त दृश्यात्मक (too visual) कला के प्रति क्रांतिकारी विद्रोह करके अपनी कला द्वारा वह, पथ प्रशस्त किया जो आज भारतीय चित्र-कला का अपना नया मार्ग है, जिसमें शुद्ध भारतीयता है और जन-जीवन की आत्मा है।

अल्प वय की अमृता का जीवन निरतर जिज्ञासाओ से परिपूर्ण रहा था। उन्तीस वष के यौवन की उन्तीस लाल शमाएँ जला कर वह बुझ गई। किन्तु उनके चित्रो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रकृति विषादपूर्ण विषयो में ज्यादा महान् होकर उभरी है। 'ग्रामीण', 'भिखमगे', 'पिता का चित्र', 'स्व-चित्र' आदि चित्रो को कला विशारदो ने भूरि भूरि सराहा है।

सन् १९३८ ई० में बूदापेस्त जाकर अमृत ने डाक्टर विक्टर ईगान से विवाह किया। जाने के पूव उन्होंने लिखा था "हिन्दुस्तान से सदा के लिए विछोह में सहन नही कर सकती। मेरा प्रारब्ध हिन्दुस्तान के साथ जुडा हुआ है। मैं जानती हूँ कि मेरा कार्य हिंदुस्तानी कला-कारो के लिए एक चुनौती है, और मुझे इस बात पर सतोष होता है। इसका कारण यह नही कि मैं अपने को योरपवासी समझती हूँ (ऐसा हरगिज नही है), बल्कि ठीक ठीक कारण यह है कि मैं अपनी वर्तमान रचनाओ को उनकी रचनाओ की अपेक्षा ज्यादा भारतीय समझती हूँ और हिंदुस्तानी वस्तुओ के प्रति उनमें से बहुतो की अपेक्षा मुझमें ज्यादा गहरी भावनाएँ हैं।"

इतिहास और प्रगतिशील कला ने इन दोनो बातो को ही सत्य कर दिया है। आज अमृता हमारे बीच नही है किन्तु उनकी कृतियो में हम उन्हे रोज ही पुकार लाते हैं।

श्री रामचन्द्र टंडन

आधुनिक भारतीय चित्रकला : पिछली सदी के मोड़ पर

आधुनिक भारतीय चित्रकला का श्रीगणेश इस सदी के आरंभिक वर्षो में, बंगाल की नव जागृति के साथ माना जाता है। यह जागृति बहुमुखी थी और कला के क्षेत्र में इसके प्रधान पुरुष अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे। उन्होंने निश्चय ही, भारतीय चित्रकला को एक नया मोड़ देने की दिशा में एक बड़ा पग उठाया और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने इनके कार्य को एक नये आन्दोलन के रूप में ग्रहण किया। यह बात न भुलानी चाहिए कि इस आन्दोलन के पीछे जो भावना थी, ऐसी परिस्थिति के विरुद्ध जिसे हम पिछली सदी के अन्तिम वर्षो में अपने देश में पाते हैं। इस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में ही बंगाल की कला संबंधी जागृति ठीक ठीक समझी जा सकती है।

यह परिस्थिति क्या थी? संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवी सदी में भारतीय चित्रकला की जो प्रमुख परम्पराएँ प्रचलित थी...अर्थात् मुगल और राजपूत दोनों ह्रास की अवस्था में थी। ज्यों-ज्यों दिल्ली के वादशाहों की शक्ति घटी त्यों-त्यों मुगल कला में भी ह्रास हुआ यहाँ तक कि चित्रकारों में प्रेरणा और सृजन शक्ति का प्रायः लोप हो गया। वे पुरानी लकीरें पीटते रहे। शबीहों का अंकन उनका मुख्य धंधा रह गया। आश्रय की खोज में वे लखनऊ, पटना और दूर दक्खन पहुँचे। इन सभी जगहों में कुछ काल के लिए वे पनपे, लेकिन समय का प्रवाह उनके विरुद्ध था। बढ़ते हुए अंग्रेजी प्रभाव से उनकी कला को धक्का पहुँचा। इस नये प्रवाह से ताल मेल बैठाने और "जान" कम्पनी के धनी व्यवसायियों का सहारा लेने के उनके प्रयत्न उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिलते हैं किन्तु यह शैली दम तोड़ रही थी।

यही बात राजपूत शैली के बारे में भी कही जा सकती है। इसकी दो शाखाएँ थी राजस्थानी और पर्वतीय (कांगड़े की)। एक तीसरी शाखा तंजोर तक पहुँची थी। किन्तु राजपूत शैली भी ह्रासोन्मुखी थी। उन्नीसवी सदी का अंत होते-होते मुगल और राजपूत चित्र परम्पराएँ दोनों ही निर्जीव हो चुकी थी। वे विदेशी सम्पर्क का आघात न सह सकी।

हाँ, देश के कई भागों में बंगाल, उत्कल, दक्षिण में त्रिचनापल्ली आदि में लोककला के नमूने प्रस्तुत हो रहे थे। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा के असर ने ऊँचे वर्ग के लोगों की, अपनी कला में आस्था को पूरी तरह डिगा दिया था।

शायद यहाँ यह वता देना अनुचित न होगा कि अठारहवी सदी के अंतिम और उन्नीसवी सदी के पहले चरण में ५० से ऊपर ब्रिटिश पेशेवर चित्रकार भारत में आये, जिनमें से कुछ बहुत

कला कुशल थे। वे धन कमाने की कामना से यहाँ आये और उनकी धारणा यह थी कि उन्हे यहा की कला से कुछ सीखना नही है। वे आये और गये। भारतीय कला से उन्होने कुछ नहीं सीखा, यह उनका घाटा हो सकता है। परन्तु हमारे राजा-महाराजा और श्रीमानो में घटिया यूरोपीय कला के लिए भी वे एक देशी रुचि उत्पन्न कर गये, जिसका भार देश को बहुत समय तक ढोना पडा।

यूरोपीय शैली में जो यहाँ थोडा बहुत काम हुआ उसे आगे बढाने वालो में और लोकप्रियता दिलाने वालो में तिरुवाकुर राज परिवार के राजा रवि वर्मा का नाम मुख्य है। राजा रवि वर्मा ने चित्रकला की शिक्षा दक्षिण भारत में भ्रमण करने वाले यूरोपीय चित्रकारो, विशेषकर थियोडोर जेन्सन से प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह काय मदुरा के अलाग्री नायडू से भी सीखा था और अलाग्री नायडू तिरुवाकुर के महाराजा के आश्रय में यूरोपीय शैली में काम करने वाला अपने समय का सब से कुशल चित्रकार समझा जाता था। रवि वर्मा ने बहुतायत से चित्र बनाये और ये चित्र सस्ते तैल छापो द्वारा देश में बहुत फैले और प्रचलित हुए। कदाचित् इन चित्रो की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह था कि ये भारतीय देवी-देवताओ के चित्र होते थे या पुरानी कथाओ और उपाख्यानो को अकित करते थे। आस्थावान जनता के मन में, इनके प्रसग म टीका टिप्पणी की बात ही कैसे उठ सकती थी? राजा रवि वर्मा तथा दूसरे यूरोपीय शैली में चित्राकन करने वालो का काम कभी भी कला की दृष्टि से बहुत ऊँचा नही बन पडा। डा० आनन्द कुमार स्वामी, जो कला के बडे पारखी थे, ऐसी ही राय रखते थे। उनका तो कहना था कि रवि वर्मा की अच्छी से अच्छी कृतियाँ भी दूसरी श्रेणी से ऊपर नही उठ सकी है। फिर भी पाश्चात्य के प्रबल सम्पर्क ने भारतवासियो को ऐसा चकाचौंध कर दिया था कि रवि वर्मा की कृतियो की स्पष्ट त्रुटियो की ओर उनका ध्यान न गया। अमीर आश्रयदाताओ द्वारा वह उठा ली गयी। देश के अनेक राजा-महाराजाओ ने उनसे चित्र बनवा कर अपने महल सजाये और ऊँचे अग्रेज पदाधिकारियो ने उन्हे बढावा दिया और यूरोपीय कला के तथाकथित सास्कृतिक विस्तार पर सन्तोष और प्रसन्नता प्रकट की। फिर भी यूरोपीय शैली में भारतीय चित्रकारो ने जो कृतियाँ इस काल में प्रस्तुत की वे ऐसी नही है कि भारतीय कला उन पर गव करे। इसी समय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और लाहौर में सरकार की ओर से कला शिक्षालयो की स्थापना हो चुकी थी और इन शिक्षालयो में यूरोपीय शिक्षको के निरीक्षण में, भारतीय विद्यार्थियो को चित्रकला की शिक्षा मिलती थी। इन शिक्षालयो के सीखे हुए विद्यार्थियो ने भी कोई ऐसी कृतियाँ पेश नही की जिन पर हमें गर्व हो सके। सन् १९०२-३ की, दिल्ली की बडी प्रदशनी में ऐसे अनेक तैल चित्र दिखाये गये थे जो कि यूरोपीय शैली के अनुकरण मे, इन शिक्षालयो के विद्यार्थियो के बनाये हुए थे। इन चित्रो में कितनी और कैसी प्रतिभा मिलती है, इस विषय में एक अग्रेज कला समालोचक की सम्मति लीजिए। कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट के भूतपूर्व प्रिंसिपल परसी ब्राउन ने, सर जार्ज वाट द्वारा सपादित "इडियन आर्ट ऐट देहली" नामक पुस्तक में, इन चित्रो के विषय में लिखा है। उनका कहना है कि ये चित्र "अत्यन्त साधारण कोटि के थे, इनका रेखाकण त्रुटिपूण था और शैली तथा रग लगाने की

दृष्टि से यह नौसिखियों की कृति जैसे थे।" यह स्पष्ट है कि रानी विक्टोरिया के समय की विदेशी चित्रकला के पौधे का भारत में रोपा जाना ऐसा हुआ कि यहाँ की जलवायु उसे माफिक न आई और वह सुन्दर फूल खिल न सका। अपने परम्परागत चितेरों ने जो प्रभाव के लिए थे वे फिर भी गनीमत थे लेकिन जैसा कह चुका हूँ अपने यहाँ की परम्परा स्वयं ह्रास के रास्ते पर थी। बीसवीं सदी के आरंभ में हम पाते हैं कि देश की परम्परागत कला तो घोर अधःपतन को प्राप्त हो चुकी थी। यूरोपीय शैली को रोपने के प्रयत्न हो रहे थे। अपने देश की कला के लोप को डा० आनन्द कुमार स्वामी ने "अधिकांश में तथाकथित अंग्रेजी शिक्षा द्वारा उत्पन्न रुचियों का परिणाम" बताया है। यूरोपीय शैली का अंधानुसरण हमारी कला को कुछ बहुत आगे नहीं बढ़ा रहा था। एक कुंठा की स्थिति उत्पन्न थी। जब दो संस्कृतियों का सम्पर्क होता है तो स्वभावतः दोनों एक-दूसरे से कुछ ग्रहण करती हैं, कुछ सीखती हैं। नये मार्गों में प्रतिभा चल पड़ती है। उस समय अपने यहां अवस्था यह थी कि इस सम्पर्क में एक ओर प्रभुता की आन थी, दूसरी ओर दासता का हीन भाव। यह स्थिति राजनीति, समाज, शिक्षा, कला सभी क्षेत्रों में थी।

स्पष्ट है कि यह स्थिति बहुत चलने वाली नहीं थी। देश का आत्मसम्मान इसे सहन नही कर सकता था। कोई मार्ग निकालना था। समन्वय यदि सम्भव नहीं था तो विद्रोह तो सम्भव था। भारतीय कला में इस भावना ने जिस नव जागृति का रूप लिया वह आगे चल कर पुष्पित एवं पल्लवित हुई।

२. अवनीन्द्रनाथ और कला में जागृति

जैसा अभी कहा गया है, इस सदी के आरम्भ में, बंगाल में, कला सम्बन्धी जो जागृति हुई, उसके प्रधान पुरुष अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे।

यह नवजागृति किस प्रकार हुई, इसकी कथा रोचक है, यद्यपि अनेक बार कही जा चुकी है। स्वर्गीय आनन्द कुमार स्वामी ने एक जगह लिखा था कि "जो लोग उन्नीसवी सदी में भारतीय कला पर हुए, यूरोपीय कला के प्रभाव को जानते हैं और निकृष्ट, प्रेरणाविहीन तथा नितांत विदेशी ढंग की भारतीय शिक्षा से परिचित हैं....ऐसी शिक्षा से जो भारतीयों को अपने ही देश में विदेशी बना देती है... उन्हें, कला के क्षेत्र में, जो भी आन्दोलन संभव हुआ, उस पर अचरज ही होगा।" यह बात आज से पचास वर्ष पहले की स्थिति को ध्यान में रख कर लिखी गई थी, और बिल्कुल ठीक थी। अंग्रेजी राज की और जो भी देन रही हो, उसने देश की कला-परम्परा को गहरा धक्का पहुँचाया। देश के परंपरागत कलाकार राजाश्रय विहीन होकर अपना धंधा छोड़ ही रहे थे। ऊपर से स्थापना हुई देश में कला के ऐसे शिक्षालयों की जो पश्चिमी ढंग पर, साधारण स्तर के शिक्षकों द्वारा, कला की शिक्षा देते थे। फलतः जो घटिया काम सामने आया उसका संकेत पहले हो चुका है। फिर भी गुलामी की ऐसी छाप भारतीय मस्तिष्क पर पड़ चुकी थी कि हम कला सम्बन्धी प्रेरणा के लिए भी पश्चिम के मुखापेक्षी रहे। हमारे देशवासियों में कला सम्बन्धी विषयों में, आत्मसम्मान जाग्रत करने का श्रेय वास्तव में एक अंग्रेज सज्जन को प्राप्त

है। (और इसे मैं बिल्कुल आकस्मिक बात नही मानता कि हमारी राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना के मूल में भी दो अग्रेज सज्जनो का हाथ था।) जिस समय श्री हेवेल कलकत्ते मे सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल तथा इडियन म्यूजियम के कला-विभाग के निरीक्षक बन कर आये, उस समय उन्होंने देखा कि कला-विभाग यूरोपीय चित्रो की अत्यन्त हीन नकलो से भरा हुआ है और विद्यार्थी-गण यूरोपीय परिपाटी से त्रिकोणो, चतुष्कोणो और मूर्तियो के सहारे रेखाकण सीख रहे हैं। जो चित्र वे प्रस्तुत करते थे नितान्त प्रेरणा विहीन होते। हेवेल महोदय के मन में यह बात उठी कि यदि सत्रहवी सदी के अच्छे भारतीय चित्रो के आधार पर उन्हे शिक्षा दी जाये तो विद्यार्थियो को ठीक शिक्षा प्राप्त हो सकेगी। सौभाग्यवश उन्हे एक कुशल बगाली चित्रकार का उत्साहपूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने, जिन्होंने स्वय प्रारभिक वर्षों में यूरोपीय शैली में तैल चित्र बनाने का अभ्यास किया था, यह अनुभव किया कि अपने ही देश की परम्परा के आधार पर कला सम्बन्धी आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने मे ही कला का कल्याण है और भविष्य में इस आन्दोलन से जागृति तथा हित की बडी सभावनाएँ हैं। यह विचार करके उन्होंने बडे उत्साह और लगन के साथ हेवेल के विचारो को कार्यान्वित करने का उद्योग किया, और इस प्रकार जिस उद्देश्य को हेवेल ने, सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया था, उसे व्यावहारिक रूप मिला। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, सरकारी आर्ट स्कूल के, सहकारी प्रिंसिपल बना दिये गये और समान भावो से प्रेरित दो व्यक्तियो ने अपनी भिन्न-भिन्न योग्यताओ के योग से उस आन्दोलन को जन्म दिया, जिससे बगाली शैली की चित्रकला चल पडी।

परन्तु जातीय सस्कृति के उत्थान के सबध में इनके कार्यों का आरम्भ मे स्वागत नही हुआ। यही नही, उनका घोर विरोध किया गया। उन दिनो एक इस प्रकार का विश्वास जनता के हृदय मे घर कर गया था कि यूरोप से ही कला सम्बन्धी एक मात्र प्रेरणा मिल सकती है। अतएव यह समझा गया कि ये लोग उन्नति के विरोधी हैं। विद्यार्थियो ने और "राष्ट्रीय" कहलाने वाले समाचार पत्रो ने इनके कार्य का विरोध किया। अन्त में सद्बुद्धि सहायक हुई। इस कला सम्बन्धी आन्दोलन के प्रारभिक वर्षों में जिन कठिनाइयो का सामना करना पडा, उनमे अवनीन्द्रनाथ को अपने निश्चय मे दृढता ही प्राप्त हुई। और उनके रचनात्मक कार्य ने भारतीय कला के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया।

अवनीन्द्रनाथ का यह रचनात्मक कार्य आधी सदी पर्यन्त फैला हुआ है। सन् १८९१ के लगभग उन्होंने चित्रकला का नियमित अभ्यास आरम्भ किया था। सन् १९४१ में कवि रवीन्द्रनाथ के महाप्राण का चित्रण के बाद उन्होंने अपनी तूलिका एक तरह से अलग रख दी। किसी भी सफल चित्रकार के लिए कदाचित् यह सम्भव नही कि इतने दीर्घ रचनाकाल में वह एक ही लकीर पकडे रहे। फिर अवनीन्द्र जैसे कलातुर व्यक्ति के लिए, जो नये-नये प्रयोगो के लिए उत्साही रहे हे, यह कब सभव था कि किसी लीक में पडें। वास्तव मे उनकी कृतियो में इतनी विविधता है कि कभी कभी उन सभी को एक कलाकार की रचना स्वीकार करने में सकोच होता है। उन्होंने भिन्न-भिन्न माध्यमो का प्रयोग किया है। उनकी कृतियो की कथावस्तु में भी बडी विभिन्नता है। उन्होने

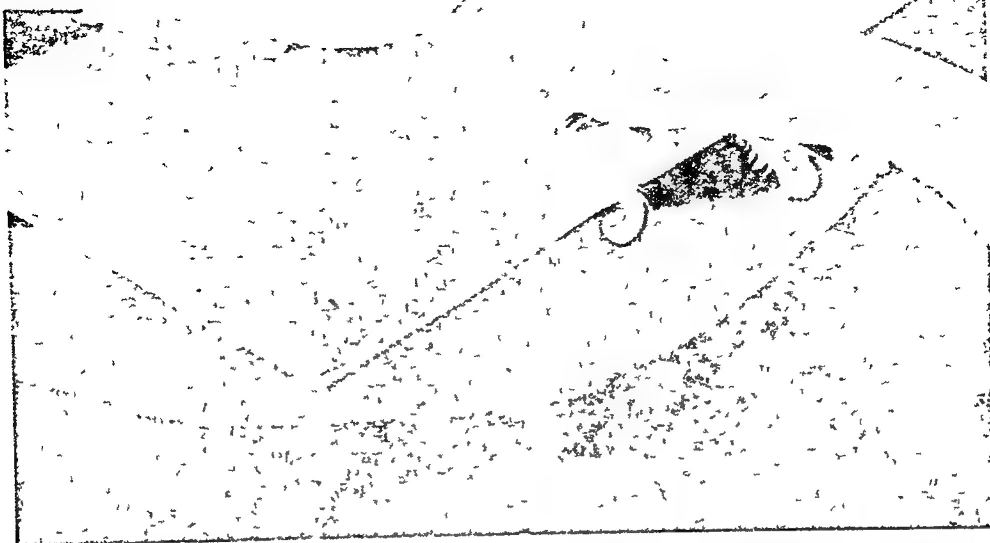
शबीहें बनायी हैं, प्राकृतिक दृश्य अंकित किये हैं। प्राचीन और नवीन, इस देश के और विदेशी कथानकों को चित्रित किया है। उनके मेघदूत के, उमर खैयाम के, और अलिफलैला के चित्रों में शैली का कितना अन्तर है! "भारतमाता", "गणेश जननी", "कजरी", "तिष्यरक्षिता", और "महाप्राण" शीर्षक चित्र सहसा एक चित्रकार की रचना नही कहे जा सकते। उनकी रचनाओं में ईरानी, जपानी, चीनी और यूरोपीय प्रभाव होड़ करते से जान पड़ते हैं। अपनी एक खोज में श्री ओ० सी० गांगुली ने अवनीन्द्रनाथ के कार्य की समीक्षा करते हुए लिखा है, "बात अटपटी लगने का भय है, लेकिन उनकी कृतियों को बर्नीज जोन्स विहजाद और ओगाना कोरीन का सम्मिश्रण कहने को जी चाहता है।" सच तो यह है कि अवनीन्द्र ने यद्यपि अनेक शैलियों में प्रयोग किए, और यद्यपि उन्होंने विविध प्रभावों को ग्रहण किया, जो कुछ उन्होंने प्रस्तुत किया परम्परा विशेष से सम्बद्ध नही है, उस पर उनकी निजी छाप है। इसी बात को स्टेला क्रामरिश ने दूसरे शब्दों में कहा है। वे कहते हैं, "अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की कला उनके व्यक्तिगत अधिकार पर आधारित है।"

इस नवजागृति को अग्रसर करने में अवनीन्द्रनाथ का योग कलाकार के रूप में ही नही बल्कि मुख्यतया एक शिक्षक तथा गुरु के रूप में रहा है। उन्होंने शिष्यों के एक बड़े समुदाय को अपने आदर्शो से सम्पृक्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कभी भी व्यावहारिक रूप से अपने शिष्यों की अपनी प्रतिभा के विकास में कोई रुकावट नही डाली, बल्कि उन्होंने इस वात का पूरी तरह अनुभव किया कि प्रत्येक कलाकार की सहज प्रतिभा का विकास होना चाहिए और उसे अपने लिए एक निजी मार्ग निकालना चाहिए। उसकी अपनी प्रेरणा ही उसकी कला को सार्थक बना सकती है। अवनीन्द्र को एक जन्मसिद्ध शिक्षक कहा जाये तो अनुपयुक्त न होगा। परिणामस्वरूप उनके गिर्द एक ऐसा शिष्य समुदाय बन गया जो एक पीढ़ी क्या, दो पीढ़ियों तक उनके दिखाये मार्ग पर चलता हुआ अपनी कला का विकास और विस्तार करता रहा। इस परम्परा का, जिसे ठाकुर शैली या बंगला शैली कहा गया है, मूल्यांकन एक स्वतंत्र विषय है। जिस वात पर यहां बल देना चाहिए वह यह है कि अवनीन्द्र और उनके शिष्यों के कार्यकलाप ने, देश के कला क्षेत्र में, एक नयी जागृति, नयी स्फूर्ति पैदा की, जिसने हमारी कला, विशेषकर चित्रकला को एक नया रास्ता दिखाया और तत्कालीन कुंठा की स्थिति से उबारा, यह एक बहुत बड़ा काम था।

३. बंगला कला शैली का विस्तार

बंगला कला शैली की नींव तो अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने डाल दी थी, लेकिन उसका कैसा, कितना विस्तार आने वाले वर्षो में होगा इसकी कल्पना कदाचित् स्वयं उन्हें नही थी। उनकी प्रबल आस्था इस सिद्धान्त में थी कि यदि आधुनिक भारतीय चित्रकला को पनपना है तो उसकी जड़ें भारतीय भूमि पर होनी चाहिए और उसकी प्रेरणा का आधार अपने देश की ही प्राचीन चित्रकला बन सकती है। यह आस्था उनमें कलकत्ता के सरकारी कला शिक्षालय के अध्यक्ष श्री ई० वी० हैवेल ने उत्पन्न की थी। अपनी कला साधना से उन्होंने इसे पुष्ट किया। किन्तु यह कहना कठिन है कि हैवेल के बताये सिद्धान्त पर चल कर कहाँ तक उनकी कला फली-फूली। अवनीन्द्रनाथ

की कला और कायकलाप के विषय में मैं पीछे भी कुछ निवेदन कर चुका हूँ। जो बात यहा कहनी है वह यह है कि अवनीन्द्रनाथ की कला कृतियो की भारतीयता तात्पर्य नितान्त भारतीयता से है बराबर एक आलोचना का विषय रही है। उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा तो असदिग्ध है, किन्तु व्यावहारिक रूप में उनकी कला में कई स्रोतो का योग, सम्मिश्रण, समन्वय है। हम यह नही कह सकते कि वह पश्चिमी ईरानी, चीनी, जापानी कला से उसी प्रकार प्रभावित नही रहे जिस प्रकार कि प्राचीन भारतीय कला से। अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के आधार पर उन्होंने एक समन्वय उपस्थित किया जो बगला कला के प्रेरक सिद्धान्तो मे अलग अपना एक महत्व रखता है। लेकिन बगला कला शैली को फैलना ही था। पुरानी चित्र परम्पराओं के नष्ट हो जाने के कारण और पश्चिमी शैली के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न होने के कारण भारतीय कला क्षेत्रो में एक व्यवधान उपस्थित हो गया था। बगला चित्र शैली की अपनी त्रुटियाँ रही है, अपनी सीमाएँ रही है, जैसा कि अभी हम देखेगे किन्तु यही एक शैली थी जो किंचित मुखर थी, और जैसी भी हो देश की उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल पडती थी। अवनीन्द्रनाथ ने, जो निश्चय ही एक बडे कलाकार थे, इसे अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा प्रदान की थी और इससे भी बडा काम उन्होंने यह किया था कि कुछ योग्य शिष्यो को उन्होंने तैयार किया था जो अपनी अलग अलग प्रतिभा रखते हुए भी समान रूप से वह प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते थे जो बगाल की कला जागृति के मूल में थी। फिर ज्यो-ज्यो कलाकारो की माग देश में बढी ज्यो ज्यो कलाशिक्षालयो में शिक्षको की आवश्यकता हुई यह शिष्य प्रभाव के केन्द्रो मे उदासीन होते गये, अपने गढ निर्माण करते गये और इनके पीछे वही प्रतिक्रिया काम करती रही। नदलाल बोस शान्तिनिकेतन में समासीन हुए। असितकुमार हाल्दार और समरेन्द्रनाथ गुप्त ने लखनऊ और लाहौर के सरकारी कला शिक्षालयो के अध्यक्ष पद का काम सभाला। वेंकटप्पा मैसर में और शैलेन्द्र जयपुर में शिक्षक बने। इसी प्रकार शारदा वकील ने दिल्ली में शिक्षण आरभ किया। देवी प्रसाद राय चौधरी मद्रास के सरकारी कला शिक्षालय के अध्यक्ष हुए और मुकुल दे कलकत्ते के सरकारी शिक्षालय के। कलकत्ते में ही क्षितीन्द्रमोहन मजूमदार भी कला शिक्षण का काय करते रहे। इनके अतिरिक्त और भी शिष्य थे जो अन्य स्थानो में पहुँचे और अपने प्रभाव के पदा से पूरा लाभ उठाते हुए बगला शैली का विस्तार करते रहे। यह कला शैली आरभ मे प्रतिक्रियावादी और प्रयोगात्मक थी, धीरे-धीरे बगाली चित्रकार कुछ लकीरें पीटने लगे। उन्होंने कुछ रूढियाँ बना ली, जिसका फल इस शैली के लिए अच्छा नही हुआ। इस शैली का प्रभाव ऐसे प्रदेशो में भी पहुँचा जहाँ अवनीन्द्र के शिष्य नहीं पहुँच सके थे, जैसे कि गुजरात में, जहाँ रविशकर रावल ने, जो एक कुशल चित्रकार और शिक्षक रहे है, बगला शैली के मूलगत विचारो का आधार लेकर अपना एक अलग वर्ग बनाया और उनके भी कुछ शिष्य बने। बगला शैली का यदि विशेष प्रभाव कहीं न पडा तो वह बम्बई में था। बम्बई में पश्चिमी शैली की प्रधानता अब भी बनी रही। वहाँ सादृश्य या "नेचुरलिज्म" पर जोर दिया जाता रहा। वहाँ के चित्रकारो ने बगाल के चित्रकारो की बराबर निदा की और उनकी कृतियो को काल्पनिक, अवास्तविक, बेतुकी आदि कहा। बम्बई के इस काल के चित्रकारो में हमे



कबूतरों का जोड़ा

चित्रकार––श्री चगताई (लाहौर)



अवकाश के समय
चित्रकार––श्री कानाड़ीवाला (अहमदाबाद)



ध्यानमग्ना
चित्रकार––श्री भावेश सान्याल (ल

छाइयाँ

चित्रकार—श्री एन० एस० बेण्ड्रे (बम्बई)

तरुणी

कलाकार—श्री फ्रासिस न्यूटन (गोआ—बम्बई)

विशेष प्रतिभा का परिचय तो मिलता नहीं, उनका अधिकांश कार्य मध्यम या निम्न श्रेणी का कहा जायगा। आगे चल कर अवश्य बम्बई ने कुछ कुशल चित्रकार प्रस्तुत किये, जिनकी कृतियों का मूल्यांकन एक अलग प्रसंग है। असितकुमार हाल्दार ने अपने एक लेख में अवनीन्द्र के शिष्यों और प्रशिष्यों की एक लम्बी तालिका दी है। ठीक है, बंगला शैली की परम्परा तीन पीढ़ियों में फैली मिलती है। लेकिन समय की गति के साथ उसके आधार को ऐसी ठेस लगी है कि वह सँभल न सकी और यह किंचित खेद की बात है कि अवनीन्द्रनाथ ने उसकी छिन्नमुखी प्रवृत्ति अपने जीवन काल में ही देखी।

जहाँ तक इस शैली के मूल्यांकन का प्रश्न है बंगाली चित्रकार ने कदाचित् अपनी कृतियों की भारतीयता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया, और इस कोटि में घटिया तथा जैसी-तैसी कृतियों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। दावा तो उसने यह किया कि वह अपनी प्रेरणा अजंता तथा मध्ययुग के भारतीय चित्रों से प्राप्त करता है, किन्तु उसने ठीक ठीक यह न समझा कि निष्प्राण अनुकृतियों द्वारा प्राचीन परम्परा प्रतिष्ठित नहीं हो पायेगी। उसने अपनी प्राचीन चित्र परम्परा की प्रायः सभी मूल बातों की उपेक्षा की, न उसने अजंता के चितेरों से चित्र-संयोजन सीखा, न उनका जैसा सुधरा रंग भरना जाना, न वह मूल भित्ति चित्रों की प्रेरक उदात्त भावनाओं को ग्रहण कर सका, न वह प्राचीन चितेरों की कलाविधि में पैठ सका। उसने जो सीखा और उसे सीखना भी क्या कहा जाये, वह केवल कुछ आकृतियों की नकल करना था। उसमें भी अधकचरापन मिलेगा। पतली-पतली बाहें, लम्बी अंगुलियाँ, भिंची आँखें, इनकी नकल करके उन्हें धूमिल रंगों में प्रस्तुत करना आदि, अपनी इस प्रक्रिया को अजंता कला से प्रेरित बताना, अजंता का उपहास नहीं था तो क्या था ? फिर भी वह क्रम बहुत वर्षों तक चलता रहा और काफी फैला रहा। अन्त में यह भ्रमजाल टूटा और अब हमारे कला पारखी बंगला चित्रकला के विषय में अपनी राय बदल चुके हैं। बंगला शैली की त्रुटियों के संबंध में और बहुत कुछ कहा जा चुका है। वह कि यहाँ हमें कोरी भावुकता मिलेगी, रेखांकन में दृढ़ता का परिचय नहीं मिलता, चित्रकार पुरानी कलाओं के जाल से निकल कर आधुनिक जप्वन के मनन पर ध्यान नहीं देते, रंगों की व्यवस्था चटक न होकर धूमिल है और पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों की यहां केवल एक घपड़चौध है। इस बात को स्वीकार करने में संकोच न होना चाहिए कि वह सभी आलोचनाएँ अंशतः ठीक हैं। किन्तु यह केवल इस शैली की घटिया कृतियों पर लागू होती है। अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, वेंकटप्पा और कुछ अन्य यशस्वी चित्रकारों की व्यक्तिगत प्रतिभा ने इस शैली की बराबर रक्षा की है, और उनकी तूलिका से प्रस्तुत ऐसे अनेक चित्र हैं जिन्होंने हमारी आधुनिक कला को अपने देश में ही नहीं विदेशों में भी सम्मानित किया है और जिनके यश के कारण बंगला चित्रकला का देश में लगभग तीस वर्षों तक इतना प्रसार और विस्तार हुआ है।

४. यामिनी राय का नया मार्ग

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके कुछ शिष्यों द्वारा प्रचारित कला शैली, जिसे बंगला

शैली या ठाकुर शैली का नाम दिया गया है, एक प्रकार से अलग काम पूरा कर चुकी थी। उसके पीछे एक राष्ट्रीय जागृति की भावना रही थी। वह भारत में पश्चिमी "एकेडेमिक" शैली के प्रचलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुई थी और यद्यपि उसने इस बात का दावा किया कि वह अपने देश की प्राचीन चित्र परम्पराओं के आधार पर अपने को ढाल रही है, फिर भी यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो उसकी भारतीयता मुख्यतया इस बात में थी कि उसके चित्रण के विषय भारतीय थे। यह विषय प्राय पौराणिक होते, या भारतीय इतिवृत्त से उनका सम्बन्ध होता। यह स्पष्ट है कि कथावस्तु मात्र के आधार पर कोई चित्र परम्परा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। उसमें कलात्मक गुण होने चाहिए, कलात्मक शोध की दिशा होनी चाहिए। हम ऊपर देख चुके है कि ठाकुर शैली मे छिन्नमुखी प्रवृत्तिया, उसके प्रवर्तक के जीवन काल में ही दीखने लगी थी। इस शैली पर एक प्रबल आघात पहुँचा बगाल के ही एक अन्य साधक कलाकार की कृतियो द्वारा, जिन्होने भारतीय चित्रकला को उसके प्रचलित गिलगिलेपन और भावुकता से उबारा। यह व्यक्ति है यामिनी राय। यामिनी राय ने आधुनिक भारतीय कला में एक नये मार्ग का निर्देश किया। यामिनी रजन राय यही उसका पूरा नाम है एक ऐसे व्यक्ति है जो कदाचित् अपनी कला के सिद्धान्त पक्ष पर वाद विवाद करने में तो असमर्थ है, फिर भी एक ऐसे चित्रकार है जिनकी कृतियो मे हमें एक विशुद्ध कलात्मक ध्येय मिलता है, और हमारे समय का शायद ही कोई और भारतीय चित्रकार हो, जिसने अपने प्रारम्भिक रचनाकाल से ही कला की मूल समस्याओ में पैठने और उसका हल निकालने का इतना सतत प्रयत्न किया हो। चित्र दो आयामो, दो परिणामो की वस्तु है। चित्र की इस प्रकृत सीमा को जानते और स्वीकार करते हुए चित्रकार का कार्य ऐसे सरल सहज आकारो की खोज का रूप धारण कर लेता है जो उसकी अनुभूति को पर्याप्त अभिव्यक्ति दे सकें। इन्ही सरल सहज आकारो की खोज मे आज यूरोप के कुछ अन्य शीर्ष चित्रकार भी लगे है, किन्तु यामिनी राय ने, उस कला प्रवाह मे अलग अलग रहते हुए भी, और कला सम्बन्धी तर्क वितर्को की जानकारी में रुचि लिए बिना ही, एक अनन्य साधना के रूप में अपनी खोज को आगे बढाया है, और जो भी उन्हें सिद्धि मिली है, उसने न केवल उन्हे अपने देश में प्रतिष्ठित किया है, बल्कि विदेशों में भी उन्हे ख्याति दिलाई है। भारत से बाहर आज जिस भारतीय चित्रकार का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है, वह कदाचित् यामिनी राय का ही है।

यामिनी राय ने अपनी प्रेरणा भारतीय लोककला से, वह भी बगला लोककला से प्राप्त की। अपनी खोज में लगे हुए उनका ध्यान कालीघाट के पटुआ चितेरो की कृतियो की ओर गया, ऐसी कृतियो पर जिनकी अपनी ग्रामीण सहज सरल परम्परा थी, और जिनमें उन्हे कलात्मक समस्याओ का ऐसा समाधान मिला जिसकी वह खोज में थे। यह चित्र बशागत चितेरो द्वारा बनाये गये हिन्दू देवी देवताओ के चित्र होते, और यद्यपि उनकी शैली स्वय ह्रासोन्मुखी थी, फिर भी उनमें यामिनी राय ने उन आकारो को व्यक्त पाया जिनकी वह खोज कर रहे थे, और यह सहज सरल और पुष्ट तथा प्रवाहमयी रेखाओ द्वारा व्यक्त हुए थे। इससे आगे, यामिनी राय की कला साधना का मार्ग खुल गया।

यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि यामिनी राय एक वयोवृद्ध चित्रकार हैं, जो अवनीन्द्रनाथ के अन्य पट्टशिष्यों के समसामयिक रहे हैं। आरम्भ में उन्होंने पश्चिमी शैली में चित्र बनाये और शबीहकार के रूप में उन्होंने उस समय ख्याति भी पायी। बाद में वह अवनीन्द्रनाथ के सम्पर्क में आये और ठाकुर शैली के अनुकरण में भी उन्होंने चित्र बनाये जो कि अधिकतर जापानी प्रभावों को ग्रहण किये हुए थे। किन्तु उनको अपने इन सभी प्रयासों से असंतोष बना रहा, और १९२१ के आसपास लगभग ३४ वर्ष की अवस्था में उनका ध्यान बंगला लोक चित्रों की ओर गया। फिर तो यामिनी राय उनमें रमते ही गये। इन चित्रों को उन्होंने अपनी साधना की एक दिशा ही बना ली, कभी-कभी इस दिशा से हट कर उन्होंने अन्य प्रयास भी किये, किन्तु बार बार लौट कर वह इसी शैली की ओर आये और इसी शैली के अध्ययन और परिमार्जन में उनका चित्र सब से अधिक लगा। वह गाँवों में गये, वहाँ कुम्हारों, बुनकरों, मूर्तिया, खिलौने, गुड्डे बनाने वालों और पटुओं की कृतियों को देखते, समझते और उनकी नकल करते रहे, और उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ कि इन परम्परागत ग्रामीण व्यवसायियों ने अनायास ही आकारों के रहस्य को पा लिया है, और यामिनी राय उनके साथ रह कर, उनके जैसे बन कर, कभी-कभी तो बहुत आर्थिक कठिनाइयों मे भी अपनी कला साधना चलाते रहे। वह बार-बार प्रयोग करते रहे। उनके प्रतीकों को समझते रहे और उन्हें ग्रहण कर नयी-नयी व्यवस्थाओं में बैठाते रहे। उन्होंने पाया कि अपने इस कार्य कलाप से उन्हें मानसिक तृप्ति मिली। यद्यपि बहुत समय तक बना-बना कर वह चित्रों के ढेर लगाते रहे और उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित न हुआ।

अंततः कला पारखियों ने उनके कार्य को पहचाना। यामिनी राय ने अपनी लोक परम्परा की एक नयी प्राण प्रतिष्ठा की थी। ठाकुर शैली की घटिया, निराशय, निष्प्राण कृतियों से ऊब कर इस कलाकार के नये मार्ग को पारखियों ने पहचाना और उनकी सार्थकता को स्वीकार करने लगे। आधार यामिनी राय ने भी अपने देश की, बल्कि बंगाल की लोककला में पाया था। उनकी कला वस्तुतः देशज थी...ठाकुर शैली की कला से भिन्न रूप में। यामिनी राय ने अपनी कला को लोककला से जोड़ कर उबारा, उसे प्रतिष्ठित किया उसमें नया जीवन भरा, और ऐसा करने में उन्होंने पुरानी कथावस्तु का नही बल्कि अपने देश के कला तत्वों का सहारा लिया। इस दृष्टि से यामिनी राय की कला एक वास्तविक रूप में भारतीय कला थी....न केवल सामयिक राज-नैतिक प्रतिक्रिया से प्रभावित और भारतीय कथावस्तु तक सीमित बल्कि भारतीय कला तत्वों से पोषण प्राप्त करती हुई, और भारतीय भूमि पर टिकी हुई। यामिनी राय की कला के विषय में विरोधी आलोचकों ने कहा है कि वह मौलिक नही है। यह कदाचित् ठीक है...केवल इस अर्थ मे कि उन्होंने नये प्रतीक नही रचे, पुराने प्रतीकों को ग्रहण किया। किन्तु निश्चय ही उन्होने उन प्रतीकों को एक नयी व्यवस्था दी और साथ ही एक नया जीवन दिया और इस अर्थ में उनकी रचनाएं अपनी मौलिकता रखती है, और उनका मूल्य है, और उन्हें मान्यता मिली है। प्रारंभिक रचनाकाल के अन्य शैलियों में किये गये अभ्यास ने उनके नये कार्य को एक पुष्टता ही प्रदान की

और बगाल की लोककला को यामिनी राय एक ऐसी दिशा देने में सफल हुए कि वह आधुनिक युग कला के बीच सम्मान का स्थान प्राप्त कर सके।

एक दूसरी आलोचना उनकी कृतियों के विषय में यह है कि वह अपने को दुहराते रहते हैं। यह बात भी कदाचित् ठीक है, किन्तु अनिवार्य है। जब कोई कलाकार अपनी दीर्घ साधना के परिणामस्वरूप कुछ सहज सरल आकारो के तत्व को जान लेता है तो स्वभावत वह उनका अधिक से अधिक उपयोग करता है। यह नही समझना चाहिये कि उनकी कृतिया मे कथावस्तु का परि-सीमन हुआ है। कथावस्तु की दृष्टि से उनमें बडी विषमता है। खेतिहर, लुहार, बढई भिन्न भिन्न वर्गों और जातियो के स्त्री, पुरुषो, बाउलो, सथालो, मल्लो, मुस्लिम फकीरो और वैष्णव भजनीको और साधु-सतो आदि के अनेकानेक जीवन प्रसग उनके चित्र के विषय बने हैं। ईसामसीह के जीवन से सबधित उनके चित्रो का एक अलग वर्ग है, और ईसामसीह के चित्र न केवल यामिनी राय के कलायतन की व्यापकता बताते हैं बल्कि उनकी धार्मिक भावना की विशदता भी।

यामिनी राय ने वस्तुत एक नया मार्ग दिखाया, यद्यपि उस मार्ग के अनुकरण करने वाले इने गिने हैं। उनकी अपनी प्रतिभा इस मार्ग को क्या कम आलोकित करती है।

५ अमृत शेरगिल और नये प्रयोग

यामिनी राय के नये मार्ग ने बगला या ठाकुर शैली की क्षयशील प्रवृत्तियो को गहरी ठेस पहुचाई थी, उसे एक दूसरी और अतिम ठेस लगी अमृत शेरगिल की प्रतिमा से। इस चित्रकर्त्री ने अपनी स्वल्प जीवन लीला में, और कुछ ही वर्षो के अपने रचनात्मक कार्य द्वारा, न केवल कुछ अमर कृतिया प्रस्तुत की, बल्कि भारतीय चित्रकला के विकास की दिशा ही पलट दी।

सन् १९३४ के अन्त के लगभग, पेरिस की चित्रशालाओ में चित्रकारी सीखी हुई, एक कुमारी स्वदेश लौटी। शिमला में, जहा उसके माता पिता रहते थे, उसने अपनी एक छोटी सी चित्रशाला बना ली। उस समय उसकी अवस्था इक्कीस वर्ष की ही नही थी, लेकिन उसके हृदय में साहस था, उसके मस्तिष्क में कल्पना थी और उसकी उगुलियो में कौशल था। इसके बल पर वह एक नये क्षेत्र पर विजय पाना चाहती थी। उस समय उसके वय और वपु को देखते हुए यह अनुमान नही किया जा सकता था कि वह हिन्दुस्तान के चित्रकारो के सामने एक चुनौती उपस्थित करेगी। थोडे ही काल में यह स्पष्ट हो गया कि यह चित्रलेखा अपने धधे के विषय मे दृढ और सुनिश्चित विचार रखती है, और उसमें रेखाकन और रग विधान की ऐसी प्रतिभा है कि उसे किसी और सहारे की आवश्यकता नही।

अमृत के पिता सिख थे, उनकी माता हगरी देश की थी, और पेरिस में प्रसिद्ध कला शिक्षक लसिया सीमो की देखरेख में, इन्होने चित्रकला की शिक्षा पायी थी। सन् १९३१ में इन्होने पेरिस के "ग्रादसेलो" में अपना एक चित्र प्रदर्शन के लिए भेजा। "सैलो" में चित्र को स्थान दिया जाना ही कम प्रतिष्ठा की बात नही थी, किन्तु दूसरे वर्ष जब उनके "युवतियो" शीर्षक चित्र को "सैला" का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्राप्त हुआ तब तो उनका यश पेरिस के कला जगत में फैल गया। वह इस

संस्था की सदस्या चुनी गयी। वह पहली और एकमात्र भारतीय थी, जिन्हे वह सम्मान मिला। फिर तो उन्होंने पेरिस में एक स्टूडियो कर लिया, और नये प्रयोगों के साथ-साथ अपनी चित्रकला का अभ्यास करती रहीं। इनके गुरु ने कहा था : "किसी दिन मुझे यह कहते हुए गर्व होगा कि तुम मेरी शिष्या थीं!"

एक अदृश्य सूत्र अमृत शेरगिल को भारत की ओर बराबर खीच रहा था। कला के अभ्यास का पेरिस में अच्छा अवसर देकर यह वहां ठहर गयी थी। किन्तु इनके चित्रों के गहरे रंगविधान को देखकर इनके शिक्षक प्रोफेसर लूसियां सीमों अकसर कहा करते थे कि पश्चिमी चित्रशालाओं के धूमिल वातावरण में इनकी विशेष प्रतिभा का विकास न हो सकेगा। इनके कलात्मक व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए पूर्व के रंग और प्रकाश से भरे वातावरण की जरूरत है। और इस कथन में बहुत सत्य था। क्योंकि भारत आने पर अमृत की कला ने एक नया मोड़ लिया। सन् १९३० और १९४१ के बीच, जब कि उनकी २८ वर्ष की अवस्था में मृत्यु हुई, उन्होंने कुछ ऐसे चित्रपट बनाये जो कि उनके पच्छिमी अभ्यास से प्रभावित भले रहे हों, किन्तु जिनके पीछे स्पष्ट भारतीय प्रेरणा रही और जो कि उनके विशेष रंग में थे और जिन्होंने भारतीय चित्रकारों को नये प्रयोग करने का उत्साह दिया। अमृत ने अनेक भारतीय प्रदर्शनियों में प्रथम पुरस्कार पाये और भारत भ्रमण किया।

दक्षिण भारत की यात्रा में अमृत शेरगिल ने अजन्ता की चित्रकारी पहली बार देखी। उससे यह बहुत प्रभावित हुई। न केवल अजन्ता ने इन्हें मोह लिया, बल्कि दक्षिण भारत ने वहां के साधारण नर-नारियों ने। दक्षिण भारतीय विषयों को लेकर जो चित्रपट उन्होंने बनाये उनमें अजन्ता की प्रेरणा दिखाई पड़ती है। माध्यम तो उनका सदा तैल रंगों का रहा, किन्तु एक विशिष्ट शैली अपना कर और बड़े चित्रपटों का उपयोग करके उनके लिए यह संभव हुआ कि वह अपने चित्रों में भित्ति चित्रों के गुण ला सकें। "वधू का श्रृंगार", "हाट जाते हुए दक्षिण भारतीय ग्रामीण" और 'ब्रह्मचारी" उनके ऐसे शीर्ष चित्रपट है जिन पर अजन्ता की स्पष्ट छाप है। वस्तुतः अजन्ता देखने से पूर्व के और उसके बाद के उनके चित्रों में एक प्रकट अन्तर है। अजन्ता के प्रति उन्होंने बराबर कृतज्ञता प्रकट की। दक्षिण भारत से शिमला लौट कर उन्होंने लिखा था. . . "मैं बड़ी मेहनत कर रही हूँ और एकमात्र बड़े चित्रपटों की तैयारी मे लगी हुई हूं। विषय की दृष्टि से इनमें दक्षिण भारत की वह छाप है जो मैंने ग्रहण की, और चित्र व्यवस्था की दृष्टि से यह उस महान शिक्षा का, जिसे मैंने अजन्ता में ग्रहण किया, प्रकट रूप है।" फिर भी हम पाते है कि अमृत शेरगिल का उद्देश्य न तो अजन्ता के अभिप्रायों का अनुकरण करना था, न उसके विषयों का। उनका कहना था कि अजन्ता के चित्रकार जीवन के अध्ययन में दुरूहता नही लाते थे। सरलता और स्पष्टीकरण उनका उद्देश्य था। इन सिद्धान्तों से लाभ उठा कर न केवल भारतीय चित्रकला बल्कि चित्रकला मात्र प्रतिष्ठित हो सकती है। अजन्ता का उस पर ऋण है और इसे उन्होंने स्वीकार किया है; लेकिन वह नक्काली को बुरा समझती थीं। उन्होंने अजन्ता के चित्रकारों के गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, अजन्ता की नकल का नही। उनके कुछ चित्रों में मुगल और

बसोहली कलमो के प्रभाव भी दिखते हैं यद्यपि वह सदा बडे चित्रपटो और तैल रगो का प्रयोग करती थी। उनका सहज सरल व्यक्तित्व था किन्तु कला के सिद्धान्तो के प्रश्न पर वह खड्गहस्त भी हो सकती थीं। उनकी धारणा थी की अजन्ता के नाम पर भारतीय चित्रकारो ने अनाचार किये हैं। उन्होने लिखा था "कम से कम एक कारण से मुझे प्रसन्नता है कि मैंने कला की शिक्षा यूरोप में पायी, इसने ही मुझे अवसर दिया है कि मैं अजन्ता, मुगल और राजपूत चित्रकारी को समझ सकू और उन्हे पसन्द कर सकू तुच्छ और सतही कारणो से नही, न इसलिए कि वे इतिवृत्तात्मक हैं, बल्कि सही कारणो से। होता यह है कि उनके समझने का अधिकाश भारतीय चित्रकार ढोंग तो करते हैं, लेकिन वास्तव में वह गलत ढग से समझी जाती है।" अमृत शेरगिल के यह विचार उन्हे कलाकारो के एक वर्ग में प्रिय नही बना सकते थे, और उन पर आक्षेप हुए। आक्षेप करने वालो ने उनकी कला पर अभारतीय होने का लाछन लगाया। यही लाछन पाश्चात्य "एकेडेमी" शैली से प्रभावित चित्रो पर इस सदी के आरभ में लगाया गया था। उस समय यह लाछन लह गया था, क्योंकि वह कृतियाँ स्वत निष्प्राण थी। अमृत शेरगिल की प्राणवान कृतियो के सबध में वह लाछन लह न सका।

आज अमृत शेरगिल की कृतियो का एक बडा सग्रह हमारी राष्ट्रीय ललित कला वीथी में सुरक्षित है, और आक्षेप करने वालो को एक चुनौती दे रहा है। अमृत शेरगिल हमारे सामने उस समय आयी थी जब कि ठाकुर शैली की मौलिक प्रेरणा का ह्रास हो गया था, जब कि कलाकारो का अधिकाश वर्ग अतीत की गिलगिली कल्पना के ऊपर नही उठ रहा था, जब कि क्षीण अनुकरण को रचनात्मक प्रतिभा का भेप दिया जा रहा था और जब कि कला सबधी विचारो में एक अजीब अस्पष्टता फैली हुई थी। उन्होने इस काई को काटने का प्रयत्न किया और भारतीय कला को एक नया मूल्य दिया। उनके प्रयोगो ने न जाने कितने नये चित्रकारो को नये प्रयोग करने की उमग दी, और यह अमृत शेरगिल की एक बडी देन रही है।

६ मथन का युग और भविष्य की रेखाए

हमने देखा कि यामिनी राय और उनके बाद अमृत शेरगिल ने अपने लिए नये मार्ग निकाले। यामिनी राय ने अपनी प्रेरणा बगाल की लोक कला से प्राप्त की और अपनी कृतियो में उसे ऐसा रूप दिया जो कि न केवल इस देश में ग्राह्य हुआ, बल्कि जिसने विदेशो में भी कला-प्रेमियो का ध्यान, उनकी ओर तथा भारत कला की ओर आकर्षित किया। अमृत शेरगिल ने अपनी शिक्षा तो पेरिस में प्राप्त की थी और उनकी कृतियो का माध्यम भी तैल रग ही रहा, किन्तु उनकी कला का परिपाक (और परिपाक भी क्या कहे, यह देखते हुए कि इस चित्रकला ने २० वर्ष की आयु भी नही पूरी की) भारत मे ही हुआ, और उन्होने भी अपनी प्रेरणा बहुत कुछ अजन्ता मे, और राजस्थानी चित्रों से ही ग्रहण की एक स्वतत्र ढग से ही, और जिस रूप मे ठाकुर शैली के चित्रकारो ने उसे ग्रहण करने का दावा किया, उससे भिन्न रूप में। जो भी हो, अमृत शेरगिल का प्रभाव, समकालीन चित्रकारो पर गहरा पडा और ठाकुर शैली के चित्रकारो की

कृतियाँ पीछे पड़ गयीं। अमृत शेरगिल की मृत्यु सन् १९४१ में हुई, और इधर के वर्षों में, भारतीय चित्रकला में जो भी प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं, उन्हें देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उनकी कृतियों ने हमारे यहां एक हलचल पैदा की। अव हम एक मंथन के युग में गुजर रहे हैं।

एक समीक्षक ने किंचत् काव्यमय ढंग से कहा था कि यामिनी राय और शेरगिल से हट कर जब हम आज के अन्य चित्रकारों के विषय में विचार करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि हम हिमालय की चोटियों से उतर कर गदीले मैदानी प्रदेश में आ गये हैं, जहां प्रशस्त मार्ग तो कुछ थोड़े ही हैं, पगडंडियां अनेक हैं, घने पेड़ पौधे हैं, और निकासी के रास्ते नहीं दिखते। इस रूपक में कुछ अत्युक्ति भले ही हो किन्तु इसमें एक बुनियादी, आधारभूत तथ्य भी है। आधुनिक, बहुसंख्यक चित्रों पर विचार करने से उनकी दिशाएं स्पष्ट नहीं हो पातीं। हां, चित्रकारों के कुछ छोटे-बड़े वर्ग अवश्य मिलेंगे। जो कुछ मतों या विचारों को लेकर अपने प्रयोगों में लगे हुए हैं। इन नयी पीढ़ी के चित्रकारों में एक समान प्रतिक्रिया कदाचित् पायी जाती है, और वह प्रतिक्रिया है, बंगाल की प्रारंभिक अर्थात् इस सदी के आत्मा की नव जागृति की मूल भावनाओं का विरोध। यह अनुमान किया जाता है कि पश्चिम में, "एकेडेमी" शैली के अतिरिक्त, चित्रकला और मूर्तिकला की अन्य सशक्त शैलियां हैं, और भारतीय चित्रकारों का अपने ही अतीत में लिपटा और भूला रहना ठीक नही। यह भी अनुभव किया जाता है कि आधनिक यूरोप कला की ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जो अच्छे युगों की पूर्वी कला से, अपने प्रेरक सिद्धान्तों में, भिन्न नहीं हैं, बल्कि उनसे मेल खाती हैं। और अन्त में यह भी समझा जाता है कि जिस प्रकार यूरोप में कला के क्षेत्र में पूर्वी कला के सम्पर्क ने नये मोड़ उत्पन्न किये, उसी तरह भारतीय चित्रकारों के मार्ग में पाश्चात्य कला से नयी बातें सीखने में बाधा न होनी चाहिए। वस्तुतः आज जगत् में पूर्वी और पश्चिमी का भेदभाव लाना ही गलत है। यह विश्लेषण सर्वत्र पूर्णतया मुखर न हो, किन्तु यह कहा जा सकता है कि इस पीढ़ी के नवयुवक कलाकारों के चिंतन की यह दिशा अवश्य है।

जहां तक आधुनिक कलाकारों के वर्गो का प्रश्न है, यह मुख्यतया अपने देश के तीन नगरों में केन्द्रित हैं....कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली में। कलकत्ता के नये प्रगतिशील कलाकारों ने तो अपने को "कलकत्ता ग्रुप" का नाम ही दे रखा है। यह बात नही कि यह सभी कलाकार कलकत्ते के ही हों, इनमें से कुछ बाहर से भी आये हैं और अब बाहर चले भी गये हैं, किन्तु इन पर अपनी एक छाप है। यह मानते हैं कि कला एकदेशीय नही हो सकती, भौगोलिक दृष्टि से कला का अपना अंतरावलंबन है। सार्त्रे, स्त्राविंस्की और पिकासो का पेरिस हमारे समय का प्रधान कला केन्द्र है, आगे इतालबी, मैक्सिको और रूसो कलाकार नयी प्रवृत्तियां दे सकते हैं, किन्तु तत्काल पश्चिमी यूरोप में ही ऐसे रूपों का विकास हो रहा है और जो अन्तर्राष्ट्रीय बोध उत्पन्न करने वाले है। इस "ग्रुप" के कलाकार युग की वैज्ञानिकता के प्रति सचेत है। वह परंपरावाद के विरोधी होते हुए भी "मानवता" के उपासक है। इस "ग्रुप" का प्रारंभ सन् १९४३ में अकाल पीड़ित बंगाल में हुआ था और इसके कलाकार मानव की प्रतिष्ठा के पूरे समर्थक है। इनमें मूर्तिकार और चित्रकार दोनों ही हैं। चित्रकारों में रथीन मैत्र, गोपाल घोष, सुनील माधव सेन, प्राणकृष्ण पाल, गोवर्धन

आदेश दिया और सहज ही में मेरे मन की साध पूरी हो गयी। मै ठाकुर महाशय के निकट बैठने लायक हो गया और मैंने उनके चरणो में शिष्य के रूप में रहकर अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त कर ली।

उसी दिन से कलागुरु के साथ मेरा परिचय होना आरभ हुआ। कलागुरु के अत करण की बडी विशेषता यह थी कि वे अपने छात्रो को पिता जैसा स्नेह देते थे और एक मित्र जैसा नि सकोच सद्व्यवहार से पेश आते थे। यही नही, किसी की विपत्ति को देखकर उनसे जो कुछ भी सहायता बन पाती वे वैसा करने में कुछ भी बाकी नही छोडते। उनके सबध में थोडे से शब्दो में कहा जाय तो कहना चाहिए कि वे बाहरी दिखावे के ही गुरु नही थे बल्कि प्रकृति से भी गुरु थे। आज जैसा गुरु-शिष्य सबध उस सबध से बहुत भिन्न था। हम लोग उन्हें अपना आत्मीय सहायक, रक्षक और गुरु सब कुछ एक साथ समझते थे।

उनके सबध की एक मनोरजक घटना अनायास ही मुझे इस समय स्मरण हो आयी है। राजकीय आर्ट स्कूल का नियम था कि सभी लडके ठीक १०॥ बजे स्कूल में उपस्थित हो जाय, किन्तु ठाकुर महोदय की कक्षा के हममें से अधिकतर विद्यार्थी लगभग ११ बजे उपस्थित होते थे। हम जानते थे कि गुरुवर १२ से पूर्व कभी ही स्कूल में आ पाते है। लडको के इस विलम्ब का कारण सभवत यह था कि वे घर पर बैठकर चित्र बनाया करते थे। एक दिन मैं और मेरा एक मित्र श्री दुर्गेश सिह दोनो ने एक साथ आकर देखा कि प्रधान फाटक के दरवाजे बद है। हमने द्वार पर जाकर दरवान को दरवाजा खोलने के लिए कहा। उसने नही माना। हमने उसको डराया धमकाया किन्तु अन्दर से ही उसने करारा उत्तर दिया। उसके उत्तर से पता चला कि अध्यक्ष महोदय की आज्ञा से उसने ऐसा किया। उसकी ऐसी बातें सुनकर हमें तैश आगया हमने द्वार पर बाहर से जोरो का धक्का दिया और दरवाजा चरमराता हुआ खुल गया और दरवान छिटक कर दूर जा गिरा। दरवाजा खुलते ज्योही हम भीतर घुसे कि हमें सामने प्रधान अध्यक्ष श्री ब्राउन साहब खडे दिखायी दिए। हमारे इस प्रकार के दुर्व्यवहार से वे क्रोधित हुए। उन्होंने हमारा पूरा परिचय पूछ कर लिख लिया। इस दुर्घटना से हम बहुत डर गए थे। सचमुच ही हमें इस प्रकार की अपनी आकस्मिक उत्तेजना पर बडा ही पश्चात्ताप हुआ। अस्तु ! उसका फल भी हमें तत्काल ही मिल गया। अपनी कक्षा में बैठे हमें आधा घटा भी न हुआ था कि उसी समय ब्राउन साहब का एक पत्र ठाकुर महोदय के हाथ में आया। पत्र को पढ कर ठाकुर महाशय ने हमसे पूरी वारदात पूछी। हमने जैसा हुआ था ठीक उसी रूप में घटना को उनके सामने खोल कर रख दिया। हम लोगो की बातो को सुनकर ठाकुर महोदय ने उसी कागद पर लिख दिया "मै लडको का काम चाहता हू न कि केवल उनका समय से स्कूल में उपस्थित होने का ही मेरे समक्ष कोई महत्व है। मै भली भाति जानता हू कि मेरी कक्षा के विद्यार्थी नित्यप्रति प्रात काल अपने घरों पर बैठे स्कूल का कार्य करते है। कार्य को बिना पूरा किए वे किस प्रकार ठीक समय से उपस्थित हो सकते है। इसलिए वे जो एकाध घटा विलम्ब से आते है वह मेरे आदेश का ही परिणाम है।"

ब्राउन साहब के हाथ में ठाकुर महाशय का पत्र गया। आशा तो यही थी कि ब्राउन साहब पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा किन्तु ठाकुर महाशय की बात को कभी भी उन्होंने लापरवाही से टाल नहीं दिया। इस पत्र का भी ब्राउन साहब पर अनूकूल प्रभाव पड़ा। उन्होंने आदेश निकलवा दिया कि भारतीय कला के शिक्षार्थी छात्रों के अतिरिक्त दूसरे छात्र ठीक साढ़े दस बजे अनिवार्यतः स्कूल में उपस्थित हो जायं।

ठाकुर महाशय बड़े विनोदी स्वभाव के भी थे। उनके इस विनोदी स्वभाव की एक घटना इस प्रकार हैः—श्री ठाकुर महोदय के एक सहकारी थे लाला ईश्वरीप्रसाद जी। अकस्मात ही एक दिन ठाकुर महाशय ने १०॥ बजे आकर देखा कि उनकी कक्षा में एक भी छात्र उपस्थित नहीं है। ईश्वरी बाबू अकेले बैठे अपना कार्य कर रहे हैं। ठाकुर महाशय ने ईश्वरी बाबू से लड़कों के इस प्रकार अनुपस्थित रहने का कारण पूछा ईश्वरी बाबू ने उन्हें बता दिया कि उनके आने में लगभग १२ बज जाता है। इसलिए लड़के भी ठीक समय से नहीं उपस्थित होते हैं। यह सुनते ही ठाकुर महोदय ने रजिस्टर निकाला और सब लड़कों के नाम के आगे दंडस्वरूप एक-एक रुपया लिख दिया। लड़के जब कक्षा में उपस्थित हुए तो ठाकुर महोदय ने गंभीर मुद्रा में लड़कों को सूचित कर दिया कि उनके अनुपस्थित होने के कारण अध्यक्ष महोदय ने उन पर एक-एक रुपया दंड कर दिया है। कल तक वह रुपया सब को अदा कर देना चाहिए। कला गुरु की यह बात सुनकर सब लड़के हँस पड़े और अपना दंड अदा करने के लिए उन्होंने कहा "गुरुवर हम लोग कहां से रुपया देंगे ? आप ही हमारे इस दंड को जमा कर दें" ठाकुर महोदय का यह सुनना था कि उनके ओठों में हसी आ गयी और लड़कों पर किया गया दंड उन्होंने क्षमा कर दिया।

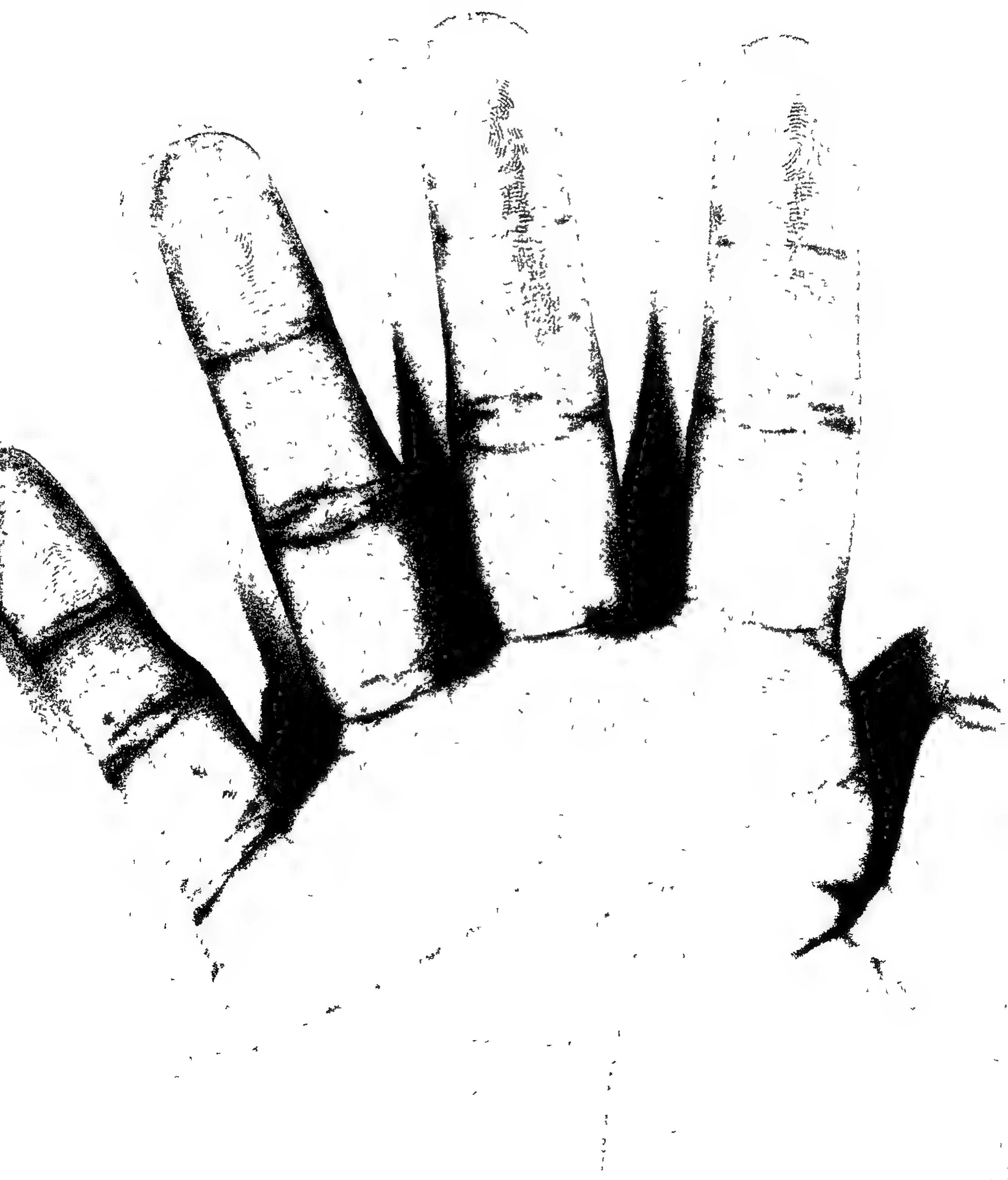
छात्रों के प्रति ठाकुर महाशय हमेशा ही सदय, उदार और कोमल बने रहते थे। उन्होंने किसी कठोर बात को भी समझाया तो बड़े विनोदात्मक ढंग से। छात्रों के प्रति किए जाने वाले उनके हर व्यवहार में प्रेम प्रकट होता था। संभवतः १९११ ईसवी की बात है, जब कि पंचम जार्ज भारत आए थे। उस समय कलकत्ता महानगरी उनके स्वागतार्थ खूब सजायी गयी थी और इस साज सज्जा में हमारे स्कूल का भी बहुत कुछ भाग था। लड़कों ने इस अवसर पर बड़े उत्साहित होकर कार्य किया था और अच्छी रकम मिली थी। प्रधानाध्यापक महोदय लड़कों की इस कार्य-तत्परता को देख कर उनके लिए खाने का कुछ सामान लेकर कमरे में प्रविष्ट हुए। लेकिन सामग्री को देखकर ठाकुर महाशय असंतुष्ट हो गए। उन्होंने सोचा कि लड़कों के एक मास तक जी तोड़ परिश्रम करने के बदले में उनके लिए केवल इतना मात्र पुरस्कार ! जो अध्यापक उस सामग्री को लाया था, ठाकुर महाशय ने उसको वापिस कर दिया और लड़कों से कहा कि कल उन्हें वे अच्छी दावत देंगे। दूसरे दिन उन्होंने कक्षा में सभी लड़कों को भर पेट खाना खिलाया। उसके बाद सायंकाल लड़कों को अपने घर पर आने का निमंत्रण दिया।

अपने छात्रों के साथ ठाकुर महोदय के इस प्रकार स्नेह के अनेक प्रसंग हैं।

उनके जीवन का एक प्रसंग और है। जो एक प्रदर्शनी से संबद्ध है। बात ऐसी हुई कि उस प्रदर्शिनी में ठाकुर महोदय का बनाया हुआ एक चित्र और उनके एक छात्र द्वारा उस

चित्र की प्रतिलिपि दोनो प्रदर्शनी में रखे गए। दोनो चित्र एक जैसे थे। इसी समय एक अभिभावक ठाकुर महाशय के पास आए और उन्होने ठाकुर महाशय का चित्र क्रय करने के लिए कहा। ठाकुर महाशय ने उन सज्जन को परामर्श दिया कि वे प्रतिलिपि किए गए चित्र को ही क्रय करें। क्योकि मूल चित्र की अपेक्षा उस चित्र में कई विशेषताए थी। आगन्तुक सज्जन को वही चित्र खरीदना पडा।

ऐसे भी अनेक प्रसग आए जब कि प्रदर्शनी में रखे हुए उनके अनेक चित्र लबी-लबी रकम देकर लोग लेते गए किन्तु उनके छात्रो के चित्र वहीं रखे रह गए। ठाकुर महाशय ने अपने छात्रो के उन चित्रो को स्वय क्रय करके अपने छात्रो को प्रोत्साहित किया। उन्होने हमेशा ही दूसरे के दृष्टिकोण को ऊचा बताया। वे कहा करते थे कि जिसकी जिस विषय में अभिरुचि हो उसको वैसे ही चित्र बनाने चाहिए। वे चित्र चाहे सामाजिक हो, ऐतिहासिक हो, पौराणिक हो अथवा धार्मिक हो। उनका उद्देश्य हमेशा ही छात्रो को प्रोत्साहित करना और उनकी बुद्धि का स्वतत्र विकास करना था।





कुलगुरु श्री नन्दलाल वसु

डॉ० रामसिंह तोमर

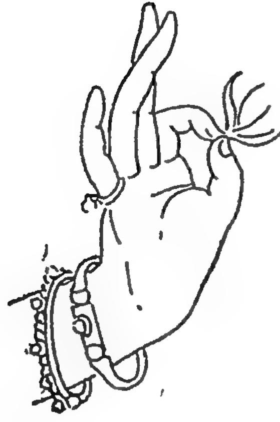
हमारे कुलगुरु कलाचार्य नन्दलाल वसु

आचार्य नंदलाल वसु की ७६ वी वर्षगांठ गत ३ दिसम्बर १९५७ को मनाई गई थी। कलाचार्य वसु के जन्म दिवस पर विश्वभारती कलाभवन के छात्र-छात्राए और अध्यापक-अध्यापिकायें "पिकनिक" का आयोजन करते है, जिनमें कुछ वर्ष पहिले तक आचार्य वसु भी सम्मिलित होते थे। संध्या समय सभा का आयोजन किया जाता है जिनमें वसु महोदय की कला और कृतित्व के विषय में वक्ता प्रकाश डालते हैं।

आचार्य वसु शान्तिनिकेतन में ही अपने घर पर रहते हैं। उनके परिवार के सभी लोग कलाकार हैं। उनके पुत्र विश्वभारती के कलाभवन में अध्यापक हैं और उनकी दो पुत्रियां भी कलाभवन में अध्यापिकायें हैं। वसु महोदय अब चलने फिरने में असमर्थ है किन्तु उनका मस्तिष्क सजग है और वे अपनी तूलिका का भी जब तब प्रयोग करते रहते हैं। कभी-कभी जब उनके दर्शन करने का किसी विदेशी के साथ सौभाग्य मिलता है तो वे विदेशी कलाकारों, कला समीक्षकों के विषय में ज्ञानवर्द्धक प्रसंग छेड़ देते है और भारतीय लोगों के साथ जाने का हमें अवसर मिलता है तो सारगर्भित सूक्तियां अपने आप उनकी वाणी से निकल पड़ती हैं। अभी उस दिन मैं अपने मित्र श्री रामपूजन जी तिवारी के साथ कलागुरु के दर्शनार्थ गया था। उनके स्वास्थ्य के विषय में प्रश्न करने पर वे बोले "मैं तो स्वस्थ हूं, शरीर वृद्ध हो गया है।" और गुरुदेव के विषय में कहने लगे। अभी कुछ दिन पहिले गया था तो मेरे कहने पर कि आज तो हवा चल रही है—वे बोले वसंत में सभी ऋतुएं रहती है, वर्षा भी, जाड़ा भी, ग्रीष्म भी और स्वयं तो है ही।

कलागुरु के चेहरे पर संतोष और साधना के तेज का आभास दर्शक को दिखता है। उनकी उपस्थिति हमारे सभी के लिए बड़ा आत्मबल प्रदान करती है। प्रभु उन्हें स्वास्थ्य दें और वे दीर्घायु रहकर हमारा पथ प्रदर्शन करते रहें।





सुन्दरम्

महामहोपाध्याय डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य

वास्तुशिल्प का क्रमिक विकास

हम लोग धार्मिक विचारों के लिए अवश्य प्रसिद्ध हैं पर आधुनिक वास्तुशिल्प की वास्तविक सफलता का निर्णय उनके द्वारा होना चाहिए जो आवास-गृहों, तथा दूसरे ऐसे भवन जो मुख्यतया भूमि से, जगत की सुख-सुविधाओं से, तथा आवश्यक उपादानों के होते हुए भी नगर-जीवन से संबंधित है––भवन-निर्मण-सामग्री हिन्दुओं के भवन-निर्माण-कार्य के संपूर्ण और ठीक इतिहास को समझने के लिये यथेष्ट नहीं है। हिन्दुओं के वास्तुशिल्प का प्रयोग एवं संवर्धन यहां के पड़ोसी देशों में ही नहीं अपितु दूर दूर उपनिवेशों तथा प्रत्यक्ष रूप से असंबद्ध देशों में भी हुआ है। विद्वानों ने अब यह स्वीकार कर लिया है कि मध्य अमेरिका की 'मय सभ्यता' की विकासभूमि भारत है, जो मय जाति की मातृभूमि भी है। वे महाभारत के समय में (ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ५०० वर्ष बाद तक) दानवों के नाम से प्रसिद्ध थे। इस मय जाति ने युधिष्ठिर के लिए अभिषेक-प्रशाल का निर्माण किया था जिसके संबंध में आगे संकेत किया गया है। यह जाति बाद में अमेरिका जाकर बस गई और मध्य अमेरिका में भारतीय शैली में रचनाओं (भवन आदि) का निर्माण किया। सर आरेल स्टेन ने मध्य ऐशिया जिसे सेरिन्डिया कहा जाता है, के एक विशाल क्षेत्र में हिन्दुओं के स्मारक की खोज की है। विशालकाय आकारों के हिन्दुओं और बौद्धों के स्मारक भारतीय महासागर के बहुत से द्वीपों में पाये गये हैं। यह विशाल क्षेत्र जिसमें सिलोन, ब्रह्मा, इन्डोचीन, इन्डोनेशिया, और श्याम (थाईलैंड) आदि देश है इनसुलिन्डिया के नाम से जाना जाता है। सेरिन्डिया और इनसुलिन्डिया दोनों का संबंध निश्चित रूप से भारतवर्ष से है। जनरल सर कनिंघम के आर्कलाजिकल सर्वे अंक (५३) में बौद्धों के आवास-अवशेषों के असंख्य पत्थर मिलते हैं। जेम्स फर्ग्यूसन के 'हिस्ट्री आफ इंडियन एन्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर' में भारत तथा तिब्बत, नैपाल, भूटान, काश्मीर, सिलोन, ब्रह्मा, थाईलैण्ड (श्याम), कम्बोडिया, जावा-सुमात्रा, आदि देशों के विभिन्न प्रकार के आवासों के काष्ठ चित्रों के रूप मिलते हैं। सर जॉन मारशल के 'इंडस वैली सिविलिजेशन' नामक पुस्तक में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जमीन से निकले आवासों का पूरा विवरण मिलता है। इन पुरावशेषस्रोतों से निवास गृहों, भवनों, मन्दिरों, स्कूलों, औषधालयों और दूसरी जन उपयोगी इमारतों जैसे मंदिर, कबरिस्तान, स्तूप आदि के वस्तुतः विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है।

वैदिक साहित्य में वर्णित बहुभूमिक (कई खंडवाले) प्रासादों का उल्लेख बौद्ध धर्म

स्त्री पुरुषो के शरीर को समान रूप से सजाने के अलकारो के निर्माण का वैज्ञानिक ढग आदि मिलता है वह अत्यन्त प्रामाणिक एव विश्वसनीय है।

प्रामाणिक मूलग्रथ मानसार वास्तुशास्त्र में भवन, हर तरह के निवास, जीवनोपयोगी उपकरण आदि विषयो के सबध में अत्यन्त व्याख्यात्मक विवरण मिलता है। भवन-निर्माण जिसमे घोसले का निर्माण भी सम्मिलित है, का ध्येय बताने के बाद यह शास्त्र स्थपति, सूत्र ग्राही, वर्धकी तथा तक्षक की आवश्यक अर्हता तथा प्रशिक्षण के सबध में वर्णन करता है। इसके अनन्तर माप के अश' यव, अगुल, हस्त तथा दण्ड का वणन है। इसके बाद माप का ध्येय आदि वर्णित है। इनमें ग्राम, नगर, और वास्तु सम्मिलित है। वास्तु के अतर्गत धरा, हर्म्य, यान, पर्यंक है। हर्म्य के अतर्गत प्रासाद, मडप, सभाशाला, प्रपा और रग आते है। यान के अतर्गत स्यन्दन, शिविका और रथ है। पर्यंक के अतर्गत पजर, मचल्लि, मच, काकाष्ट, फलकासन आदि है। भवन की स्थिति (धरा) का चुनाव, मिट्टी का वैज्ञानिक परीक्षण, ढाल, हवा के बहाव का, तथा सूरज की किरणो का रुख और जलवायु की परिस्थितिया का ध्यान में रखकर किया जाता था। निवासियो के स्वास्थ्य और आराम के लिए सभी वासस्थानो के दिक् निर्णय पर अधिक बल दिया जाता था। नगर और गाँव की स्थापना में सवातन और उचित निकास का प्रवन्ध ठीक दिशा और स्थिति में सीधी सडकें और गलियाँ बनाकर किया जाता था। गाँव के निर्माण का नक्शा आठ खाकों दण्डक, सर्वतोभद्र, नद्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक और चतुर्मुख के अतर्गत बताया गया है। सभ्य जन के लिए नगर व्यवस्था आठ खाको में वर्णित है। वे है राजधानी, नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वट, कुब्जक और पत्तन। दुर्गयुक्त नगरो के नाम शिविर, वाहिनीमुख, स्थानीय, द्रोणक, सविद्ध, कोलक, निगम और स्कन्धावार आदि बताये गए है। दुर्गों में आपस में स्थिति भेद है जैसे गिरि दुर्ग, वन दुर्ग, जलदुर्ग, रथ दुर्ग, देव दुर्ग, पकदुर्ग, और मिश्र दुर्ग।

गाँव, नगर और दुर्ग में बने भवन एक या अधिक खड के होते है। निवास गृहो तथा मदिरो में अधिक से अधिक १२ खण्ड होते है परन्तु गोपुरम में खण्डो की सख्या १७ से १८ तक है। ऊँचाई के योग के अनुसार कक्ष और खडो की विमा (लबाई, चौडाई और ऊँचाई) में भेद है। ऊँचाई चौडाई द्वारा नियमन की जाती है। जब किसी भी रचना की ऊँचाई उसकी चौडाई के बराबर होती है तब इसे 'शान्तिक' कहते है 'पौष्टिक' ऊँचाई चौडाई की सवा, 'जयत्' डेढ गुना, 'धनद' सव-कामिक ऊँचाई १¾ गुना तथा 'अद्भुत' ऊँचाई कमरे की चौडाई की दो गुना होती है। ये नाम अर्थ-पूर्ण है तथा बनाने वाले के अभिप्राय तथा रचना की सुन्दरता प्रकट करते है। एक खडवाले निवास तथा मदिर आठ खाको के अन्तर्गत बताए गये है। वे जयन्तिक, भोग, श्री विशाल, स्वस्ति-बधन, श्रीकर, हस्तिपृष्ठ, स्कन्धावार और केशर है। दो खण्डवाले श्रीकर, विजय, सिद्ध, पौष्टिक कान्तिक, प्रभूतक, स्वस्तिक तथा पुष्कल के अतगत आते ह। तीन खडवाले श्रीकात, आसन, मुखालय, केशर, कमलाग, ब्रह्मकात, मेरुकात और कैलाश है, चार खण्डवाले विष्णुकात, चतुर्मुख, सदाशिव, रुद्रकात ईश्वरकात, मत्रकात, वेदिकात तथा इद्रकात है। पाच खडवाले निवास तथा मदिर का नाम एरावत, भूतकात, विश्वकात, मूर्तिकात, यमकात, गृहकात, यज्ञकात और

ह्मकांत; ६ खंडवाले विपुलांक, ज्योतिष्कांत, सरोरुह, विपुलाकृति, स्वस्तिकांत नंदयावर्त्त, इषुकांत, पद्मकांत, कांतार, सुन्दर, उपकांत, कमल, रत्नकांत; ७ खंडवाले पुंडरीक, श्रीकांत, श्रीभोग, धारण, पंजर, आश्रमागार, हर्म्यकांत तथा हिमकांत; ८ खंडेवाले भूकांत, भूपकांत, स्वर्गकांत, महाकांत, जनकांत, तपषकांत, सत्यकांत और देवकांत; ९ खंडवाले सौरकांत, रौरकांत, चंडित, भूषण, विवृत, सुप्रतिकांत, और विश्वकांत; १० खंडवाले भूकात, चंद्रकांत, भवनकांत, अंतरीक्षकांत, मेघक्रांत तथा अब्जकांत, ११ खंडवाले शंभुकांत, ईशकांत, चक्रकान्त, यमकान्त, वज्रकांत तथा अक्रकांत तथा अंत में १२ खंडवाले के नाम पांचाल, द्राविड, मध्यकांत, कलिंगकांत विराट, केरल, वंशकांत, मागधकांत, जन कांत और स्फुर्जक (१ गुर्जर) हैं।

जिन दस प्रान्तों में भारतवर्ष वास्तुकला के आधार पर बँटा था, उनमें अंतिम श्रेणी के दस नाम यह प्रकट करते हैं कि मानसार समस्त भारतवर्ष के निवासों के संबंध में विवरण दे रहा है।

वास्तुकला की तीन शैलियां नागर, वेसर, द्राविड़ जो क्रम से नुकीली, गोली तथा ६ किनारों वाले आकार (शिखर) की हैं, तीन विस्तृत विभागों क्रमशः उत्तरी, पूर्वी (उड़ीसा की) और दक्षिणी में बँटी हैं। इन विस्तृत विभागों में से प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत विभिन्न प्राकार तथा खंड के भवन निर्मित किए गए जो जलवायु, हवा की दिशा तथा निवासियों की आदत आदि स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित थे। एक खंडवाले पृथक् भवन आगे चल कर मंडप के अंतर्गत तथा विभिन्न प्राकारों से युक्त अनेक खंड वाले भवन राजगृह के अंतर्गत वर्णित है मंडप मुख्य प्रासाद से पृथक् बनाये गए हैं जिनका वर्णन हिमज, निषादज, विजय, माल्यज, पारिधात्र, गंध-मादन तथा हेमकुटज नामक खाकों के अंतर्गत किया गया है। आगे चलकर यह कहा गया है कि 'हिमज' मंडप पुस्तकालय के लिए; 'विजय' वैवाहिक उत्सवों के लिए; 'पद्मक' मंदिर के रसोईघर के रूप में; 'सिच' साधारण रसोईघर के निमित्त; 'पद्म' फूल एकत्र करने के लिए; 'भद्र' भंडारगृह तथा जलकुंड के लिए; 'वेद' विधान कक्ष के लिए; 'कुलधारण' सुवास, इत्र आदि एकत्र करने के निमित्त; 'सुखांग' अतिथिभवन के रूप में; 'दावें' गजशाला के लिए; 'कौशिक' गऊशाला और घुड़साल के लिए प्रयुक्त होता था। नदियों तथा झीलों के तट पर बनाये गये 'सौख्यक' तथा दूसरे प्रकार के मंडप तीर्थयात्रियों के लिए; 'जयाल' और दूसरे प्रकार के मंडप ग्रीष्म-निवास के लिए प्रयुक्त होते थे। बड़े मंडप को शाला कहते थे। और ये दण्डक, स्वस्तिक, मौलिक, चतुर्मुख, सर्वतोभद्र और वर्धमान नामक खाकों के अंतर्गत वर्णित हैं।

राजाओं के ९ श्रेणी (पट्ट) चक्रवर्ती, महाराज, या अधिराज, महेन्द्र या नरेंद्र, पारश्रिक, पट्ट-धर, मंदेस, पट्टभज, प्रहारक तथा अस्त्रग्राही के अनुसार राजमहल भी विभक्त हैं। बड़े-बड़े महलों के अहाते एक केन्द्र वाले अधिक से अधिक ५ प्राकारों से घिरे हुए होते हैं जिनके नाम अन्तर मण्डल, अन्तनिहार, मध्यमहार, प्राकार तथा महामर्यादा है। इनमे से प्रत्येक प्राकार अलग अलग द्वार द्वारा पृथक् कर दिये गये हैं। इन द्वारों के नाम द्वार शोभा, द्वारशाला, द्वार प्रासाद, द्वारप्राकार

तथा द्वारहर्म्य है। इन प्राकारो में से प्रत्येक प्राकार के भीतर राजकीय प्रयोजना के लिए भवन निश्चित है तथा मन्दिरो के निमित्त परिवार देवता (शिव, विष्णु, पार्वती आदि के सेवक देवता) का पवित्र स्थान निर्मित है। इस सक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन युग के भारत में वास्तुकला में हर प्रकार का क्रमिक विकास कैसे हुआ। जहा तक सभ्यता और आद्योगिक कुशलता का प्रश्न है मकान या आवास भोजन से भी अधिक महत्वपूर्ण है। सग्रहागार मानसार वास्तुशास्त्र से आगे बनने वाले सैकडो शिल्पशास्त्रो को पर्याप्त आवश्यक सूचनायें मिली तथा मानसार ने उनका मार्गदर्शन भी किया। उत्तरी भारत के पुराण तथा द्रविण क्षेत्र के आगम ने अपने अनेक अध्यायो में इस मनोहारी विषय (वास्तुशिल्प) का वर्णन मानसार द्वारा प्राप्त विस्तृत सूचनाओ के आधार पर ही किया है। इस प्रकार १८ या १९ महापुराणो में वास्तुकला के सबध में मत्स्य पुराण में ८ विस्तृत अध्याय, स्कदपुराण में ३ अध्याय, गरुण पुराण में ४ अध्याय, अग्नि पुराण में १६ अध्याय और नारद पुराण ने अपने एक पूरे अध्याय में कुए, कुड और जलाशयो को निर्माण के सबध में वर्णन कर वास्तुकला के सबध में पुराणो के भागदान को पूर्ण किया है। लिग पुराण मदिरो की यज्ञ-वेदी के सबध मे वर्णन कर वास्तुकला में एक परिशिष्ट जोडता है। वायु पुराण पहाडी के शिखरो पर निर्मित मडपो तथा मदिरो के सबध में वर्णन करता है। ब्रह्माड पुराण निवास-सबधी आवासो तथा मदिरो के सबध में सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार भविष्य पुराण में भी ठीक मत्स्यपुराण और वराह मिहिर के वृहत सहिता की तरह ही मदिरो के सबध में विवरण मिलता है, जब कि उनका वर्गीकरण मानसार में वर्णित ९८ प्रकार के स्थान में २० प्रकारो के अतर्गत हुआ है।

२८ विशिष्ट 'आगमो' में कामिक आगम अध्याय-प्रति-अध्याय मानसार पर आधारित है और इसमें मानसार के ७० अध्याय के स्थान पर कुछ विषयो को वढाकर ७५ अध्याय कर दिये गए है। करन आगम में मानसार के पूरे प्रकरण को ३७ अध्यायो में सक्षिप्त कर दिया गया है। आगमो का यह अपूर्व भागदान सुप्रभेद आगम मे दिखाई पडता है जिसमें समूचे आवश्यक विषयो को सफलता के साथ १५ अध्यायो में सक्षिप्त किया गया है। आयादि पड्वग की तरह सब औद्योगिक विषयो, जिनके द्वारा ठीक विमा (लबाई, चौडाई, ऊँचाई) निश्चित की जाती है, का वर्णन आगम में हुआ है। पुराण, महाकाव्य, नाटक, इतिहास ने काश्मीर के राज तरगिनी ग्रथ की तरह आवासो और मदिरो का वर्णन करते समय उच्च प्रकार की औद्योगिक गणनाओ को छोड दिया है। भूपणलक्षण नामक विस्तृत अध्याय में मानसार ने जीवनोपयोगी उपकरण सबधो हर आवश्यक वस्तुओ का तथा शारीरिक अलकारो का वर्णन किया है। जिन जीवनोपयोगी उपकरणो का वर्णन बौद्ध साहित्य में हुआ है उनमें दीपदड, व्यजन, दर्पण, मजूपा, दोला, तुला, पजर, नीड, तैलमजूपा, वस्त्र मजूपा, फलक आदि उपकरणो को जोडकर विस्तार किया गया है। पजर का उपयोग विभिन्न घरेलू चिडियो तथा जानवरो जैसे मृग, शुक, चातक, चकोर, मराल, पारावत, नीलकठ, कुजरीय, कुक्कुट, कुलाल, नकुल, तित्तिरि, गोधार, व्याघ्र आदि के लिए होता है। गरीब और धनी सभी की आवश्यकताओ के सबध में विस्तार रूप से वर्णन है। इन्हें बहिर्भूपण कहते है।

अंगभूषण का वर्गीकरण, पत्रकल्प, चित्रकल्प, रत्नकल्प, मिश्रकल्प के रूप में किया गया है। शरीर संबंधी अलंकारों की सूची में किरीट, शिरो-विभूषण, चूडामणि, कुंडल, ताटंक, मकरभूषण, कंकण, केयूर, कटक, वलय, मणिबंधकलाप, किंकिनी वलय, अंगुलीयक, रत्नांगुलीयक, दार, अर्धदार, माला, वनमाला, नक्षत्रमाला, दामन, स्तनसूत्र, सुवर्ण सूत्र, पुरसूत्र, कटिसूत्र, उदरबन्ध, मेखला, सुवर्णकुंचक, नूपुर, वलय, पादजालभूषण आदि हैं।

प्रो० उदयनारायण राय एम० ए०

प्राचीन भारतीय नगर निर्माण कला

प्राचीन काल में नगरनिर्माण भारतीय वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण अग माना जाता था। प्राचीन ग्रथो में इस कला के लिए नगरमापन शब्द का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ—महाउम्मगजातक,[1] महाभारत,[2] दीघनिकाय[3] तथा मिलिन्दपन्हो[4]। नगर निर्माण सबधी प्रधान शिल्पकार को विश्वकर्मा कहा जाता था। महाभारत[5] तथा हरिवश[6] में स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि द्वारका का निर्माण विश्वकर्मा के पर्यवेक्षण में सपन्न हुआ था। हरिवश में विश्वकर्मा को शिल्पियो में श्रेष्ठ (शिल्पिमतावर) स्वीकार किया गया है।[7] शुक्रनीति में गौण अर्थात् विश्वकर्मा के सहायक शिल्पियो का वर्गीकरण तीन भागो में किया गया है—(१) आराम-कृत्रिम-वन-कारिण—इस वर्ग के शिल्पकार तडाग तथा उद्यान के निर्माण में दक्ष थे, (२) दुर्गकारिण—इस वर्ग के शिल्पकार दुर्गविन्यास में निपुण थे तथा (३) मार्गकारा—इस वर्ग के शिल्पकार राजमार्गों के निर्माण में दक्ष थे।[8] रघुवश में नगर निर्माण सम्बन्धी प्रधान एव गौण शिल्पकारो के समुदाय के लिए शिल्पसघ शब्द का प्रयोग किया गया है।[9]

नगरनिर्माण के निमित्त चुनी गई भूमि की शुद्धि की जाती थी। शिल्पशास्त्रो से ज्ञात होता है कि भूमिशोधन का कार्य विश्वकर्मा के द्वारा किया जाता था। वह इस भूमि में पूजा चढाता

---

१ महाउम्मगजातक, ६,४४८ (नगर सुमापितम्)

२ महाभारत, (आदिपर्व, अध्याय १९९ नगर मापयामासु)

३ "पाटलिगामे नगर मापेन्ति" दीघनिकाय, २,१६,१,२६

४ "नगर मापेतुकामो" मिलिन्द-पन्हो, पृष्ठ ३२३

५ "द्वारकामावृता रम्या सुकृता विश्वकर्मणा" महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४७, पक्ति ६

६ "विश्वकर्मा च ता कृत्वा पुरीं शक्रपुरीमिव" हरिवश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पक्ति १११

७ हरिवश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८

८ शुक्रनीतिसार, अध्याय २, पक्ति ३९०—९६

९ रघुवश, १६,३८

तथा विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान करता था। मानसार में इस क्रिया के लिए वलिकर्म विधान शब्द का प्रयोग किया गया है।[10] इसके उपरांत नगर-निर्माण की क्रिया प्रारंभ होती थी। नगर को सर्वप्रथम सुरक्षा के साधनों से युक्त किया जाता था। सुरक्षा के साधनों में परिखा (खाई), प्राकार (दीवाल) तथा अरण्य (वन) उल्लेखनीय है।

जितनी भूमि में परिखा का निर्माण करना होता था, उस पर चिन्ह लगा दिया जाता था। इसको "पारिखेयी भूमि" कहते थे।[11] बड़े नगरों में परिखा की संख्या कई होती थी। अर्थशास्त्र,[12] महाउम्मकजातक[13] तथा समरांगणसूत्रधार[14] में तीन परिखाओ का उल्लेख मिलता है। दृढ़ता लाने के लिए परिखा के भीतर किनारे किनारे ईटों की चुनाई की जाती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र की परिखा मे किनारे किनारे ईटें लगाई गई थी।[15] अर्थशास्त्र में कहां गया है कि परिखा के मूल (अर्थात् निचले भाग) तथा उसकी दीवालों में ईटों की चुनाई की जाय।[16] समरांगणसूत्रधार में भी इस प्रकार का निर्देश मिलता है।[17] अर्थशास्त्र के अनुसार ये परिखायें एक दूसरे से एक दंड-अर्थात् ६ फुट की दूरी पर बनी होती थीं।[18]

परिखा का परिमाण अधिक हुआ करता था। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फीट चौड़ी थी।[19] महाभारत,[20] हरिवंश[21] तथा नवसाहसांकचरित[22] में नदी के समान चौड़ी परिखाओं के उल्लेख मिलते है। परिखा की गहराई का ज्ञान मेगस्थनीज के यात्रा

---

१०. मानसार, अध्याय ८

११. अष्टाध्यायी, ५,१, १७

१२. "तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तरा कारयेत्" अर्थशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ३१

१३. जातक संख्या, ५४६

१४. समरांगणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०

१५. मेक्रिण्डिल, खंड २६, पृष्ठ ६८

१६. "पाषाणेष्टकावद्धपार्श्वा वा" अर्थशास्त्र (शास्त्री संपादित), पृष्ठ ५१

१७. "एवं संशोध्य परिखात्रितयं परितोऽश्मभिः।
विधेयमिष्टकाभिर्वा सम्यग्वद्धतलं भवेत्।"।
समरांगणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०, श्लोक २१

१८. अर्थशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ३१

१९. मेक्रिण्डिल, खंड २६, पृष्ठ ६४

२०. "सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृताम्" महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ५७

२१. "गंगासिंधुप्रकाशाभिः परिखाभिर्वृतां पुरीम्" हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २२

२२. "सशब्दजाम्बूनदमेखलेव" नवसाहसांकचरित, सर्ग १, पंक्ति ३६

विवरण से होता है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र की परिखा की गहराई १५ फुट थी।[23] परिखा तीन प्रकार की होती थी—(१) जल-परिखा, (२) पक-परिखा तथा (३) रिक्त-परिखा। जल-परिखा को जातको में उदक-परिखा[24] तथा अर्थशास्त्र में तोयपूर्णा परिखा[25] कहा गया है। जल-परिखा दोनो ओर नदी से मिली होती थी।[26] इस कारण उसका जल बहता रहता था। यही कारण है कि अर्थशास्त्र में जल-परिखा को सपरिवाहा परिखा कहा गया है।[27] पक-परिखा को जातको मे कद्दम-परिखा अर्थात् कीचड से भरी खाई कहा गया है।[28] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण शत्रुओ के लिए परिखा को पार करना असभव था। जातक ग्रथो में रिक्त परिखा को सुक्ख-परिखा अर्थात् सूखी परिखा कहा गया है।[29] महाउम्मग जातक से विदित होता है कि मिथिला में तीनो प्रकार की परिखायें विद्यमान थी।[30]

परिखा के जल में भयकर जलजतु छोड दिये जाते थे। कौटिल्य ने परिखा के जल में घडियालो के छोडने का उल्लेख किया है। इस प्रकार की परिखा को उन्होने ग्राहवती परिखा कहा है।[31] महाभारत में भी कहा गया है कि परिखा के जल में घडियाल तथा नाक आदि भयकर जलजतु छोड दिये जायें।[32] तामिल ग्रथो के अनुसार दक्षिण भारत के नगरो की जल-परिखा में मकर बहुसख्या में छोडे गये थे।[33] सुन्दरता के हेतु परिखा के जल में कमल तथा कुमुद आदि जल पुष्प लगाये जाते थे। यही कारण है कि कौटिल्य ने जल-परिखा को पद्मवती परिखा कहा है।[34] रामायण में पद्म तथा उत्पल आदि से अलकृत परिखाओ का उल्लेख किया गया है।[35] कभी कभी जल-परिखा में हस तथा कारण्डव आदि पक्षी सुन्दरता की अभिवृद्धि के निमित्त छोड दिये जाते थे। हरिवश के अनुसार द्वारका की परिखा में सौन्दर्य के प्राण कमल तथा हस दोनो ही

---

२३ मैक्रिण्डिल, खड २६, पृष्ठ ६४

२४ डाक्टर अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४

२५ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)

२६ "स्रोतसी सह तद्द्वार निखात पुनरेव च" वायुपुराण, अध्याय ८, पक्ति २०९

२७ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)

२८ पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४

२९ वही, पृष्ठ १४४

३० जातक सख्या ५४६

३१ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)

३२ "आपूरयेच्च परिखा स्थानुनक्रझषाकुलाम्" महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ६९, पक्ति ६८

३३ ऐय्यर, टाउन प्लैनिग इन ऐंशेन्ट डकन, पृष्ठ ३४

३४ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)

३५ "परिखाभि सपद्माभि सोत्पलाभिरलकृताम्" सुदरकाड, सर्ग २, पक्ति २६

सुशोभित थे।[३६] नवाहसांकचरित के प्रसार उज्जयिनी की परिखा में कमल की पंक्तियों के साथ हंसों के समूह भी सुशोभित थे।[३७]

परिखा को बनाते समय जो मिट्टी बाहर निकाली जाती थी उसी के द्वारा वप्र (रैम्पर्ट) का निर्माण किया जाता था। अर्थशास्त्र[३८] तथा समरांगण सूत्रधार[३९] कहा गया है कि वप्र का निर्माण परिखा की मिट्टी से किया जाय। वप्र की मिट्टी को हाथियों एवं बैलों के द्वारा अच्छी तरह कुचलवा दिया जाता था।[४०] वप्र के ऊपर कटीली तथा विषैली झाड़ियां लगा कर उसे शत्रुओं के लिए अगम्य बना दिया जाता था।[४१] अर्थशास्त्र के अनुसार वप्र ६ दंड (३६ फुट) ऊँचा तथा १२ दंड (७२ फुट) चौड़ा होता था।[४२] वप्र के ऊपर प्राकार (परकोटे) का निर्माण किया जाता था।* वप्र की ऊपरी भूमि के जितने भाग में परिखा का निर्माण किया जाता था, उस पर शिल्पकार चिन्ह लगा देते थे। इसको "प्राकारीय देश" कहते थे।[४३] प्राकार नगर की सुरक्षा का अभिन्न साधन माना जाता था। प्राकार तीन प्रकार के होते थे--(१) पांसु-प्राकार, (२) इष्टका-प्राकार तथा (३) प्रस्तर-प्राकार। पाँसु-प्राकार मिट्टी का बना होता था। महाभारत में इसी को मृद्दुर्ग कहा गया है।[४४] इष्टका-प्राकार में ईंटों की चुनाई की जाती थी।[४५] अर्थशास्त्र के ऐष्टक प्राकार से इष्टका-प्राकार का बोध होता हे।[४६] प्रस्तर-प्राकार में पत्थर लगाये जाते थे। तामिल ग्रंथों के अनुसार पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा के प्राकार में पत्थर चुने गये थे।[४७]

बड़े नगरों में प्राकार की संख्या कई हुआ करती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र

---

३६ "पद्मखंडाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः" हरिवंशपर्व, विष्णु पर्व, अध्याय ९८, पंक्ति २१

३७ "आमंजुगुंजत्कलहंसपंक्तिर्विकस्वरांभोजरजःपिशंगा"
नवसाहसांक चरित, सर्ग १, श्लोक २८

३८ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ शास्त्री

३९ "परिखोत्वातया मृदा" समरांगणसूत्रधार, पृष्ठ ४०

४० "स्त्रेभिर्गोभिश्च क्षुण्णम्" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५१ (शास्त्री)
तुलनार्हः--"सोत्संगे गजपृष्ठं गोत्रीयपदताड़ितम्" समरांगणसूत्रधार पृ० ४०

४१ "कंटकगुल्मविषवल्लीप्रतानवन्तम्" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)

४२ "षडदण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्विगुणविषकंभम्" वही, पृष्ठ ५२ (शस्त्री)

४३ "वप्रस्योपरिप्राकारम्" वही, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)

४४ महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ८७

४५ "कुर्यात् प्राकारमुद्दामं यद्वा पक्वेष्टकामयम्" समरांगणसूत्रधार. पृष्ठ ४१

४६ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)

४७. ऐय्यर, टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेंट डकन, पृष्ठ ३७

का नगर तीन प्राकारो से परिवेष्ठित था। "अर्थशास्त्र मे दो प्राकारो के बीच की दूरी १२ से लेकर २४ हस्त (१८ फुट से लेकर ३६ फुट) तक दी गई है।"[48] ये प्राकार बहुत ऊचे हुआ करते थे। जातको में प्राकार की ऊँचाई १८ हाथ दी गई है।[49] अर्थशस्त्र मे स्पष्ट है कि प्राकार के बाहर की भूमि में लोगो के आने जाने को रोकने के लिए गहरे गड्ढे बना दिये जाते थे, लताजाल एव कटीली झाडियो का आरोपण किया जाता था तथा ऊँचे टीले उठा दिये जाते थे।[51] प्राकार की चोटी पर नगर की रक्षा के लिए आक्रमणकारी यत्र रखे जाते थे। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के यत्रो की तालिका मिलती है, उदाहरणार्थ—पाषाण (पत्थरो के टुकडे), कुद्दाल (कुदार), कुठारी (कुठार), मुसृष्टि (मूसर), मुद्गदर, दड (डडा), शतघ्नी (सैकडो को मारने वाला यत्र) तथा अग्निसयोग (अग्नि फेंकने वाला यत्र)।[52] रामायण के अनुसार अयोध्या के प्राकार पर पुर की रक्षा के हेतु शतघ्नी यत्र रखे गये थे।[53] महाभारत से ज्ञात होता है कि यही व्यवस्था हस्तिनापुर के प्राकार पर की गई थी।[54] इस ग्रथ के अनुसार इद्रप्रस्थ की दिवालो के ऊपर तरह तरह के आक्रमणकारी यत्र रखे गये थे तथा इनके प्रयोग में निपुण योद्धाओ की नियुक्ति की गई थी।[55]

---

४८ "द्वादशहस्ताद् चतुर्विशति हस्ताविति कारयेत्'
अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)

४९ मैक्रिण्डिल, एड २६

५० पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५

५१ बहिर्जानुभगिनी त्रिशूलकूटयमातकण्टकप्रतिसराहिपृष्ठतालपत्र शृगाटकश्वदष्ट्रा र्गलोपस्क दपादुकाम्बरीषोदयानकै छत्रपथ कारयेत् अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)
तुलनार्ह —
"बाह्यभाग पुनस्तस्य विदध्यात् सर्वतो दिशम्।
द्रुममूलैर्लताजालै कण्टकैरिव सवृतम्॥"
समरागणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४०, श्लोक २४

५२ "तासु पाषाणकुद्दालकुठारी काडकल्पना।
मुसृष्ठि मुद्गरा दडचक्रयत्रशतघ्नय॥
कार्या कार्मारिकाश्शूलावेधनाग्राश्चवेणक।
उष्ट्रग्रीव्याऽग्निसयोगा कुप्यकुल्ने च योऽवधि॥" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५४ (शास्त्री)

५३ "शतघ्नीशतसकुलाम् रामायण, बालकाड, सर्ग ५

५४ "शतघ्नीचक्रयत्रैश्च गुप्तामन्यैर्दुरासदाम्"
महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९६, पक्ति १०८

५५ "विविधैरपि निर्विद्धै शस्त्रोपेतै सुसवृतै।
शक्तिभिश्चावृत विद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगै॥

प्राकार में बुर्ज (अट्टालक) का निर्माण किया जाता था।[५६] अर्थशास्त्र के अनुसार दो अट्टालकों के बीच की दूरी तीस दंड (१८० फुट) होती थी।[५७] मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र के प्राकार में ५७० बुर्जों का निर्माण किया गया था।[५८] अट्टालक की चोटी पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे। जब दुर्ग पर शत्रु आक्रमण करता था, उस समय उसका संहार इन सैनिकों का प्रधान कर्त्तव्य था। नगर-प्राकार द्वारयुक्त भी हुआ करते थे। प्रधान नगर-द्वारों की संख्या चार हुआ करती थी। इन्हें गोपुर कहा जाता था।[५९] नगर-द्वार का नाम उस दूसरे नगर के नाम पर पड़ता था, जो कि इसके समक्ष वर्तमान होता था (अभिनिष्क्रामति द्वारम्), उदाहरणार्थ— 'माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्'' अर्थात् कन्नौज का वह दरवाजा जो मथुरा की ओर पड़ता था।[६०] अर्थशास्त्र में नगर-द्वार के नामकरण के विषय में एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमें देवताओं के नाम पर पुर के चारों द्वारों को ब्राह्म द्वार, याम्यद्वार, ऐन्द्र द्वार तथा सेनापत्य द्वार कहा गया है।[६१] यहां पर याम्य द्वार दक्षिण द्वार को कहा गया है, क्योंकि यमदक्षिणी दिशा का देवता माना जाता है। ऐन्द्रद्वार का प्रयोग संभवतः पूर्व द्वार के लिए किया गया है, क्योंकि इन्द्र पूर्व दिशा के देवता माने गये हैं। अर्थशास्त्र में ब्राह्मद्वार से तात्पर्य उत्तर द्वार से है, क्योंकि इसके लेखक ने ब्राह्मणों का निवासस्थान तथा ब्रह्मा के मंदिर की स्थापना उत्तर दिशा में मानी है। इस ग्रंथ में सेनापत्य द्वार का नाम उस कार्तिकेय के नाम पर रखा हुआ प्रतीत होता है, जो कि देवताओं के सेनापति माने जाते हैं। सेनापत्य द्वार का तात्पर्य पश्चिम द्वार से हो सकता है पर यह निश्चयात्मक रूप से तभी कहा जा सकता है जब कि कार्तिकेय का पश्चिम दिशा के साथ सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दिखाया जा सके।

प्राकार में चार प्रधान नगर-द्वारों के अतिरिक्त गौण द्वार भी होते थे। गौण द्वार

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
आयासैश्च महाचक्रैः शुशुभे योधरक्षितम्॥"
महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९, श्लोक ३२-३३

५६. "प्राकारेऽट्टालकास्तस्मिन् दिक्षु दिक्षु चतुर्दिशम्"
समरांगणसूत्रधार, भाग १, पृष्ठ ४१, श्लोक ३१

५७. "त्रिंशद्दण्डान्तरं च द्वयोरट्टालकयोर्मध्ये"
अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५२ (शास्त्री)

५८. मेक्रिण्डिल, खंड २६

५९. पुरद्वारं तु गोपुरम्" अमरकोष, पृष्ठ ७७

६०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५

६१. "ब्राह्मैन्द्रयाम्यसेनापत्यानि द्वाराणि"
अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५६ (शास्त्री)

को प्रतोली कहा जाता था।[६२] प्रतोली प्रधान द्वार (गोपुर) से चौडाई में बहुत कम होता था। अथशास्त्र में गोपुर की चौडाई प्रतोली की चौडाई की छ गुनी बताई गई है।[६३] प्रतोली की सख्या गोपुर से बहुत अधिक होती थी। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के प्राकार में ६४ द्वारो के निर्माण का उल्लेख किया है। इनमें से चार प्रधान (गोपुर) तथा ६० गौण (प्रतोली) द्वार रहे होगे। नगर-द्वार के ऊपर बुर्ज बनाये जाते थे। इन बुर्जों के ऊपर पुर की रक्षा के निमित्त सैनिक नियुक्त किये जाते थे। साँची स्तूप के दक्षिण तोरण पर गोपुर के ऊपर बुर्ज का अकन किया गया है। नगर-द्वार निश्चित समय पर खुलते तथा बद होते थे।[६४] नगर की अधिक सुरक्षा के लिए परिखा के बाहर कभी कभी वन भी लगाया जाता था। पाडयो की राजधानी मदुरा के चारो ओर सघन वन थे।[६५]

प्रत्येक नगर का एक आकार होता था। नगर के सात प्रामाणिक आकार माने जाते थे—(१) चौकोर, (२) आयताकार, (३) वृत्ताकार, (४) समानान्तर चतुर्भुज का आकार, (५) अर्द्धचद्राकार, (६) भुजगाकार तथा (७) त्रिभुजाकार। युक्तिकल्पतरु में कहा गया है कि जो राजा चौकोर नगर बनवाता है, उसे चारो वर्गों की प्राप्ति होती है।[६६] ब्रह्माड पुराण में आयताकार नगर को प्रशस्त नगर कहा गया है।[६७] मत्स्यपुराण में वृत्ताकार नगर को मगलदायक माना गया है।[६८] भारतीय नगरो का आकार कभी कभी समानान्तर चतुर्भुज के तुल्य भी हुआ करता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र का आकार समानान्तर चतुर्भुज के तुल्य था।[६९] अर्द्धचद्राकार नगर बहुसख्या में विद्यमान थे। हरिवश में मथुरा को अर्द्धचद्राकार कहा गया है।[७०] मत्स्यपुराण में भी अर्द्धचद्राकार नगर की प्रशसा की गई है।[७१] भुजगाकार नगर को समरागण सूत्रधार में

---

६२ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५३ (शास्त्री)

६३ "प्रतोली षट्तुलान्तर द्वारे कारयेत्" वही, पृष्ठ ५३ (शास्त्री)

६४ मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज ऐंड एरियन, पृष्ठ ६६

६५ ऐय्यर, टाउन प्लैनिंग इन एंशेंट डकन, पृष्ठ २५

६६ "चतुस्र चतुर्वर्गफलाय पृथिवीपते"

युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३

६८ मत्स्यपुराण, अध्याय २१७, पक्ति २४

६७ "आयत दिव्य प्रशस्त तै पुरे कृतम्"

ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय ७, पक्ति २१६

६९ मेक्रिण्डिल, खड २६

७० "अर्द्धचद्रप्रतीकाशा" हरिवशपर्व, अध्याय ५४, पक्ति १२०

७१ "अर्द्धचंद्र प्रशसति नदीतीरेषु तद्वसन्" मत्स्यपुराण, अध्याय २१७, पक्ति २७

भुजंगकुटिल[७२] तथा युक्तिकल्पतरू में वर्तुल एवं वलयाकृत[७३] कहा गया है। त्रिभुजाकार नगर के लिए शास्त्रों में त्र्यक्ष[७४] तथा त्रिकोण[७५] शब्द मिलते हैं।

परिखा एवं प्राकार के निर्माण के उपरांत राजमार्गों का निर्माण किया जाता था। राजमार्ग के लिये ग्रंथों में राजपथ[७६] तथा महारथ्या [७७] शब्द मिलते हैं। ये बहुत चौड़े हुआ करते थे। अर्थशास्त्र में ४ दंड अर्थात् २४ फुट चौड़े राजमार्गों का उल्लेख मिलता है।[७८] राजमार्गों का मध्य भाग कछुए की पीठ की भांति ऊपर उठा होता था।[७९] इस प्रकार के निर्माण के कारण उनके ऊपर जलसंचय नहीं हो सकता था। राजमार्ग एक दूसरे को समकोण पर काटते थे। उनकी कटान से चौराहे बनते थे, जिन्हें चत्वर[८०], चतुष्पथ[८१] तथा शृंगाटक[८२] कहा जाता था। हरिवंश में कहा गया है कि द्वारका में सुंदर चौराहे बने हुए थे (समृद्धचत्वरवती)। [८३] इन चौराहों की संख्या १६ थी (महाषोडशचत्वराम्)।[८४] मृच्छकटिक में नगर के चौराहों को "नगर-चत्वर" कहा गया है। [८५] नगर के चौराहे के पास बड़े बड़े सेठ रहते थे, जहां उनकी दूकानें होती थीं। यही कारण है कि नगर-चत्वर को "श्रेष्ठि-चत्वर" भी कहा जाता था। चारुदत्त श्रेष्ठिचत्वर पर रहता था।[८६] नगर के चौराहों पर देवी-देवताओं की पूजा भी चढ़ाई जाती थी।[८७] यहां पर लोग उपहार की सामग्रियां लाते थे।[८८] कभी कभी इन चत्वरों के पास सभागृह बना रहता था, जहां नागरिक मनोविनोद के

---

७२. समरांगणसूत्रधार। पृष्ठ ४४
७३. युक्तिकल्पतरु, पृष्ठ २३
७४. वही, पृष्ठ २३
७५. विश्वकर्मप्रकाश, अध्याय ११, पृष्ठ १८७
७६. विष्णुसंहिता, अध्याय ७२, पंक्ति ७८
७७. समरांगणसूत्रधार, पृष्ठ ३९
७८. "चतुर्दण्डान्तरा रथ्या" अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५४ (शास्त्री)
७९. "कूर्म्मपृष्ठामार्गभूमिः" शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ५३१
८०. मृच्छकटिक, अंक १
८१. अर्थशास्त्र, पृष्ठ १४५ (शास्त्री)
८२. "शृंगाटकचतुष्पथे" अमरकोष, द्वितीय कांड
८३. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८
८४. वही, अध्याय ९८
८५. मृच्छकटिक, अंक १
८६. "स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति" मृच्छकटिक, अंक २
८७. "चतुष्पथे मातृभ्यो वलिमुपहर" वही, अंक १
८८. "जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः" वही अंक १

लिए एकत्र होते थे।[८९] आज ही के समान प्राचीन काल में भी चौराहे के दाहिने किनारे से होकर चलना वर्जित समझा जाता था, क्योंकि सवारियो से कुचल जाने का भय बना रहता था। दूसरी बात यह थी कि प्राचीनकाल में चत्वर पूज्य समझा जाता था। शास्त्रो में पूज्य को बाईं ओर रखकर (अर्थात् उनके दायें से) जाना वर्जित माना गया है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार देवालय, मागलिक द्रव्य तथा पूज्य व्यक्तियो को बाईं ओर रखकर न निकले, उसी प्रकार चौराहे को भी बाईं ओर रखकर न निकले (अर्थात् चौराहे के दाहिने किनारे से न चले)।[९०]

नगर के प्रसिद्ध राजमार्गों तथा चत्वरो के किनारे बाजारें लगती थी, जिन्हें हट्ट कहा जाता था। बडे नगरो में बाजारो की सख्या अनेक हुआ करती थी। जिन मण्डव के कुमार-पाल चरित के अनुसार अणहिलपट्टण नामक नगर में बाजारो की सख्या ८४ थी।[९१] पृथ्वीचद्र-चरित नामक ग्रथ में भी ८४ बाजारो (चउरासी हट्ट) के उल्लेख मिलते है।[९२] राजमार्गों के निर्माण के उपरान्त गृहनिर्माण प्रारभ होता था। सर्वत्रप्रथम राजप्रासाद के निर्माण के लिए भूमि चुनी जाती थी। इसी भूमि को अष्टाध्यायी में 'प्रासादीया भूमि" कहा गया है।[९३] अर्थशास्त्र में नगर के केन्द्रीय भाग में राजप्रासाद का निर्माण अत्यधिक उपयुक्त माना गया ह।[९४]

नागरिक शालायें राजमार्गों के किनारे एक ही पक्ति में बनाई जाती थी। इस पद्धति के अनुसार निर्मित दशपुर के भवनो को देखकर ऐसा आभास होता था, मानो ये पृथ्वी को फाडकर एक ही साथ ऊपर निकल आये हो।[९५] इन भवनो का मुख राजमार्गों की ओर होता था। शुक्रनीति में कहा गया है कि यथासमव भवनो के मुख राजमार्ग की ओर बने हो।[९६] घर की गदगी को गिराने की व्यवस्था घर के पृष्ठभाग की ओर का जाती थी।[९७] प्रत्येक नागरिक शाला के दो भाग हुआ करते थे—(१) बहिर्भाग तथा (२) अत पुर। यही कारण है कि वात्स्यायन ने नागरिक गृह

---

८९ "चतुष्पथे कारयेत्सभाम्" अग्निपुराण, अध्याय ६५, पक्ति ४

९० "अपसव्य न गच्छेच्च देवागारचतुष्पथान्।
मगल्यपूज्याश्च तथा विपरीतान्न दक्षिणम्॥"

विष्णुपुराण, अश ३, अध्याय १२, श्लोक २६

९१ आर्क्यालाजिकल सर्वे नारदर्न गुजरात, पृष्ठ ३४

९२ प्राचीनगुर्जरकाव्यसग्रह (पृथ्वीचद्रचरित), पृष्ठ ९५

९३ पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४३

९४. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५५ (शास्त्री)

९५ "प्रासादमालाभिरलकृतानि धरा विदार्यैव समुत्थितानि"

सरकार, सेलेक्ट इसक्रिप्शंस, पृष्ठ २९१

९६ "राजमार्ग मुखानि स्यु" शुक्रनीतिसार, अध्याय १, श्लोक २६७

९७ "गृहपृष्ठे सदा वीथिर्मलनिर्हरणस्थलम्" वही, अध्याय १, पक्ति ५३४

को **द्विवासगृह** कहा है।[९८] प्रत्येक भवन का एक **वहिर्द्वार** होता था। मृच्छकटिक में वसंतसेना के भवन के वहिर्द्वार का एक बहुत ही सुंदर वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ के अनुसार यह वहिर्द्वार अपने विलक्षण सौंदर्य के कारण वीतराग का भी मन आकर्षित कर लेता था।[९९]

घरों में विशेष सौंदर्य लाने के लिए उनके ऊपर सफेदी की जाती थी। महाभारत[१००] एवं रामायण[१०१] में हंस के समान जिन धौत गृहों का उल्लेख मिलता है वह इसका परिचय देता है कि सफेदी के कारण वे भवन धवलित (उज्ज्वल) हो उठे थे भवनों में स्थान स्थान पर खिड़कियां खोली जाती थीं, जिन्हें **वातायन** कहा जाता था। मृच्छकटिक में उज्जयिनी के भवनों के वातायनों का उल्लेख मिलता है।[१०२] कालिदास ने अयोध्या के भवनों के वातायनों में बैठी हुई पुरसुंदरियों का वर्णन किया है।[१०३] नागरिक की आवश्यकताओं के अनुकूल उपकरण उनके घरों में विद्यमान होते थे। महावग्ग में प्रतिदिन के उपयोग में काम आने वाले उपकरणों के नाम मिलते हैं। वात्स्यायन ने भी इन उपकरणों का उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ पलंग (शयनीय), मसहरीदार पलंग (प्रतिशय्यिका), पीकदान (पतद्ग्रह), बिछावन (आस्तरण), शतरंज का फलक (आकर्ष-फलक) तथा चौपड़ खेलने वाला फलक (द्यूतफलक) इत्यादि।[१०५]

कई मंजिलों से युक्त भवनों में सीढ़ियां लगी होती थीं, जिन्हें **सोपान** कहा जाता था। ये सोपान सुखारोहणीय हुआ करते थे।[१०६] इनसे होकर चंद्रिकासेवन के निमित्त नागरिक कोठे पर जाते थे।[१०७] सुन्दरता के हेतु भवनों में झंडे लगाये जाते थे, जिन्हें ध्वज, पताका तथा केतु कहा जाता था। रामायण के अनुसार अयोध्या के भवनों के ऊपर पताकायें फहरा रही थीं।[१०८] गृह प्रांगण में **उद्यान** लगाया जाता था। इसमें तरह तरह के वृक्ष, पुष्प, शाक, औषधियां तथा वनस्पतियां लगाई जाती थीं। मनोविनोद के निमित्त भवनोद्यान के वृक्षों में पेंग मारने वाली

---

९८. "द्विवासगृहं कारयेत्" कामसूत्र, पृष्ठ ४२, सूत्र ४

९९. मृच्छकटिक, अंक ४

१००. आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति १३२

१०१. "गृहैश्च गृहसंकाशैः शारदाम्बुदसन्निभैः"
रामायण, भाग ५, सर्ग २, पंक्ति ३३

१०२. मृच्छकटिक, अंक ४

१०३. "प्रासादवातायनसंस्थितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुरांगनानाम्"
रघुवंश, ६, २४

१०४. महावग्ग, ३, ५९

१०५. कामसूत्र, पृष्ठ ४३, सूत्र ५-१३

१०६. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ३३

१०७. "हर्म्यतलस्थितयोर्वा चंद्रिकासेवनार्थम्" कामसूत्र, पृष्ठ १७४, सूत्र १९

१०८. "पताकाध्वजशोभिताम्" रामायण, भाग ५, सर्ग २, पंक्ति ३२

झूला (प्रेंखादोला) लटकाई जाती थी।[१०९] उद्यान के भीतर बैठने के लिए सुदर वेदी (स्थंडिल) का निर्माण किया जाता था।[११०] ग्रीष्म-ऋतु में विहार के लिए इसमें केलिमदिर वनाये जाते थे, जिन्हें "गूढमोहनगृह"[१११] तथा 'समुद्रगृह'[११२] भी कहा जाता था। गृह-वाटिका के मध्य जलाशय भी वनाये जाते थे। मेगस्थनीज[११३] तथा वात्स्यायन[११४] ने इसका उल्लेख किया हैं।

इस वात पर अधिक ध्यान दिया जाता था कि पृथक् जातियो के लोग यथासभव पृथक् पुरभागो में वसाये जायें।[११५] अर्थशास्त्र के अनुसार ब्राह्मणो के घर उत्तर भाग में, वैश्यों के घर दक्षिण में, शूद्रो के घर पूर्व में तथा क्षत्रियो के घर पुर के पश्चिम भाग में वने होते थे।[११६] एक ही प्रकार के व्यावसायिक तथा एक ही प्रकार की वस्तुयें वेचने वाले व्यापारियो के घर नगर के एक ही भाग में वनाये जाते थे।[११७] उदाहरणार्थ, अग्निपुराण में कहा गया हैं कि फलादि वेचने वाले व्यापारी ईशान में अपने घर बनाते थे[११८] पर वहुमूल्य आभूषणो के वेचने वाले व्यापारियो के घर आग्नेय में स्थित होते थे।[११९] जातको में दतकारवीथि,[१२०] उप्पलवीथि[१२१] तथा रजकवीथि[१२२] के उल्लेख मिलते हैं। दतकारवीथि से तात्पर्य पुर के उस भाग से हैं, जहा हाथी दाँत पर काम करने वाले रहते थे। उप्पलवीथि तथा रजकवीथि से वोध उन पुरभागो से होता हैं, जहा कमल वेचने वाले तथा कपडा धोने वाले रहते थे।

---

१०९ "स्वास्तीर्णा प्रेंखावेला वृक्षवाटिकायाम्" कामसूत्र, पृष्ठ ४५, सूत्र १५

११० "वृक्षवाटिकाया च स्थण्डिलानि मनोज्ञानि कारयेत्" वही, पृष्ठ २२५, सूत्र ७

१११ वही, पृष्ठ १७४, सूत्र १९

११२ रघुवश, १९, ९

११३ मेक्रिण्डिल, ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ ६६

११४ "मध्ये कूप वापीं दीर्घिका वा खानयेत्"

कामसूत्र, पृष्ठ २२५, सूत्र ८

११५ "सजतीयगृहाणा हि समुदायेनपक्तित "

शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पक्ति ५१४

११६ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५५ (शास्त्री)

११७ वही, पृष्ठ ५५

११८ "फलादिविक्रयिण ईशाने च वणिग्जना "

अग्निपुराण, अध्याय १०६, पक्ति १७

११९ वही, अध्याय १०६

१२० जातक, १, ३२०

१२१ वही, २, ३२१,

१२२ वही, ४, ८२

कभी कभी पुर का वर्धन भी किया जाता था। इसकी आवश्यकता उस समय पड़ती थी, जब जनसंख्या की विशालता के कारण नगर छोटा पड़ने लगता था। हरिवंश से विदित होता है कि द्वारका का आकारवर्धन इन्हीं परिस्थितियों में किया गया था।[१२३] तामिल ग्रंथों के द्वारा सूचना मिलती है कि मदुरा का विस्तार जनसंख्या की अधिकता के कारण किया गया था।[१२४] नगर का विस्तार तीन प्रकार से किया जाता था—(१) छोटा पड़ने वाले नगर को तोड़ कर उसके स्थान पर एक बड़ा नगर बड़ी योजना के अनुसार बसाया जाता था, (२) पुराने नगर को ही चारों दिशाओं में बढ़ा दिया जाता था तथा (३) छोटा पड़ने वाले नगर की किसी सीमा पर एक उपनगर बसा दिया जाता था। इसमें उन लोगों को स्थान दिया जाता था, जो कि नगर में अधिक पड़ते थे। इस प्रकार के उपनगर को **शाखानगर** कहा जाता था। अमरकोष पर क्षीरस्वामी ने जो टीका लिखी है, उसमें कहा गया है कि मूलनगर के उपकण्ठ पर स्थित नगर शाखानगर कहलाता है।[१२५] शिल्परत्न में भी कहा गया है कि शाखानगर उस सन्निवेश को कहते हैं, जो नगर की सीमा (**नगरोपान्ते**) पर स्थित हो।[१२६] शब्दकल्पद्रुम में कहा गया है कि बढ़ी हुई जनसंख्या को स्थान देने के लिए मूलनगर के उपकण्ठ पर जो उपनगर (मूलनगरादन्यत्पुरम्) बसाया जाता है, वही शाखानगर है।[१२७] तरु की शाखा की भांति शाखानगर भी मूलनगर की एक शाखा था (मूलनगरस्य तरुस्थानीयस्य शाखेव)।[१२८] पहले प्रकार के आकारवर्धन का एक अत्यंत सुंदर उदाहरण हरिवंश में मिलता है। इस ग्रंथ के अनुसार द्वारकापुरी की योजना इस नगर के संस्थापक श्रीकृष्ण ने स्वयं बनाई थी। विश्वकर्मा को यह योजना छोटी दीख पड़ी। उसने श्रीकृष्ण से पहले ही कहा था कि एक बड़ी योजना के अनुसार नगर का निर्माण किया जाय, नहीं तो कालान्तर में पुरवासियों की संख्या के बढ़ जाने पर उसके छोटी पड़ जाने का भय है।[१२९] पर श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा की बात न

---

१२३. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९८

१२४. ऐय्यर, टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेंट डकन, पृष्ठ ३४

१२५. अमरकोष (हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित), पृष्ठ ७४

१२६. शिल्परत्न, अध्याय ५

१२७. "मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य मूलनगरस्य समीपेऽङ्के वा यदन्यत् पुरं क्रियते तत् शाखानगरम्"

शब्दकल्पद्रुम। भाग ५, पृष्ठ ४४

तुलनार्ह :—आरभ्य मूलनगरादपरं नगरं हि यत्।
"तदभिष्यन्दि रमणं शाखानगरमित्यपि॥"

—वही, भाग ५, पृष्ठ ४४

१२८. वही, भाग ५, पृष्ठ ४४

१२९. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५८, पंक्ति ६४-६६

मानी। कुछ काल के उपरात विश्वकर्मा की बात सही निकली। जनसख्या के अधिक हो जाने पर सभी लोगो का उसमें अटना दुष्कर हो गया। फलत द्वारका का विस्तार आवश्यक हो गया। एतदर्थ नगर को गिराकर भूमि को समतल कर दिया गया तथा एक बडी योजना के अनुसार नवीन नगर का निर्माण करना प्रारभ किया गया। इस बार नगर की लम्बाई तथा चौडाई द्विगुण कर दी गई।[130] जहा पहली योजना में केवल चार राजमार्ग रखे गये थे, वहा नई योजना में आठ राजमार्ग रखे गये। जहा पूव निर्मित पुरी में चत्वरो की सख्या ८ थी, वहा नवनिर्मित पुरी में चत्वरो की सख्या १६ थी।[131] इस प्रकार पुर के अधिक विस्तृत हो जाने पर लोग फैलकर सुखपूर्वक रहने लगे।[132] दूसरे प्रकार के नगर विस्तार का एक उदाहरण तामिल ग्रथो में मिलता है। इनके अनुसार मदुरा के मूल नगर के चतुर्दिक उन पुरवासियो के घर बनाये गये, जिनको नगर के भीतर रहने के लिए स्थान नही मिला था।[133] इस प्रकार का आकारवर्धन अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योकि यह पहले प्रकार से अधिक सरल तथा व्यावहारिक था। इसमें पुर को केवल बढाने की आवश्यकता थी, न कि उसे गिरा कर एक दूसरा नगर बनाने की। तीसरे प्रकार का आकारवर्धन भी अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योकि शास्त्रो में शाखानगर का उल्लेख अधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाखानगर मूलनगर के उत्तर पूर्व की दिशा में अधिक बनाये जाते होगे, क्योकि शिल्पशास्त्रो के अनुसार इसी दिशा में नगर का विस्तार अधिक शुभ माना जाता था।

पुरातत्वसाक्ष्य भी इस बात का प्रमाण है कि नगर-मापन का अभ्यास एक सुविकसित कला के रूप में किया जाता था। प्राचीन नगरो के भग्नावशेषो पर जो उत्खनन हुए है, उनसे स्पष्ट है कि वप्र, प्राकार, अट्टालक, गोपुर तथा परिखा प्राचीन नगर के अभिन्न अग थे। भीटा के उत्खनन से प्रमाणित हो जाता है कि यहा पर मिट्टी के द्वारा बना हुआ एक वप्र वर्तमान था। यह जमीन की सतह से लगभग २५ फीट ऊँचा था तथा इसकी चौडाई आधार पर १०० फीट थी। मिट्टी, ईंट तथा पत्थरो के द्वारा बने हुए प्राकारो के उदाहरण खुदाइयो में मिले है। एक दूसरे को समकोण पर काटने वाले राजमार्गो तथा वैज्ञानिक पद्धति पर बने हुए घरो के जो अवशेष उत्खनन के द्वारा प्रकाश में लाये गये है, उनसे नगर निर्माण कला सबधी साहित्यिक उल्लेखो का भली भाति समर्थन हो जाता है।

---

१३० वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, श्लोक २७

१३१ वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८

१३२ वही, अध्याय ९८

१३३ ऐय्यर, टाउन प्लैनिंग इन एंशेंट डकन, पृष्ठ ३४

१३४ मयमत, अध्याय २९, पक्ति २३

श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम. ए.

मेवाड़ के कुशल सूत्रधार एवं प्रमुख शिल्पी

[१५—१७ वीं शताब्दी ई०]

१५ वीं सदी के शिल्पी

मेवाड़ाधिपति महाराणा लाखा (विक्रम संवत् १४३९-७६ या ७८) के राज्य काल में एक बनजारे द्वारा उदयपुर नगर का प्रख्यात 'पिछोला' नामक तालाब बनवाया गया था (रा० इ० पृ० ५७३), परन्तु इस बृहत्कार्य के निर्माण हेतु नियुक्त सूत्रधार एवं कारीगरों के विषय में तनिक भी जानकारी नहीं है। महाराणा लाखा ने स्वयं कतिपय देवालय बनवाये, परन्तु उनके बनाने वालों का परिचय अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सका है। लाखा के सुपुत्र महाराणा मोकल (वि० सं० १४७८-९०) के समय के कुछ महत्त्वपूर्ण शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। जिनमें तत्कालीन शिल्पियों एवं सूत्रधारों का कुछ परिचय अंकित है। एकलिंग जी के पास 'शृंगी ऋषि' नामक स्थान की संवत् १४८५ की प्रशस्ति को प्रस्तर शिला पर उत्कीर्ण करने का श्रेय 'हादा' के पुत्र सूत्रधार 'फना' को प्राप्त था, जो अपने समय का शिल्पशास्त्र विशारद एवं सूत्रधार वर्ग का गुरु था :—

"उत्कीर्ण्णाषि (खि) लसूत्रधार गुरुणा से (यं) प्रशस्तिः शुभा विख्यातेन फनाभिधेन

---

* संकेतचिन्ह :—

ए० इ० = ऐपिग्राफिया इण्डिका, अंग्रेजी, पुरातत्त्व विभाग, भारत सरकार।

प्रो० रि० = प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ आर्कयॉलॉजिकल सर्वे, वैस्टर्न इण्डिया।

रा० इ० = गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत 'राजपूताने का इतिहास', भाग २, हिन्दी।

रा० प्र० = राजप्रशस्तिमहाकाव्य, ऐपिग्राफिया इण्डिका के २९-३० वें भागों के परिशिष्टाङ्क।

वी० वि० = वीर विनोद, कविराजा श्यामलदास कृत।

वि० सं० = विक्रम संवत्।

ई० = ईसवी।

पृ० = पृष्ठ संख्या।

शो० पृ० = शोधपत्रिका, हिन्दी त्रैमासिक, उदयपुर।

मानी। कुछ काल के उपरात विश्वकर्मा की बात सही निकली। जनसख्या के अधिक हो जाने पर सभी लोगो का उसमें अटना दुष्कर हो गया। फलत द्वारका का विस्तार आवश्यक हो गया। एतदर्थ नगर को गिराकर भूमि को समतल कर दिया गया तथा एक बडी योजना के अनुसार नवीन नगर का निर्माण करना प्रारभ किया गया। इस बार नगर की लम्बाई तथा चौडाई द्विगुण कर दी गई।[१३०] जहा पहली योजना में केवल चार राजमार्ग रखे गये थे, वहा नई योजना में आठ राजमार्ग रखे गये। जहा पूव निर्मित पुरी में चत्वरो की सख्या ८ थी, वहा नवनिर्मित पुरी में चत्वरो की सख्या १६ थी।[१३१] इस प्रकार पुर के अधिक विस्तृत हो जाने पर लोग फैलकर सुखपूर्वक रहने लगे।[१३२] दूसरे प्रकार के नगर विस्तार का एक उदाहरण तामिल ग्रथो में मिलता है। इनके अनुसार मदुरा के मूल नगर के चतुर्दिक उन पुरवासियो के घर बनाये गये, जिनको नगर के भीतर रहने के लिए स्थान नही मिला था।[१३३] इस प्रकार का आकारवर्धन अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योकि यह पहले प्रकार से अधिक सरल तथा व्यावहारिक था। इसमें पुर को केवल बढाने की आवश्यकता थी, न कि उसे गिरा कर एक दूसरा नगर बनाने की। तीसरे प्रकार का आकारवर्धन भी अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योकि शास्त्रो में शाखानगर का उल्लेख अधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाखानगर मूलनगर के उत्तर पूर्व की दिशा में अधिक बनाये जाते होगे, क्योकि शिल्पशास्त्रो के अनुसार इसी दिशा में नगर का विस्तार अधिक शुभ माना जाता था।

पुरातत्वसाक्ष्य भी इस बात का प्रमाण हैं कि नगर-मापन का अभ्यास एक सुविकसित कला के रूप में किया जाता था। प्राचीन नगरो के भग्नावशेषो पर जो उत्खनन हुए हैं, उनसे स्पष्ट है कि वप्र, प्राकार, अट्टालक, गोपुर तथा परिखा प्राचीन नगर के अभिन्न अग थे। भीटा के उत्खनन से प्रमाणित हो जाता है कि यहा पर मिट्टी के द्वारा बना हुआ एक वप्र वर्तमान था। यह जमीन की सतह से लगभग २५ फीट ऊँचा था तथा इसकी चौडाई आधार पर १०० फीट थी। मिट्टी, ईंट तथा पत्थरो के द्वारा बने हुए प्राकारो के उदाहरण खुदाइयो में मिले हैं। एक दूसरे को समकोण पर काटने वाले राजमार्गो तथा वैज्ञानिक पद्धति पर बने हुए घरो के जो अवशेष उत्खनन के द्वारा प्रकाश में लाये गये हैं, उनसे नगर निर्माण कला सबधी साहित्यिक उल्लेखो का भली भाति समर्थन हो जाता है।

---

१३० वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८, श्लोक २७

१३१ वही, विष्णुपर्व, अध्याय ९८

१३२ वही, अध्याय ९८

१३३ ऐय्यर, टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेंट डकन, पृष्ठ ३४

१३४ मयमत, अध्याय २९, पक्ति २३

श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम. ए.

मेवाड़ के कुशल सूत्रधार एवं प्रमुख शिल्पी

[१५--१७ वीं शताब्दी ई०]

१५ वीं सदी के शिल्पी

मेवाड़ाधिपति महाराणा लाखा (विक्रम संवत् १४३९-७६ या ७८) के राज्य काल में एक बनजारे द्वारा उदयपुर नगर का प्रख्यात 'पिछोला' नामक तालाब बनवाया गया था (रा० इ० पृ० ५७३), परन्तु इस बृहत्कार्य के निर्माण हेतु नियुक्त सूत्रधार एवं कारीगरों के विषय में तनिक भी जानकारी नहीं है। महाराणा लाखा ने स्वयं कतिपय देवालय बनवाये, परन्तु उनके बनाने वालों का परिचय अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सका है। लाखा के सुपुत्र महाराणा मोकल (वि० सं० १४७८-९०) के समय के कुछ महत्त्वपूर्ण शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। जिनमें तत्कालीन शिलिपियों एवं सूत्रधारों का कुछ परिचय अंकित है। एकलिंग जी के पास 'शृंगी ऋषि' नामक स्थान की संवत् १४८५ की प्रशस्ति को प्रस्तर शिला पर उत्कीर्ण करने का श्रेय 'हादा' के पुत्र सूत्रधार 'फना' को प्राप्त था, जो अपने समय का शिलपशास्त्र विशारद एवं सूत्रधार वर्ग का गुरु था :—

"उत्कीर्ण्णाषि (खि) लसूत्रधार गुरुणा से (यं) प्रशस्तिः शुभा विख्यातेन फनाभिधेन

---

* संकेतचिन्ह :—

ए० इ० = ऐपिग्राफिया इण्डिका, अंग्रेजी, पुरातत्त्व विभाग, भारत सरकार।

प्रो० रि० = प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ आर्केयॉलॉजिकल सर्वे, वैस्टर्न इण्डिया।

रा० इ० = गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत 'राजपूताने का इतिहास', भाग २, हिन्दी।

रा० प्र० = राजप्रशस्तिमहाकाव्य, ऐपिग्राफिया इण्डिका के २९-३० वें भागों के परिशिष्टाङ्क।

वी० वि० = वीर विनोद, कविराजा श्यामलदास कृत।

वि० सं० = विक्रम संवत्।

ई० = ईसवी।

पृ० = पृष्ठ संख्या।

शो० पृ० = शोधपत्रिका, हिन्दी त्रैमासिक, उदयपुर।

(सु) घिया हादात्मजेन। साहित्यादिक-शिल्प-शास्त्र-विलसत्पाथोधिना साधुना श्री नारायण सेवकेन नृपते श्रीमोकलस्याज्ञया ॥३०॥ (ए० इ०, वर्ष २३, पृ० २४१)

यह प्रशस्ति महाराणा मोकल की आज्ञानुसार उत्कीर्ण की गयी तथा 'फना' नामक सूत्रधार तो साहित्यवेत्ता भी था। महाराणा कुभा (मोकल का पुत्र) के समय की वि० स० १५०० की कडिया ग्राम की अप्रकाशित[1] शिलाप्रशस्ति में हादा नामक शिल्पी के दो पुत्रो का उल्लेख किया गया है, परन्तु अब वे शिला में कुछ अस्पष्ट हो गये हैं यथा —

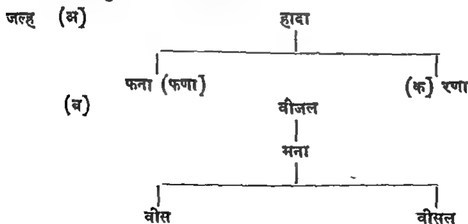
नागह्लवीय पर जाति लसत् प्रसिद्धिर्हादि स्यक सकल—शिल्पिमताबुजार्क । ज (1) तौ तदीय तनुजौ (क) रणा (फ) णाम्या प्रशास्तिरुदरकि कलौधविम्या ॥६०॥

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रधार हादा का पुत्र फना या फणा तो ज्येष्ठ था तथा उसका छोटा भाई (क) रणा था।

महाराणा मोकल के काल की स० १४८५ की दूसरी प्रशस्ति (अर्थात् चित्तौड के समिधेश्वर देवालय का शिलालेख) में सूत्रधार वीजल के पुत्र मना तथा मना के पुत्रो वीस तथा वीसल[2] द्वारा निर्माण कार्य सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है —

मनाख्यो विख्यात सकलगुणवान् वीजलसुत सुत शिल्पी जातो गुणगणयुतो वीवसल इति। अतिप्रशस्तैरलिखित् प्रशंस्ति (स्ति) वर्णोंलर्णेन वहि कृतैयं । श्रीमत्सभाधीशमहेश्वरस्य प्रसादतो ऽ सौ चिरजीवनोस्तु ॥ वी (जलस्य) सुत शिल्पी मानाख्य सूत्रधारक । तस्यात्मजेन वीसेन प्रशास्ति प्रशस्तिरियमुत्कृता। रुचिराक्षरामुत्कीर्णा प्रशास्तिरियमुज्वला। लिलेप (ख) वीसल शिल्पी श्री (स) माधीश प्रसादत ॥ (ए० इ० वर्ष २, पृ० ४२१)

अत महाराणा मोकल ने दो प्रमुख सूत्रधार वशजो को प्रोत्साहन प्रदान किया था, जिनका वशवृक्ष निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है —



१ यह शिलालेख उदयपुर नगर के साहित्य सस्थान राजस्थान विद्यापीठ के सग्रह में सुरक्षित है।

२ यह भी सम्भव है कि वीस तथा वीसल एक व्यक्ति के ही भिन्न भिन्न नाम थे।

उदयपुर नगर से लगभग ६ मील मील दूरस्थ हिंगलुबावडी के शिलालेख में (वि० सं० १४८७') मोकल के ही समय के जल्ह[3] नामक प्रमुख शिल्पी का उल्लेख उपलब्ध है:—उत्कीर्ण (ं) शिल्पिमुख्येन साधुना जल्ह नामना (म्ना)। अतः स्पष्ट ही है कि १५वीं सदी ई० के पूर्वार्द्ध में मेवाड़ में कतिपय योग्य शिलिप व सूत्रधार अपने अपने कार्य में जुटे हुए थे। उस समय मेवाड़ राज्य में कर्मठ कलाविदों की कोई कमी न थी। इस स्थिति में उदयपुर के राजकीय सूत्रधार श्री भंवरलाल के संग्रह से सुरक्षित वि० सं० १४८२ के एक ताम्रपत्र की प्रारंभिक पंक्तियों का विश्ले-षण करना परमावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उक्त ताम्रपत्र[4] में यह वर्णित है कि "महाराणा मोकल के दरबार में उस समय कोई कुशल शिलिप व सूत्रधार न था। अतः महाराणा ने वड़े प्रयत्न से गुजरात देश से सूत्रधार खेता के पुत्र मण्डन को बुलवाया तथा शिलपशास्त्र की रचना करवाई। कालान्तर में उसके लिये दानादि की व्यवस्था भी की" :—

पंक्ति १. ॥ महाराजाधिराज महाराणा श्री मोकल जी आदेशात् सूत्रधार
,, २. मंडन षेतराकस्य थने गुजरात थी बुलायो अठे दरबार में
,, ३. सीलप सास्त्र भरायो थको सुथार हो नहीं जीसु थने गुजरात
,, ४. थी बुलायो बहोत मेनतसु
,, ८. मस १ प्रत रु० ३०......इत्यादि।

भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह ताम्र पत्र १५वीं सदी ई० के पूर्वार्द्ध का नहीं प्रतीत होता है। साथ ही वि० सं० १४८५ के उपर्युक्त शिलालेखों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि मेवाड़ में उस समय कर्मठ शिल्पियों की कोई कमी न थी; फिर केवल ३ वर्ष पूर्व अर्थात् वि० स० १४८२ में, गुजरात देश से 'मण्डन' नामक सूत्रधार को निमन्त्रित किये जाने का कारण समझ में नही आता है। अपरंच, यदि 'मण्डन' नामक प्रख्यात शिलपज्ञ संवत् १४८२ में जीवित होता तो उसका उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में भी मिलना चाहिए था परन्तु स्थिति भिन्न ही है। यह सम्भव हो सकता है कि मण्डन के पूर्वज गुजरात देश से आकर मेवाड़ में बस गये हों परन्तु इस प्रसंग में भी प्रामा-णिक सामग्री का सर्वथा अभाव ही है।

अखिल भारतीय ख्याति के सूत्रधार मण्डन ने अपने प्रख्यात शिल्पशास्त्र **'रूपमण्डन'** के अन्तिम अध्याय के एक श्लोक में अपना परिचय स्वयं अंकित किया है, जिससे उसके पिता क्षेत्र (मारवाड़ी भाषा में खेता) का मेवाड़-देशीय होना सिद्ध होता है।[5] मण्डन तो 'क्षेत्र' का ज्येष्ठ पुत्र था :—

---

३. राजपूताना म्यूजियम अजमेर की वार्षिक रिपोर्ट, वर्षान्त २१ मार्च, १९३२ पृ० ४। यह अप्रकाशित शिलालेख राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर के संग्रह मे सुरक्षित है।

४. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जून १९५४, वर्ष ३०, अंक २, पृ० १७८-८२ पर प्रकाशित। द्रष्टव्य शो० प०, वर्ष ७, अंक १, सितम्बर १९५५, पृ० ५०-८६।

५. शो० प०, वर्ष २, अंक २, पृ० ७०।

श्रीमद्देशे मेदपाटाभिधाने क्षेत्राख्योऽभूत् सूत्रधारो वरिष्ठ ।
पुत्रो ज्येष्ठो मण्डनस्तस्य तेनप्रोक्त शास्त्र मण्डन रूपपूर्वम् ॥४०॥

सूत्रधार मण्डन तो महाराणा कुम्भा का सर्वप्रिय सूत्रधार था । अपरच, सवत् १४८२ के उपर्युक्त ताम्रपत्र में रु० (पक्ति ८) शब्द का प्रयोग तो मुगलकालीन चादी के रुपये का सूचक प्रतीत होता है, जबकि इस प्रदेश में १५वी शती में फदिया[६] व टक[७] मुद्रा का व्यवहार होता था। आशा है भारतीय साहित्य, इतिहास एव कला के धुरन्धर विद्वान् इस सम्बन्ध में अधिक सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। उक्त ताम्रपत्र को तत्कालीन स्वीकार करना सगत न होगा (शो० प०, ७ (१) पृ० ८६)।

सूत्रधार 'मण्डन'

मेवाड का 'कुम्भलगढ' नामक विशाल दुर्ग महाराणा कुम्भा के आदेशानुसार सूत्रधार मण्डन की अध्यक्षता में बनाया गया—यह इतिहासकारो का मत है, यद्यपि मण्डन द्वारा इस वृहत्कार्य को करने का प्रामाणिक आधार तो अद्यावधि अप्राप्य ही है। कुम्भलगढ दुर्ग पर सवत् १५१५-१६ में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा हुई तथा ये कृतियाँ मण्डन विरचित 'रूप-मण्डन' नामक ग्रन्थ में वर्णित वृत्तानुरूप उत्कीर्ण की गई थी।[८] एकलिंग जी के विशाल परकोटे के अन्दर १५वी सदी ई० की कला के प्रतिनिधि स्वरूप विष्णु मदिर के बाहर तीन प्रधान ताको में तीन मुखो एव क्रमश ८, १२ तथा १६ हाथो वाली विष्णु प्रतिमाए तो 'रूपमण्डन' (अध्याय ३) द्वारा प्रतिपादित वैकुण्ठ, अनन्त एव त्रैलोक्यमोहन स्वरूपो को चरितार्थ करने में पूर्णतया

---

६ द्रष्टव्य—मेरा लेख जर्नल न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, १९ (१), १९५७, पृ० ८१-८३।

७ द्रष्टव्य—हरविलास शारदा कृत 'महाराणा कुभा', अग्रेजी, १९३२, पृ० १७१, देलवाडा—एकलिंग जी का वि० स० १४९१ का लेख। जयपुर विभागान्तर्गत टोडाराय सिंह के वि० स० १६०४ के लेख में ट० १००१ सहस्र एक अके मेवाडे नाणं का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है [मरुभारती, हिन्दी, पिलानी, ५(१), पृ० २०]। वास्तव में यहाँ पर 'मेवाड की नाणक मुद्रा' का उल्लेख किया गया है, दे० मेरा लेख, मरुभारती, पिलानी, ४ (४), पृ० ६३-४। नाण शब्द तो सस्कृत नाणक तथा प्राकृत णाण का रूपान्तर है। एकलिंगजी की वि० स० १५४५ की प्रशस्ति में कनक टक तथा उदयपुर नगर के समीपस्थ बेदला ग्राम के बाहर छतरी में लगे हुए वि० स० १६२६ के अप्रकाशित अभिलेख में टका ३० का प्रयोग किया गया है। मेवाड में रुपये का प्रयोग १७वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में ही हुआ था। विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य मेरे लेख मरुभारती, अप्रैल १९५८ तथा जर्नल न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वर्ष २०।

८ इनके विशद विवेचन हेतु द्रष्टव्य मेरा लेख, शो० प०, ८ (३), पृ० १-१२। ये प्रतिमाएँ अब उदयपुर सग्रहालय के पुरातत्त्व कक्ष में सुरक्षित है।

समर्थ हैं।[९] ऐसा प्रतीत होता है कि यह विष्णुमंदिर भी राणा कुम्भा के राज्यकाल में तथा सूत्रधार मण्डन की अध्यक्षता में निर्मित हुआ था। इस शिल्पी ने कतिपय शिल्प एवं वास्तुविज्ञान विषयक कतिपय ग्रन्थों को संस्कृत में लिखा तथा १७वी सदी ई० तक तो वह अखिल भारतीय ख्याति का महापुरुष बन चुका था। मण्डन के २०० वर्ष उपरान्त उसके सभी ग्रन्थ[१०] बनारस के प्रमुख पण्डित कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय[११] में विद्यमान थे। उसके ग्रन्थों में निम्नांकित विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं:—

१. रूपमण्डन
२. राजवल्लभ
३. देवतामूर्तिप्रकरण
४. प्रासादमण्डन
५. वास्तुमण्डन
६. वास्तुशास्त्र
७. वास्तुसार
८. रूपावतार

मण्डन ने अपने 'राजवल्लभ'[१२] नामक ग्रन्थ के अन्तिम भाग (अध्याय १४, श्लोक ४३) में अपने स्वामी महाराणा कुम्भा का भी उल्लेख किया है:—

श्रीमेदपाटे नृपकुंभकर्णस्तंदघ्रिराजीव परागसेवी।
स मण्डनाख्यो भुवि सूत्रधारस्तेनोद्धृतो भूपतिवल्लभोयम्॥४३॥

(राजवल्लभ, अ० १४)

राजस्थान व गुजरात के सभी सूत्रधार आज भी मण्डन की परम्परा का अनुसरण कर गौरव का अनुभव करते हैं। उनकी कृतियों का स्फूर्तिस्त्रोत तो मण्डन द्वारा सम्पादित उपर्युक्त ग्रन्थ ही है।

मण्डन के वंशज और उनकी कृतियां

मण्डन के छोटे भाई नाथ ने 'वास्तुमञ्जरी'[१३] नामक ग्रन्थ की रचना की तथा मण्डन

---

९. इनके विवेचन हेतु देखिए मेरा सचित्र लेख, शो० प० ९ (१), पृ० ७-१९।

१०. देखिए इण्डियन हि० क्वार्टरली वर्ष १६, १९४०, पृ० ३०६-३१९; जर्नल गुजरात रिसर्च सोसाइटी, बम्बई, १(४), भगवान् लाल इन्द्रजी स्मारक ग्रन्थ, १९३९, पृ० ३९-६०; हर विलास शारदा, महाराणा कुम्भा, उपर्युक्त, पृ० १६७; रा० इ० भाग २, पृ० ६२७; Aufrecht, Catalogus Catalogorum, लीपजिग, भाग १, १८९१, पृ० ७३०-१ ....इत्यादि।

११. देखिये कवीन्द्राचार्य ग्रन्थ सचि, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, संख्या १७; इण्डियन हि० क्वार्टरली, १६, १९४०, पृ० ३०८।

१२. बड़ौदा संस्करण, गुजराती भाषा मे, १८९१, पृ० २३९।

१३. शारदा, उपर्युक्त, पृ० १६८; रा० इ०, २, पृ० ६२७; श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर कृत 'Report of A Second Tour in, Search of Sanskrit manuscripts in Rajputana in the year 1904—6, पृ० ३८...इत्यादि।

पुत्र गोविन्द[१४] ने तीन ग्रन्थो का सम्पादन किया यथा —कलानिधि, उद्धारधोरणि द्वारदीपिका। गोविन्द तो कुम्भा के सुपुत्र महाराणा रायमल्ल का राज्याश्रित सूत्रधार था तथा इसका 'कला निधि' में भी उल्लेख है[१५]—

सूत्रधार सदाचार कलाधार कलानिधि ।
दण्डाधार सुरागार श्रिये गोविन्दमादिशत्॥
राज्ञाश्रीराजमल्लेन प्रीतस्याभि (ति) मनोहरे।
प्रणम्यमाने प्रासादे गोविंद सव्यधादिदम्॥

महाराणा कुभा की पुत्री रमाबाई से सम्बन्धित वि० स० १५५४ की 'जावर' की प्रशस्ति मे मण्डन के पुत्र ईशर का उल्लेख है तथा उसने विष्णुमदिर बनाया था। प्रस्तुत लेख में ईशर (सस्कृत 'ईश्वर') के पितामह क्षेनाक (सस्कृत 'क्षेत्रार्क') का भी उल्लेख[१६] है यथा —

श्री मेदपाटे वरे देशे कुम्भकर्ण नृप राज्ये[१७]
क्षेत्राकसूत्रधारस्य पुत्रो मण्डन आत्मवान्।
मण्डनसुत ईशर ए कमठाणु विरचित ॥

अपर च, महाराणा रायमल्ल की सवत् १५५६ की एक अप्रकाशित शिला प्रशस्ति[१८] में ईसर (=ईशर) के पुत्र छीतर का भी वर्णन है —

सू० ईसर पुत्र सू० छीटरेणेय कारित मगल महाश्री ॥
(चित्तौड का लेख)।

अत मण्डन के पौत्र का नाम छीतर था तथा उसके वशज राज्यसेवा में तल्लीन रहे। इस स्थिति में मण्डन का निम्नाकित वश वृक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए —

---

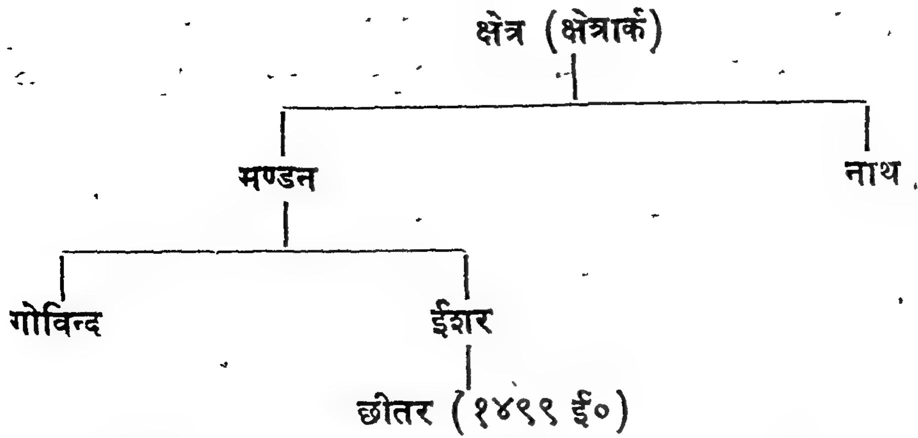
१४ वही।

१५ शो० प०, ७ (१), दिस० १९५५, पृ० ६०।

१६ वी० वि०, भाग २, पृ० ५८।

१७ वीर विनोद (उपर्युक्त) में अकित कुभकर्ण-नृप-गृहे पाठ अशुद्ध है। इसी प्रकार श्यामलदास जी ने क्षत्राक के स्थान पर क्षेत्राष्ट पढ़ा है। सवत् १४८२ के उपर्युक्त ताम्रपत्र का षेतराक, रूपमण्डन का क्षेत्र तथा जावर की प्रशस्ति का क्षेत्राक एक ही व्यक्ति है अर्थात् सूत्रधार मण्डन का पिता।

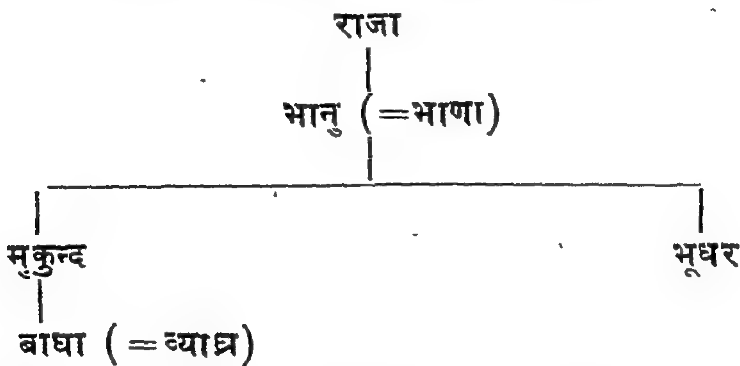
१८ उदयपुर सग्रहालय में सुरक्षित २३ सख्यक लेख, देखिए राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर की वार्षिक रिपोर्ट, वर्षान्त मार्च १९२७, पृ० ३-४।



मण्डन को भंगोरा जाति का भारद्वाज गोत्रीय सूत्रधार कहा जाता है। इस श्रेणी के प्रख्यात सूत्रधारों ने इस प्रदेश में १७वी शती में पर्याप्त कार्य किया था।[१९]

भंगोरा जाति के कुछ प्रख्यात सूत्रधार

उदयपुर नगर के प्रख्यात 'जगदीश मंदिर' को १७वीं सदी ई० में बनाने का श्रेय भंगोरा जाति, के कुशल शिल्पी भाणा (या भानु) के दो पुत्रों मुकुन्द एवं भूधर को प्राप्त था। इस, मंदिर की वि० संवत् १७०८ की प्रशस्ति में उनका निम्न वंशवृक्ष उपलब्ध हो सका है :—



सूत्रधार मुकुन्द एवं उसके छोटे भाई भूधर के कार्य से प्रसन्न होकर उदयपुर के महाराणा जगत्सिह (अर्थात् महाराणा प्रताप के प्रपौत्र) ने उनको देवदह नामक ग्राम दान में दिया। इसके अतिरिक्त मुकुन्द व भूधर को क्रमशः सोने व चांदी का एक-एक 'गज' (मापदण्ड;[२०] ए० इ० २४,

---

१९. देखिए :— ए० इ० वर्ष २९-३० परिशिष्टांक अर्थात् रा० प्र०; ए० इ०, २४, पृ० ६४-८०-जगदीश प्रशस्ति; ओंकार प्रशस्ति, वी०वि०, भाग २, पृ० ३८४।

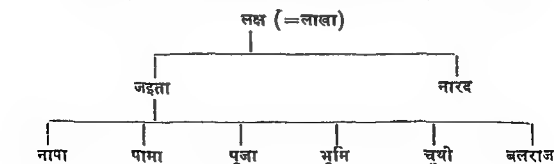
२०. राजप्रशस्ति महाकाव्य तथा तत्कालीन शिलालेखों मे गज एवं गजधर शब्दों का का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इससे पूर्ववर्ती लेखों में सू०एवं सूत्र भी इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ के ऊपर वि० सं० १५१५ के एक लघुलेख के नीचे तत्कालीन 'गज' की रेखाकृति भी उत्कीर्ण है, जिससे ज्ञात होता है कि १५वी सदी में मेवाड़ के 'गज' की लम्बाई आधुनिक २२½ इञ्च थी। इस गज के ८ विभाग भी अंकित है तथा प्रत्येक विभाग ३ अंगुल का है। अतः प्राचीन परि-

पक्ति ३ स्तभ कारापित
पक्ति ४ सुत जइता पुत्र नापा की—
पक्ति ५ त्तिस्तभ कारित ॥

चित्तौड दुर्ग के महावीर स्वामी के मदिर की सवत् १४९५ की प्रशस्ति भी महाराणा कुभा के राज्यकाल की है तथा उसमें लक्ष नामक सूत्रधार के पुत्र नारद का उल्लेख किया गया है।[२४] ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्त्तिस्तभ के सवत् १५१५ का जइता का पिता 'लाखा' व १४९५ के लेख में वर्णित नारद का पिता 'लक्ष' एक ही व्यक्ति है तथा लक्ष का मेवाडी स्वरूप लाखा हो गया। इस स्थिति में सूत्रधार जइता के भाई का नाम नारद था।[२५] अत कलाविज्ञ डॉ० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी का यह कथन असगत प्रतीत होता है कि "सूत्रधार मण्डन के दो पुत्रो के नाम जैता व सैता थे" (डिवैलपमैण्ट ऑफ हिन्दु आइकॉनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६, पृ० २३)। यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि मण्डन के पुत्र गोविंद व ईशर थे, लाखा का पुत्र जइता था——इत्यादि। खेद है कि डॉ० बैनर्जी ने अपने उक्त कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया है। इस स्थिति में सूत्रधार मण्डन तथा जइता के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में निश्चितरूपेण कुछ कहना कठिन ही है परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि जैता (या जइता) के पिता का नाम मण्डन न था, जइता तो 'लाखा' का पुत्र था।

चित्तौड-दुर्गस्थ 'अद्वद् जी' नामाभिधेय देवालय की पिछली प्रधान ताक में विद्यमान शिव प्रतिमा की चरण चौकी पर वि० स० १५४० (=१४८३ ई०) के लेख में सूत्रधार जइता पुत्र बलराज का उल्लेख है (राजपूताना म्यूजियम अजमेर की वार्षिक रिपोर्ट वर्षान्त ३१ मार्च १९२१, पृ० ५)। यह सम्भवत जइता का सबसे छोटा पुत्र था। कीर्त्तिस्तभ के ऊपर एक पक्ति के लघुलेख में भी जइता सुत बलराज का उल्लेख है —सवत् १५४७ वर्षे वैसाख सुदि ३ सोमे सूत्रधार जीता-सुत बलराज गडिन (प्रो० रि० १९०३-४, उपर्युक्त, पृ० ४१)

उल्लिखित वृत्तानुसार सूत्रधार 'जइता' का निम्न वश-वृक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए —



२४ जर्नल बम्बई ब्राच रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, पुराना सस्करण, वर्ष २३, पृ० ४९ तथा आगे, ब्राह्मी लेखो की सूची, उपर्युक्त, लेख सख्या ७८१।

२५ इस प्रसग में अधिक सामग्री की सतत प्रतीक्षा बनी रहेगी।

एसा प्रतीत होता है कि सूत्रधार 'मण्डन' तो मेवाड़ के कुम्भलगढ़ क्षेत्र में कार्य कर रहा था जबकि सूत्रधार जइता व उसके पुत्र चित्तौड़ दुर्ग पर कीर्त्तिस्तंभ के निर्माण में तल्लीन थे। ये दो कुशल कलाविद भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपनी योग्यता का परिचय प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं। यदि मण्डन सम प्रख्यात शिल्पि ने चित्तौड़ दुर्ग पर तनिक भी कार्य किया होता तो कीर्त्ति-स्तंभ के लेखों में उसका उल्लेख मिलना ही चाहिए था। परन्तु स्थिति भिन्न ही है। अतीव खेद का विषय है कि कुम्भलगढ़ दुर्ग की वृहत्प्रशस्ति[२६] का अन्तिम भाग अभी तक नहीं मिला है। अतः उस स्थान पर मण्डन के वृहत्कार्य के विषय में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव ही है।

नागदा (एकलिंग जी से २ मील दूर) की शांतिनाथ प्रतिमा की चरण चौकी पर महाराणा कुंभा के समय का वि० सं० १४९४ का एक लेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेख में सूत्रधार का निम्न विवरण[२७] प्रस्तुत किया गया है :—

...घटितं सूत्रधार मदन पुत्र धरणा सोमपुराथ सूत्रधारः रोमीभुंरो रूग्रोवीकाभ्यां॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित नागदा से ही प्राप्त तथा महाराणा कुंभा के समय में निर्मित स्थानक आदिनाथ प्रतिमा को बनाने वाला सूत्रधार **'धरणाक'** तथा मदनपुत्र **धरणा** एक ही व्यक्ति था।

कुंभलगढ़ से विल्कुल मिले हुए 'गोडवाड' प्रदेश के राणकपुर (आधुनिक रानपुर) नामक प्रख्यात तीर्थस्थान पर महाराणा कुंभा के ही राज्यकाल में **चतुर्मुख-विहार** संरक्षक वृहद्देवालय का निर्माण हुआ था। इस सुविशाल जिनालय को बनाने का श्रेय सूत्रधार **देपाक** को प्राप्त था :—
कृतमिदं सूत्रधारो देपाकस्य अयं च श्री चतुर्मुख विहारः (शारदा, उपर्युक्त, पृ० १५३-५, २०७; ऐनुवल रिपोर्ट ऑफ आर्कयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया अर्थात् पुरातत्व विभाग भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट, १९०७-८, पृ० २१४ तथा आगे अर्थात् वि० संवत् १४९६ की प्रशस्ति)।[२८]

महाराणा कुंभा के ही राज्यकाल में मेवाड़ के समीपवर्ती प्रदेश डूंगरपुर में पीतल की बहुत-सी प्रतिमाएं बनायी गई तथा आबू पर्वतस्थ अचलगढ़ के जिनालय में प्रतिष्ठित हुईं। १५वीं सदी ई० में डूंगरपुर (दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान) के सूत्रधार तो धातुमूर्ति निर्माण कला में प्रवीण थे। संवत् १५१८ में निर्मित उपर्युक्त धातु प्रतिमाओं की चरण चौकियों पर उत्कीर्ण लेखों में तत्कालीन प्रवीण सूत्रधारों के नाम भी उपलब्ध हैं यथा—**लूंबा या लुंभा, नाथा लापा**—इत्यादि (गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत 'डूंगरपुर राज्य का इतिहास, हिन्दी, पृ० ६९-७०)। राजस्थान के इन कलाकारों एवं शिल्पियों के विषय में भी अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

---

२६. महाराणा कुम्भा के समय की की इस प्रशस्ति की तीन बड़ी बड़ी शिलाएँ तो उदय-पुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

२७. पूर्णचन्द नाहड़ कृत 'जैन लेख संग्रह' कलकत्ता, भाग २, पृ० २४३-४।

२८. महाराणा कुम्भा सम्बन्धी यह शिलालेख राणपुर के इस जिनालय मे लगा हुआ है।

॥ माहाराजाधिराज महाराणा श्री जगतसींग जी आदेशातु सुत्रधार मुक्द भुधर हेकस्य ग्राम १ देवदां परगणे गघारके ऊदक आघाटकरे मआं कीदो श्री जगनाथ राइ जी रे देहरे इको चकाओ सो जगनाथराइ जी पाट पदराआ सो ऊदक आघाट करे मआ कीदो सोथारा वस रो वेगा सो पाआया जावेगा दुवे श्री मुख सवदत परदत्त वाजे हरति वसुधरा पप्टीर्वस शहसराणि विप्टायां जायते कॅमि प्ररत दुवे पचोली भागचद[34] लीवता पचोशी कॅसोदास गोरावत सवत् १७०८ वुति वैसाप सुदी १५ गुरेऊ॥

महाराणा जगत्सिह् ने 'माधाता' तीर्थ क्षेत्र पर तुला दान कर दो तोरण भी वनवाये थे, जिनके निर्माण कार्य में मेवाड के कुशल सूत्रघार मुकुन्द ने भाग लिया था। ओकार प्रशस्ति (सवत् १७०४) के अन्तिमभाग में उसका उल्लेख उपलब्ध हैं यथा —

भा वाल्य सूत्रघारस्य मुकुदेन च सूनुना॥ सूत्रघार मुकुद भूघर गजधर[35] श्रीरस्तु॥
(वी० वि० भाग २, पृ० ३८४)

महाराणा जगत्सिह् के सुयोग्य पुत्र राजसिह् (वि० स० १७०९-१७३७) के राज्यकाल में काकरोली का 'राजसमुद्र' नामक वृहत्सरोवर बनाया गया, जिसमें बहुत से सूत्रधारो ने सहयोग प्रदान किया था (रा० प्र०, उपर्युक्त, सर्ग २४, अन्तिम पक्तिया)। इस समय के कुशल सूत्रधारो की श्रेणी में सोमपुरा जाति के कल्याण नामक सूत्रधार व उसके वशजो के नाम विशेपरुपेण उल्लेखनीय हैं यथा —

१ गजघर कल्याण स (त) त्सुत्र र (र) गन (ना) थ भ्रात्र उरजण तत (त्) पुत्र लाला-ल्पा —जसाहरजी जात सोमपुरा गोत्र (रा० प्र०, सर्ग ७, ए० इ० २९-३० परिशिप्टाक, पृ० ३०)।

(२) सवत् १७३२ वृर्पे (वर्पे) माघमासे सुकल पक्षे १५ तिथौ राजसमुद्र प्रतिष्ठा कीधी गजधर मुकुद गजधर कल्याण जी सुत-उरजण गजधर सुखदेव गजधर केसो॥ सुदर॥ लाला॥ सोमपुरा जाति (वही, सर्ग २, पृ० १३)।

(३) गजघर उरजण गजघर सुपदेव सूत्रघार केसा[36] लाडा सूवर (भण) ज लाला जा (त) सोमपुरा (वही, सग ५, पृ० २२)।

---

३४ राजप्रशस्ति महाकाव्य (ए० इ०, उपर्युक्त, पृ० २१) के सर्ग ५, श्लोक २७ के अनुसार पचोली भागचद महाराणा जगत्सिह् का प्रधानमत्री था।

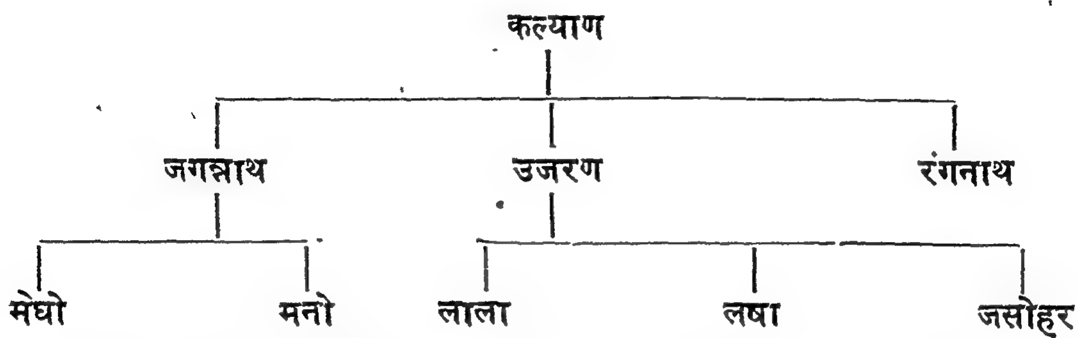
३५ गजधर तथा सूत्रघार पर्यायवाची शब्द हैं। १५वीं शताब्दी ई० में 'गज' (= गज) के स्वरूप के विपय में उल्लेख किया ही जा चुका हैं।

३६ सम्भवत सुदर तो केसा (=केशव) का पुत्र था तथा लाला का भाणेज (अर्थात् भानजा)। यहां पर 'लाडा' सूत्रधार का पृथक् नाम भी हो सकता हैं।

(४) गजधर कल्याण जी गजधर मोहनजी उरजण जी सुखजी केसो जी सुन्दर जी लाला जो[३७] जात सोमपुरा वास उदैपु (र) (वही सर्ग ८, पृ० ३३)।

(५) वाघगजधर मुकुंदगजधर गजधरकिल्यानसुत जगनाथ-उरजणसुत लालो-लषो जसोहर जी जगनाथ मेघोमनो॥...सुत्त्वधार मोहण (जी) सुत सुत्रधार सुषजी[३८] (वही, सर्ग २४ पृ० ९०)।

उपर्युक्त वृत्तानुसार सूत्रधार कल्याण का निम्न वंशवृक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए :—



राजप्रशस्ति के अतिरिक्त तत्कालीन शिलालेखों में भी राजसिंह के समय के कुशल सूत्रधारों का कुछ परिचय उपलब्ध है यथा :—

(अ) सूत्रधार कमलाशंकर का पुत्र दोला; रूपा जो गौड़ जाति का सूत्रधार तथा उदयपुरवासी था; सूत्रधार हम्मीर का पुत्र साइब :—इति भाषा प्रशस्तिः संपूर्ण लिखितं सूत्रधार हम्मीर जी सुत साइव भवानी शंकर संवत् १७२५ लिखतं गजधर कमलाशंकर सुत दोलो गजधर रूपो मंडोवरा वास उदयपुर रा गजधर जात गौड़ (बेड़वास वापी की प्रशस्ति; वी० वि० २, पृ० ३८३)।

(ब) भंगोरा जाति के सूत्रधार संग्राम का पुत्र नाथू :—सूत्रधार सगराम सुत नाथू ज्ञाति भंगोरा....कमठाणा रा गजधर सुतार सगराम सुत नाथू (बड़ी के तालाब की वि० सं० १७३५ की प्रशस्ति; वी० वि०, २, पृ० ६३७)।

(ज) गौड़ जाति के सूत्रधार भूधर का पुत्र नाथू तथा सुगरा का पुत्र नाथू :—गजधर नाथू गोड भूधर रो नाथू सुगरा रो (डेबारी के बाहर द्वार की प्रशस्ति; वी० वि० २, पृ० ६४०)। यहां एक ही नाम (अर्थात् नाथू) के दो व्यक्ति हैं तथा उनमें से एक के पिता के नाम के साथ जाति 'गौड़' अंकित कर उसे दूसरे 'नाथू' से पृथक् बताया है। सम्भवतः सुगरा का पुत्र नाथू तथा उपर्युक्त संग्राम का पुत्र नाथू एक ही व्यक्ति था। मेवाड़ी भाषा में संग्राम के स्थान पर सुगरा अंकित कर दिया हो।

राजप्रशस्ति महाकाव्य में सूत्रधार वाघ का उल्लेख किया गया है, परन्तु उसके पिता का

---

३७. ये सब सूत्रधार उदयपुर नगर के रहने वाले थे।

३८. सुखदेव नामक सूत्रधार। यह मोहन का पुत्र था जिसका उल्लेख किया जा चुका है। (रा० प्र० सर्ग ८)।

उनका उचित उपयोग भी होता है। अत सामग्री का सग्रह, उसकी उचित वैज्ञानिक व्यवस्था, सुरक्षा तथा सुगम उपयोग पुस्तकालय स्थापत्य के आवश्यक तथा निर्देशात्मक तत्त्व है। आज से चालीस वर्ष पूर्व पुस्तकालय जगत् में भी वाह्य सौन्दर्य तथा अलकरण को ही भवन-निर्माण में प्रमुखता प्रदान की जाती थी, किन्तु विचारो में परिपक्वता आने के कारण तथा अन्य समस्याओ के आ जाने के कारण वाह्य के स्थान पर अन्त क्षेत्र के सौंदर्य को प्रधानता दी जाने लगी है। धनाभाव, स्थानाभाव तथा कार्य सुगमता से सबधित समस्याओ ने एक नया दृष्टिकोण आज स्थापत्य कलाविदो के सामने प्रस्तुत किया है। आधुनिक स्थापत्य कलाविद का उद्देश्य आज एक ऐसी पुस्तकालय भवन की रूपरेखा तैयार करना है, जिसमें सादगी, विस्तारशीलता और आकर्षण हो, क्योकि ऐसा ही पुस्तकालय अधिकाधिक सामग्री के उपयोग के लिए बाल, वृद्ध एव युवा वर्ग को प्रेरणा प्रदान कर सकता है और सामाजिक तथा बौद्धिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

साधारणत निम्नलिखित सिद्धात पुस्तकालय भवन के निर्माण में आज सामने रखे जाते है

१ जिमके माध्यम से अधिक से अधिक जनो को पुस्तकालय-सेवा कम से कम मूल्य में प्रदान की जा सके।

२ जिसमें ऐसे स्थापत्य तत्वो का समावेश हो, जो सामाजिक सभ्यता के केन्द्र बनाने मे पुस्तकालय की सहायता कर सकें। दूसरे शब्दो में एक ऐसा आन्तरिक आकर्षण उत्पन्न करना जो समाज के प्रत्येक सदस्य को उस भवन में सगृहीत अमूल्य निधियो के उपयोग के लिए आकर्षित कर सके।

३ प्रत्येक ऋतु में भवन के आन्तरिक वातावरण पर नियत्रण रखा जा सके।
४ सादगी।
५ कार्यसबधी उपयोगिता।
६ कार्य क्षमता।
७ मितव्ययिता।
८ न्यूनतम प्रबध समस्याएँ।
९ परिवतन एव विस्तारशीलता।
१० उदासीनता निरोध।
११ वाचनालय में पहुचने की अधिकतम सुविधा।
१२ सामग्री सुरक्षा के लिए, उपलब्धि को ध्यान मे रखते हुए, उचित स्थान-व्यवस्था।
१३ न्यूनतम द्वारो और गवाक्षो की व्यवस्था।
१४ उपलब्ध स्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रकाश और वायु की व्यवस्था।
१५ पुस्तकालय मे आने वालो की सामग्री आदि रखने के लिए उचित स्थान की व्यवस्था।

१६. पाठकों के मनोरंजन तथा सुख-सुविधा की व्यवस्था के लिए स्थान।

इन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कोई भी पुस्तकालयाध्यक्ष और स्थापत्य कलाविद आधुनिक पुस्तकालय के भवन की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है। विशेषतः अमेरिकन पुस्तकालयाध्यक्षों एवं स्थापत्य कलाविदों के पारस्परिक सहयोग से तैयार किए गए पुस्तकालय भवनों के रेखाचित्रों से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक स्थापत्य कला ने किस प्रकार भवन निर्माण संबंधी कठिनाइयों को हल करने का प्रयत्न किया है और वांछित उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास सफल हो सका है।

वास्तव में पुस्तकालय का उद्देश्य पाठकों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करना है, जिससे वे संचित सामग्री का उचित ढंग से उपयोग सरलतापूर्वक कर सकें और सामाजिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं उत्थान में ज्ञानार्जन द्वारा अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान कर सकें। स्थापत्य की भारतीय प्रणाली में यदि हम अमेरिका की माड्युलर स्थापत्य प्रणाली के तत्वों का सम्मिश्रण कर सकें तो वह भारतीय पुस्तकालयों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। यद्यपि भारतवर्ष में अभी स्थानाभाव की समस्या उतनी विकट नही हुई, जितनी कि अमेरिका में हो गई है, फिर भी भविष्य में पुस्तकालय के विकास तथा विस्तार को ध्यान में रखते हुए पुस्तकालय-भवन के निर्माण के लिए अभी तक माड्युलर प्रणाली से अधिक सुविधाजनक कोई स्थापत्य-प्रणाली प्राप्त नहीं है।

पुस्तकालय में होने वाले क्रियाकलापों को एक अबाध गति तथा प्रवाह प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भवन का निर्माण आधुनिक पुस्तकालय-स्थापत्य-कला के सिद्धांतों पर ही आधारित किया जा सके। विश्व की अधिकांश जनता आज भी लिखित सामग्री से उतनी ही दूर है, जितना कि वह शताब्दियों पहिले थी। जन भावना को जाग्रत करने तथा उन्हें पुस्तकालय के महत्त्व से परिचित कराने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भवन का निर्माण इस प्रकार से किया जा सके, जिससे अधिक से अधिक पाठक उस भवन की ओर बिना किसी भय के आकर्षित किए जा सकें। यह तभी हो सकता है जब उसमें सादगी और आन्तरिक आकर्षण तथा उपयोगिता का समुचित ध्यान रखा जाय।

अब भारतीय पुस्तकालय की समस्याओं से संबंध रखने वाले सभी व्यक्तियों को पुस्तकालय स्थापत्य की समस्याओं से भी परिचित होने का प्रयत्न करना और अपने भवनों के निर्माण में उपर्युक्त सिद्धांतों तथा तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् समावेश करना आवश्यक हो गया है, अन्यथा प्रत्येक नागरिक को पुस्तकालय-सेवा समुचित रूप में उपलब्ध नहीं हो सकती।

श्री श्रीकृष्णदास

हमारे प्राचीन रंगमंच

क्या प्राचीन भारत में, ईसवी शताब्दी के पहिले और उसके बाद रगशालायें थी ? क्या उस समय नाट्याभिनय होते थे ? क्या यह सत्य है कि उस समय की नाट्यशालाओ में रगपीठ, रगशीर्ष, मत्तवारणी आदि से सम्पन्न ऐसे रगमच होते थे, जिन पर अभिनेता अभिनय करते थे और अपनी कला का पूर्ण परिचय देकर दर्शको का मनोरजन करते थे ? इनके अतिरिक्त, क्या खुले रगमच भी होते थे ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये जाते रहे है, अब भी उठाये जाते है और आगे भी उठाये जायेंगे। इस सम्बन्ध के प्रमाणो और उदाहरणो की कमी के कारण सत्य को ढूढ लेना और निरापद निष्कर्ष पर पहुच जाना आसान नही है। फिर भी जो प्रमाण मिलते है, वे यह मान लेने के लिए हमें विवश कर देते है कि उस युग में रगशालायें थी जिनमें नाट्याभिनय होते थे, साथ ही उस समय खुले रग मच पर भी अभिनय होने थे और उन्हें देखने के लिए किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध न था। प्रस्तुत लेख में हम इसी समस्या पर विचार करेगे और समुचित निष्कर्ष पर पहुचने का प्रयत्न करेंगे।

नृत्ताय सूत गीताय शैलूष धर्माय सभाचर निरष्ठायै भीमल नर्माय रेभ हसाय कारिमानदाय स्त्रीषख प्रमदे कुमारी पुत्र मेधायै रथकार धैर्य्यात् तक्षाणम्।

(यजुर्वेद सहिता, अध्याय ३०, मत्र ६)

इस मत्र का अर्थ है—"नृत्य (ताल, लय आदि के साथ नाचने) के लिए सूत को, गीत के लिये शैलूष (नट) को, धर्म व्यवस्था के लिये सभा चतुर को, सब को विधिवत् बिठाने के लिए तगडे तरुणो को, हास्य-विनोद के लिये विनोदशीलो को, शृगार सम्बन्धी रचना के लिए कलाकारो को, समय बिताने के लिये कुमार पुत्रको, चातुर्य पूर्ण काय के लिए रथकारो को, धीरज युक्त कार्य के लिए बढई को नियुक्त करना चाहिए।" इस मत्र को यदि हम ध्यान पूर्वक पढें तो हम देखेंगे कि जिस समय इसकी रचना हुई थी, उस समय अभिनय का कोई न कोई रूप अवश्य विद्यमान था।

ऋग्वेद मे आये पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी की आपसी वार्तायें, कात्यायान श्रौत सूत्र में वर्णित सोमयाग के कथोपकथन, वृहदारण्यक उपनिषद् में विदुषी गार्गी और महापण्डित याज्ञवल्क्य, तथा याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के प्रश्नोत्तर और इसी प्रकार अन्य उपनिषदो में प्राप्त कथोपकथन इस बात के प्रमाण है कि उस काल में वार्ताओ मे नाटकीय तत्वो का सन्निवेश

हो चुका था और आगे आने वाली नाटच परम्परा और रंगमंचों के विकास की भूमिका तैयार होने लगी थी। डाक्टर विन्टर निट्ज का कथन है कि "ये जिस मात्रा में महाकाव्यों के स्त्रोत हैं, उसी मात्रा में नाटकों के स्त्रोत भी माने जा सकते हैं।" डाक्टर हरटेल का कथन है कि, "वैदिक काल के बाद के जो नाटक हैं उनका सम्बन्ध वेदों में प्राप्त उन मंत्रों और कथोपकथनों से है जिनका रूप नाटकीय है।" परन्तु डाक्टर वेरीडिलकीथ का कथन है कि—"सुपर्णाध्याय में सम्पूर्ण नाटक खोजने का जो प्रयास डाक्टर हरटेल ने किया वह सर्वथा असफल हुआ। वह तो केवल वैदिक साहित्य का अनुकरण है। उसमें नाटकीय उद्देश्य अथवा नाटकीय तत्व ढूंढ़ने का प्रयास करना बेकार है।"



'भारत दुर्दशा' रूपक का एक दृश्य

इन तीनों विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नहीं है। परन्तु इनके कथन से इतना तो स्पष्ट है ही कि उस युग में नाटकों के जन्म के लिये उर्वरा भूमि तैयार हो गयी थी और सम्भवतः उसमें बीज भी पड़ने लगे थे।

पाणिनि ने दो नाटच रूपों अथवा परम्पराओं की चर्चा की है—'पाराशर्य्य शिलालिभ्या भिक्षु नट सूत्रयो' तथा 'कर्म्मानन्द कृशाश्वादिनिः।' ये 'शिलालिन' तथा 'कृशाश्व' कौन थे? शायद ये अपनी परिपाटी के आचार्य थे अथवा अभिनेता एवं कलाकार थे।

शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेय संहिता में 'नृत्ताय सूतं गीताय शैलूष' वाक्य आता है। महीधर ने 'शैलूष नटम्' कह कर यह प्रमाणित कर दिया है कि ये 'शैलूष' सचमुच अभिनेता थे। वाल्मीकि रामायण में 'शैलूष' शब्द का प्रयोग अयोध्या काण्ड में इस प्रकार हुआ है—

स्वयं तु भार्य्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि॥

इसी काण्ड के कुछ अन्य श्लोकों पर विचार करें—६९ वें सर्ग में वर्णन मिलता है कि

भरत जी उस समय ननिहाल में थे जब कि रामचन्द्र को वनवास मिला और उनके पिता दशरथ का देहान्त हुआ। भरत दुःस्वप्न देखते हैं, चिन्तित और उदास होते हैं। उनके मित्र उनका मनोरंजन करने के लिए गीत, नृत्य, नाटक आदि का आयोजन करते हैं। श्लोक यह है—

वादयन्ति तदा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च॥

इसी प्रकार दशरथ के देहान्त के बाद अराजकता की बुराई बताते हुए गुरु वशिष्ठ कहते हैं—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टा नट नर्तका।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्र वर्द्धना॥

अर्थात् अराजकता फैलने पर नटो और नर्तको को सुख-आनन्द नही रहता। राष्ट्र की समृद्धि उत्सवो-समाजो पर ही निर्भर है और अराजकता की स्थिति में इनकी सवर्द्धना नही हो सकती।

बालकाण्ड के १३ वें सर्ग में एक वर्णन आता है जब कि पुत्र-प्राप्ति के लिए चक्रवर्ती महाराज दशरथ अश्वमेघ यज्ञ की तैयारी करते हैं। वहा जहा सब प्रकार के लोगो को याद किया जाता है, नटो और नर्तको को भी याद किया जाता है। यथा—

कर्मान्तिकाञ्छिल्पकारान्वर्धकीन्खनकानपि।
गणकाञ्छिल्पवादचैव तथैव नट नर्तकान्॥

इसी प्रकार राम के राज्याभिषेक के समय का एक वर्णन है—

नट नर्तकसघाना गायकाना च गायताम्।
यत कर्णसुखावाच सुश्राव जनता तत॥

यह श्लोक इस बात की सूचना देता है कि उस समय ऐसे आयोजन होते थे जिसमें नट-नर्तको की मण्डलिया भाग लेती थी, अभिनय और नृत्य करती थी। उनके अभिनयो से दर्शक आनन्द प्राप्त करते थे। इन सभी श्लोको से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जिस समय वाल्मीकि ने रामायण की रचना की उस समय नाटक मण्डलिया होती थी। वे मण्डलिया लोकप्रिय होती थी और राज समाज में भी उनका प्रवेश एव सम्मान था।

रामायण के अन्तिम भाग में लव कुश द्वारा रामचरित गाने का भी वर्णन आता है। बालकाण्ड में भी इसकी चर्चा है। 'कुशीलव' का अर्थ अभिनेता होता है। अनेक विद्वान 'लव कुश' और 'कुशी लव' को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। डाक्टर बेरीडिल कीथ भी संस्कृत नाटको पर रामायण के प्रभाव को इस अर्थ में स्वीकार करते हैं।

रामायण में नाटक के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय श्लोक बालकाण्ड में मिलता है। यथा—

बधूनाटक संघैश्च संयुक्ता सर्व्वतः पुरीम्।

यह श्लोक बताता है कि जिस अयोध्या का वर्णन वाल्मीकि ने किया है उसमें महिला अभिनेत्रियों और पुरुष अभिनेताओं के अपनी-अपनी नाटक मण्डलियां भी थीं और उनकी रंगशालायें भी थीं। अयोध्या काण्ड में प्रथम सर्ग में एक वाक्य है—'श्रेष्ठ्य शास्त्र समूहेषु प्राप्तो व्यमिश्रकेषु च।' इस वाक्य का यह भी अर्थ लगाया जाता है कि राम ने व्यमिश्रक अथवा मिश्रित भाषा (संस्कृत तथा प्राकृत) में नाटक का अध्ययन किया।

महाभारत में नाट्याभिनयों के अनेक वर्णन मिलते हैं। वन पर्व में धर्म द्वारा पूछने पर युधिष्ठिर ने बताया था कि वह सुयश के लिये कलाकारों, अभिनेताओं एवं नर्तकों को आर्थिक सहायता दिया करते थे।

विराट पर्व में एक वर्णन से एक बड़े रंगमंच का पता चलता है। अपने गुप्त वास के दिनों में अर्जुन वृहण्णला बनकर राजकुमारी उत्तरा को गीत, नृत्य, वाद्य की शिक्षा दिया करते थे। जब उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से हुआ तो नटों, वैतालिकों, सूतों और मागधों ने उत्सव में आये अतिथियों का अपनी-अपनी कला द्वारा मनोरंजन किया।

उद्योग पर्व में भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास युधिष्ठिर के प्रतिनिधि बनकर गये थे। उनके स्वागत में अनेक कार्यक्रम दुर्योधन द्वारा आयोजित किये गये। प्रद्युम्न का विवाह जिस समय हुआ उस समय नगर में नट-मण्डली बुलायी गयी और उस मण्डली में 'गंगावतरण' नाटक अभिनीत किया। इस अभिनय को प्रस्तुत करते समय देव गान्धार राग का सहारा लिया गया। दूसरा नाटक 'कुबेर-रम्भाभिसार' रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। इस नाटक में किस व्यक्ति ने कौन सी भूमिका की—इसका विवरण प्राप्त है। यह भी पता चल जाता है कि इस नाटक में शूर ने रावण की, साम्ब ने विदूषक की और मनोवती ने रम्भा की भूमिका अत्यन्त सफलता पूर्वक की और दैत्यों ने उनके अभिनय से प्रसन्न होकर द्रव्य बरसाया और उनकी स्त्रियों ने प्रसन्न होकर कुशल नटों एवं नर्तकों को अपने आभूषण तक दे दिये।

भागवत पुराण के अनुसार विजयी श्रीकृष्ण का स्वागत द्वारिका में वसुदेव तथा अन्य नागरिकों ने किया। इस अवसर का एक श्लोक इस प्रकार है—

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च॥

यद्यपि डाक्टर कीथ यहां 'नट' का अर्थ मौन अभिनेता मानते हैं, परन्तु प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीधर स्वामिन् यहां 'नट' का 'नव रसाभिनय चतुर' अर्थ बताते हैं। यहां 'अभिनय चतुर' शब्द ध्यान देने योग्य है।

हरिवंश पुराण के अनुसार वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती को चुराने से सम्बन्धित नाटक में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न अन्य यादवों के साथ स्वयं नायक बने थे।

मार्कण्डेय पुराण में एक श्लोक इस प्रकार का है—

कहा जाता था। तत्कालीन भारत के सब से बड़े राज्य मगध की राजधानी राजगृह थी। राजगृह में एक बहुत बडी 'समज्जा' होती थी जिसे 'गिरग्ग समज्जा' कहते थे गिरग्ग समज्जा की बिम्बसार के समय में बडी तैयारी होती थी। खुली जगह में अभिनय और तमाशे होते थे जिसे देखने के लिये लोग जमा होते थे।"

आगे राहुल जी कहते हैं—"नकल ही अभिनय है। हमारे देश में जो पीछे नाटक का विकास हुआ, उसमें यव (ग्रीक) लोगो के सम्पर्क से भी कितनी ही चीजें सम्मिलित की गयी, पर इसका यह अर्थ नही कि पहिले अभिनय का बिल्कुल अभाव था। भिक्षुओ को 'गीत-नृत्य-वादन-विसूक दस्सन' वर्जित किया गया हैं। गीत, नृत्य और वाद्य के अतिरिक्त 'विसूक दस्सन' से अभिप्राय किसी प्रकार के अभिनय का ही है।"

विनय पिटक के चुल्ल वग्ग में अश्वजित और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओ की एक कथा है। दोनो एक समय कीटगिरि की रगशाला में किसी नाट्याभिनय को देखने गये और अभिनय के बाद उन्होंने एक नर्तकी से एक चारपाई पर बैठकर वार्तालाप किया। इसकी सूचना जब महास्थविर को मिली तो उन्होंने इन दोनो भिक्षुओ को विहार से बहिष्कृत कर दिया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नटो, नर्तकों, गायकों, वादको, कथाकारो, कुशी लवो (नृत्य के साथ गाने वालो), प्लवको (रस्सी के खेल दिखाने वालो), शौभिको, चारणो आदि का वर्णन मिलता है। अर्थशास्त्र में ही निर्देश है कि कलाकारो की मण्डलियो को अभिनय करने पर राज कर देना पडेगा। बाहर से आने वाली मण्डलियो को हर अभिनय पर राजकोष में पाच पण देना पडता था। राज्य से उनको सरक्षण प्राप्त था। उस समय राज्य की ओर से नटो की शिक्षा का प्रबन्ध था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का निम्नाकित आदेश विचारणीय है—

> "गीतावाद्यपाठ्यवृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदगपरिचितज्ञान-
> गन्धमाल्यसंयूहन-सम्पादन-सवाहन-वैशिककलाज्ञानानि गणिका,
> दासी रगोपजीविनीश्च ग्राहयता राजमडलादाजीव कुर्यात्।"

अर्थात् गणिका, दासी और अभिनय करने वाली नटियो को गाना, बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी करना, वीणा, वेणु तथा मृदग बजाना, दूसरे की मनोवृत्ति को समझना, गन्ध निर्माण करना, माला गूथना, पैर आदि अगो को दबाना, शरीर का शृगार करना तथा चौंसठ कलाओ को सीखना—यह आचार्यो का कर्तव्य है और इन आचार्यों का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिये।

पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में भी 'कस वध' और 'वालि वध' नामक दो नाटको की चर्चा आती है। कस अथवा कृष्ण की भूमिका करने वाले नट अपने शरीर को रग लिया करते थे। डाक्टर बेरीडिल कीथ के अनुसार "इससे यह सम्भावना प्रतीत होती है कि यदि और पहिले से नही तो कम से कम ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य से तो सस्कृत नाटको का आरम्भ मानना ही होगा।"

वात्स्यायन के कामसूत्र के नागरिक वृत्ति प्रकरण में एक वाक्य आता है जो इस प्रकार

है—"पक्षस्य मासस्य वा प्रख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।" इसका अर्थ है—"सरस्वती भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वो पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था।" डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार केवल सरस्वती मन्दिर में ही नहीं, अन्य मन्दिरों, देवालयों तथा महत्वपूर्ण स्थानों पर ये अभिनय हुआ करते थे। पारिवारिक मांगलिक अवसरों पर अस्थायी रंगशाला और रंगमंच बनवा कर अभिनय की व्यवस्था कर ली जाती थी।

सुवर्णाक्षी पुत्र अश्वघोष कृत 'सारिपुत्र प्रकरण' की प्रति चीन के तुर्फान प्रान्त में मिली है। यह नाटक ईसा के प्रायः दो सौ वर्ष पहिले रचा गया था। यह नौ अंकों में विभाजित है और पूर्ण नाटक है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार गौतम बुद्ध ने सारिपुत्त और मौद्गलायन को प्रव्रज्या दी। कहते हैं कि यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय था और मध्य एशिया तक में खेला जाता था। नाटककार अश्वघोष स्वयं अच्छे संगीतज्ञ एवं अभिनेता थे। वह अपनी मण्डली के साथ घूम घूम कर अपनी रचनाओं का पाठ और अभिनय किया करते थे। ये अयोध्या के थे अथवा काशी के या पटना के, परन्तु काशी की गलियों में इनका सचल रंगमंच था इसमें कोई सन्देह नही।

अब भरत नाटचशास्त्र पर अत्यन्त संक्षेप में विचार कर लें। भरत नाटचशास्त्र का काल भी अधिकतर विद्वान ईसा के सैकड़ों वर्ष पहिले का मानते हैं। कुछ विद्वान ईसा के बाद उसे खींच लाने का प्रयत्न करते हैं। हमें लगता है कि भरत का काल सचमुच ईसा के सैकड़ों वर्ष पहिले है। यह बात दूसरी है कि ईसा के वाद भी कुछ वर्षो तक भरत नाटचशास्त्र में संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन होते रहे।

भरत नाटचशास्त्र में अभिनय कला और रंगमंच के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण प्राप्त है। यह इस बात का प्रमाण है कि उस समय नाटचकला अत्यन्त लोकप्रिय और विकसित थी और समाज में उसे अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। हम यह जानते हैं कि उस समय 'प्रार्थनीय' अथवा 'प्रार्थित' और 'प्रार्थक' एवं 'प्रार्थी' दर्शक बड़ी संख्या में नाटचाभिनय देखने के लिए नाटचशाला में जाते थे। हृदय की भावनाओं का प्रकाशन अथवा अभिव्यक्ति ही अभिनय है। अभिनय को आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य—इन चार वर्गो में बांटा गया है। नाटचकार अथवा अभिनेता भी चार वर्गो में विभक्त हैं। यथा—उदात्त, उद्धत, प्रौढ़ एवं विनीत।

रंगशालायें तीन वर्गो में विभक्त हैं—विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र। इन रंगशालाओं की लम्बाई, चौड़ाई आदि का पूरा विवरण प्राप्त है। इन तीनों के तीन भेद हैं—ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का मत है—"समवकार के समान जो नाटक हों उन नाटकों के लिए ज्येष्ठ नाटचगृह का उपयोग करना चाहिये। मध्यम नाटचगृहों का उपयोग उन रूपकों के लिए करना चाहिये जिनमें लड़ाइयों आदि के दृश्य न हों। जहां एक ही पात्र का अभिनय हो, वहां कनिष्ठ नाटच-गृह का उपयोग करना चाहिए।"—नाटच वेद विवृति

रंगशालाओं में शीर्ष भाग तीन हिस्सों में बंटा होता था—इधर उधर एक-एक कक्ष और बीच में रंगशीर्ष। इस के बाद रंगपीठ होता था। नेपथ्य और रंगशीर्ष को एक दीवार विभक्त करती थी। इस पर चित्रादि बने रहते थे। रंगपीठ के दोनों ओर दो कमरे होते थे। दोनों

ओर बगल मे लगे खम्भे 'विग्ज' का काम करते थे। मत्तवारिणी का प्रयोग आकाश मार्ग में दिखाये जाने वाले दृश्यो मे होता था। पर्दो की सख्या नाटक के दृश्यो के अनुसार निश्चित की जाती थी। इस कला में भारतीयो ने बडी उन्नति की थी। पर्दा को रगने और चित्रित करने के लिए 'चित्रज्ञ' नियुक्त होता था। भरत के नाट्यशास्त्र के १५ वें अध्याय में नाटक के कार्यकर्ताओ को इस प्रकार बाटा गया है—

१ भरत—नाट्य सस्था का आधारभूत सचालक।
२ सूत्रधार—आधुनिक निर्देशक।
३ नट—'रिहर्सल' अधिपति।
४ तौरीय—सगीत का अधिपति।
५ वेशकर—वर्तमान 'ड्रेसर'।
६ मुकुट कृत—शीर्पाभूषण तैयार करने वाला।
७ आभरण कृत—आभरण बनाने वाला।
८ माल्य कृत—माला गूथने वाला।
९ चित्रज्ञ—पर्दा रगने वाला।
१० रजक—धोबी और रगरेज का काम करने वाला।

इस प्रकार इस महान ग्रथ और पचम वेद नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह सम्बन्धी सारे विवरण मिल जाते हैं। रगमच, रगपीठ, रगशीर्ष, नेपथ्य आदि के साथ पर्दो के गिरने-उठने की व्यवस्था, समुचित दृश्यो को उपस्थित करने, ध्वनि एव प्रकाश का प्रबन्ध, दर्शको के बैठने, अन्दर आने और बाहर जाने आदि के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त होती है। भरत नाट्यशास्त्र का एक श्लोक है—

काष्ठ्यायस प्रतिद्वार द्वार विद्ध न कारयेत्।
कार्य शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डप ॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि नाट्यशाला को गुफा की शकल का होना चाहिए और उसमें दो मजिलें होनी चाहिये। नासिक में द्वितीय शताब्दी ईसवी का एक शिलालेख मिला ह जिससे नाट्याभिनय के प्रमाण मिलते हैं। कलिंग में, खारवेल के हाथी गुम्फ शिलालेख में भी इसके प्रमाण मिलते हैं।

परन्तु जिस शिलालेख एव गुफा से हमें लगभग २२००-२३०० वष पहिले के रगमच का ठोस प्रमाण मिलता है वह है सीता बेंगा गुफा। इसीके बगल में जोगीमारा गुफा है। उसमे भी एक शिलालेख है। इसे पहिले जिन विशेषज्ञो ने देखा उन्होने इसे योगियो अथवा साधुओ का स्थान समझ कर छोड दिया। परन्तु जब प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डाक्टर टी० ब्लाख ने देखा तो उन्होने इसका महत्व समझा। उस विद्वान ने इन स्थानो के चित्र लिये, शिलालेखो के फोटो उतारे और दीवार पर बने चित्रो की भी नकल उतारी। फलत अध्ययन के बाद पता चला कि यह साधुओ का

स्थान नहीं था. वरन् यहां रंगशाला और चित्रशाला थी। रंगशाला में, मंच पर अभिनय करने के बाद चित्रशाला में अभिनेत्रियां आराम करने के लिए जाती थी।

सीता बेंगा शिलालेख में दो पंक्तियां हैं और दोनों बराबर हैं। उनकी लम्बाई ३ फ़ीट ८ इंच है। अक्षर औसतन ढाई इंच के हैं। गुफा के भीतर घुसते ही उत्तर तरफ छत के ठीक नीचे यह शिला लेख है—

(१) अदि पयंति हृदयं। सभावागरु कवयो ए रातयं...

(२) दुले वसंतिया। हासावानूभूते। कुदस्फतं एवं अलग (त)

डाक्टर ब्लाख़ ने इसका जो अनुवाद किया है उसका भावार्थ यह है—(१) प्रकृति से प्रिय कवि हृदय को प्रकाशवान (ओजपूर्ण एवं आनन्दमय) बनाते हैं।

(२) वसन्त पूर्णिमा के दोलोत्सव के अवसर पर जब कि हास्य-विनोद और संगीत की चहल-पहल रहती है, लोग इस प्रकार (अपने गले में) कुन्द पुष्पों से लदी माला पहिनते हैं।

डाक्टर ब्लाख़ का कथन है—"शिलालेख की दूसरी पंक्ति के बारे में लोग चाहे जो सोचें, मुझे विश्वास है कि प्रथम पंक्ति की मेरी पढ़ाई और अनुवाद प्रत्येक सन्देह से परे हैं। चूंकि शिलालेख कविता के सौंदर्य की प्रशंसा से प्रारम्भ होता है, इसलिये इस पंक्ति का साधारण आधार और कुछ हो ही नही सकता। दूसरी गुफाओं के शिलालेखों में जो कुछ मिलता है उससे यह सर्वथा भिन्न है। निश्चय ही रामगढ़ पहाड़ी की यह 'सीता बेंगा' गुफ़ा संसार से विरक्त साधु संन्यासियों का निवासस्थान न था। बिना संकोच के हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि यह एक ऐसा स्थान था जहां कविता पाठ होता था, प्रेम और शृंगार के गीत गाये जाते थे और नाटचाभिनय हुआ करते थे। सारांश में हम इसे तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतीय रंगमंच के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

"इस कार्य के लिए गुफ़ा की व्यवस्था बिल्कुल ठीक थी।......मुख्य द्वार के सामने चट्टान काट कर बनी अर्ध गोलाकार सीढ़ीनुमा बेंचें हैं। मिस्टर बोलर ने उन्हें सीढ़ी बताया है। मगर निश्चित रूप से वे किसी और काम के लिए बनी थीं। जिन्हें सीढ़ी कहा गया है यदि उन्हें बैठने का स्थान मान लिया जाय तो दर्शकों का उन पर बैठ कर सामने होता हुआ अभिनय देखना सम्भव हो सकता है। लगातार पानी पड़ने से वे बेंचें किसी हद तक घिस गयी हैं।.....पत्थर को काट कर जो गोलार्ध बनाया गया है उसके सामने रंगमंच बनाने के लिये काफ़ी स्थान है तथा उन बेंचों पर आसानी से पचास या उससे भी अधिक दर्शक बैठ सकते थे।

"......भीतरी कक्ष में लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम है। इसकी लम्बाई ४६ फ़ीट और चौड़ाई २४ फ़ीट हैं। तीन तरफ़ चौड़ी चट्टानों को काट कर बैठने की सीटें बनायी गयी हैं। ये सीटें ढाई फ़ीट ऊंची और सात फ़ीट चौड़ी हैं। आगे का भाग कुछ झुका हुआ है। भीतर घुसने की ज़मीन सीटों के कोने की ज़मीन से कुछ नीची है। यहां सब से महत्वपूर्ण वे दो गड्ढे हैं जो भीतर घुसते ही जमीन में मिलते हैं।.....जाहिर है कि इन छेदों में लकड़ी के खम्भे लगते थे जिनसे

पर्दा बाधा जाता था। इस पर्दे के कारण जाडे में ठडी हवा भीतर नही आने पाती थी और दर्शक भीतर बैठ कर अभिनय देखते थे। ऐसे अवसरो पर दर्शक उन बडी बेंचो पर बैठते थे और नृत्य मण्डली पर्दे के सामने अपना अभिनय करती थी।"

सीता बेंगा के इस प्रेक्षागृह के सम्बन्ध में डाक्टर ब्लास ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही है जिनकी चर्चा स्थानाभाव के कारण हम यहा नही कर रहे हैं। हा, डाक्टर ब्लास ने एक बात और कही है जिसकी ओर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट होता है। उनका कहना है—"गुफा के आगे छोटे अर्ध वृत्ताकार कक्ष की योजना, चट्टान काट कर बनाये गये सीढीनुमा बैठने के स्थान और उनके बीच बीच में आने जाने का मार्ग—ये सब चीजें यूनानी प्रेक्षागृहो मे समानता रखती हैं। यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि एक भारतीय प्रेक्षागृह की बनावट में यूनानी प्रेक्षागृह के रूप का शामिल होना, भारतीय रगमच पर यूनानी प्रभाव की समस्या से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।"

भारतीय रगमच पर यूनानी प्रभाव था या नही, इस प्रश्न पर पिछले पचास वर्षों में विद्वानो में खूब वाद विवाद हुआ। अब भी किसी एक पक्ष की सम्पूर्ण विजय नही हुई है। यहा हम केवल भरत नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त श्लोक की याद दिलाना चाहते हैं जिसमें गुफाओ में दो-मजिला रगशाला के निर्माण की उपयुक्तता पर प्रकाश डाला गया है। जर्मनी के प्रोफेसर लूडर्स ने कालिदास के कुछ वाक्यो का हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि भारत की स्थानीय परम्परा के अनुसार गुफाओ में केवल साधु, सन्यासी ही नही रहते थे, वरन् इनमें देवदासिया, नर्तकिया आदि भी रहती थी और उनके प्रेमियो का निवास भी इनमें होता था। उन्होने 'लेण शोभिका' का अर्थ—यह शब्द मथुरा के शिलालेखो में आया है—"गुफा निवासिनी अभिनेत्रिया" ही किया है।

प्रोफेसर लूडर्स ने कालिदास के जिन श्लोको का हवाला दिया है, सम्भवत ये निम्नाकित हैं—

वनेचराणा वनिता सखाना दरीगृहोत्सग निषक्तभास।
भवन्ति यत्रौषधयो रजयामतैलपूरा सुरतप्रदीपा॥

—कुमार सम्भव, प्रथम सर्ग, १० वा श्लोक

(यहा की गुफाओ में रात को चमकने वाली जडी-बूटिया भी बहुत होती हैं। इसलिये यहा के किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओ के साथ इन गुफाओ में विहार करने आते हैं तो ये चमकीली जडी-बूटिया ही उनकी काम-क्रीडा के समय बिना तेल के दीपक बन जाती हैं।)

यत्राशुकाक्षेपविलज्जितानाँ यदृच्छया किं पुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वार विलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥

—कुमार सम्भव, प्रथम सर्ग, १४वा श्लोक

(जब यहा की गुफाओ में किनरिया अपने प्रियतमो के साथ काम-क्रीडा करती रहती हैं

उस समय जब वे अपने शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं, तब बादल उन गुफ़ाओं के द्वारों पर आकर ओट कर के अंधेरा कर देते हैं।)

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्रविश्राम हेतो
त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ़पुष्पैः कदम्बैः।
यत्पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्‌गारभिर्नागराणां
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥

—मेघदूत, प्रथम सर्ग, २७ वां श्लोक

(वहां पहुंच कर तुम नीच नाम की पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिए उतर जाना। वहां पर फूले हुए कदम्ब के वृक्षों को देख कर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फहर उठे हों। उस पहाड़ी की गुफ़ाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी जो वहां के छैले वेश्याओं और प्रेमिकाओं के साथ रति करते समय काम में लाते हैं। इससे तुम्हें यह भी पता चल जायेगा कि यहां के नागरिक कितना खुल्लम खुल्ला जवानी का रस लेते हैं।)

ऊपर के श्लोकों में 'दरीगृह' और 'शिलावेष्म' दो शब्द आये हैं। इनका अर्थ पहाड़ी गुफ़ा ही है। मल्लिनाथ ने भी इस अर्थ को स्वीकार किया है। इस प्रकार कालिदास के अनुसार इन गुफ़ाओं में प्रेमी-प्रेमिका तथा अन्य मनोरंजनार्थी लोग रहते थे और प्रेम-क्रीड़ा किया करते थे। गुफ़ाओं के द्वार पर पर्दे रहा करते थे और भीतर ये लोग मनोरंजन करते थे।

यह तो स्पष्ट ही है कि सीता बेंगा के प्रेक्षागृह के निर्माण में भरत नाट्यशास्त्र के निम्नांकित उद्धरण का सहारा लिया था—

स्तम्भानां वाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यां प्रेक्षकानां निवेशनम्॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस श्लोक में जो निर्देश है उसका पालन सीता बेंगा गुफ़ा के इस प्रेक्षा गृह के निर्माण में किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुफ़ा-प्रेक्षागृहों पर यूनानी प्रभाव को आवश्यकता से अधिक महत्व नही दिया जा सकता। फिर भी, यह तो स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में यूनानियों की सस्कृति एवं सभ्यता का भी एक हद तक विस्तार हुआ था। उसके चिन्ह प्राप्त हैं। इसलिए डाक्टर ब्लाख अथवा उनके जैसे विद्वान भारतीय रंगमंच पर यदि किसी भी मात्रा में यूनानी प्रभाव देखते हैं तो इससे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इससे तत्कालीन रंगमंच की विकासशीलता का ही परिचय मिलता है।

कुछ लोग सीता बेंगा गुफ़ा के इस प्रेक्षागृह को सत्यमेव प्रेक्षागृह नही मानते। श्री असित कुमार हालदर का कथन है कि "डाक्टर ब्लाख तथा कुछ अन्य पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह का एकमात्र यही उदाहरण प्राप्त है जो किसी हद तक प्राचीन यूनानी प्रेक्षागृहों के आधार पर बना था। गुफ़ा के बाहर जमीन पर चार गड्ढे हैं। इन विद्वानों ने इसका अर्थ

यह निकाला कि इन छेदो में बल्लिया गाडी जाती थी जिनके सहारे पर्दे टागे जाते थे। जो अर्ध वृत्ताकार सीढिया हैं वे जनता के बैठने के लिए बेंचो के रूप में प्रयुक्त होती थी। सीढिया बाहर हैं। इसलिये उन पर बैठ कर गुफा के भीतर होने वाले अभिनयो को नही देखा जा सकता था। इस बात में कोई तुक नही मालूम पडता कि प्रेक्षागृह दर्शको की पीठ की ओर हो और पर्दा सामने हो। सामने इतना स्थान भी नही है कि वहा नृत्य अथवा अभिनय सम्भव होता। यह सम्भव है कि बाहरी ओर सामने लकडी का मच तैयार किया जाता हो और उस पर अभिनय होता हो। परन्तु इस प्रकार के रगमच के कोई प्रमाण नही मिलते।" श्री हालदर के अनुसार "यह गुफा एक प्रकार से रहने की जगह थी। यहा पर छोटे पैमाने पर सगीत, नृत्य आदि के कार्यक्रम भी हुआ करते थे।"

श्री शरत्चन्द्र घोपाल ने भी कहा है, "इस बात के प्रमाण नही मिलते कि इस गुफा का कभी भी प्रेक्षागृह के रूप में इस्तेमाल हुआ था।"

इन दोनो भारतीय विद्वानो के अतिरिक्त एक विदेशी विद्वान श्री बरगेस का भी कथन है कि "यदि यहा प्रेक्षागृह होता तो हम यह आशा कर सकते थे कि केवल इस एकान्त स्थान में, सरगुजा की पहाडी के बीच ही नही, वरन् अन्य स्थानो में भी इस प्रकार के प्रेक्षागृह मिलते।"

श्री हालदर तथा श्री घोपाल का उत्तर तो डाक्टर ब्लाख़ की विशद व्याख्या में पूर्ण रूप से मिल जाता है। श्री बरगेस की बात किसी हद तक सही है। सचमुच सीता बेंगा का यह प्रेक्षागृह अपनी तरह का अकेला उदाहरण है तत्कालीन रगमच का। परन्तु श्री बरगेस ने इतना तो स्वय स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत मे पहाडी गुफाओ को नाना प्रकार के मनोरजन के लिये काम में लाया जाता था।

इसके अतिरिक्त जैसा कि वह स्वय स्वीकार करते है 'आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया,' भाग तीन में एक बौद्ध मन्दिर का चित्र छपा है। यह मन्दिर औरगाबाद की एक गुफा में है। इसमें नृत्य होने के प्रमाण मिलते है। नासिक में दो गुफायें है। जिनमें नृत्य और सगीत के कार्यक्रम हुआ करते थे। ऐसा लगता है कि कुदा और महाद की गुफाओ में भी नृत्य एव सगीत के कार्यक्रम होते थे। उनमें इन कार्यक्रमो के लिये सुविधा थी। वहा रगमच तथा प्रेक्षागृह के प्रमाण मिलते है। इनके चित्र 'आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' में प्रकाशित हो चुके है। इन सब प्रमाणो के रहते हुए हमें श्री बरगेस की शका निर्मूल मालूम पडती है। साथ ही, इस बात में रच मात्र भी सन्देह नही रह जाता कि सीता बेंगा गुफा का यह स्थान प्रेक्षागृह था और यहा सगीत, नृत्य तथा नाट्याभिनय के कार्यक्रम अक्सर, विशेपतया दोलोत्सव के अवसर पर, हुआ करते थे।

सीता बेंगा गुफा की बगल में ही जोगीमारा गुफा है। इस गुफा में कुछ भित्ति चित्र है, साथ ही एक शिलालेख भी है। शिलालेख इस प्रकार है—

शुतनुका नाम देवदाशिक्यी।
शुतनुका नाम देवदाशिक्यी।

तं कामयिथ बाल (ा) न शेये
देवदिने नामा लुपदखे

इसकी भाषा शुद्ध मागधी है। यहां 'श' का प्रयोग अशोक के शिलालेखों के उतना निकट नहीं है। सभी अक्षर बिल्कुल स्पष्ट हैं। देवदासी का अर्थ नर्तकी या सम्भवतः 'गणिका' ही है। सुतनुका नाम की देवदासी थी। उसका प्रेमी वाराणसी निवासी देवदत्तरूपदक्ष था। रुपदक्ष चित्रकार ही है। सम्भवतः इसी देवदत्त ने उस गुफ़ा में चित्रों का आलेखन और अंकन किया था। शायद इस शिलालेख को भी उसी कलाकार ने खोदा था। सीता बेंगा गुफा का शिलालेख पद्यबद्ध है। लगता है किसी कवि ने उसकी रचना की थी। जोगीमारा गुफा में देवदत्त अपनी प्रेमिका देवदासी सुतनुका के साथ रहता था। जितने भी प्रमाण मिलते हैं उनसे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दोनों गुफ़ाओं को तथा प्रेक्षागृह और चित्रशाला को देवदासी सुतनुका ने ही निर्मित कराया था। जोगीमारा की चित्रशाला में प्रेक्षागृह से थक कर आयी हुई अभिनेत्रियां एवं नर्तकियां आराम करती थीं—डाक्टर ब्लाख का यही अनुमान है।

जोगीमारा गुफ़ा की भीतरी दीवार पर अंकित चित्रों का परिचय डाक्टर ब्लाख ने इस प्रकार दिया है—

(१) केन्द्र में एक पुरुष एक वृक्ष के नीचे बैठा है। बायीं ओर नर्तकियां और संगीतज्ञ हैं। दाहिने ओर एक जलूस और एक हाथी है।

(२) कई पुरुष, एक पहिया और ज्योमिति के चित्रों सरीखे कुछ गहने हैं।

(३) इस चित्र का आधा भाग कमोवेश अस्पष्ट है। केवल फूलों, घरों और कपड़े पहिने हुए मर्दों के चिह्नमात्र बचे हैं। इसके बाद एक पेड़ है जिस पर एक चिड़िया है, फिर आदमी का एक चित्र है। शायद वह कोई बच्चा है जो डालों में छिपा है। उसके आसपास खड़े मनुष्यों के और चित्र हैं जो वृक्ष पर बैठे चित्र से मिलते हैं। सभी नंगे हैं और उनके सिर के बाल सिर की बायीं ओर गांठ में बंधे हैं।

(४) पाल्थी मारे एक मर्द, स्पष्टतः नंगा, साथ में तीन नौकर जो कि कपड़े पहिने हुए हैं। इस टोली की बगल में उसी प्रकार तीन बैठे हुए आदमी हैं जिनके तीन नौकर हैं। नीचे एक घर है जिसमें एक चैत्य खिड़की है। सामने एक हाथी और तीन कपड़े पहिने हुए आदमी खड़े हैं। इस दल के पास तीन घोड़ों से खीची जाने वाली छत्रधारी गाड़ी, एक हाथी और पीलवान है। फिर इसी प्रकार के पुरुष चित्र हैं। एक घर है जिसमें चैत्य खिड़की और एक हाथी है।

ये सारे चित्र किसी कथा विशेष पर आधारित हैं या इनके द्वारा देवदत्त तथा देवदासी सुतनुका की प्रणय कथा अंकित की गयी है, यह कहना मुश्किल है। अगर पूरे चित्र प्राप्त होते तो कथा की एकसूत्रता स्थापित हो जाती। जो भी हो, यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सीता बेंगा और जोगीमारा के शिलालेखों की भांति ये चित्र भी ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहिले के हैं। अब तक भारत में जितने भी भित्ति चित्र मिले हैं, उनमें यह सब से प्राचीन हैं।

इस प्रकार इन दोनो गुफाओ को हम भारत की सब से प्राचीन नाटयशाला, प्रेक्षागृह, रगशाला, नृत्यशाला एव चित्रशाला मान सकते हैं।

हमने उपर्युक्त कुछ अन्तर्साक्ष्यो तथा बहिर्साक्ष्यो एव प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि हमारे देश में ईसा के पहिले ही पुष्ट नाटय परम्परा थी और नाटको को रगमच पर प्रस्तुत करने की भी व्यवस्था थी। भरत नाटयशास्त्र स्वय इतना पुष्ट और पूर्ण ग्रथ न बन पाता यदि यह परम्परा न रही होती। तत्कालीन समस्त वाङ्मय एव साहित्य में इस बात के प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। अनेक ऐसे अवशेष तथा लेख भी प्राप्त हुए हैं जो रगमच एव रगशाला स्थिति को स्वीकार एव घोषित करते हैं। सीता बेंगा और जोगीमारा की गुफ़ाओं की खोज, उस स्थान का अध्ययन, वहा पर प्राप्त शिलालेखो एव चित्रो की व्याख्या ने अन्तिम रूप से हमारी इस मान्यता की स्थापना कर दी है। ईसा के पहिले हमारे देश में रगशालायें बनती थी और उसमें बैठ कर प्रेक्षक नृत्य और नाटयाभिनय देखते थे। खुले रगमचो की व्यवस्था तो थी ही।

आचार्य बलदेव उपाध्याय

नाट्यकला तथा शान्तरस

नाटक में शान्तरस का प्रदर्शन किया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न की मीमांसा संस्कृत के आचार्यो ने बड़ी छानबीन तथा गम्भीरता के साथ की है। नाट्य में शान्तरस के विरोधी आचार्यो की भी एक लम्बी परम्परा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गए तर्को तथा युक्तियों का अनुशीलन कर हम अभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वन्यभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना की है। इन पक्षों को मैं अत्यन्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी संज्ञा देना अत्यन्त उचित समझता हूँ।

अत्यन्ताभाववादी

इस पक्ष के प्रस्तावक आचार्यो की सम्मति में शान्तरस का इस जगतीतल पर सर्वथा अभाव ही विद्यमान है। इस संसार में राग-द्वेष का अखण्ड साम्राज्य उज्जृम्भित हो रहा है। महनीय जातियों तथा राष्ट्रों में ही यह बात नही है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति का भी हृदय रागद्वेष की वृत्तियों का क्रीड़ास्थल है। अनादिकाल से अविद्या का प्रवाह प्रवाहित होता आ रहा है जिसके वश में हो कर जीव किसी से प्रेम (राग) करता है तथा किसी दूसरे व्यक्ति से बैर (द्वेष) करता है। यह प्रवाह इतना प्रबल तथा पुष्ट है कि इसका उन्मूलन करना नितान्त असाध्य है। अविद्या के प्रवाह को नष्ट करने वाले उद्योगशील पुरुषार्थियों की कमी नही है, परन्तु यह प्रवाह आज भी अपनी उद्दाम गति से प्रवाहित होता ही रहता है। शान्त की स्थिति रागद्वेष आदि भावों के उन्मीलन पर ही आश्रित रहती है और इन भावों के उच्छेद की कल्पना भी आकाश कुसुम के समान नितान्त असम्भाव्य तथा अकल्पनीय है। ऐसी दशा में शान्त रस का व्यावहारिक जगत् में सर्वथा अभाव मानना ही न्याय-संगत प्रतीत होता है। अतएव शान्तरस को काव्य तथा नाट्य में निबद्ध करने वाला कवि कभी भी द्रष्टाओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। शान्तरस का निबन्धन इस प्रकार कथमपि उपादेय तथा आकर्षक सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए दशरूपक के 'अवलोक' में धनञ्जय ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है—

'अन्ये तु वस्तुतस्तस्य अभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायात रागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।' (दशरूपक)

'न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति' (दशरूपक)

आनन्दवर्धन के मत में शान्तरस के अभाव का मुख्य कारण है—सर्वजनानुभव गोचरता का अभाव। रस को सब जनों के अनुभव का गोचर होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु संसार के प्राणियों को अविद्या, रागद्वेष वृत्तियों के पंक में निमग्न देख कर क्या हम कभी कल्पना कर सकते हैं कि ये भ्रान्त मानव कभी भी शान्त रस का आस्वादन करने में समर्थ होंगे—

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासौ अलोक सामान्य महानुभाव चित्तवृत्तिविशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्य । (ध्वन्या पृ० १७७)

फलत अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या का प्रवाह दुरुच्छेद्य है तथा हृदय संवाद का नितान्त अभाव है। अतएव शान्त रस की सत्ता हम कथमपि मानने के लिए उद्यत नहीं हैं।

इस तर्क का खण्डन भली भांति किया जा सकता है। इस पृथ्वी तल को इतने सन्त-महात्माओं ने अपने अलौकिक जीवन से, अपने शान्त उपदेशों से तथा अदम्य कारुणिकता तथा मैत्री से अलकृत किया है कि अविद्या का उच्छेद न मानना कथमपि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। साधारण मानव यदि जनकोलाहल तथा रागद्वेष के स्तर से ऊपर उठने में अपने को सक्षम नहीं पाता, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि रागद्वेष का उन्मूलन सम्भव ही नहीं। अपने देश में उदात्त जीवन बिताने वाले ऋषि मुनियों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस बात का स्पष्ट बोधक है कि अविद्या की वागुरा दुरुच्छेद्य भले हो, परन्तु वह सर्वथा अछेद्य नहीं है। हृदय संवाद के तर्क पर शान्त का अभाव भी तर्कहीन ही है। 'सर्वजनानुभव गोचरता' किसी भी रस की उपलब्धि के लिए अकाट्य हेतु नहीं है। भरत मुनि ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाया है कि भिन्न-भिन्न रस के अनुभव तथा आस्वाद के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रकृति' की आवश्यकता होती है। एक ही 'प्रकृति' विभिन्न रसों का आस्वाद नहीं ले सकती। वीर प्रकृति व्यक्ति को भयानक में कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वीत-राग पुरुष को शृंगार रस का आस्वाद नहीं होता, तो इस कारण वीर तथा शृंगार को हम रस के अन्तर्गत नहीं मान सकते।[1] कथमपि नहीं, 'सर्व हृदय संवाद' के अभाव में भी वीर तथा शृंगार को हम रसकोटि से बहिर्मुख नहीं कर सकते। शान्त रस में भी हृदय संवाद होता है। किन पुरुषों का? संसार से वैराग्य रखने वाले वीतराग पुरुषों का हृदय संवाद शान्तरस के प्रदर्शक काव्यों के पढ़ने में तथा नाटकों के देखने में सर्वथा होता ही है। ऐसी दशा में शान्त रस का अभाव कैसे माना जाय?

फलत इस जगत् का शम नामक भाव अंग ही नहीं है, प्रत्युत एक महनीय तथा उज्ज्वल-तम अंग है, परन्तु उसका अनुभव साधारण जनता की उपलब्धि से दूर ही रहता है। शान्तरस की उपलब्धि अवश्य ही असाधारण बनी रहेगी, जिस प्रकार महापुरुषों की जीवन लीलाएँ। "जायस्व म्रियस्व" ही इस विश्व की सामान्य गति का निदर्शन है, परन्तु फिर भी शंकर तथा रामानुज,

---

[1] ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद् रस्यमानता एव नोपपन्ना। क एवमाह नास्तीति? यत प्रतीयते एवेत्युक्तम्। ननु प्रतीयते, सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृंगारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवताम्।

—लोचन, पृष्ठ १७७

गोरखनाथ तथा कबीर, सूर तथा तुलसी जैसे महनीय आत्माओं ने अपने जीवन में उच्च आध्यात्मिकता का निदर्शन दिखलाया। तथ्य तो यह है कि साहित्य, काव्य तथा नाटक त्रिवर्ग के वर्णन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का वर्णन तथा चित्रण भी उसके लिए उसी प्रकार उपादेय है। पुरुषार्थ का सरस तथा सुभग चित्रण ही काव्य सामान्य का तात्पर्य है। लोकवृत्त का अनुकरण नाटक का स्वविषय है। ऐसी दशा में उपकारव्रती अध्यात्मनिष्ठ महामानवों की जीवन-लीला का चित्रण जिस प्रकार कवि अपने काव्यों में करता है, उसी प्रकार मोक्ष जैसे चरम पुरुषार्थ का निदर्शन भी काव्य में भली भाँति दिखलाया जा सकता है। इसीलिए अभिनवगुप्त, कामोचित चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रसास्वाद के उदय के समान मोक्षोपयोगिनी चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रस का आस्वाद उत्पन्न होना स्वाभाविक मानते हैं (द्रष्टव्य अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ ३३४, बड़ौदा संस्करण)।

प्रस्थानवादी

रससम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय श्री **भरत मुनि** को है। फलतः रस के समस्त सिद्धान्तों के निरूपण की अन्तिम कोटि भरत रचित नाट्यशास्त्र ही है। नाट्यशास्त्र एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। नाट्यशास्त्र के प्राचीन हस्तलेखों में शान्तरस का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं था। यही कारण है कि लेखक के द्वारा सम्पादित तथा चौखम्भा कार्यालय, काशी से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के रसाध्याय (षष्ठ अध्याय) में शान्तरस का कहीं भी निर्देश नही है। इस संस्करण को मूल आधार मान कर प्रस्थानवादी आचार्यो का कथन है कि जब भरत मुनि ने ही शान्तरस का निर्देश नही किया, तब शान्त की रस के भीतर गणना ही किस प्रकार की जा सकती है? भरत के इस निर्देशाभाव के कारण शान्त को रस न मानने वाले आचार्यो की कमी नही है। धनञ्जय ने दशरूपक में इस मत की ओर संकेत किया है।

इस युक्ति का भी समाधान भली भाँति किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र के **रसाध्याय** में शान्तरस का वर्णन आचार्य अभिनवगुप्त के समय में (अर्थात् १० वीं शती के अन्त में) अवश्य विद्यमान था, तभी तो उन्होंने इसके ऊपर भी अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है (द्रष्टव्य अभिनव भारती, गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित, भाग १, पृष्ठ ३३३-३४२)। यह अंश स्पष्ट ही रसाध्याय के समाप्त होने पर पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु यह संयोजन भी अभिनवगुप्त से प्राचीन किसी काल में किया गया होगा। अभिनवगुप्त ने अपने भाष्य में दिखलाया है कि किस प्रकार शान्त को न मानने वाले आचार्य केवल आठ ही रस मानते थे (शान्तापलापिनस्तु अत्र अष्टौ इति पठन्ति तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयक्षमाः' इति कैश्चित् पठितः)। भरत की इस कारिका में केवल आठ रसों का ही निर्देश है—

> **शृंगार हास्य करुणा रौद्रवीरभयानकाः।**
> **बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥६।१६**

परन्तु शान्त रसवादी आचार्यो ने 'अद्‌भुत शान्ता नव नाट्ये रसा स्मृता' पाठ स्वीकार किया है। इसी प्रकार स्थायिभाव की गणनापरक कारिका में 'जुगुप्साविस्मयश्चेति' (नाट्य० ६।१८) के स्थान पर 'जुगुप्साविस्मयशमा' पाठ उपलब्ध होता है नाट्यशास्त्र के परिबृहित सस्करण में अभिनव भारती के अनुसार। प्रश्न है कि इस परिवर्तन का कर्ता कौन हो सकता है। 'काव्यालकार सारसग्रह' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उद्‌भट शान्तरस को मानते थे। वे नाट्य-शास्त्र के प्रथम ज्ञात व्याख्याकार है तथा नव रसो की सत्ता मानने वाले प्रथम आलकारिक है। फलत बहुत सम्भव है कि इन्होंने ही नाट्यशास्त्र के पाठ में पूर्वोक्त परिवर्तन किये थे, जिनका निर्देश अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन से हम अनुमान ही क्या निश्चय कर सकते है कि भरत भी शान्तरस की सत्ता से पूर्णतया अवगत थे। जब नाटक लोकवृत्त के ऊपर आश्रित रहता है, तब क्या लोक में शान्तरस के उपासक मुनि जनो का अस्तित्व नही है, जिनका चित्रण करते समय शान्तरस की विशद प्रतीति काव्य या नाटक में भली भाँति हो सकती है। नाट्य की उपयोगिता बतलाते समय भरत के ये वाक्य ध्यान देने योग्य है—

क्वचिद् धर्म क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थ क्वचित शम । (१।१०६)
दु खार्ताना श्रमार्ताना शोकार्ताना तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजनन काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (१।११५)
ब्रह्मर्षीणा च विज्ञेय नाट्य वृत्तान्त दर्शनम्॥ (१।१२१)

भरत के मूल वाक्यो का अर्थ यही है कि नाटक में धर्म, क्रीडा तथा अर्थ के साथ शम का प्रदर्शन भी किया जाता है, नाट्य, तपस्वियो को विश्रान्ति प्रदान करता है तथा उसमें ब्रह्मर्षियो का चरित्र भी दिखलाया जाता है। ये कथन भरत के मूलग्रन्थ से है तथा नितान्त प्रामाणिक है। अभिनवगुप्त ने प्रथम उद्धरण को देकर पूछा है कि क्या भरत मुनि शान्तरस को अगीकार नही करते—

प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यङ्गीकृत-एव 'क्वचिच्छम'
इति वदता—लोचन, पृष्ठ १७७ (काव्यमाला स०)

भरत ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में दर्शको के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है कि दर्शको के साथ सामरस्य धारण करना ही नाटक का प्राण है तथा इसी प्रसग में विविध प्रकार के दर्शकों के तोष का वर्णन इस श्लोक में किया है—

तुष्यन्ति तरुणा कामे विदग्धा समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिण ॥

(काशी स० २७।५९)

श्लोक का तात्पर्य है कि ससार से वीतराग दर्शको का तोष मोक्ष में होता है। इस श्लोक की सगति तभी बैठ सकती है जब नाटक के वर्ण्य विषयो में मोक्ष को भी यथोचित स्थान प्राप्त हो

सके। अभिनवगुप्त ने भी इस वाक्य की ओर अभिनव भारती मे स्पष्ट संकेत किया है (द्रष्टव्य प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३४०)। भरत ने २४ वे अध्याय में काम को प्रत्येक पुरुषार्थ से सम्बद्ध होने के कारण चार प्रकार का माना है—केवल काम, धर्मकाम, अर्थकाम तथा मोक्षकाम।

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैवच।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो यः काम स तु संस्मृतः॥

(२४।९१)

'मोक्ष काम' का तो स्पष्ट अर्थ है मोक्ष के विषय मे अनुराग या प्रेम। यह स्पष्ट ही शान्त की ओर संकेत है। भरत ने स्वयं लिखा है—

धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥

(२७।६१)

यहाँ धार्मिक आख्यान तथा पुराणों मे प्रदर्शित कथानकों का स्पष्ट निर्देश है जिसके दर्शन से वृद्ध लोग सन्तुष्ट होते है तथा आनन्द पाते हैं।

इन तर्कों का सामूहिक फल यह है कि भरत शान्तरस की स्वीकृति न देने पर भी शान्त के उपयोगी वातावरण से परिचित है, उसके चित्रण को नाटक मे आवश्यक बतलाते है तथा उसमे आनन्द लेने वाले वृद्धजनों की चित्तवृत्ति से वे अवगत हैं। नाट्य को लोकवृत्त के ऊपर आश्रित मानने वाला आचार्य क्या कभी शान्तोपयोगी चित्रण से पराङ्मुख हो सकता है? फलतः प्रस्थान-वादी आचार्यो के मत को हम कथमपि महत्त्व नही दे सकते कि भरत मुनि शान्तरस से सर्वथा अपरिचित है।

अन्तर्भाववादी

कतिपय आचार्य शान्तरस की सत्ता तो स्वीकार करते है, परन्तु उसे वे स्वतन्त्र रस की स्थिति में रखना पसन्द नही करते, प्रत्युत पूर्व सम्मत किसी रस के भीतर उसका अन्तर्भाव मानते है। ये अभाववादी न होकर अन्तर्भाववादी के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

वीर में शान्त का अन्तर्भाव

बहुत से आचार्य शान्तरस को वीर रस के भीतर अन्तर्भुक्त मानते है, क्योंकि वीर का स्थायी भाव उत्साह यहाँ भी विद्यमान रहता है। प्रत्येक कार्य के सम्पादन के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है। बिना उत्साह के कोई कार्य क्या अपनी वास्तविक सिद्धि पा सकता है? शान्त रस के उपादान, त्याग, तपस्या, परोपकार, दया आदि का निर्वाह पूर्णरूप से तभी हो सकता है जब कर्ता का हृदय उत्साह के द्वारा परिचालित हो। अतः शान्त में भी उत्साह का दर्शन होने के कारण वह वीररस के भीतर समुचित रीति से अन्तर्हित किया जा सकता है।

वीर रस के भेदों की अवधि नही है। भरत मुनि ने इसके तीन प्रधान भेद माने है—युद्ध-वीर, दानवीर तथा धर्मवीर—जिनमें युद्धवीर तो वस्तुतः वीर रस का शुद्ध निदर्शन है। दानवीर

४१

में दान देने के लिए उत्साह का प्राधान्य रहता है जैसे सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में राजा हरिश्चन्द्र। 'धर्मवीर' में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में समधिक समुत्साह दृष्टिगोचर होता है जैसे युधिष्ठिर। इन तीनों के अतिरिक्त दयावीर नामक वीर का एक चौथा भी प्रभेद है और इसका प्रादुर्भाव बोधिसत्व के परोपकार के निमित्त जीवन के उत्सर्ग जैसे कार्यों में होता है। नागानन्द नाटक में दयावीर की ही प्रधानता है, क्योंकि इसका नायक जीमूतवाहन गरुड से नागों की रक्षा करने के लिए अपना समर्पण करने में कभी नहीं हिचकता। दयावीर का स्थायीभाव भी रस के अन्य प्रभेदों के समान ही 'उत्साह' है। फलत बहुत से आचार्य दयावीर से एकाकार होने के कारण शान्तरस की पृथक् सत्ता मानने के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दयावीर ही शान्त रस का प्रतीक है। अभिनवगुप्त के मत में तो दयावीर, धर्मवीर तथा दानवीर कोई नये रस नहीं हैं, प्रत्युत शान्त के ही ये नामकरण हैं (लोचन ११७-११८)। भट्ट गोपाल ने अपनी 'काव्यप्रकाश-व्याख्या' (पृष्ठ १३९-१४०) में स्पष्ट लिखा है कि दयावीर शान्त का ही नामान्तर है और इसीलिए भरत मुनि ने वीररस के तीन ही प्रभेद बतलाये हैं—युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर—

> दयावीर इति शान्तस्यैव नामान्तरकरणम्, येन
> दानवीर युद्धवीर धर्मवीर तथैव च।
> रस वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविध समितम्,
> इति त्रैविध्यमेवास्य मुनिना वीरस्याभ्यधायि।

इस मत का उदय श्रीहर्ष के द्वारा नागानन्द नाटक की रचना के अनन्तर होना प्रतीत होता है। इस मत में एक विशेषता तो अवश्य है कि यह मत उन लोगों के मत से अवश्य ही शोभन है जो निर्वेद जैसे सचारी भाव को स्थायी भाव के पद पर प्रतिष्ठित करने की गलती करते थे। उत्साह अवश्य ही स्थायी भाव है वीररस का। अतएव शान्त का स्थायी भाव उत्साह मानने में पहिली जैसी गल्ती तो अवश्यमेव नहीं होती, परन्तु इस सिद्धान्त से भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। उत्साह के ऊपर शान्त को आश्रित मानने वाले भी आचार्य बालू की भीत पर अपना किला बना रहे थे, क्योंकि दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर है। आनन्दवर्धन की सम्मति में वीररस अभिमान प्रधान होता है और शान्तरस अहकार प्रशम रूप होता है--

"न तस्य वीरेऽन्तर्भाव कर्तुं युक्त। तस्य अभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य च अहकार-प्रशमैकरूपतया स्थिते"

—ध्वन्या० पृ० १७७

उत्साह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें बतलाता है कि जब तक प्राणी अपने भीतर सुप्त अहभाव को जाग्रत नहीं करता, तब तक उसके हृदय में उत्साह का आविर्भाव नहीं होता। प्राणी को उत्साह किसी कार्य के करने के लिए तभी आता है, जब वह अभिमान को जाग्रत कर अपने अन्त प्राण को उद्बुद्ध करता है। उधर शान्त में इससे विपरीत स्थिति ठहरती है। शान्त का उपासक व्यक्ति अहभाव का नितान्त प्रशमन कर देता है। उसका हृदय-सागर किसी भी

कामना-लहरी से उद्वेलित नही होता, कोई भी संकल्प उसके अहंकार को नहीं जगाता। फलतः शान्त व्यक्ति सर्वदा निरीह, निष्काम तथा निरहंकार की स्थिति में रहता है। इस प्रकार स्वरूपगत भेद होने से शान्तरस का अन्तर्भाव वीररस के भीतर कथमपि नही किया जा सकता।

शान्तरस के उन्मीलन में उत्साह की हेतुता का कथमपि अपलाप नही किया जा सकता। दान-उत्साह तथा धर्मोत्साह शान्त के ही दो अंग है। वीर के अन्य भेदों का भी उत्साह शान्त में अवश्यमेव विराजता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने पाण्डित्य वीर, क्षमा वीर जैसे नवीन प्रभेदों को वीररस के भीतर दिखलाया है। इनके भीतर वर्तमान उत्साह की भी शान्त में आवश्यकता है। विरोधी को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए किसी धर्मोपदेशक के हृदय में 'पाण्डित्योत्साह' की मात्रा होनी ही चाहिए। इसी प्रकार 'क्षमावीर' का उत्साह भी शान्त के लिए आवश्यक उपादान है। परन्तु शान्त रस में 'उत्साह' संचारिभाव के रूप में ही उपस्थित रहता है, स्थायी भाव के रूप में नहीं। इसीलिए यह अन्तर्भाव का तथ्य एकदम तर्कहीन तथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त इसीलिए उत्साह को शान्त रस में 'अभ्यधिक अन्तरंग' मानते हैं, परन्तु उसे शान्तरस का प्राण (स्थायीभाव) तो कभी भी नही मानते—

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थ घटनायैव उद्यमः इति उत्साहोऽस्य परोपकार-विषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायः अभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अतएव तत् केचित् दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

—अभिनवभारती, पृष्ठ ३३८ (भाग प्रथम)

बीभत्स में शान्त का अन्तर्भाव

मोक्ष मार्ग का पथिक अध्यात्म में रति रखता है तथा संसार के विषय में वह घृणा का भाव रखता है। विषयों से वैराग्य होने के लिए उनमें घृणाभाव का उदय स्वाभाविक है। विषय में आसक्त व्यक्ति क्या कभी मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है? विषयों के प्रति घृणा होना तो मोक्ष मार्ग का संबल माना जा सकता है। यही जुगुप्सा का भाव है। शान्त में इसकी सार्वत्रिकी स्थिति होने के कारण जुगुप्सा शान्तरस का स्थायी भाव माना जाता है तथा बीभत्स रस के भीतर शान्त का अन्तर्भाव उपन्यस्त है।

'जुगुप्सा' के विषय में अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का अपना निजी मत है, जिसका उपन्यास हम 'अभिनव भारती' में पाते हैं। रसों के प्रभेद दर्शन के अवसर पर भरत ने बीभत्स के प्रभेदों का उल्लेख किया है—

बीभत्सः क्षोभणः शुद्धः उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः
बिष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः॥

(नाटचशास्त्र ६।८१, काशी संस्करण)

बीभत्स दो प्रकार का होता है—क्षोभण तथा उद्वेगी। क्षोभण उत्पन्न होता है रुधिर आदि

के देखने से और उद्वेगी पैदा होता है विष्ठा कृमि के द्वारा। इनमें प्रथम प्रकार शुद्ध कहलाता है और दूसरा प्रकार अशुद्ध। इस व्याख्या में 'शुद्ध' 'क्षोभण' का विशेषण माना गया है, परन्तु भट्टतौत के मत में 'शुद्ध' भी बीभत्स का तृतीय प्रकार है। इसीलिए कहीं कहीं 'द्वितीयक' के स्थान पर 'तृतीयक' पाठ उपलब्ध होता है। ससार के भावो मे, वस्तुओ से या द्रव्यो से जो स्वत घृणा का भाव जनमता है, वही शुद्ध बीभत्स का उत्पादक होता है। पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है—'शौचात् स्वाग-जुगुप्सा परैरससर्ग' (योगसूत्र २।४०)। शौच के धारण करने से यति को अपने ही अगो में जुगुप्सा उत्पन्न होती है और इसलिए वह दूसरो मे कभी ससर्ग नही रखता। वह मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होता है—

उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्तावत् विभावविशेषात् यत्र तु ससार नाट्यनायक राग प्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाद् शुद्ध। यदाह 'शौचात् स्वाग जुगुप्सा' तथा 'वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनमिति'। तेन सोऽपि परमार्थत त्रिविध एव।—अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३३२

भट्टतौत के इस मार्मिक कथन का तात्पर्य यह है कि ससार के प्रति राग हटाने के लिए उसके प्रतिपक्ष की भावना नितान्त आवश्यक है। ससार के सुखो का तिरस्कार हम तभी कर सकते है, जब हम सासारिक विषयो के घृणित रूप की भावना करें। फलत इस प्रतिपक्षभावना से उत्पन्न बीभत्स का रस 'शुद्ध' कहलावेगा। इतने पर भी भट्टतौत बीभत्स के दो ही प्रभेद मानते है, क्योकि यह बीभत्सरस नितान्त दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्यो की सख्या बहुत ही कम है, जो ससार के विषयो में जुगुप्सा का भाव रखते हो—

द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेन अप्राचुर्यं सूचयति। (वही, पृ० ३३२)

धनञ्जय ने इसी बीभत्स के अन्तर्गत शान्त की सत्ता मानने का निर्देश अपने 'दशरूपा-वलोक' में किया है।

इस पूर्वपक्ष का यही समाधान है जो वीर रस के विषय में प्रथमत दिया गया है। जिस प्रकार उत्साह शान्त रस का अन्तरग भाव है, जुगुप्सा भी वैसा ही है। 'शुद्ध जुगुप्सा' शान्त रस के उदय में सहायक हो सकती है, परन्तु वह शान्त का सर्वस्व नही है। अर्थात् जुगुप्सा शान्त रस का केवल सचारी भाव ही है, वह कभी स्थायी भाव की कोटि में नही पहुंच सकता। फलत यह अन्तर्भाव एकदम भ्रान्त और निराधार है।

"आदि ग्रहणेन विषय जुगुप्सारूपत्वात् बीभत्सेऽन्तर्भाव शक्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति, न तु स्थायितामेति। पर्यन्त निर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्"—लोचन, पृष्ठ १७८

इस प्रकार शान्त रस का अभाव मानना कथमपि युक्तियो के सहारे समर्थित नही किया जा सकता। कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त का चित्रण काव्य में भले ही सिद्ध हो, परन्तु नाट्य में उसका प्रदर्शन कथमपि न्याय्य तथा उचित नही प्रतीत होता। इस मत का मौलिक रहस्य यह है—व्यापार के विराम होने पर शान्त की स्थिति है। शान्त रस वहाँ होता है जहाँ न दुख है, न सुख, न द्वेष है और न चिन्ता, न राग है और न द्वेष—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

शान्तरस की यह पर्यन्त भूमि क्या कभी नाटक में दिखलायी जा सकती है? नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की मुख्यता, परन्तु शान्त रस का ऊपर चित्रित रूप क्या कभी अभिनय का विषय बन सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर है—नही, परन्तु यही दशा तो प्रत्येक रस की पर्यन्त भूमि के अभिनेयत्व के विषय में है। क्या शृंगार का चरम उत्कर्ष कभी अभिनीत हो सकता है? ऐसी दशा मे केवल शान्त के ऊपर ही अभिनेयता का लाञ्छन लगाना कहाँ तक न्याय्य है? तथ्य यह है कि शान्त रस के विभाव आदिको का पूर्ण अभिनय रंगमंच के ऊपर किया जा सकता है और किया जाता है। नागानन्द शान्तरस प्रधान नाटक है, क्योंकि इसमें बोधिसत्व का चित्रण जीमूतवाहन के रूप में किया गया है। इसलिए भगवान बुद्ध की जीवनलीला को चित्रित करने वाले नाटकों की सफलता इस विषय वाले नाटकों से कथमपि न्यून नही है।

इस समीक्षण का यही निष्कर्ष है कि नाट्यकला में शान्त रस का चित्रण पूर्णतया किया जा सकता है। भरत के अनुसार भी यह 'प्रकृतिरस' है, जहाँ अन्य रस उसके एक-एक वैशिष्ट्य को अपना कर विकृति धारण करते है तथा नवीन अभिधानो से मण्डित होते हैं।

श्री केशवचन्द्र वर्मा

मणिपुरी नृत्य : पुराना और नया

मणिपुर की धरती नृत्य करती है। उस धरती का हर प्राणी उसी गतिमयता से भरा हुआ है जो सृष्टि को आवृत्तिपूर्ण ताल की मात्राओ में बाँधे हुए है। नृत्य वाले युवक युवतिया और उनकी मडलिया चारो ओर दिखाई पडती ह। बहुत समय तक मणिपुर अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण बाह्य प्रभावो से यथेष्ट सीमा तक पृथक् रह सका था। इसी हेतु उसकी अपनी सहज स्वाभाविकता एव सम्पूर्णता अभी तक खडित नहीं हो पाई है। ऊची-ऊची पहाडियो से घिरा हुआ आगन जैसा यह प्रदेश प्रकृति की रगशाला का मच ही लगता है। मणिपुर के जन्म की लोककथा सभवत इसी भौगोलिक स्थिति का परिणाम है। यहा के निवासियो के अनुसार मणिपुर की स्थापना ही इसी कारण हुई कि स्वर्ग के देवता वहा अपना नृत्य कर सके।

इस सम्बन्ध में एक विचित्र लोककथा प्रचलित है। एक बार महारास में कृष्ण के साथ गोपिया नृत्य कर रही थी, नटराज शिव ने उस नृत्य को देखने की अनुमति चाही। कृष्ण ने उन्हें केवल इतनी अनुमति दी कि वे रासलीला की ओर पीठ कर के खडे हो सकते है और सुन सकते है। शिव ने वैसा ही किया। किन्तु महारास की नृत्य लीला, घुघुरुओ, मृदगो एव वशी की सम्मिलित ध्वनियो का कुछ ऐसा जादू उन पर चढा कि वे बेचैन हो गये और अपना वचन भूल गये। शिव ने तत्काल ही पार्वती के साथ रास रचाने का निश्चय किया और उन्होने मणिपुर का स्थल इसके लिए चुना। उसी क्षण उन्होने पेगा (खोल) और 'पेना' (चिकारा जैसी सारगी वाद्य) का आविष्कार किया जो इस नृत्य के साथ के वाद्य यत्र बने। शेषनाग की मणि से सारा प्रदेश रास के समय में जगमग-जगमग होने लगा। इसी कारण पूरा प्रदेश ही मणिपुर कहलाया।

मूलत अपने देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए ही मणिपुर के निवासी आज भी नृत्य करते है। उनका प्राचीनतम नृत्य 'लाइहरोबा' वही नृत्य है जिसे शिव और पार्वती ने पहिली बार मणिपुर प्रदेश में अपने पदसचालनो से निर्मित किया था। मणिपुर के लोगो का विश्वास है कि देवता की प्रसन्नता पर ही उनकी कृषि निर्भर करती है, उसी पर उनका जीवन निर्भर करता है और सारा ससार भी उसी पर निर्भर है। देवता अप्रसन्न हो कर धरती पर रोग ले आते है। अकाल और महामारी को निमत्रित करते है, पीडित करते है और उनकी अप्रसन्नता से चारो ओर हाहाकार मच जाता है। अत उन्हे प्रसन्न करने के हेतु 'लाइहरोबा' का नृत्य वर्ष में एक मास समारोह के साथ मनाया जाता है। नई फसल बोने के पहिले देवता को प्रसन्न करना अति आवश्यक

मानते हैं। इसी कारण यह नृत्य अप्रैल-मई के आसपास नई फसल रोपने के पहिले किया जाता है। वैसे यह नृत्य चिरंतन नृत्य है। वर्ष में अन्य अवसरों पर भी लाइहरोबा नृत्य का प्रदर्शन होता रहता है। लाइहरोबा का यह नृत्य वस्तुतः ग्राम देवता को समर्पित रहता है। ये देवता 'उमेंडलाइ' कहलाते हैं। भारतीय ग्रामों के ढीह की भांति 'उमेंडलाइ' भी मृत्तिका के छोटे-छोटे ढूह होते हैं। इन ढूहों में वे सारी शक्ति आरोपित कर उनकी पूजा सर्वोपरि सर्वशक्तिमान के रूप में करते हैं। उन्हें वे अपने नृत्यों से रिझाने की चेष्टा करते हैं। 'उमेंडलाइ' मणिपुर के आदि देवताओं में हैं। इन्हीं ढूहों में क्रमशः शैव मत के विकास के साथ शिवलिंगों की स्थापना कर ली गई और वे शिव-पार्वती के प्रतीक बन गये।



मणिपुरी नृत्य की एक कला

'उमेडलाइ' के पुजारी 'मैबा' कहलाते हैं और पुजारिनें 'मैबी'। अंधविश्वासों का प्रश्रय देकर उसे भलीभांति ग्रामजीवन का अंग बनाना ही इन पुजारियों का कार्य है। जादू टोना, मंत्र मारण मोहन, सम्मोहन, उच्चाटन क्रियायें, भविष्यवाणियां और भूतप्रेत की बाधा हटाना—आदि कार्य ही मैबा और मैबी अपने जीवन का उद्देश्य समझते हैं। मैबियों के संस्थान की भी विचित्र कथा है। यौवन में जिन विशिष्ट शरीरों में 'उमेंडलाइ' की आत्मा प्रवेश कर जाती है,वे ग्राम देवता की दासी बना दी जाती हैं। उनकी सात आठ मास की दीक्षा होती है, और फिर वे ग्राम देवता की पुजारिन—'मैवी' बना दी जाती हैं। अस्तु। किन्तु मैबा और मैबियों का मणिपुरी नृत्य के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। मणिपुरी नृत्य के इस अंश को धार्मिक नृत्य स्वीकार कराने और जनजीवन में उसका इस रूप में प्रचार करने में मैबा और मैबी पूर्णरूप से सफल रहे। 'लाइह-रोबा' का जो रूप प्रचलित है वह सामान्यतः पूरे क्षेत्र में एक जैसा ही देखने को मिलता है। बहुत सीमा तक यह एक धार्मिक क्रिया है किन्तु इसमें नृत्य के विविध तत्त्वों की प्रधानता रहती है। दर्शकों का मनोरंजन तथा उनमें पूर्णता, विराटता तथा धार्मिकता का संदेश पहुंचाना, यह भी इस नृत्य का साध्य रहा है। 'लाइहरोबा' का नृत्य अपनी भाव भंगिमाओं से जैसे महानतम सृष्टि की ओर संकेत करता रहता है। उसके आंदोलन उसी विराट् कल्पना के अंश दीखते हैं। विश्व किन तत्त्वों से निर्मित है, इसे वे बार-बार दोहराते रहते हैं और अपने सतत प्रयत्नों से पहिचानने की

चेष्टा करते रहते हैं। नृत्य का यही अश उनके दर्शन, उनकी आध्यात्मिकता और उनकी आस्था का परिचायक है जो लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करता हैं। मणिपुर प्रदेश में अभी कृत्रिम सभ्यता का पूरा जाल नही फैल सका हैं इस कारण उनके इस जीवनव्यापी आनन्द तत्त्व में नकली आखो को अश्लीलता के भी दर्शन होते हे। पर यह उन आखो का दोष अधिक हैं, जीवन की रससिक्त प्राणवान आस्था का नही है।

पन्द्रहवी शती के आसपास मणिपुर क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। गौराग महाप्रभु चैतन्य का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता हैं। नामकीतन, लीला, रास तथा नृत्य ने नये रूपो में मणिपुर की धरती को स्पर्श किया। राधाकृष्ण की लीलाओ के माध्यम से चैतन्य को ही कृष्ण रूप में जन मानस ने स्वीकार कर लिया था। 'सन्ध्या-आरती' की वेला घर-घर में गाई जाती है। धार्मिक पर्वों पर कीर्तन का विशद् आयोजन किया जाता हैं। इन कीर्तनो में मजीरे, करताल और खोल (मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का मणिपुरी मृदग) आदि वाद्यो का प्रमुख रूप से प्रयोग किया जाता है। अर्धवृत्ताकार और वृत्ताकार मडलो में घूम-घूम कर वे कीर्तन करते हैं। नर्तको के चदन-चर्चित माथे श्वेत पगडियो से सुशोभित रहते हैं। धोती उत्तरीय और पगडी यही उनकी वेशभूषा होती हैं। उनका विश्वास हैं कि कीर्तन के समय में स्वय चैतन्य महाप्रभु उनके बीच उपस्थित रहते हैं। कीर्तन असीम तन्मयता की ओर आकर्षित करता है। यह नृत्य उसी तन्मयता का एक अशमात्र होता हैं। अपने वाद्य यत्रो के साथ ये कीर्तनकार जिस प्रकार नृत्य करते हैं वह एक अद्भुत रस की सृष्टि करता है। उनकी गतिमयता द्रष्टव्य होती है। पाव की ओर झुक-झुक कर पीछे मुडना, शरीर को अत्यन्त सुकुमार लता की भाति भावनाओ की आधी के थपेडो में छोडना, करतालचालन, पग (खोल) चलन आदि इस नृत्य के प्रभावशाली अश है। चलन घटन के नाम से यह नृत्य वैष्णव सस्कृति की एक अपूर्व देन हैं। इस नृत्य की परम्परा बगाल के कीर्तन नृत्य से बहुत प्रभावित हैं।

स्त्रियो का एक विशेष कीर्तन नृत्य 'रासेश्वरी' के नाम से मान्य हैं। यह कीर्तन मणिपुर के राजपरिवारो में प्रचलित है। विशेषत उस परिवार के सदस्यो की मृत्यु के सम्बन्ध में यह कीतन होता हैं। इसमें विषाद और करुणा की भावनायें अपेक्षाकृत परिलक्षित होती हैं।

रास लीला नृत्य मणिपुर का सब से प्रधान लोकमान्य नृत्य है। 'रास' कृष्णभक्ति की एक विशिष्ट वस्तु है। रास का उल्लेख भागवत में जिस प्रकार का मिलता है, मणिपुर वासियो ने उसे बहुत सीमा तक जीवित रखने का प्रयास किया हैं। भावो का नृत्य द्वारा उदात्तीकरण रास-लीला में प्रमुख महत्त्व रखता हैं। रासलीला के नृत्यो में भाग लेने के लिए विशिष्ट गायको को निमन्त्रित किया जाता है। रास नृत्य सीखने के लिए मणिपुर की अनेक युवतिया शिक्षित व्यक्तियो से शिक्षा ग्रहण करती हैं। रासलीला में भाग लेने वाले व्यक्ति अपना परलोक सवारते हैं, ऐसा उनका विश्वास हैं। रासलीला नृत्यो के लिए 'रासमण्डल' का निर्माण किया जाता है। 'रासमण्डल' उस 'पडाल' या उस क्षेत्र को कहते हैं जहा पर रास का आयोजन किया जाता है। विभिन क्षेत्रो से



मणिपुरी नृत्य की एक मुद्रा

रासलीला की मंडलियां इसमें भाग लेने के लिए एकत्र होती है। रास मण्डल के चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था की जाती है।

रासलीला का कार्यक्रम प्रायः छः सात घण्टे तक चलता है। रासलीला के मध्य संवाद अभिनय आदि भी होते हैं। किन्तु नृत्य की प्रमुखता रहती है। रासलीला का यह कार्यक्रम कृष्ण, राधा तथा गोपिकाओं के माध्यम से सम्पन्न होता है। कृष्ण का अभिनय दस बारह वर्ष का कोई बालक करता है। अधिक वय के बालक को रासलीला कार्यक्रमों में स्त्रियों के साथ नृत्य करने और उसमें भाग लेने की अनुमति नही है। राधा तथा उनकी सखियों का अभिनय पटु नर्तकियां करती हैं। रासलीला नृत्य भारतीय 'आपेरा'—'संगीतमय-नृत्यनाट्य' का अपूर्व उदाहरण है।

रासलीलायें चार प्रकार की उल्लेखनीय हैं। वसंत रास वैशाख मास में कुंज रास आश्विन मास में और महारास कार्तिक में होता है। नित्यरास किसी भी समय, किसी अवसर पर किया जा सकता है। **वसंत-रास**—रूठी हुई राधा को कृष्ण द्वारा मनाने का सम्पूर्ण प्रयास है। कृष्ण, राधा के सम्मुख आत्मसर्मपण करते है और राधा उन्हें क्षमा करके पुनः स्वीकार कर लेती हैं। **कुंज-रास**—राधा और कृष्ण के संयोग श्रृंगार का नृत्य है। इसमें उनका विरह नही है। कुंजों में राधा और कृष्ण का विभिन्न रूपों में विहार प्रर्दशित करना इस रासनृत्य की अपनी विशेषता है। **महारास**—नृत्य में राधा और कृष्ण का विरह है। राधा को कृष्ण त्याग कर चले जाते है। राधा उनके वियोग में प्राण त्यागने का निश्चय करती हैं और अंततः पुनः उन्हें कृष्ण की प्राप्ति होती है। **नित्य रास**—राधा कृष्ण की विरह और मिलन लीला को प्रर्दशित करने वाला नित्यरास है। इसे कभी भी किया जा सकता है। आत्मा और परमात्मा का विछोह तथा आत्मा द्वारा उस परम तत्व को पाने का यत्न एवं उसी में सर्मपित हो जाने की भावना, इन सभी रासलीलाओं की मूल प्रेरणा रही है। राधा और कृष्ण के माध्यम से गोपिकाओं को कृष्ण के साथ नृत्य प्रर्दशित कर वे अपने दर्शकों में वही रसबोध जाग्रत करने की चेष्टा करते है।

रासलीला नृत्य के नर्तकों की रूपसज्जा तथा वेशभूषा वहुमूल्य होती है। उनकी वेशभूषा देखकर मन ठगा सा रह जाता है। कहते हैं कि मणिपुर के महराजा जयसिंह, जो मणिपुरी रासलीला के इस प्रकरण के जनक माने जाते हैं, इस महान नृत्य की अपूर्व वेशभूषा के लिए भी श्रेयी हैं। भव्यता, सुन्दरता, तथा गरिमा इस वेशभूषा की अपनी परम्परा बन गई है। केशों की सज्जा भी विभिन्न रासलीलाओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार से की जाती है। वसंत-रास तथा अन्य रासलीलाओं मे जूड़ा पीछे की ओर रहता है। महारास में जूड़ा शिर के मध्य भाग में शिव की जटा की भांति बनाया जाता है और कुंजरास में यही जूड़ा शिर के बाईं अथवा दाहिनी ओर चला जाता है। फ़ैशनेबुल समाज की बहुत सी रमणियां इस प्रकार का जूड़ा आजकल किये हुए दिखाई पड़ती हैं, यह मणिपुरी केश-विन्यास है। रासलीला की नर्तकियां—राधा और गोपियां—एक गोल घुमावदार लहंगा पहिनती हैं। यह लहंगा बहुधा लाल रेशम का होता है। नीचे दफ़्ती या बेत की छड़ियां लगा कर लहंगे को एक दिशा में ही घूमने के लिये 'सेट' कर दिया जाता है। लहंगे के ऊपर से एक छोटी सी घंघरिया रहती है जो लहंगे के आधी दूर तक ढंक लेती है। इन लहंगों

और घघरियो मे अबरक के छोटे-छोटे असम्य टुकडे लगे रहते हैं जो प्रकाश पाते ही जगमगाने लगते हैं। छोटी और कसी हुई चोली भी इसीप्रकार भडकीले रगो और गोटे चादी के काम से चमकती रहती है। इस सब पर एक झीनी महीन ओढनी लटकती रहती है जो नर्तकी का मुह भी ढके रहती है किन्तु पारदर्शी होने के कारण उसके मुख का हर भाव दिखाई पडता रहता है। विविध प्रकार के लेपो और चदनो से उसका मुख रजित रहता है। कृष्ण की वेशभूषा मोरमुकुट-युत, पीताम्बरधारी मुरली, वैजयन्तीमाल सहित ही दिखाई पडती है।

रासलीला का कार्यक्रम कीर्तन से प्रारभ होता है। 'गीतगोविन्द' और 'गोविन्द लीलामृत' से पाठ किये जाते हैं। सूत्रधार जब रासलीला का मतव्य बता चुकता है तो सर्वप्रथम कृष्ण उस रास मण्डल में आते हैं। कृष्ण का नृत्य होता है। उसके पश्चात् राधा का गीत पृष्ठभूमि से उठता है और राधा का प्रवेश दिखाई पडता है। दोनो की अवतारणा के पश्चात् वृदा सखी द्वारा दोनो का मिलन होता है। रासलीला के मध्य में 'भगी' नृत्यो का प्रदर्शन होता है, जिसमें कृष्ण एव राधिका की मानलीला तथा उनका प्रणय सलाप दिखाया जाता है। 'भगी परेड' के नाम से जाना हुआ नृत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। राधा और गोपिकाओ द्वारा कृष्ण की प्रार्थना अत में की जाती है। भगी नृत्य लाइहरोबा नृत्यो से बहुत सीमा तक प्रभावित है। इनमें भी जीवन के रसतत्वो पर ही अधिक बल दिया गया है। रासलीला की प्रार्थना बहुधा 'अबीर खेल' नृत्य द्वारा होती है जिसमें सब सखिया एक दूसरे पर अबीर-गुलाल फेंकती हैं। आरती के पश्चात् रासलीला का कार्यक्रम समाप्त होता है।

रासलीला नृत्यो में कृष्ण के जीवन की विविधता विभिन्न रूपो में परिलक्षित होती है। उस जीवन के प्रति रागात्मक दृष्टि ही मणिपुर नृत्य की रासलीला का प्राण है। गोपियो के साथ कृष्ण का विभिन्न रूपो में प्रकट होना तथा उनकी सेवायें एव समर्पण स्वीकार करना यही इन रास लीलाओ का मतव्य है। 'लघुरास' मे गोपिया कृष्ण के साथ रास रचाती है और कृष्ण से अपना प्रेम निवेदन करती है। कृष्ण को विविध रूपो में हर गोपी प्राप्त कर लेती है। उसी मे उसकी सम्पूर्ण तुष्टि है। इन रासो के अतिरिक्त मणिपुर में गौर लीला भी होती है जिनमें गौराग महाप्रभु की जीवन लीला का प्रदर्शन किया जाता है। मणिपुर की रासलीलाओ में इसका भी महत्त्व है।

कार्तिक मास मे गोपाष्टमी के उत्सव में गोष्ठलीला बडी धूम से मनाई जाती है। गोष्ठ लीला में कृष्ण और गोपो का नृत्य दिखाया जाता है। कालिय-दमन की लीला भी प्राय इसमें देखने को मिलती है। कृष्ण किस प्रकार गोचारण लीला करते थे इसका प्रदर्शन इन लीलाओ में भलीभाति किया जाता है। कृष्ण के इन सभी नृत्यो मे मानवता के लिये एक अत्यन्त उदात्त भावना का सकेत प्राप्त होता है। यही इन सभी नृत्यो एव लीलाओ की लोकप्रियता का रहस्य है।

दुर्गा पूजा अथवा दशहरा के दिनो में मणिपुर में अस्त्र विद्या का भी प्रदर्शन होता है। इन नृत्यो में नटो की जैसी कलाबाजी और शारीरिक चमत्कारो का विशेष महत्त्व रहता है।

'रावण का मरण' आदि विषयवस्तु उसी प्रकार दिखाई जाती है जैसी उत्तरी भारत में रासलीलाओं में किया जाता है।

हम कह चुके है कि मणिपुर की धरती ही नृत्य की धरती है। जितने भी प्रकार के नृत्यों का उल्लेख किया गया है, वे सब वहां के अत्यन्त प्रसिद्ध नृत्य है। इनके अतिरिक्त मणिपुर के लोक नृत्य भी अनेक है और वे भी दर्शकों को आकर्षित करने में पूर्णतया समर्थ सिद्ध होते हैं। 'तबला द्योंगवी' आदि ऐसे ही नृत्य हैं। मणिपुरी नृत्य वृत्ताकार नृत्य शैली पर आधारित है। मणिपुर का नृत्य संसार की प्रजनन क्रियाओं तथा निर्माण के तत्त्वों को सम्पूर्णता देने की चेष्टा करता है। मणिपुरी नृत्य में हाथ का परिचालन एक दूसरे के विपरीत होता है। चक्रदार आंदोलन गति होती है और पद संचालन तांडव के अधिक निकट होता है। वैसे मणिपुरी नृत्य में पद संचालन का विशेष महत्त्व नही होता। शेष शरीर का आंदोलन और उसकी विशिष्ट भावमुद्रा ही उस नृत्य का स्वरूप उपस्थित करती है। मणिपुरी नृत्यों की भावमुद्रायें प्रायः किसी विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त नही होतीं। वे अलंकार की भाति नृत्य मे शोभा के लिए प्रवेश होती है। वे नृत्य में सौंदर्य मात्र उपस्थित करती है। इसी हेतु उन मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। मणिपुर के निवासी अपनी समस्त कला को नृत्य के माध्यम से अपने इष्टदेव को समर्पित करना चाहते हैं। यही उनके नृत्य का अभीष्ट है।

मणिपुरी नृत्य की लोकप्रियता वढाने में रवीन्द्रनाथ टैगोर को बहुत बड़ा श्रेय है। उन्होंने इस शैली को शांतिनिकेतन में नृत्य शिक्षा का माध्यम बनाया। उनकी कला को इस माध्यम से बड़ी शक्ति मिली। पर टैगोर ने मणिपुरी नृत्य के उस रूप को बहुत कुछ अपने अनुरूप ढालने की चेष्टा की। उनकी इस चेष्टा मे मणिपुरी नृत्य का असली रूप अवश्य ही कुछ खो गया। किन्तु देश के अधिकांश कला प्रेमी लोग जो नृत्य की एकरसता से ऊब गये थे, उनके लिये इस नूतन मणिपुरी नृत्य ने एक नया रस उत्पन्न किया। रवि बाबू के इस प्रयास को नृत्य संसार में विविध दृष्टिकोणों से देखा गया है। कुछ ने उनकी बहुत प्रशंसा की है और कुछ का विचार है कि उन्होंने इस नृत्य की शुद्धता नष्ट कर दी। पर कुछ भी हो, रवि बाबू ने इस नृत्य को परिष्कृत कर के ही सही, यदि नृत्य जगत को पहिचनवाने की चेष्टा की तो उनके प्रयास की सराहना ही करनी वांछनीय है। रवि बाबू ने उस नृत्य के परिचालनों को अधिक तोड़ा मरोड़ा नही—हां, उस माध्यम को बंगला वातावरण के अधिक अनुकूल बनाने के लिए यत्न अवश्य किया। आधुनिकतम युग में उस कला की सार्थकता को नया अर्थ देने का रवि बाबू का अकेला प्रयास था।

मणिपुरी नृत्य नया हो कर भी पुराने की परम्परा से जुड़ा हुआ है। वह धरती का नया नृत्य है और उसके संस्कार अब भी हमें उन्हीं महान् तत्त्वों का आभास देते हैं जिनको ग्राह्य बनाने के लिये इन नृत्यों का निर्माण हुआ था। जीवन को रससिक्त करके मानवीय संवेदनाओं को और भी उदात्त बनाने में मणिपुरी नृत्य आज भी पूर्णतया सक्षम है—यही इस नृत्य की सार्थकता है।

श्री प्रजेश वन्द्योपाध्याय

नृत्यलिपि की आवश्यकता

प्राय यह सुना जाता है कि सगीत कान के द्वारा और नृत्य आख की सहायता मे सीखा जाता है। हमारा आलोच्य विषय सगीत सुनने का और नृत्य देखने का नही है वरन् सगीत और नृत्य सीखने का है। यह निस्सन्देह है कि सगीत सुनने के लिए कान और नृत्य देखने के लिए चक्षु की सहायता होती है। और यह भी असदिग्ध है कि सगीत सीखने के लिए कान और नृत्य सीखने के लिए चक्षु का प्रयोजन मुख्यत है। किन्तु यह बात विचारणीय है कि क्या केवल कान ही का प्रयोजन सगीत सीखते समय होता है और केवल आखो की ही आवश्यकता नृत्य सीखते समय होती है।

विद्वानो का कहना है कि शिक्षा देने की प्रणाली प्रधानत दो होनी चाहिए—शीघ्रता तथा सरलता। इन दोनो को वश में लाने के लिए एक से सम्भवत अधिक इन्द्रियो का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरण के लिए सगीत को पहिले ले लिया जाय। शिक्षक गा कर छात्र को सगीत सिखा रहा है। छात्र सुन कर सगीत सीख रहा है। यहा केवल एक इन्द्रिय—कान—का प्रयोग हुआ। यदि किसी राग सिखाते समय शिक्षक उस राग का एक चित्र सामने रख कर उस राग का रूप चित्र में दिखला कर और उसे गा कर सिखावें तो दो इन्द्रियो का प्रयोग हुआ—कर्ण तथा चक्षु। इसी प्रकार दो से भी अधिक इन्द्रियो का भी प्रयोग सगीत सिखाने में हो सकता है। तबला वादन ले लिया जाय। तबला शिक्षक को देख कर अर्थात् उसकी वादन प्रणाली को देख कर और उस शब्द को सुन कर विद्यार्थी सीखता है। इसमे चक्षु और कर्ण दोनो इन्द्रियो का प्रयोग होता है। इसके उपरान्त यदि शिक्षक विद्यार्थी के शरीर पर आघात करके उसे किस बोल पर कितना तबले को किस प्रकार दबाना पडेगा यह बतलावे तो उसका फल और लाभदायक होगा। तब तीन इन्द्रियो की आवश्यकता हुई—कर्ण, चक्षु तथा स्पर्श। परन्तु मुख्य उद्देश्य शीघ्र और सरल प्रकार से सीखाना है और इसी उद्देश्य को पाने के लिए अधिक इन्द्रियो का प्रयोग करने की चेष्टा करनी चाहिए।

सगीत के विद्वान् और पारगतो ने बाद मे यह भी देखा कि केवल सगीत सिखाने के लिये कान को छोड कर आख के लिए चित्र को भी छोड कर स्वर-लिपि की भी आवश्यकता है। स्वर-लिपि की आवश्यकता केवल सिखाने के लिए ही नही परन्तु सगीत की मौलिकता और सगीत को स्थायी रूप से आदर के साथ रखने के लिए है। जब विद्वानो ने सगीत को वश परम्परा से यत्न से

रखने की आवश्यकता देखी तब संगीत की स्वर-लिपि बनाने की उन लोगों ने चेष्टा की और विष्णु दिगम्बर तथा भातखण्डे आदि संगीतज्ञों ने संगीत की स्वर-लिपि बनाई।

भारतवर्ष में दो मुख्य स्वरलिपि प्रचलित हैं—विष्णु दिगम्बर की तथा भातखण्डे जी की बनाई हुई स्वर-लिपि। इन स्वर-लिपियों को छोड़ कर प्रत्येक प्रदेश में और प्रत्येक अगणित भाषाओं में स्वर-लिपियां है। बंगाल में तो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी स्वर-लिपि की विभिन्न प्रणालियां हैं।

पाश्चात्य देश में संगीत सुना नही जाता है, संगीत पढ़ा जाता है। पाश्चात्य देश के गायक या वादक बिना संगीत को पढ़े गा या बजा नही सकते हैं। उनके लिये (Notation) काग़ज पर लिखा रहना चाहिये, तब वे गा या बजा सकेंगे। वे संगीत देखते हैं सुनते नही। यही कारण है जिस लिये हमारे देश के संगीत को उस प्रकार अभी तक विदेश से आदर नही मिला जिस प्रकार साहित्य, नृत्य, भास्कर्य और स्थापत्य को मिला है। यदि आज हमारे देश के संगीत को स्वर-लिपि में लिखा जाय जिसे कि विदेश के लोग समझेंगे तो हमारे संगीत का आसन भी संसार में सब से ऊँचा रहेगा।

इसके लिये हम निस्संदेह कह सकते हैं कि हमारे देश के कट्टर संगीत विशारदों का सम्पूर्ण दोष है। प्रथम तो भारतवर्ष में ही एक (Standard notation) अथवा स्वर-लिपि नहीं है, जिसे कि सब लोग मान लें। प्रत्येक प्रान्त में भिन्न भिन्न स्वर-लिपि प्रचलित है। यही नहीं प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना अलग स्वर-लिपि व्यवहार करते है। इसके उपरान्त सारे संसार की एक स्वर-लिपि नहीं है। विदेशी (Staff notation) को सारे संसार ने मान लिया है, इतना कि एशिया के कुछ देश जापान, चीन, जावा तक भी (Staff notation) पर अपने संगीत लिखते है। किन्तु भारत ही एक ऐसा कट्टर देश है जिसने कि (Staff notation) को नही माना है। हमारे देश के संगीत पारंगतों का यह कहना है कि हमारे संगीत को (Staff notatior) में लिखना असम्भव है, क्योंकि मीड़, मूर्छना, गमक, झाला इत्यादि (Staff notation) में लिखा नहीं जा सकता है। हम मानते हैं कि कुछ सुन्दर तथा सूक्ष्म संगीत विषयक वस्तु (Staff notation) में नही लिखी जा सकती है। किन्तु इसलिए (Staff notation) की सहायता न लेना उचित नही है। साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि हमारी प्रचलित स्वर-लिपि में भी कहां तक वे बारीकियां लिखी जा सकती है। हमारी स्वर लिपि भी सम्पूर्ण तथा निर्दोष नहीं है। जब (Staff notation) को सारे संसार ने (Stavdaxd) मान लिया है तब हमारे देश के संगीतज्ञों को भी चाहिये कि उसे अपना लें। यदि (Staff notation) पर गवेषणा किया जाय और अपने प्रयोजनों के लिये उसे व्यवहार किया जाय तो जिन संगीत विषयक वस्तुओं को आज उसमें लिखने में संगीत के विद्वान् असमर्थ होते है कल वह नहीं रहेगा। वे अपने से आज के (Staff notation) को सुधार देंगे और संसार के कलाविदों के सामने सुधारी हुई (Staff notation) को रखेंगे। तब एक नया (Staff notation) संसार को मान लेना पड़ेगा और उस नया (Staff notation) के द्वारा हमारे देश की संगीत-संस्कृति का आदर होगा।

होगा। नृत्य की प्राचीनता के सबध में इस प्रकार कथन है कि देवताओं में सब से पहले पुरुष नर्तक सृष्टि के स्वामी शिव जी पहले नर्तक थे। देवताओ और देवियो के समूह से वह शिव अपने अनन्त और अपरिसीम रूप का नृत्य करता हुआ गति के अनन्त आह्लाद मे सृष्टि रक्षा और नाश सबधी विराट सृष्टि की क्रियाओ की अभिव्यक्ति करता था।

स्त्रियो में पार्वती जी ने तो स्वय लास्य नृत्य की उत्पत्ति की थी। इनके अतिरिक्त लक्ष्मी जी जो हमें धन देती हैं और उस विष्णु की जो कि प्रकृति के रूपो का रक्षक है उसकी अर्द्धांगिनी है ये स्वर्ग की सब से प्रधान नर्तकी थी। रत्नो मे सुशोभित घटियो की पाजेब पहने हुए वे ऐसी दैवी श्री के साथ नाची कि इन्द्र की सभा को उसने पूर्ण पराभूत कर दिया। और स्वर्ग की अप्सराओ में सर्वशिरोमणि हो कर अप्सराओ को उसने अपनी कला सिखलाई। उसी ने यह दिव्य विज्ञान



लोकनृत्य

मनुष्यो को दिया। वेद, पुराण, उपनिषदो में भी नृत्य का उल्लेख किया गया है। जैमनीय उपनिषद् ब्राह्मण में नृत्य गीत का उल्लेख है। कौशीतकि ब्राह्मण में नृत्य गीत और वादित्र का सामूहिक नाम "शिल्प" दिया गया है। गयालम्भन यज्ञ के छठे दिन महाव्रत नाम का एक समारोह होता था उसमें यजमान की पत्निया वीणा बजा कर नाचती गाती थी। ऋग्वेद में नर्तक का उल्लेख है। नर्तकी का नाम नृतु था, एक स्थान में उसकी तुलना उषस्त से भी की गयी है। नृत्य का विशेष नामो का उल्लेख तथा विशद वर्णन विष्णु पुराण, भागवत पुराण, हरिवश तथा हर्ष चरित में भी किया गया है। हरिवश में नृत्य का नाम "क्रीडा" दिया गया है। हरिवश का कहना है कि गोवर्द्धन धारण की घटना के अनन्तर इन्द्र ने कृष्ण भगवान को समग्र पृथ्वी का इन्द्र बना दिया तभी से विष्णु भगवान का नाम उपेन्द्र पडा। उसी दिन रात को उन्होने चादनी से धुली श्यामल वनाली में गोपियो के साथ नृत्य क्रीडा की थी। इसमें सहगान और सामूहिक नृत्य की भरमार होती थी। गोपिया कृष्ण लीला सबधी गीत गाती थी और एक ही पुरुष बहुत सी स्त्रियो के साथ नाचता था। ऐसी नृत्य विधि का नाम हल्लीसक है।

हल्लीस—भारत के बालचरित नाटक में हल्लीसक नृत्य पद्धति का प्रयोगात्मक रूप देखने में आता है। उसमें ग्वाले और ग्वालिनें जोड़ बना कर नाचती हैं।

रास—विष्णु पुराण और भागवत पुराण में इस क्रीड़ा का विशद वर्णन हुआ है इन विवरणों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि दो दो गोपांगनाओं के बीच में एक एक कृष्ण भगवान विराजते थे। योग बल के द्वारा भगवान ने एक होते भी अपने शरीर को अनेक मूर्तियों



रासनृत्य

में विभक्त किया था। ये सब नकली मूर्तियां मूल कृष्ण भगवान की प्रभा थी तथा अधिकारिणी गोपियां राधिका का कार्य व्यूह थीं। कुल जोड़ गोलाकर में खड़े थे और बीच में प्रधान गोपी (राधा) के साथ कृष्ण भगवान विराजते थे। सहगान गाते हुए वे गोलाकार घूमते हुए नाचते थे।

हर्ष चरित में भी रास नृत्य का उल्लेख हुआ है, वहां उसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि राग रंग से भरा हुआ नृत्य जो चक्राकार में घूम घूम कर नाचा जाय उसी का नाम रास नृत्य है। रास क्रीड़ा की प्रचलित पद्धति इस प्रकार है कि नदी किनारे किसी पेड़ की छाया में छोटे छोटे बालक और बालिकाएं जोड़ बांध कर खड़े हो जाते हैं फिर ताली पीटते अथवा लकड़ी की दो दो छोटी छोटी टुकड़ियां बजाते हुए वे घूम घूम कर नाचते और गाते रहते हैं। हल्लीसक और रास नृत्य विधियों का अन्तर बहुत सूक्ष्म था। हल्लीसक में स्त्रियों की अधिकता होती थी तथा पुरुष कम होते थे एवं रास नृत्य में स्त्रियों और पुरुषों की संख्या बराबर होती थी।

छालिक्य—इस नृत्य का उल्लेख पहले पहल हरिवंश में हुआ है। रास जैसा यह क्रीड़ा भी माना गया है। इसमें स्त्री पुरुष दोनों भाग लेते थे। हरिवंश में जो विवरण दिया गया है उससे पता चलता है कि छालिक्य भी रास की भांति एक प्रकार की नृत्य विधि थी। जिसमें कूद फांद की अधिकता विशेष थी। नाचते समय मिले जुले गीत गाये जाते थे और नाना प्रकार के बाजे

वजाये जाते थे। नाचते समय विशेष प्रकार के कुछ गीत गाये जाते थे इनके नाम छालिक्य गेयम् वा छालिक्य गाधर्वम् पडे है। मालविकाग्निमित्र नाटक में छालिक्य नाम के एक प्रकार के नाटय का उल्लेख है। आचार्य गणदास मालविका को यह नाटय विधि सिखा रहे थे अभिनय के विवरण से यह पता चलता है कि मालविका अकेले एक गीत गा लेने के अनन्तर नाचते हुए उस गान का रसाभिनय करती है। कथासरित्सागर में भी छालिक्य का उल्लेख हुआ है इन सभी से नृत्य की प्राचीनता में कोई सदेह नही।

शास्त्रीय नृत्य

शास्त्रीय नृत्य दो प्रकार के होते है—एक ताडव और दूसरा लास्य। प्राय लोग ताडव को पुरुष नृत्य कहते है और लास्य को स्त्री नृत्य मानते है। ठेठ शास्त्रीय नृत्य ताडव ही है।

ताडव—इसकी उत्पत्ति के बारे में लिंग पुराण का कहना है कि स्त्रीवध्य दारकासुर को मारने के लिए शकर भगवान ने काली देवी की सृष्टि की। यह काम तो आसानी से हो गया फिर देवी जी को मनाने के लिए भगवान बच्चे का रूप धारण कर उस महाश्मशान में फूट फूट कर रोने लगे। उस त्यागे हुए बालक को देख कर देवी का हृदय पसीज गया। देवी ने उसे गोद में उठा लिया और दूध पिलाने लगी। भगवान ने इसी समय दूध पीने के बहाने देवी के कोप को चूस लिया। आगे यही बालक क्षेत्रपाल नाम का भैरव बना। अत में देवी जी को मनाने के लिए भगवान ने ताडव नाम की नृत्य शैली की रचना की थी। ताडव नृत्य मे देव देव के साथ भूत प्रेत पार्वती जी और योगिनिया सभी ने भाग लिए था। ताडव के दो भेद है पेलवि और बहुरूपक। इन नृत्यो में विशेषता यह होती है कि जिस प्रकार गायक स्वरो के भिन्न प्रयोग दिखाता है उसी प्रकार नर्तक अगहारो के प्रयोग इसमें दिखाता है। स्वरो की भावना नर्तक के अगहारो में स्पष्ट दिखायी पडना अति आवश्यक होता है। आजकल के प्रख्यात कलाकार श्री उदयशकर ताडव नृत्य के विशेषज्ञ है।

लास्य—स्त्री नृत्य जो कोमल भावो का होता है लास्य कहलाता है। इनके दो भेद होते है छूरित और यौवत। नाना भावो का प्रदर्शन करते हुए नायक नायिका परस्पर आलिंगन चुबन करते हुए जो नृत्य करते है वह छूरित है और जब नायिका अकेले ही नाचती है तो उसे यौवत कहते है। भारतीय नृत्य कला के इस युग में मुख्य रूप से चार प्रकार के नृत्य शास्त्रीय नृत्यों की कोटि में प्रचलित है—

उत्तर प्रदेश में कत्थक शैली पूर्व में मणिपुरी शैली और दक्षिण मे भरत नाटयम् और कथकलि शैलिया शास्त्रीय नृत्यो की कोटि में मानी जाती है।

कत्थक शैली—यह शैली उत्तर प्रदेश में प्रचलित है। लखनऊ, जयपुर, बनारस, कानपुर और रामपुर इस शैली के मुख्य केन्द्र है। यह शैली वर्षो से इस रूप में पायी जाती है इसमें पैरो को पास पास रख कर ताल के विविध रूपो का घुघरू द्वारा प्रदर्शन एक मुख्य विशेषता है। शरीर के सचालन में इस शैली में विविधता नही है। थोडे से स्थूल सचालन से काम चल

जाता है। मुद्राओं में केवल दो ही एक प्रयोग किए जाते हैं। रसों में केश श्रृंगार का बाहुल्य होता है।



उत्तर भारत की एक नृत्य मुद्रा

मणिपुरी शैली—यह शैली बंगाल और आसाम में प्रचलित है इस शैली की विशेषता है कोमल अंग संचालन। पाठ विशेष में शास्त्रीय तालों का प्रयोग होता है अंग और मुद्रा के प्रयोग भी अधिक संख्या में पाये जाते हैं। श्रृंगार, वीर और करुण रस का प्रयोग इन नृत्यों में प्रचलित है। मणिपुर में नृत्य की परंपरा अत्यंत प्राचीनकाल से चली आ रही है। यहां की पौराणिक गाथाओं से ज्ञात होता है कि यहां के निवासी स्वभावतया नृत्य प्रिय ही नही परन्तु वे इस कला को पवित्र एवं ईश्वरीय समझते हैं ये प्रत्येक उत्सवों पर नृत्य को प्रधानता देते हैं। इनका प्रत्येक नृत्य किसी न किसी पौराणिक घटना विशेष से संबंध रखता है। मणिपुर निवासियों के अधिक लोकप्रिय नृत्यों के नाम हैं—लायी हरोथा, रास लीला, खबक (ताली), ईशरी चोलंम (गायन नृत्य), पुंग

चोलम् (मृदग नृत्य), ओगरी-हगेल (होली के समय लडके-लडकियो का समूह नृत्य), थुकरेक्केक या थावल सागवी (चादनी नृत्य) इत्यादि। इनमें से दो लोकनृत्य इनके सब से अधिक प्रिय होते हैं। प्रथम रास लीला, २ लाई हरोवा। लाई इनके गृह देवता हैं। मणिपुर के लोग जात की सृष्टि की जिस कथा मे विश्वास करते हैं उसी को वे रास लीला तथा लाई हरोबा नृत्यो की मुद्राओ, अग सचालन और मुख के भावो से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। नर्तको की वेश भूषा तथा साज-सज्जा प्रत्येक नृत्यो के भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

भरत नाटचम्—यह शैली दक्षिण में प्रचलित है। तजोर इस शैली का मुख्य केन्द्र रहा है। प्राय मदिरो में देवदासियो द्वारा इस नृत्य की परपरा सुरक्षित रही है यह दासी अट्टम नाम मे स्पष्ट है। इस शैली में अग मुद्राचारी और अभिनय की प्रचुर मात्रा मौजूद है। ताल और लय का काय भी ऊचे स्तर का होता है। इस शैली का विकास दो हजार वर्ष पूर्व हुआ था। इस नृत्य से सुदूर अतीत सजीव हो उठता है, और वे उनकी मनमोहक गति को देखते थे। नतक द्वारा दृश्य के मर्म को प्रकट करने वाले सगीत और गान सुनते थे और उनकी आखो के सामने जीवन का चित्र झूमने लगता था।

कथकली शैली—यह भी शैली दक्षिण की मलावार, कोचीन और त्रावणकोर के आस पास पायी जाती है। इस शैली में अभिनय की प्रधानता है। इसलिए कथकलीका प्रयोग महाभारत और रामायण का अभिनय करने के लिए होता है। मुद्राओ की सख्या इस शैली में सब से अधिक साथ ही आख, भौह आदि उपागो का प्रयोग अत्यत अधिक है। इस शैली में ताल लय का काम बहुत निकृष्ट श्रेणी का है। कथकली नृत्यो का अभ्यास तीन सौ वर्षों से नर्तको के खानदान में किया जा रहा है उनकी कला मूक अभिनय की है। भावो की ज्वलन्त प्रतिमा जिसको अभिनेता अपने हाव भाव, भगिमा और कभी कभी केवल हास्योदीपक, अनुकरण द्वारा मूर्त करता है सचमुच अविस्मरणीय थी। अभिव्यजना और मुद्रा में परिवर्तन होते ही दर्शको के सामने प्रेम, शौर्य और करुणा की सजीव प्रतिमा खडी हो जाती थी।

इन शैलियो के अतिरिक्त सभी देश के आदिवासियो की सस्कृति में लोकनृत्य कला को विशिष्ट स्थान प्राप्त है वे अपने घर गृहस्थो के विशेष उत्सवो पर अनेक प्रकार के लोकनृत्य अभिनय से अपनें शरीर को संचालित करते हुए अपना मनोभाव प्रकट करते हैं। व्रज में लोक नृत्य की प्रथा अधिक है। व्रजवासी भिन्न भिन्न प्रकार के लोकनृत्य करते है जो इतनें सजीव और प्रभावशाली होतें हैं कि जिन्हे देख कर हृदय उमड आता है और आखें भर आती हे। इनके खास-खास लोकनृत्यों में विलाप नृत्य, फाग नृत्य, फूल० डोल, नृत्य, चुट्टा नृत्य, वनैती नृत्य, चर कला नृत्य, पठान नृत्य, पनघट या गागरी नृत्य, नरसिंह नृत्य, कीर्तन नृत्य, जात नृत्य दर्शनीय हैं।

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

भोजपुरी लोकगीतों में कला

लोक-कला उतनी ही प्राचीन है जितनी पुरानी है मानव-सभ्यता। अत्यन्त पुरातन काल से ही मानव अपने हृदय की भावनाओं को रंग और रेखा का आकार देकर उसे साकार करने का प्रयत्न करता रहा है। मोहेन्जोदड़ो के भग्नावशेषों को देख कर इस देश के आदिम निवासियों की गृह निर्माण तथा नगर-निर्माण कला का परिचय प्राप्त होता है। अजन्ता तथा एलोरा के भित्ति-चित्र उन कुशल चित्रकारों की कला का दिग्दर्शन कराते हैं जिन्होंने अपनी तूलिका के द्वारा निष्प्राण चित्रों में जान सी डाल दी है। चतुर तक्षणकारों ने अपनी छेनी के द्वारा बुद्ध तथा महावीर की पाषाणमयी मूर्तियों को जीवन प्रदान किया है।

भारतवासियों का जीवन सदा से कलामय रहा है और आज भी है। हमारी प्राचीन ललित कलाएँ तो गौरवशालिनी रही ही है, परन्तु आज जन-जीवन में उपलब्ध लोक-कलाओं का भी कुछ कम महत्व नहीं है। ग्रामीणजन जो भी कार्य करता है उसे वह कलात्मक रीति से सम्पादित करता है। घर बनाने से लेकर बालकों द्वारा घरौंदा बनाने तक में एक विशेष प्रकार की कला दिखाई पड़ती है। इस कला का उल्लेख लोक-गीतों में पाया जाता है। प्रस्तुत लेख में निम्नांकित शीर्षकों में लोक-कला का संक्षिप्त परिचय यहां प्रदान किया जायेगा।

(१) वास्तु कला
(२) मूर्ति-कला
(३) चित्र-कला
(४) अल्पना
(५) थापे
(६) गोदना
(७) मेंहदी
(८) महावर
(९) मिष्ठान्न
(१०) विविध (चारपाई बुनना)

१. वास्तुकला

मन्दिर—लोक-गीतों में मन्दिर या मन्दिल बनवाने का अनेक स्थानों में वर्णन पाया

जाता है। भोजपुरी में मन्दिर का अर्थ घर तथा देव-स्थान दोनो होता है। एक गीत मे शिव के मन्दिर के सम्बन्ध मे लोक-कवि कहता है वह बहुत सुन्दर रीति से सजाया गया है। शिव का मन्दिर पत्थर से बना हुआ है तथा उसकी छाजन बेंत से की गयी है। उस मन्दिर में 'अगर' की लकडी का चौखट लगा हुआ है तथा उसमे चन्दन के किवाड सुशोभित हैं।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन-काल में समृद्ध मन्दिरो में चन्दन के किवाड—उनकी सुन्दरता को बढाने के लिए—लगाने की प्रथा थी। इतिहास के विद्वानो को यह बात अविदित नही है कि सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर में चन्दन के किवाड लगे हुए थे जिन्हे लूट कर महमूद गजनी अपने साथ ले गया था।

बँगला—गाँवो में बगला उस एक मजिले मकान को कहते हैं जो चार त्रिभुजाकार छप्परो को जोड कर बनाया जाता है। यह आकार में प्राय वर्गाकार होता है। इन बगलो को बडे कलात्मक ढग से बनाया जाता है। इसके लिए लम्बे-लम्बे बाँसो को काट कर उनको अनेक भागो में चीरा जाता है। फिर बेंत के चिकने तथा पतले भागो से उन्हे बाधा जाता है जिससे उनका बधन टूटने न पाये। फिर पान के कोमल तथा हरे पत्तो से उस छप्पर को छवाया जाता है। उस बँगले में स्थान-स्थान पर खिडकियाँ भी बनायी जाती हैं।[2] एक दूसरे गीत में सीक को चीर कर बगला छवाने का उल्लेख पाया जाता है।[3] आजकल प्राय बँगला सरपत (काँस) या फूस से बनाया जाता है परन्तु धनी लोग सीक से ही अपने बगले को छवाते है जिससे वर्षा का जल छप्पर को छेद कर घर के भीतर न गिर सके।

कोठा अटारी—लोक-गीतो में 'कोठा' उठाने या बनवाने का वर्णन प्राय अनेक बार हुआ है। 'कोठा' उस दुमजिले मकान को कहते है जो प्राय ईंटो का बना हुआ होता है। परन्तु

---

१ पथल के सिव के मदिलवा,
त बेतवें से छाजन हो।
चनन के लागल बा केवाड
त अगर के चउकठ हो।

२ नदिया का तीरे मोहन बछरू चरवले।
कटावे लगले हे मोहन लामी लामी बँसवा॥
चिरावे लगले हे मोहन लामी लामी फरठवा।
बन्धावे लगले हे मोहन बेंत के बहनवा॥
छवावे लगले हे मोहन पान के छजनिया।
कटावे लगले हे मोहन रचि के खिरिकिया॥
जनपद खण्ड १ अक २ पृ० ३०

३ भइया बखानिले कवन भइया ना।
भइया सींकिए कतर बगला छावेले ना॥
वही पृ० ६१

गरीब लोग मिट्टी का ही 'कोठा' बनाते हैं। इन मकानों में 'झझरीदार' किवाड़ों के लगने का वर्णन मिलता है जिससे हवा सदा आती रहती है।[1] दो तल्ले मकानों के लिए 'अटारी' शब्द का उल्लेख कहीं कही हुआ है। यह संस्कृत के 'अट्टालिका' शब्द का अपभ्रंश रूप है। गीतों से यह ज्ञात होता है कि अटारी शयन-कक्ष के रूप में व्यवहृत होती थी जिसमें माणिक्य के दीप जला करते थे।[2]

लोक गीतों मे ग्रामीण घरों के आगे तथा पीछे (पिछुवाड़े) विभिन्न प्रकार के वृक्षों के लगाने की चर्चा पायी जाती है। इन वृक्षों में अशोक, चन्दन, आम, नारंगी, नीबू, जमीरी, शिरीष, महुआ और लवंग अधिक प्रसिद्ध हैं। लोक कवि लवंग का बगीचा गृह के पृष्ठ भाग मे लगाता है जिसकी सुन्दर सुगन्ध से वहाँ के लोग सदा आनन्द का अनुभव करते हैं। परन्तु प्रियतम के वियोग में नायिका को नीद नहीं आती।[3]

२. चित्रकला

भोजपुरी लोक-गीतों में चित्र कर्म की चर्चा प्रचुर परिमाण में पायी जाती है। चतुर चित्रकारों के द्वारा की गयी चित्रकला प्रधानतया दो रूपों में उपलब्ध होती है।

(१) भित्ति-चित्र (Frcscai paintning)
(२) पट-चित्र (Canvas paintning)

इनमें से लोक-गीतों में प्रथम प्रकार की चित्रकला का ही अधिक वर्णन मिलता है। चित्रांकन के लिए 'उरेहना' शब्द का प्रयोग भोजपुरी में किया जाता है। ये चित्र घर की बाहरी या भीतरी दीवालों पर बनाये जाते है। विवाह के गीतों में कोहवर—वह घर जहाँ विवाह के पश्चात् वर-वधू प्रथम बार मिलते हैं—मे चित्रकर्म की चर्चा पायी जाती है। एक गीत में कौतुक गृह (कोहवर) की भित्ति पर चार चिड़ियों तथा एक जोड़े हँस को चित्रित करने का प्रसंग मिलता है।[4] एक दूसरे गीत में कोहबर में चन्द्रमा और सूर्य को चित्रित करने का उल्लेख है।[5] इस गृह मे

---

१. कोठा से ऊँचनि कोठरिया हो बाबा,
झझरिन लागेल केवार हो।
तेही पइठि सोवेले बेटीके बाबा,
झुर झुर बहेला बेयारि हो॥

२. केकर ऊँची अटरिया त मानिक दीप जरे हो।

३. मोरा पिछुअरवा लवंगिया गाॅछी, अवरू महुलवा गाॅछी हो।
आरे ललना गमकि आवेला सारी रात निदरियो नाहीं आवेला हो।

४. पानन मोरे बाबा मँड़वा छवावेले, फुलवा के बान्ह बन्हाई।
ताही भीतर बाबा पुतरी डरेहेले, चारि चिरइया जोड़ी हंस।

५. कोहबर लिखिवि चान रे सुरुजवा, मंडवा लिखवि गोपीचंदरे।

समधी के द्वारा बनाये गये सुन्दर भित्ति चित्रो को देख कर समस्त ससार मोहित हो जाता है।[1] ये चित्र सभवत वर-वधू के मनोरजन के लिए बनाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त कोहवर मे कमल-पुष्प, कमल-पत्र, पालकी, घोडा, गोपीचन्द्र तारिकाए तथा पान का पत्ता भी चित्रित किये जाते हैं। लोक मानस हाथी, घोडा और पालकी को वैभव का, गोपीचन्द्र और पुतरी को वर-वधू का, सूर्य और चन्द्रमा को दीर्घ-जीवन का, हस और मोर को मगल का तथा पान और कमल को कला का प्रतीक समझता है। कोहवर में इन वस्तुओ को चित्रित करने का यही रहस्य है।

चित्रकला के उपादान—कोहवर के भित्ति चित्रो के आलेखन में मुख्यत चूना, सिदूर, हल्दी, कज्जल, गेरु (गैरिक) और चौरठ (चावल का आटा) प्रयुक्त किया जाता है। सवप्रथम दीवाल पर चूने से सफेदी कर दी जाती है। परन्तु जहाँ चूना उपलब्ध नहीं होता वह पीली मिट्टी से दीवाल को लीप दिया जाता है। पश्चात् चौरठ मे पानी और पीसी हल्दी डाल कर उसका लेप तैयार किया जाता है। 'कोहनि' (बांस की पतली शाखा) के एक अश को काट कर उसके अगले भाग को कूट (कूच) कर पतला ब्रश बनाया जाता है। इसी वास के बने ब्रश के द्वारा ग्रामीण स्त्रियाँ चौरठ तथा हल्दी के मिश्रित लेप से भित्ति पर चित्रकर्म करती हैं। जहाँ इस बॉस की ब्रश का अभाव होता है वहाँ तजनी अँगुली ही तूलिका का काय सम्पादन करती है। इस लेप के अतिरिक्त चित्रो को बनाने मे काजर, गेरू तथा सिन्दूर का भी यथास्थान प्रयोग किया जाता है।

जिस प्रकार चित्रकार अपनी कलाकृतियो में विभिन्न रगो का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार ग्रामीण चित्रकारो के द्वारा नव प्रकार के रगो के व्यवहार करने की चर्चा एक गीत मे की गयी है। परन्तु ये नवरग कौन-कौन से थे इनका निश्चय करना कठिन है।[2] कोहबर के एक गीत में चावल के आटे से चित्रकर्म का उल्लेख हुआ है।[3] नवग्रह की वेदिका बनाते समय सफेद रग के लिए आटा, काले के लिए लकडी के कोयले का चूर्ण तथा लाल रग के लिए ईंटा का पीसा हुआ चूर्ण प्रयोग में लाया जाता है।

३ मूर्तिकला

ग्रामीण कलाकार मूर्ति कला में भी निपुण दिखाई देता है। वह पाषाण में अपनी छेनी के बल से मानव की सजीव आकृति प्रस्तुत करने म सफल है। वह मिट्टी की सुन्दर गौरी-गणेश की तथा अन्य देवताओ एव जीवो की आकर्षक मूर्तियो को बना सकता है। इसके साथ ही उसकी

---

१ भीतर चित्र उरेहेला समधी ए मोहेला जग ससार।

२ आधा भीति लिखवो में नवरग कोहबर, आधा भीति चुनवे चुनवरल।

३ पीसहुँ पीठरवा हे सीता, लिखी लामी कोहबर।।
लेखक का निजी सग्रह

कला काष्ठ में जान डाल सकती है। ग्रामीण मूर्तियों को हम साधारणतया चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) प्रस्तरमयी मूर्तियाँ, (२) काष्ठमयी मूर्तियाँ, (३) मृण्डमयी मूर्तियाँ, (४) धातुमयी मूर्तियाँ।

गीतों में पत्थर के बने देवस्थान तथा पाषाणमयी मूर्तियों का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु ऐसा वर्णन वहुत ही कम है।[१] इसके अतिरिक्त काठ की बनी मूर्तियों या पुतरियों के निर्माण का वर्णन भी उपलब्ध होता है। एक गीत में इतनी सजीव काठ की मूर्ति बनाने का उल्लेख है जिसे देखने पर ऐसा मालूम हो रहा था कि वह मुसकरा रही हो।[२] काष्ठ की निर्मित यह पुतली (नारी-प्रतिमा) कभी हँसती और कभी मुसकराती सी प्रतीत होती है। जायसी ने पद्मावती के शयनागार के खम्भों पर ऐसी ही उत्कीर्ण प्रतिमाओं का उल्लेख किया है जो सजीव सी प्रतीत होती थी।[३]

मृण्डमयी मूर्तियाँ—जिन्हें अंग्रेजी में टेराकोटाज (Terra-cotas) कहते हैं—के निर्माण की कला अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। मोहेन्जोदड़ों में जो खुदाई हुई है उसमें वहुत सी मिट्टी की मूर्तियाँ निकली हैं। गाँवों में ग्रामीण कुम्भकार के हाथों द्वारा यह कला आज भी सुरक्षित है। दीपावली के अवसर पर गाँव का कुम्हार गणेश, सरस्वती, हनुमान तथा दुर्गा आदि देवी-देवताओं की इतनी सुन्दर तथा नयनाभिराम मूर्तियाँ बनाता है कि उन्हें सदा देखते ही रहने की इच्छा होती है। इन मूर्तियों के विभिन्न अंगों का परिमाण बड़ा ही उचित होता है। इनके निर्माण में जिन विभिन्न रंगों का व्यवहार किया जाता है वे भी कुछ कम आकर्षक नहीं होते। वर्णो का यह समुचित सामंजस्य ग्रामीण कलाकार की कुशलता को द्योतित करता है। इन मूर्तियो के अतिरिक्त कुम्भकार सुराही तथा मिट्टी के अन्य पात्रों पर सुन्दर नक्काशी भी काढ़ते हैं। विवाह के अवसर पर मण्डप में जिस कलश की स्थापना की जाती है वह विभिन्न देवताओं के चित्रों से अंकित रहता है।

धातु—विशेषकर सोने और चांदी—पर देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं। शीतला देवी की पूजा के अवसर पर चांदी के ऊपर वाहन सहित उनकी प्रतिमा उत्कीर्ण की जाती है।[४] जो पुरुष अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु के उपरान्त दूसरा विवाह करते हैं वे अपनी द्वितीय पत्नी के पहनने के लिए चाँदी या सोने का एक ऐसा आभूपण ले जाते हैं जिस पर उनके प्रथम पत्नी की प्रतिकृति अंकित रहती है। इस आभूषण को 'सौत' कहते हैं। इसी प्रकार ताम्बे के ऊपर विशेष

---

१. पथल के सिव को मन्दिलवा त पथल के मूरति हो।

२. मोर पिछुअरवा बढ़इया भाई हितवा, काठे के पुतरिया गढ़ि देव।
गढ़ि गढ़ि बढ़ई पुतरी लेइ अइले पुतरी हँसे मुसकाय॥

३ जायसी ग्रन्थावली, पृ० १२७

४. डा० उपाध्याय भो० लो० गीत भाग १

प्रकार के तन्त्र-मन्त्र उत्कीर्ण किये जाते हैं। लोगो का यह विश्वास है कि ऐसे यन्त्रो को पहिनने से मनुष्य सासारिक विघ्न-बाधाओ से सुरक्षित रहता है।

४ अल्पना

मागलिक अवसरो पर अल्पना बनाने की प्रथा प्रचलित है। विवाह के अवसर पर जब बारात लडकी वाले के घर आती है उस समय गृह के प्रधान द्वार के सामने थोडी सी जमीन को गोबर-मिट्टी से लीप देते हैं। इसी स्थान पर अल्पना बनायी जाती है। यह काम गाँव की नाईन—नाई की स्त्री—करती है। वह गेहूँ के आटे को लेकर चुटकी से जमीन पर गिराती जाती है। इस प्रकार वह एक वर्गाकार रचना करती है। वर्ग के ठीक बीच में गोलाकार आकृति बनी रहती है जहाँ कलश की स्थापना की जाती है। तिलक, विवाह, यज्ञोपवीत तथा अन्य मागलिक अवसरो पर अल्पना की विभिन्न 'डिजाइनें' बनायी जाती हैं जिन्हे भोजपुरी में 'चौक पूरना' कहते हैं।

काठ के छोटे से तख्ते या पीढे पर चावल को विभिन्न रगो में रगकर बडी सुन्दर अल्पना बनायी जाती है। यह कही वर्गाकार होती है और कही गोलाकार। विभिन्न यज्ञो के अवसर पर चावल के द्वारा भिन्न-भिन्न रगो की मिट्टी की वेदी पर अल्पना बनाने की प्रथा आज भी प्रचलित है। इस प्रदेश के पर्वतीय जिलो—अलमोडा तथा नैनीताल—की स्त्रियाँ अल्पना बनाने में अपनी अलौकिक कुशलता का परिचय देती है।

५ थापे

हाथ की अगुलियो का थापा या ठापा मार कर जो चित्र अकित किया जाता है उसे 'थापा' कहते हैं। विवाह के लिए जो मण्डप तैयार किया जाता है, उसके बाँसो को गाडने के पहले, उन पर उस लडकी की पाँचो अगुलियो का 'थापा' लगाया जाता है जिसका विवाह होने वाला है। यह 'थापा' चावल को पानी से पीस कर अथवा आटे को पानी में घोल कर बनाये गये लेप से लगाया जाता है। इसी प्रकार पर्वतीय जिलो—विशेषकर नैनीताल—में दीपावली के अवसर पर स्थानीय स्त्रिया लक्ष्मी के गृह में प्रवेश करने के लिए माग बनाती हैं। यह माग लाल और सफेद रगो को मिला कर 'मुट्ठी' का थापा लगाकर तैयार किया जाता है। यह थापा बडा कलात्मक होता है। भोजपुरी प्रदेश मे कार्तिक मास मे अविवाहिता लडकियाँ दीवाल मे पिडिया लगाते समय उसके आसपास दीवाल पर 'थापा' भी लगाती हैं। मिट्टी के जिन नवीन कलशो मे मिष्ठान्न भर कर लडकी के ससुराल भेजा जाता है उनके ऊपर भी थापे का अकन किया जाता है। सभवत ऐसा करना मगलमय समझा जाता है।

६ गोदना

भोजपुरी प्रदेश में प्रत्येक स्त्री को विवाह के पश्चात् गोदना गोदाना आवश्यक समझा जाता है। स्त्रियों में यह धारणा प्रचलित है कि ऐसा न करने से अगले जन्म में हिन्दू-परिवार में

जन्म नहीं होता। अतः गोदना गोदवाना भी स्त्रियों के लिए धर्म का एक आवश्यक अंग बन गया है। आजकल तो गोदना गोदने के लिए अनेक यन्त्रों का आविष्कार हो गया है जिनके द्वारा गोदवाने पर तनिक भी कष्ट नही होता। परन्तु देहातों में यह कार्य आज भी सूइयों को चुभो कर किया जाता है जो बड़ा ही कष्टदायक होता है। गोदना गोदने वाली स्त्री—जो प्रायः नेटुआ जाति की होती है—धतूरे के दूध में काजल मिला कर काला रंग तैयार करती है और उसमे अपनी सूइयों को डुबो कर कोमल कलेवरा कामिनियों के भुजलता को अपनी तीखी सूइयों से निर्दयता के साथ बेधती जाती है। उन स्त्रियों के दुःख को कम करने के लिए वह गाना भी गाती जाती है।

ये गोदने विभिन्न आकृति के बनाये जाते हैं। कोई वर्गाकार होते है तो कोई आयताकार। कोई गोले होते है तो कोई त्रिभुजाकार। गोदना गोदने वाली चतुर स्त्री इस कार्य में अपनी कला का पूर्ण प्रदर्शन करती है। वह विभिन्न पक्षियों, जीवों तथा फूल-पत्तों की आकृतियों को गोदती है जो बड़े ही सुन्दर होते हैं। एक बिरहा मे इस प्रकार से विभिन्न रंग के गोदना गोदने की प्रार्थना की गयी है जिस प्रकार रंगरेज चूनरी को रंगता है। ऐसा ज्ञात होता है गोदने में मनुष्य की आकृति भी अंकित की जाती थी। पद्माकर की एक सवैया में इसी प्रकार का भाव पाया जाता है :

७. मेंहदी

सावन के मनभावन मास में स्त्रियाँ अपने हाथों में मेंहदी लगाती हैं। वे मेंहदी के पत्तों को सील पर खूब महीन पीसती है। फिर वे उसमें सरसों का थोड़ा तेल डाल देती है जिससे मेंहदी का रंग अधिक स्थायी तथा पक्का हो जाता है। वे सीक से अपने हाथों में मेंहदी लगाती हैं। स्थान की कमी के कारण उन्हे बड़ी बारीकी से काम लेना पड़ता है। स्त्रियाँ मेंहदी को इस प्रकार से अपने हाथों में लगाती है कि त्रिकोणात्मक, चतुष्कोणात्मक और पंचकोणात्मक आकृतियाँ बन जाती है। जो इन आकृतियों को नही बना सकती वे बराबर दूरी पर मेहदी की बिन्दियों को अपने हाथ में लगाती हैं। सूख जाने पर यह मेंहदी बूँटीदार छीट की डिजाइन की तरह सुन्दर लगती है। स्त्रियों के हाथ की मेंहदी जब तक सूख नही जाती तब तक वे कोई भी काम नहीं करती। इसीलिए 'हाथ में मेंहदी लगाना' एक मुहावरे के रूप में प्रचलित हो गया है जिसका अर्थ है काम नही करना।

८. महावर

मांगलिक अवसर पर स्त्रियाँ अपने पैरों में 'महावर' लगाती है जिसे भोजपुरी में 'गोड भरना' कहते है। स्त्रियों द्वारा पैर में महावर लगाने की प्रथा बहुत प्राचीन जान पड़ती है। सस्कृत साहित्य में 'आलक्तक' लगाने का उल्लेख मिलता है। बिहारी ने नाईन के द्वारा नायिका के पैर में महावर लगाने का वर्णन किया है।[१] महावर पैर के ऊपरी भाग के चारों ओर लगाया जाता है। बीच में कभी-कभी स्वस्तिक का चिह्न भी बनाया जाता है। पैर के ऊपरी भाग में महावर से गोली आकृति भी निर्मित की जाती है।

---

१. बिहारी-सतसई

९ मिष्ठान्न

ग्रामीण कलाकार मिष्ठान्न बनाते समय भी अपनी कला का प्रदर्शन करने में नही चूकता। वह अनेक आकृतियो के मिष्ठान्न को तैयार करता ह। ये मिठाइयाँ कोई गोली होती है तो कोई चपटी। कोई आयताकार होती है तो कोई वर्गाकार। मोतीचूर का लड्डू गोला होता है परन्तु वालूशाही की आकृति गोली होती हुई भी वह बीच में चपटी होती है। बरफी प्राय आयताकार होती है परन्तु देहाती खुर्मा वर्गाकार होता है। गुलाबजामुन लम्बी होती है जिसमें मोटाई तो अवश्य पायी जाती है परन्तु चौडाई का स्यान बहुत कम होता है। जलेबी और अमिरिती—दोनो की आकृति गोली एव चपटी होती है फिर भी दोनो की बनावट में अन्तर है। अमिरिती की परिधि पर गोली-गोली आकृति बनी रहती है। उसके मध्य का भाग खाली रहता है परन्तु जलेबी की आकृति इससे भिन्न होती है। जलेबी तथा जलेबा—बहुत बडी तथा मोटी जलेबी—की बनावट में भी अन्तर उपलब्ध होता है यद्यपि ये दोनो एक ही पदार्थ (आटा) से बनाये जाते है। काशी की राष्ट्रीय बरफी मे तिरगे झण्डे के समान तीन रग होते है। इसमे तीन स्तर होते है जो एक-एक रग का प्रतिनिधित्व करते है।

१० विविध

चारपाई के बुनने में भी लोक-कला परिलक्षित होती है। साधारणतया चारपाई मूँज की रस्सी—जिसे बाध कहते है—से बुनी जाती है अथवा सूतली से। कुछ लोग धान के पुआल की रस्सी बनाकर भी चारपाई बुनते है। सूतली की चारपाई बुनने की कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई दिखाई पडती है। इसके बुनने के विभिन्न प्रकार है जिन्हे चर बधिया, छव बधिया, अठ बधिया, बारह बधिया और सोलह बधिया कहा जाता है। चतुर चारपाई बुनने वाले सूतली के द्वारा इस प्रकार की बुनाई करते है जिससे अनेक प्रकार की पत्तिया और फूल अकित या उत्कीर्ण हो जाते है। गरुणवान नामक बुनाई उसे कहते है जिसमे चारपाई के बुनने पर सर्प की आकृति बन जाती है। लोगो का यह विश्वास है कि ऐसी चारपाई पर सर्प नही चढ सकता। कुछ चारपाइयो की बुनावट में सैकडो आयताकार आकृतियाँ निकल आती है। जब से पलग को नेवार से बुना जाने लगा है तब से इस कला का ह्रास होने लगा है।

लोक-कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक है। जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका दर्शन पाया जाता है। इस विषय के ऊपर एक स्वतत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। उपर्युक्त पक्तियो में जो कुछ निवेदन किया गया है वह सकेत मात्र है। आशा है, कोई शोधी विद्वान् इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।[1]

---

१ विशेष के लिए देखिए—

क—डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय—भोजपुरी और उसका साहित्य, पृ० १३८-४३।

ख—गणेश चौबे—जनपद, वर्ष १, अक २-३।

श्रीमती माया गुप्त

बंगाल की लोक-कला

अब बंगाल की लोक-कला के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसके सम्बन्ध में सारे भारत में कुछ न कुछ जानकारी सब पढ़े-लिखे लोगों को हो गई है। इसका कारण है यामिनी राय तथा इस प्रकार के कलाकारों के द्वारा प्रस्तुत किए गए चित्र जो लोक-कला के ढंग पर हैं। इन चित्रों का केवल राष्ट्रीय पैमाने पर ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भी आदर हुआ है।

ऊपर जो बात बंगाल की लोक-कला के विषय में कही गई है, वह किसी प्रकार अहंकार के कारण नहीं कही गई। सच तो यह है कि इस समय भारत के सभी राज्यों की लोक-कलाओं का अपने उत्पत्ति-स्थल के बाहर जोरों से प्रचार हो रहा है। यह एक बहुत अच्छी प्रवृत्ति है और इससे देश की एकता में वृद्धि होगी। सांस्कृतिक लेन-देन पर ही हमारी एकता की जड़ें सब से मजबूत तरीके से बन सकती हैं। यह खुशी की बात है कि कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन के कारण लोक-कलाओं के सम्बन्ध में जिज्ञासा दिनोदिन बढ़ती जारही है। जब तक आदमी केवल एक ही बात जानता है, तब तक वह अपने को ही प्रधान और उच्च समझता है; पर जब वह दूसरों के विषय में जानने लगता है तभी उसे सही मानी में आत्म-ज्ञान होता है। आत्म-ज्ञान में दूसरों का ज्ञान भी शामिल है। यदि दूसरों के सम्बन्ध में ज्ञान न हो और केवल अपने ही सम्बन्ध में ज्ञान हो तो वह आत्म-ज्ञान एक हद तक मूर्खता का रूप धारण कर सकता है। वैसा आत्म-ज्ञान कूप-मण्डूकता की वृत्ति उत्पन्न करता है। यह आनन्द की बात है कि स्वतन्त्रता के बाद से सभी प्रवृत्तियाँ लोक-कलाओं के प्रोत्साहन में सहायक हो रही हैं।

चित्र-विद्या

बंगाल की लोक-कलाओं के अन्तर्गत चित्र-विद्या को 'पट' कहा जाता है। इस ढंग के चित्र केवल बंगाल में ही बनते हैं, बल्कि यह कहना सत्य के और निकट होगा कि इस ढंग की चित्रकला बंगाल से प्रभावित उड़ीसा तथा आसाम में भी पाई जाती है।

कालीघाट के पट बनाने वाले 'पटुवे' या चित्रकार तथा पश्चिम बंगाल के पटुवे रंगों की कारीगरी में बड़े दक्ष हैं। उनके रंग सजीव तथा ताज़े होते हैं। उनकी डिजाइनें भी सरल होती हैं जिनमे देवी-देवताओं तथा चारों तरफ के मामूली जीवन के पशु-पक्षियों का चित्रण होता है। उन चित्रों को देख कर ऐसा मालूम होता है जैसे किसी पिता ने अपनी लाड़ली कन्या का चित्र

सोने-चादी का काम

ढाका तथा कलकत्ता में सोने-चादी की बहुत महीन तथा नाजुक कारीगरी होती है। कई किस्म के जेवर, फूल-पत्ते तथा टिक्के बनाए जाते हैं जो बिलकुल पारदर्शक होते हैं। बगाल के सोने के अलकार चारु कला तथा सूक्ष्मता की दृष्टि से बहुत ऊचे दर्जे के समझे जाते हैं। हल्के पर खूबसूरत गहनो पर खूब पालिश की जाती है। इग्रेविंग का काम भी बहुत सुन्दर होता है।

वस्त्र शिल्प

बगाल की लोक-कला मे वस्त्रो का स्थान बहुत महत्वपूण रहा है। ढाके की मसलिन तथा मलमल एक किम्वदन्ती ही बन गई है। सुन्दरता, सुरुचि, रग के सयत उपयोग तथा चारुता की दृष्टि मे वे प्राचीन काल से ही मशहूर हैं।

रेशमी वस्त्रो में विष्णुपुर के रेशम के महीन तथा मोटे कपडे प्रसिद्ध हैं। महीन वस्त्र का नक्शा तथा काम करघे पर बुनाई के समय ही किया जाता है।

मुर्शिदाबाद के छपे रेशमी कपडे सारे ससार में आदर के साथ पहने जाते हैं। छपाई के काम में भोंडेपन को पास फटकने नही दिया जाता। रग का व्यवहार यथेष्ट होते हुए भी सरल सादापन बना रहता है। कारीगरो में स्वाभाविक कला दृष्टि के कारण ही मुर्शिदाबाद की यह ख्याति कायम रह सकी है। मुर्शिदाबाद के एक विशेष रेशमी वस्त्र को गरद कहा जाता है जिसका रग स्वाभाविक होता है।

रेशमी वस्त्र के अलावा बगाल की स्त्रिया करघे की साडी भी बहुत पसन्द करती हैं। सच तो यह है कि लगभग दो सौ वर्ष के विदेशी शासन के बावजूद बगाल में अभी भी मिल का कता और मिल का बुना अच्छे से अच्छा कपडा सुरुचि का परिचायक नहीं समझा गया। बगाल के रईस पुरुष और स्त्रिया शायद शान्तिपुर, टगाई, चन्द्रकोना, फराशडागा के करघो की धोतिया और साडिया ज्यादा चाव से पहनती हैं। इनके किनारे बहुत सुन्दर बने होते हैं। रसबोध के साथ-साथ सरलता का विशेष ध्यान रखा जाता है। सीजी किनारी (दो काले के बीच गहरा लाल), सतरगी किनारी, चटाई किनारी आदि नाम से परिचित विभिन्न ढग के किनारो की साडिया केवल खूबसूरत ही नही, एक विशेष सस्कृति को सामने लाकर रख देती हैं। पाश्चात्य प्रभाव के खतरे में भी यह शिल्प कभी अनादृत नहीं हुआ। इसके कारण बगाल की स्त्रियो की जितनी प्रशसा की जाए, थोडी है।

चटाइया आदि

मेदिनीपुर की महीन चटाइया तथा कुमिल्ला, नोआखाली और सिलहट की शीतलपाटी प्रसिद्ध हैं। शीतलपाटी एक तरह की चटाई है जो सूती वस्त्र की तरह तह लगा कर रखी जा सकती है। यह मुलायम चटाई गरमियो के दिनो में गद्दो पर भी बिछाई जा सकती है और ठण्डी मालूम होती है।

बंगाल की स्त्रियों ने कांथा या कथड़ियों की सिलाई को एक सुकुमार कला के दर्जे तक पहुंचा दिया। कथड़ियों की सिलाई में मानो मातृ हृदय का सारा प्रेम उड़ेल दिया जाता था। मनुष्य, पशु-पक्षी तथा फूल पत्तियां बनाई जाती हैं।

बंगाल की अलपना कला भी बहुत सुन्दर है। जमीन पर उँगलियों से तथा रुई से और दीवारों, पटरों पर तिनकों के सहारे चित्र बनाए जाते हैं। इसमें चावल की पीठी का सफेदा काम में लाया जाता है। विवाह के अवसरों पर वर के घर में जो अलपना बनाई जाती है, उसे 'बहुछत्र' कहा जाता है। सारे आंगन पर की गई अलपना बहुत सुन्दर कलाकृति है। लक्ष्मीपूजा के अवसर पर कमल और लक्ष्मी के चरण के मोटिफ की अलपना सुन्दर रंग में की जाती है। दीवारों पर तथा वर-वधू के बैठने के पटरे पर जो अलपना होती है, उसमें रंग भी काम में लिया जाता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाओं से यह चित्रकारी बहुत कलापूर्ण ढंग से की जाती है।

खोये तथा छेने की मिठाइयों के लिए कई तरह के सांचे बनाए जाते हैं। इन सांचों से उतारी हुई मिठाइयों मे स्वाद की वृद्धि हो जाती है, ऐसा कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नही होगी। विवाह-शादी के मौकों पर भेंट में भेजने के लिए बहुत कलापूर्ण ढंग से बढ़ियां बनाई जाती हैं। ये वड़ियें तरह-तरह के जेवर आदि के नमूनों पर बनाई जाती हैं और घरेलू कला का प्रतीक मानी जाती हैं। इसी प्रकार नारियल काटने की एक विधि है जिसे चूड़ा कहते हैं। सचमुच नारियल को इस तरह से काटा जाता है कि नारियल का चूडा बन जाता है। इसी प्रकार सुपारी काटने की भी एक कला है जिसमें सुपारी बिलकुल पहचान में ही नही आती। इसी तरह और भी बहुत-सी छोटी-छोटी कलाएं हैं जिनसे बंगाल का जीवन सुन्दर बनाया जाता है।

श्री हरिचरणलाल

मिट्टी के खिलौनो की कला का ऐतिहासिक वृत्त

जीवन मानव को बदलता है और मानव जीवन को, परन्तु सदा से ही इस निरतर प्रगतिशील परिवर्तन के सदेशवाहक रहे है कलाकार। कलाकार एक जादूगर की भाति अपनी कला द्वारा जो चमत्कार दिखा देता है वह अपनी छाप मनुष्य-जीवन पर छोड जाता है भविष्य की पीढी उसे आदर्श मान आगे बढने का प्रयत्न करती है।

प्रागैतिहासिक काल

हमारे देश में एक ऐसा ही कलाकार है जिसे हम "विश्व का प्रथम कलाकार" कह सकते है और जो "कुम्हार" अथवा "कुम्भकार" के नाम से ख्यात है। आज से हजारो वर्ष पूर्व उस महान् अधकार मे डूबे हुए युग में पहिले जिस मनुष्य ने मिट्टी की परीक्षा कर उसे पानी में सान कर, अपने हाथो द्वारा अथवा चाक पर रख कर मिट्टी के वर्तन वनाया वही विश्व का प्रथम कुम्हार और प्रथम कलाकार कहलाया। कुम्भकार के हाथो को स्पर्श कर मिट्टी ने एक जागरूक चेतना का अनुभव किया, उसे आकार मिला और ससार को अगणित पात्र व्यवहार के लिये मिले। कुम्हार अपनी सफलता पर नाच उठा। वह वाह्य-सृष्टि को आत्मसात् करके उसे अपनी मानस-सृष्टि में परिवर्तित करने लगा। वाहरी रग, रूप-आकृतियो को ध्यानपूर्वक अध्ययन कर वह अपने मानस-जगत् में उनकी रचना करने लगा। उसकी अगुलियो मे जादू जाग उठा और वे कलात्मक हो उठी। मिट्टी के लोदो को कुत्ता, बन्दर, बकरी, चिडिया, गाय इत्यादि का रूप मिल गया। बच्चे प्रसन्नता से नाच उठे—उनके मनोरजन के लिए "खिलौने" मिल गये।

"मिट्टी के खिलौनो" का इतिहास इतना ही पुराना है जितना कि कुम्हारी-कला जिसने मनुष्य तथा समाज के जीवन में एक नयी क्रान्ति पैदा कर दी थी।

मिट्टी के वर्तन या खिलौने आग मे पक जाने से यद्यपि पक्के हो जाते है परन्तु टूट जाने पर अधिकाश लोग उनका कोई मूल्य नही समझते और वे फेंक दिये जाते है। खिलौने तथा बतन का प्रत्येक टुकडा एक कला और एक युग के इतिहास का द्योतक होता है और कालान्तर में वे टूटे-फूटे मिट्टी के खिलौने और वर्तन मनुष्य-लिखित पुस्तक सा मूल्य रखते है। कूडे के नीचे दवा तथा उत्खनन द्वारा पृथ्वीतल से निकला हुआ मिट्टी का खिलौना अपने समय का इतिहास प्रतिविम्बित किया करता है।

भारत में कुम्हारी कला के प्रतिनिधि नाल, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चानूदड़ो आदि में पाये गये मिट्टी के खिलौने और बर्तन हैं। बर्तनों पर ज्यामितिक आकृतियों की अर्थात् सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों से बने अलंकरणों की अधिकता है। इनके अतिरिक्त फूल पत्तियों और पशु-पक्षियों की आकृतियों से ही इस कला की प्रौढ़ता प्रकट होती है। मोहनजोदड़ो में रंगी हुई मूर्तियां खिलौने भी मिले हैं जिन पर भव्य चित्रण किया हुआ है। कौशाम्बी की खुदाई में मिट्टी के अनेक प्रकार के खिलौने मिले हैं। मोहनजोदड़ो के वहुत से बर्तनों के सिरों पर पुरुष, बंदर, भैंसे, कुत्ते, चीते, सांप और दूसरे जानवरों की मूर्तियां बनी हैं। जो अलग हो कर वालकों के खिलौनों के रूप में माने जा सकते हैं। उस प्राचीन युग में श्रेणियों द्वारा जो माल व्यापार के लिए जहाज पर लाद कर भारत से विदेश भेजा जाता था उनमें मिट्टी के खिलौने भी होते थे जिन्हें 'पोत्थकम', 'लेप्यकम' पूरिम (भरावदार खिलौने) कहते थे। अब भी पश्चिम के देशों में जहां भी उत्खनन कार्य होता है वहां कहीं कहीं पर भारतीय मिट्टी के पात्र तथा खिलौने निकल आते हैं।

गुप्तकाल

गुप्तकाल में कुम्हारी कला अपने चरम विकास पर पहुंच गयी थी। कुम्हारों ने मिट्टी के बर्तनों तथा खिलौनों में नयी नयी डिजाइनें पैदा कीं। जिससे इनका धंधा अधिक चालू हो गया था। जैन सूत्रों से पता चलता है कि पोलसपुर के सछात-पुत्र नामक धनिक कुम्हार के पास ५०० दूकाने थी जहां मिट्टी के बर्तन और खिलौने विकते थे। उस समय मिट्टी के खिलौने कई प्रकार से वनते थे—कुछ ठोस होते थे, कुछ भरावदार जो सांचों द्वारा वनते थे और कुछ टिकरों में। ठोस खिलौने की हर एक आकृति को अलग-अलग बनाया जाता था, जिसमें अधिक मिट्टी और मेहनत लगती थी। अलग-अलग वनने से आकृतियों में भी अन्तर पड़ता था। अस्तु उसका बढ़ा हुआ स्वरूप भरावदार खिलौने होने लगे जिन्हें सांचों में भर कर वनाया जाता था। पहिले एक-तरफा सांचा वना फिर दो पाटों वाला—दो पाटों वाले सांचे अधिक उपयोगी सिद्धि हुए और वे आज तक काम में लाये जाते हैं। टिकरे तो पटपर होते थे जिन पर उभरे हुए स्थानों पर रंग भर कर दृश्य दिखला दिये जाते थे। ऐसे टिकरे खुदाई में मिले हैं—भारत कला भवन मे पकाई मिट्टी का एक टिकरा है जिस पर चलने को तैयार एक हथिनी वनी है जिसे एक स्त्री चला रही है। उसके पीछे एक युवक सुर-मंडल नाम का बाजा लिये बैठा है। उसके बाद एक आदमी और है जो पीछे मुंह किये एक थैले से गोल और चौकोर सिक्के बिखेर रहा है जिन्हें दो आदमी बटोर रहे हैं यह विषय ऐतिहासिक है। भीटे की खुदाई में सर जॉन मार्शल को एक मिट्टी का टिकरा मिला था जिस पर आश्रमवासिनी शकुंतला का दृश्य अंकित है। बंगाल में भी एक टिकरा मिला था जिस पर नारी का एक चित्र बना हुआ है। कला की दृष्टि से यह टिकरे उच्चकोटि के हैं। उनमे वारीक से बारीक बातें स्पष्ट रूप से अंकित की गई हैं। उनका मूल (माडल) जिनसे इन टिकरों का सांचा वना होगा निश्चय है कि वे उच्चकोटि की कला का नमूना रहे होंगे।

गुप्त कालीन टिकरों में युवतियों के सौन्दर्य-निरूपण के साथ साथ उनके जीवन के कुछ

पहलुओ को भी अकित किया गया है। अनेक टिकरो में युवतिया शुक-क्रीडा करती दिखायी गयी है। शुक-क्रीडा की गणना स्त्रियो के योग्य तत्कालीन चौंसठ कलाओ में की गयी है। एकाकी सुन्दरियो के अतिरिक्त कुम्हारो ने अनेक टिकरो में स्त्री-पुरुष दोनो को दम्पति अथवा मिथुन रूप में अकित किया है। काम-क्रीडा, स्त्री-पुरुषो के आमोद-प्रमोद तथा नृत्य के दृश्य, वाद्य-गान के दृश्य, झूले के दृश्य, पिकनिक के दृश्य, शिकार आदि के दृश्य भी अनेक टिकरो में पाये जाते है इस प्रकार सामयिक जीवन के साथ साथ ऐतिहासिक रोमासो को भी मिट्टी के माध्यम से कला में उतारने का प्रयत्न किया गया है।

काशी में राजघाट की खुदाई में जो खिलौने निकले है उनमें हाथी, शेर, ऊँट, कुत्ता आदि है। एक पोला झुझना सुअर की आकृति का है जिसकी जोडी का एक नमूना मथुरा में भी मिला है। खिलौने पर जो रग पुते है वे साधारण पोत की तरह नही है उनमें कुशल चित्रकारो की कूची का चमत्कार दिखलाई पडता है। स्त्री मूर्ति (खिलौनो) में साडी के लाल और सफेद रग की लहरिया, काली कुच-पट्टिका, सिर के बाल, भुजाओ के कँमूर कठहार को भी इगित किया गया है। बाणभट्ट ने इन चतुर कुम्हारो को ही "लेप्यकार" और "पुस्तकृत" शब्दो का प्रयोग किया है। सवप्रथम मुलतानी मिट्टी का एक पोत फेर कर उसके ऊपर यथाभिलाषित लाल, पीले, हरे आदि रगो का अतिम पोत फेरा जाता था फिर उसके ऊपर चित्रकारी की जाती थी। इस प्रकार एक छोटे से खिलौने को भी उस समय के कलाकार अनुपम कलाकृति में परिणत कर देते थे। भारतीय परिपाटी के अनुसार निर्माण और चित्रण दोनो कार्य कुशल कुम्हारो के हाथ से ही होते थे। गुप्तकालीन खिलौनो की कला का प्रभाव क्षेत्र समस्त उत्तर भारत में पहाडपुर (बगाल) मे ले कर मीरपुरखास (सिन्ध) तक ही सीमित न था अपितु गान्धार और कपिशा तक भी था।

प्राचीन काल में खिलौने बनाने के लिए किस प्रकार मिट्टी तैयार करते थे इसके सम्बध में कोई लिखित उल्लेख नही मिलता परन्तु शिल्प और वास्तु शास्त्रो में मिट्टी की मूर्तिया बनाने का उल्लेख पाया जाता है और उनके लिये मिट्टी बनाने की विधि भी दी हुई है। उपलब्ध खिलौनो के परीक्षण से ज्ञात होता है कि आज से डेढ दो हजार वर्ष पूर्व भी कुम्हार उसी ढग से मिट्टी तैयार करते थे जिस ढग से आज करते है और उनके बनाने का ढग भी आजकल के समान था।

मिट्टी के खिलौनो की कला पर अन्य कलाओ की तरह समय का प्रभाव पडा है और विभिन्न कालो के बने खिलौने तत्कालीन विभिन्न अवस्थाओ को व्यक्त करते है। खिलौनो को देख कर उनका उद्गम क्षेत्र बताया जा सकता है। इस प्रकार लोक कलाकार जहा कला की सामयिक लहर से अछूते न थे वही वे अपनी कला के प्रति भी सजग जान पडते है।

लगभग आठवीं-नवी शताब्दी के पश्चात् की मिट्टी के कला के नमूने आज तक उपलब्ध नही है। यह तो नही कहा जा सकता कि यह कला मर गई क्योकि लोक-कला कभी मरती नही और आज भी मिट्टी की कला जीती जागती है।



गंगाघाटी में प्राप्त मिट्टी के खिलौने



गगाघाटी में प्राप्त मिट्टी के खिलौने

आधुनिक काल

आधुनिक काल में मिट्टी की कला धातु-शीशे, प्लास्टिक, रबड़ इत्यादि कला के सामने यद्यपि पीछे पड़ गई है परन्तु पिछले पचास वर्षो में इसमे एक नवीन जागृति हुई है।

दीप-मालिका के अवसर पर लड़कियों के खेलने के लिए घर-गृहस्थी के सामान मिट्टी में बना कर कुम्हार जगह जगह अपनी दूकानें लगाते है और चूल्हा, लोटा, थाली, जांत, गिलास, भोंपू, चँगेरे वगैरह बूढ़े बावा लोग अपने बच्चों को लिये भीड़ लगाये रहते हैं। गुजरियों (मिट्टी के खिलौने) की भी बहुत सी दूकाने लगती है जिन पर गणेश-लक्ष्मी तथा अनेक पौराणिक देवी-देवताओं की मिट्टी की मूर्तियों की खूब बिक्री होती है। खिलौनों को खड़िया की रंगाई के बाद अनेक रंगों में आकर्षक तया सजीव ढंग से रंगा जाता है। बालों की लहरियां, आंख की पुतलियाँ तथा मांस-पेशी में उतार-चढ़ाव का ज्ञान इन कुम्हारों में पैदाइशी होता है। अनेक घराने तो ऐसे पाये जाते है जिनमें वंश परम्परा से यह काम चला आ रहा है। भारतवर्ष में लखनऊ की मिट्टी की कला सर्वश्रेष्ठ रही है। नवाब वाजिद अली शाह के समय स्वर्गीय श्री गज्जनलाल जी इस कला के एक विख्यात कलाकार थे। उनके पुत्र श्री गुलाबदास नवाब हैदराबाद के यहां से पेंशन पाते थे। सर्वश्री छेदी लाल, हीरालाल, गंगाराम और भगवानदास जी लखनऊ के प्रसिद्ध कलाकारों में गिने जाते थे। लखनऊ में स्वर्गीय श्री मथुरा प्रसाद जी एक ऐसे कलाकार हो गये है जो अपने माडलों में औरतों के नाजुकपन को दिखलाने में अद्वितीय थे। यह लंदन भी हो आये थे। लखनऊ आर्ट स्कूल के मास्टर जानकी प्रसाद जी इस समय देश के एक नामी मिट्टी के खिलौने के कलाकार हैं। लखनऊ के प्रसिद्ध मिट्टी के फलों की प्रसिद्धि आज व्यापक है। केले, संतरे, खरबूजे, कटे तरबूज, लीची, जामुन इत्यादि लखनऊ के कुम्हार इस तरह से रंग देते हैं कि स्वाभाविक और कृत्रिम का भेद लगाना कठिन हो जाता है। बनारस में हड़हा मोहल्ले के श्री महादेव प्रसाद भी एक नामी कलाकार हैं। रंग-भराई में लखनऊ और बनारस में सदा होड़ रहती है। लखनऊ में इस समय नन्हे नन्हे खिलौने जो १२ या २४ के सेट में आदमियों या चिड़ियों के रहते है बहुत बनते है जिन्हें विदेशों में भी भेजा जाता है। इलाहाबाद, आगरा और कानपुर में भी अच्छे उस्ताद हैं। आगरे के मास्टर बाबू लाल जी तो सांचा बनाने में एक ही कलाकार हैं। उनके सांचों में सजीवता होती है जिनमें बने खिलौनों में रंग मिश्रण कर भरना आसान काम नहीं है। बंगाल के कृष्णनगर घुरनी, नदिया के पाल कुम्हार इस समय मिट्टी की कला में बहुत आगे बढ़ गये है। इन्होंने तो इस कला के प्रशिक्षण के लिए कई स्कूल खोल रक्खे हैं—इनका नाम देश के बड़े बड़े शिल्पियों में दिया जाता है। बम्बई प्रान्त में अहमदाबाद के खिलौने प्रसिद्ध हैं। पाटण में खिलौने तथा गृहउपयोगी अनेक मिट्टी के पात्र वड़े सुचारु ढंग से बनाये जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के खिलौनों के कलाकारों के ऊपर लिखना वड़ा कठिन है क्योंकि शिक्षा के अभाव के कारण किसी ने न अपनी जीवनी लिखी है और न लेखकों ने ही उन पर ध्यान दिया है। यद्यपि आजकल मिट्टी की कला के ऊपर पुस्तकें मिलती हैं परन्तु उनमें "कुम्हार" को उपेक्षित

ही रक्खा गया है। "कलाकार" के नाम से कुम्हार का अंत कर दिया गया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारी केन्द्रीय सरकार द्वारा उधर कुछ ध्यान दिया गया है और स्कूलों में आजकल मिट्टी के खिलौना बनाने की शिक्षा दी जाती है। अखिल भारतीय खादी उद्योग संघ बेलगाम (बम्बई) में भी अनुदान द्वारा कुम्हारी कला का पुनरुत्थान किया जा रहा है, परन्तु कहा नहीं जा सकता कि इस ओर कहां तक सफलता मिलेगी। इस समय यह आवश्यक है कि आर्ट स्कूल लखनऊ की तरह एक अलग स्कूल केवल मिट्टी के खिलौने बनाने की कला का खोला जाय जिसमें इस कला के विशेषज्ञों को रख कर उनके जन्मजात अनुभवों, कला तथा रंग-मिश्रण की शैली को जीवित रक्खा जाय। इस समय भी कुछ ऐसे आचार्य पड़े हैं जो साबूदाने और चावल की पालिश रंगे हुए खिलौनों पर कर सकते हैं। कुछ ऐसे हैं जो आधा खिलौना चाक पर बनाते हैं और उसकी पूर्ति हाथों द्वारा करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो थोड़ी-सी गीली मिट्टी अपनी अंगुलियों में फंसा कर दो-दो मिनट में कुत्ते से गाय, गाय से शेर और शेर से हाथी का रूप बदल सकते हैं। उनकी अंगुलियों का जादू पुस्तकों में लिखने-पढ़ने की वस्तु नहीं है—उसे तो उन्हें गुरु बना कर अभ्यास द्वारा ही सीखा जा सकता है और यह उसी समय संभव हो सकता है जब इसके लिये सरकारी आयोजन और मान्यता हो।

श्री रामनाथ 'सुमन'

कला—समीक्षा की वास्तविक कसौटी

कला के सम्बन्ध में विभिन्न देशों और युगों में अनेक प्रकार के सिद्धान्तों एवं मतवादों की सृष्टि हुई है। प्रायः एक की अति की प्रतिक्रिया में दूसरे अति को अपनाया जाता रहा है। 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' इन नारों ने भी कला के सम्बन्ध में जो उद्वेग उत्पन्न किये है, वे जीवन और कला दोनों के प्रति अन्याय करते है और उनके कारण कला का निरपेक्ष मूल्यांकन जटिल एवं दुर्बोध हो जाता है। वस्तुतः ये सब सम्प्रदाय मानव-मन के अधूरे आकलन से उत्पन्न दृष्टि-दोष के कारण बनते है। कोई मन में उदित रूप को महत्त्व देता है तो कोई कला को आत्मापेक्षी मानकर आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है। एक वर्ग जिसे श्रेष्ठ कला मानता है, उसे दूसरा उपहासजनक कहने को आतुर है।

तब कला-समीक्षा की कसौटी क्या हो? दर्शक की प्रतिक्रिया, काल का प्रमाणपत्र, संसार के बाजार में लगने वाले मूल्य किसको लेकर हम मौलिक कला की श्रेष्ठता का निर्णय कर सकते है? प्रायः इन्हीं आधारों पर कला की श्रेष्ठता का निर्णय होता रहा है। संख्या-बल मानव-मन को बहुत प्रभावित करता है। हजारों हाथ जिसके पक्ष में उठते है, हजारों जिह्वाएँ जिसके पक्ष में बोलती है, हजारों मन जिससे पुलकित होते है उसे श्रेष्ठ कला मानने की चलन है। पर क्या यह कसौटी सच्ची है?

जब कोई आदमी कहता है कि "अहा! उस चित्र से मुझे बड़ा आनन्द मिला; अमुक चित्र से कुछ आनन्द नही" तो क्या वह चित्रों की समीक्षा कर रहा है? वस्तुतः वह उस समय चित्रों के विषय में नहीं वरन् अपने सम्बन्ध में कुछ कह रहा है।

लोकप्रियता के अन्तर्गत यही मूल विन्दु विचारणीय है। जब हम किसी चित्र या कृति को लोकप्रिय कहते हैं तो वस्तुतः उस चित्र के सम्बन्ध में चर्चा नहीं करते होते है वरन् उस चित्र का एक वर्ग या लोक-मानस पर क्या प्रभाव पड़ा यह बताते है। इसलिए लोकप्रियता कृति की मौलिकता या बहुमूल्यता नही व्यक्त करती। अनुकूल परिस्थितियों और सुविधा मात्र मिलने से एक साधारण कृति, कभी-कभी बड़ी लोकप्रिय हो जाती है, और अच्छी एवं सुन्दर वस्तु कहीं कोने में पड़ी रह जाती है। लोकप्रियता परिस्थिति और घटना-वश प्राप्त होती है। दो समान प्रतिभा के कलाकार यदि एक ही स्तर की कृतियों को जन्म दें तो उनमें से एक की कृति, जो आत्म-विज्ञापन में चतुर है, बहुत प्रसिद्ध या लोकप्रिय हो जा सकती है, और दूसरा एकान्तवादी या

अन्तःस्थ होने के कारण अज्ञात ही रह जा सकता है। यह सुविधा द्वारा ख्याति पाने की एक शैली है। आज हिन्दी साहित्य में, ऐसे आत्मविज्ञापित या बहुविज्ञापित रचनाकारों के उदाहरण बहुत हैं।

तब क्या काल का प्रमाणपत्र कला की श्रेष्ठता की वास्तविक कसौटी है? इसकी ओर लोगों की आस्था लोकप्रियता वाली कसौटी से भी अधिक है। प्रायः समझा जाता है कि जो कृतियाँ श्रेष्ठ होती हैं वे रह जाती हैं और कम मूल्यवाली नष्ट हो जाती हैं। इसमें सत्यांश हो सकता है पर सब मिलाकर यह एक भ्रामक धारणा है। यह ठीक है कि बहुतेरी लोकप्रिय कृतियाँ अपनी सापेक्षिक हीनता या रुचि-परिवर्तन के कारण काल के गाल में समा जाती हैं, पर विचार कर देखें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि काल का हीन या श्रेष्ठ के प्रति कोई पक्षपात नहीं है। दोनों ही उसके लपेट में आ सकते हैं या नहीं भी आ सकते। इतिहास और पुरातत्त्व साक्षी हैं कि हमारी कितनी ही श्रेष्ठ कृतियाँ काल के चरण-निक्षेप में विकृत या विनष्ट हो गयी हैं। और यह बात काव्य, चित्र, स्थापत्य सभी के लिए समान रूप से सत्य है। आज बहुतेरे यूनानी, मिश्री और भारतीय कला के नमूने, हजारों वर्ष तक समाधिस्थ रहने के बाद, संयोगवश, कहीं खुदाई में, मिल गये अन्यथा वे नष्ट तो हो ही चुके थे। हमारे ही देश में न जाने कितने दर्शन एवं धर्मग्रन्थ, न जाने कितने काव्य, न जाने कितने संचित ज्ञान कोश मध्ययुग में आक्रान्ता विदेशियों की हिंसा-ज्वाला में भस्म हो गये, और कितने गंगा या अन्य नदियों को समर्पित कर दिये गये? कौन कह सकता है कि काल के इस अदृश्य गर्भ में कितने कालिदासों की चिताभस्म सिमक रही है! कौन कह सकता है कि मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा जैसे कितने नगर अपनी श्रेष्ठ रचनाओं के साथ काल के पदप्रहार से चूर हो गये हैं और उनके कंकाल-चूर्ण कहाँ बिखरे पड़े हैं? साँची और अजन्ता के कितने भाई-बन्द काल के नर्तन में बिखर गये हैं या आज भी कहीं अज्ञात पड़े हैं, इसे कौन बतायेगा? क्या यह संभावना नहीं कि भारत, यूनान, मिश्र, चीन—इत्यादि की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ, सर्वश्रेष्ठ काव्य, सर्वोत्तम कला नष्ट हो गयी हो और जो कुछ प्राप्त है वह द्वितीय श्रेणी का ही हो? कृतियों का जीवन घटना-वश दीर्घ या अल्पकालिक दोनों हो सकता है।

इसी प्रकार संसार के बाजार में लगने वाले आर्थिक मूल्य को भी कला की श्रेष्ठता का आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि आज कल दुनिया में तीन कारणों से मूल्य बढ़ता है —

(क) संसार में प्रचार एवं विज्ञापन की सुविधा मिलने से,

(ख) धनिकों की निजी या प्रभावित रुचि से,

(ग) शक्तिमान सामाजिक या राजनीतिक वर्गों की विचारधारा के अनुकूल होने से

कभी ये कारण एक साथ काम करते हैं, कभी एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण ही उनका प्रभाव बढ़ जाता है।

इसलिए न लोकप्रियता या दर्शक की प्रतिक्रिया को, न काल के प्रमाणपत्र को, न बाजार में लगनेवाले मूल्य को कला के मूल्यांकन की सच्ची कसौटी बनाया जा सकता है। तब वह क्या है?

मौलिक कला के मूल्य के सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दर्शक की

प्रतिक्रिया या उस प्रतिक्रिया की श्रेणी से उसका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि इस प्रकार की कृति कलाकार द्वारा स्वयं अपने को दिया गया एक गोपनीय—गूढ़—सन्देश है। वह उसकी अपनी ही एक अनुभूति का प्रलम्बीकरण है। वह अनुभूति के बीज का विराट् दर्शन-मात्र है।

इसलिए, कलाकार, केवल कलाकार ही, उसका पूर्ण निर्णायक हो सकता है, क्योंकि वही जानता है कि कृति में उसकी अनुभूति को पूर्ण कृतार्थता प्राप्त हुई वा नहीं।

इस प्रकार जब कलाकार को अपनी मौलिक कृति से सच्चा सन्तोष होता है और वह उसे सफल मानता है तो इससे ही उस कृति का वास्तविक मूल्यांकन होता है। यह आत्मतोष ही कला का तात्त्विक, वास्तविक मूल्य है। यह दर्शक के दर्शनजन्य मनोभावों से भिन्न एक वस्तु है। दर्शक के दर्शनजन्य मनोभावों से कृति के उपर्युक्त वास्तविक, आन्तरिक, मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, न वह बदला जा सकता है।

पर कला का एक बाह्यापेक्षी पक्ष भी है, जिससे उसका बाजार-दर आंका जाता है। दर्शक वा पाठक के निन्दा या प्रशंसा के मनोभावों के कारण एक कृति को जो मूल्य प्राप्त होता है, वह उसके उपर्युक्त तात्त्विक मूल्य से भिन्न है, उसे बाह्य वा प्राप्त मूल्य (एक्वायर्ड वैलू) कहा जा सकता है।

इस प्रकार कला के मूल्यांकन की दो कसौटियाँ बन जाती हैं :—

(क) शिल्पी के अपने आदर्श, उद्देश्य, अनुभूति की अभिव्यक्ति सम्बन्धी निर्णय वा सन्तोष। कला का तात्त्विक एवं वास्तविक मूल्य।

(ख) दर्शक के मन पर उसके दर्शन वा संसर्ग से होने वाला प्रभाव। कला का बाह्य वा प्राप्त मूल्य।

ऐसे भी समीक्षक हैं जो 'ख' को ही कला-समीक्षा की प्रधान कसौटी मानते हैं। श्री क्लाइव बेल नामक कला-समीक्षक तो किसी कृति को कला का नाम देने को तैयार ही नहीं हैं जब तक कि उससे उनके मन में भावावेग न उत्पन्न हो। वह स्पष्ट कहते हैं :—

"आई हैव नो राइट टु कंसिडर एनीथिंग ए वर्क आफ आर्ट टु ह्विच आई कैन नाट री-ऐक्ट इमोशनली।"

यदि हम श्री बेल की बात मान कर चलते हैं तो प्रत्येक महती कृति उस अवस्था में कलाहीन सिद्ध हो जाती है जब सौन्दर्यग्रहण की शक्ति से रहित होने के कारण किसी दर्शक वा आलोचक का मन उसके प्रभाव से वंचित रह जाता है। फिर प्रत्येक दर्शक पर पड़ने वाला प्रभाव बहुत कुछ उसकी तात्कालिक मानसिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। ऐसी दशा में यदि यह कसौटी उचित मान ली जायगी तो एक ही कृति न केवल भिन्न-भिन्न दर्शकों के मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालेगी, बल्कि एक ही दर्शक को जीवन की किसी घड़ी में बहुत ऊँची और सुन्दर मालूम होगी और दूसरी घड़ी में वही कृति सारहीन मालूम पड़ेगी। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि हम इसे मूल्य की ठीक कसौटी नही मान सकते। मूल्य की सच्ची कसौटी तो कर्ता की अपने उद्देश्य में,

उसी की मनस्तुष्टि से जाँची जाने वाली सिद्धि है। उसी से कृति को उसका तात्विक, वास्तविक वा आभ्यन्तरिक मूल्य प्राप्त होता है और यह तात्विक वा आभ्यन्तरिक मूल्य दर्शक की प्रशसा वा निन्दा से नष्ट नही किया जा सकता, क्योकि दर्शक का नहीं वरन् कर्ता का सन्तोष, असन्तोष ही कृति के रूप में परिवर्तन कर सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

(क) मौलिक कला की एक कृति को उसका वास्तविक मूल्य कर्ता की उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया से ही प्राप्त होता है, क्योकि कृति उसी की अनुभूति का रूपायन है।

(ख) (स्वय कलाकार के अतिरिक्त) कृति के पूर्ण होने पर उसे देखने वाले अन्य दर्शक उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओ से उसके वास्तविक वा तात्विक मूल्य (इनट्रिंसिक वैलू) को प्रभावित नही कर सकते, यद्यपि वे उसे एक दूसरे प्रकार का मूल्य दे सकते हैं जिसे 'प्राप्त' वा 'बाह्य मूल्य' (एक्वायर्ड वैलू) कहा जा सकता है।

(ग) मौलिक कलाकार अपनी कृति की रचना, दर्शक पर पडने वाले उसके प्रभाव का विचार किये विना, करता है (दर्शक रूप में अपने के सिवा)। "कोई मौलिक कलाकार यह स्वीकार नही कर सकता कि उसकी कृति के मूल्य की कसौटी, सिवा उसके अन्य दर्शको पर होने वाली कोई विशेष प्रतिक्रिया है।"* मौलिक शिल्पी यह स्वीकार करता है कि दर्शक के मन पर पडने वाले प्रभाव की मात्रा वा प्रकार की दृष्टि से ही उसकी कृति का 'बाह्य मूल्य' (Acquired value प्राप्त मूल्य) आँका जा सकता है पर वह यह भी, भली भाँति जानता है कि इस का कृति के आभ्यन्तरिक मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड सकता। किसी कृति के आभ्यन्तरिक मूल्य की अन्तिम सीमा तभी समाप्त हो जाती है जब कर्ता उसे पूर्ण या सफल समझ कर छोड देता है और वह दर्शको के सामने आ जाती है।

इसलिए कला की सच्ची कसौटी यह देखना नही है कि दर्शक वा आलोचक के मन पर किसी कृति का क्या प्रभाव पडता है वरन् यह देखना है कि कलाकार का उद्देश्य क्या रहा है और वह अपने उद्देश्य में किस मात्रा तक सफल हुआ है।

इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि कला की किसी मौलिक कृति के आभ्यन्तरिक मूल्य का अनुमान करने के लिए स्वय उसका कर्ता ही सबसे उपयुक्त पात्र है। सौन्दर्यशास्त्री एव

---

*"नो ओरिजिनल आर्टिस्ट विल एडमिट दैट दि क्राइटेरियन वैलू आफ हिज वर्क इज दि इनसिडेंस ऑर नान-इनसिडेंस आफ एनी स्पेशल रीऐक्शन आन दि पार्ट आफ स्पेक्टेटर्स अदर दैन हिमसेल्फ।" —विलेन्स्की

कला-समीक्षक प्रायः यह बात भूल जाते हैं कि कलाकार निश्चय ही अपनी कृति का एक दर्शक भी होता है और वही एक ऐसा दर्शक है, जिसकी सम्मति का प्रभाव कृति पर पड़ सकता है और उसी के निर्णय से चित्र वा कला-कृति में परिवर्तन हो सकता है। केवल वही अपनी कृति के आभ्यन्तरिक मूल्य में अन्तर डाल सकता है। यह आभ्यन्तरिक मूल्य ही कला-समीक्षा की ऐसी कसौटी प्रस्तुत करता है, जो मौलिक कला का मेरुदण्ड बन सकती है।

श्री ब्रजभूषण पाण्डेय

कला : शिल्प : शैली

तत्त्व-विश्लेषण

प्यास लगती है, पानी से बुझ जाती है। भूख लगती है, भोजन से मिट जाती है। प्यास और क्षुधा कोई रोग नहीं है। जब शरीर को पानी की आवश्यकता पडती है तो प्यास लगती है और जब उसे अन्य पोषक तत्त्वो की जरूरत पडती है तो भूख लगती है। भूख भी एक प्यास है और प्यास भी एक भूख है। यह दोनो शारीरिक भूख है। किसी के दर्शन की भूख और प्यास दोनों लगती है—'अंखियाँ हरि दरसन को प्यासी।'

भूख और प्यास का अर्थ है, स्वाभाविक चाह। वह चाह, जो यदि पूरी न हो तो व्याकुलता बढती जाय और सम्भव है उसके पीछे पागल और अन्त में समाप्त भी हो जाय। क्योकि यह कोरी चाह नही है। यह अपने अस्तित्त्व की भूख है। शारीरिक भूख शरीर के अस्तित्त्व की भूख है, ऐन्द्रिक भूख इन्द्रिय के अस्तित्त्व की भूख है। इसी प्रकार आत्मा की भी भूख होती है। कला, आत्मा की इसी प्रकार की भूख को मिटाती है। आत्मा को एक ऐसी भूख लगती है, एक ऐसी प्यास लगती है, जिसे कला बुझाती है। इस भूख को हम 'कला की भूख' के नाम से पुकारेंगे।

आत्मा की भूख

कला की भूख आत्मा के अस्तित्त्व की भूख है। क्योकि कोई भी भूख मूल रूप में अपने अस्तित्त्व या स्वरूप की ही भूख होती है। प्रकारान्तर से इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मा को जब अपने स्वरूप की भूख लगती है, तो कला उसे तृप्त करती है। यह तृप्ति, भूख अथवा चाह के अभाव में नही है। अपितु उसका स्वरूप एक अलौकिक आनन्द में है। इन्द्रियो को भी विषयों की भूख लगती है। विषय इन्द्रियो का स्वरूप ही है। क्योकि हम यह मान चुके है कि कोई भी भूख मूलत अपने स्वरूप की ही भूख होती है। विषयो की भूख का अभाव इन्द्रियो की सत्ता की समाप्ति है। जब तक इन्द्रिय है, उनमें विषयो की भूख रहेगी ही। भले ही विवेक से उन्हे रोका जा सके। यह भूख ही इन्द्रियों के अस्तित्त्व का प्रमाण है। इसलिए हम इन्द्रियो को 'विषयों' का ही स्वरूप मानते है। विषय ग्रहण का स्वरूप हमें बताता है कि वह (विषय) इन्द्रियो के माध्यम से ही स्वरूपवान बनता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ विषयो के रूप में ही प्रत्यक्ष होती है। हमें दिखलाई पडता है, इसलिए हम जानते है कि हमारे आँख है। हमें सुनाई पडता है, इसलिए हम यह मानते

है कि हमारे कान हैं। कहने का तात्पर्य यह कि विषय और उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ तत्त्वतः अभिन्न हैं। इसलिए इन्द्रियों की विषय सम्बन्धी भूख उनकी अपने स्वरूप की भूख है। इसी प्रकार कला की भूख भी आत्मा की अपने स्वरूप की भूख है। तात्पर्य यह कि मूल भूख, चाह अथवा प्यास अपने स्वरूप अर्थात् अपने आपकी होती है।

इस संसार में हमारी अभिलाषाएँ, कामनाएँ सभी इसी मूल भूख के सिद्धान्त पर ही अनुप्राणित हैं। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सबसे बड़ा स्नेह, प्रेम और जो भी लगाव हो सकता है, अपने से होता है, अपने स्वरूप से होता है। उपनिषद् इसी बात को प्रसंगान्तर से इस प्रकार कहती है :—

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रियो भवति।......न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति —बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५

संसार में इसी का निकृष्टतम रूप स्वार्थपरायणता मे दिखलाई देता है। सब अपने अपने में ही मस्त हैं। जो थोड़ा दूसरे की भी दुनिया में रमने की कोशिश करता है, वह भी धीरे धीरे उसी ओर बढ़ कर अपने में रम जाता है। पहला अपनी दुनिया में ही रमता है, दूसरे की दुनिया मे जाने की कोशिश नही करता। दूसरा, दूसरों की दुनिया को अपनी दुनिया बना लेता है। पहले और दूसरे के स्वरूप की स्थिति भिन्न है। पहले के लिए अनेक दूसरे भी हैं और दूसरे के लिए उसके सिवा दूसरा कोई रह ही नही जाता। यह नही कि अनेक दूसरे उसकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। बल्कि वह अनेक दूसरों में अपने निजत्व को मिला कर, समष्टि के स्वरूप को निज स्वरूप के रूप में ग्रहण करने लगता है। इसे आत्म विकास का अन्तिम रूप समझना चाहिए। इसमें संकोचन या पलायन नहीं है। निर्माण एवं उत्सर्ग है। कला, इस निर्माण और उत्सर्ग की प्रेरणा देती है। वह हमें दूसरों की दुनिया में ले जाने की कोशिश करती है। भय या प्रलोभन से नही, स्वाभाविक रुझान से। वह हमारी और दूसरों की दुनिया के मूल से उस सत्य की झांकी प्रस्तुत करती है, जो दोनों की दुनिया का आधार है। इस प्रकार वह द्वैत के कृत्रिम आवरण को हटा कर अद्वैत के मूल का ज्ञान देती है। इससे हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं।

द्वैतभाव को दृढ़ करने वाली भूख दूसरी है और अद्वैतभाव को दृढ़ करने वाली भूख दूसरी है। पहली अज्ञान, असत्य और दुःख की भूख है और दूसरी ज्ञान, सत्य और आनन्द की भूख है। कला, दूसरे प्रकार की भूख को बढाती है। जैसे घृत की धारा मन्द-अग्नि को बुझाती हुई भी उसे अत्यन्त प्रदीप्त कर देती है। जैसे अन्न का सेवन परिणामतः अन्न की भूख को बढ़ाता है। इसी प्रकार कला, कला की भूख को बढ़ाती है। कला की भूख का तात्पर्य यह नही है कि वह केवल कला से ही तृप्त होती है। उसकी तृप्ति के और दूसरे साधन भी है। उनमें से एक कला भी है। कला का साधक, स्वरूप साधक की कोटि मे आता है। वस्तुतः किसी भी पथ का

साधक, यदि वह सच्चे अर्थों में स्वरूप का साधक है तो वह कला का भी साधक है। कला की इस उच्च स्थिति को ध्यान मे रख कर ही उसके स्वरूप का अवगाहन करना चाहिए।

अपने जिन साधनो से हम द्वैतभाव को दृढ करने वाली भूख के लिए खाद्य सामग्री इकट्ठी करते हैं, उन्ही साधनो से हम अद्वैतभाव को दृढ करने वाली भूख के लिए भी खाद्य सामग्री का निर्माण करते है। हाथ, वाणी, कण्ठ, मन, बुद्धि, विचार, कल्पना आदि के योग से ही हम अति सकुचित 'अह' के पोषण में जुटे रहते हैं। कलाकार इन्ही के योग से उन कलाकृतियो का निर्माण करता हैं, जिनमें उसकी आत्मा की तडपती हुई भूख शान्ति लाभ करती है। उस शान्ति का स्वरूप रसमय, आनन्दमय है। जैसे हम अपने खाने के लिए अनाज पैदा करते हैं, किन्तु उसे खाकर आप भी तृप्त हो सकते हैं, वे सभी तृप्त हो सकते हैं, जिन्हे मुझ जैसी भूख लगती है। वैसे ही कलाकार यद्यपि मुख्य रूप से स्वान्त सुखाय ही कलाकृति का निर्माण करता है, किन्तु उस कलाकृति मे उन सब की आत्मा रसमय हो उठती है, जो उस कोटि की आत्मा रखते हैं। यहाँ आत्मा से तात्पर्य उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तात्मा से नही हैं, वल्कि शरीर, इन्द्रियादि से परिवेष्टित और इनके ही माध्यम से प्रत्यक्ष, विविध आत्माओ से है। नित्य, शुद्ध, वुद्ध मुक्तात्मा से कला का कोई सम्वन्ध नही है। कला लोक जीवन की भूमि पर पैदा होती है और यही उसकी सार्थकता है।

ऊपर कला की तात्त्विक स्थिति पर विचार किया गया है। जब हम उसके व्यक्त स्वरूप की ओर दृष्टिपात करते है तो लोकजीवन को उससे पृथक् नही कर सकते। किन्तु कला की कसौटी यही है कि वह कहाँ तक ऐक्यभाव या अद्वैतभाव को दृढ करती है। किसी नृत्य को देखते समय हजारो दर्शक मन्त्रमुग्ध हो, भावना की एक ही सरिता मे डुबकी लगाते है। इस समय उन सहस्रो आत्माओ का और उनके विचारो तथा भावनाओ का एक ही रूप रहता है। विविध आत्माओ अथवा चेतनो का एक ही भावभूमि पर सम्मिलन, अपूर्व प्रेरणा और जीवनदायी होता है। इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति एक ऐसा जीवन्त तीर्थ है, जिसमें विविध घात-प्रतिघातो से अशान्त आत्माएँ कुछ क्षण के लिए शान्ति लाभ करती है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कथमपि नही है कि कला जीवन से ऊब कर भागने वालो को आश्रय देती है या कलाकृतियो का हमारे सामारिक जीवन से कोई सम्वन्ध नही है। बल्कि कला जीवन के रहस्य को, उसके मूल सत्य को जानने में हमारी सहायता करती है। जो कला हमारे जीवन के मूल्यो से पृथक् जा सकती है, उसे कला नही कहा जा सकता। 'कला' कला के लिए नही है, अपितु हमारे जीवन के लिए है। क्योकि कला हमारे जीवन का ही एक महत्वपूर्ण अग है, भाग है। सच बात तो यह है कि मनुष्य की कोई भी कृति, चाहे वह कला कृति हो या दूसरी कोई, उसके जीवन का ही एक भाग है। आखिर, व्यक्त रूप में हमारा जीवन है ही क्या? हमारी कृतियो-कर्तव्यो—का एक समुच्चय मात्र ही न। यहाँ 'कृति' से तात्पर्य उसके स्थूल रूप मात्र से नही है, अपितु उसमें व्यक्त कर्ता की भावना, आत्मा आदि से भी है। तो जब ऐसा है, तो हमारी कोई कृति हमारे व्यक्त जीवन को रूप देने से कैसे विरत रह सकती है। हमारे अच्छे-बुरे कर्म हमारे अन्दर निवास करने वाली आत्मा की स्तरीय स्थिति का मूल्याकन करते है। इस प्रकार

यह स्पष्ट हो जाता है कि हम चौबीस घण्टे जो भी कुछ करते हैं, वह सभी हमारे अन्दर निवास करने वाली, मन, बुद्धि, अहंकार से परिवेष्टित आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। क्योंकि वह सभी हमारा जीवन है। और जीवन, आत्माभिव्यक्ति से पृथक् कुछ नहीं है। कला आत्मा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। कला में व्यक्त सत्य, जीवन का सत्य होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब हमारी सभी कृतियाँ आत्मा की ही अभिव्यक्ति है तो 'कला' में ही कौन-सी ऐसी विशेपता है, जो उसे आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति माना जाय। इन विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए हमें कला के व्यक्त स्वरूप का अवगाहन करना चाहिए। हमारे कुछ कार्यों में आत्मा की स्थिति दूसरी होती है और कुछ में दूसरी। पहली स्थिति में आत्मा अपने ही द्वारा उत्पन्न, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि के शिकन्जे में बुरी तरह जकड़ी हुई अभिव्यक्त होती है। इसलिए वहाँ उसका असली स्वरूप नहीं होता है। दूसरी स्थिति में आत्मा इन सबसे सेवित हो कर स्वतन्त्र रूप में स्वयं व्यक्त होती है, इसलिए वहाँ उसका स्वरूप निखरा होता है। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पहली स्थिति में आत्मा इन्द्रियादिकों का दास बन कर उनकी ही अभिव्यक्त के रूप में व्यक्त होती है। और दूसरी स्थिति में इन्द्रियों को वह अपना अनुगामी, साधन अथवा अपना बना कर इनके माध्यम से स्वयं अभिव्यक्त होती है। कला की स्थिति दूसरे प्रकार की कृतियों में है। इसमें आत्मा इन्द्रियादिकों को साधन बना कर स्वयं व्यक्त होती है। इसलिए जब हम कला के सम्पर्क में जाते हैं तो हमारी बुद्धि, भावना, तर्क, विचार आदि का तीखापन समाप्त हो जाता है। हम अपने इन्द्रियादि प्रत्यक्षों पर परदा डाल कर एक दूसरे ही तत्त्व का प्रत्यक्ष करते हैं।

दूसरी बात यह है कि जिस कृति से जितना ही विस्तृत एवं दृढ़ ऐक्य भाव, अभेदभाव की प्रतिष्ठा होती है, वह उतना ही उच्च मानी जाती है क्योंकि ऐक्य और अभेद के साथ आत्मा का विकास भी होता जाता है और इसके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्द को ही हम रसदशा की स्थिति मानते हैं। जिसे हम रस दशा अथवा सौन्दर्यानुभूति कहते हैं, वह ऐक्यभाव की स्थिति का ही परिणाम है।

ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि जिन साधनों से हम अपने जीवन के अनेक सत्-असत् कर्त्तव्यों का सम्पादन करते हैं, उन्हीं से हम कलाकृति का भी निर्माण करते हैं। इसलिए कुछ ऐसी बातें होती हैं, जो हमारी सामान्य अभिव्यक्तियों से लेकर उच्च अभिव्यक्ति कला तक समान रूप से पाई जाती है। साथ ही हम जिन भावनाओं को व्यक्त रूप देना चाहते हैं, वे भी असली रूप में नहीं व्यक्त हो पाती। साधन की सीमा मे बंध कर निःसीम भावनाएँ कुछ विकृत-सी हो जाती हैं। यह विकार ही कला में रूप बन कर उपस्थित होता है। इसलिए प्रभाव में वह असली रूप का ही काम देता है। इस प्रकार सीमित दायरे में निःसीम भाव का विधान तथा स्थूल रूप में सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश ही कलाकार की विशेषता है। इन साधनों पर थोड़ा विचार कर लेने से विषय साफ हो जायगा। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है। कला कृति के साधनभूत पत्थर, कागज, स्याही अथवा छेनी, कलम, कूची आदि विशेष महत्त्व नही रखते। इसलिए जब हम कला के

आधारभूत साधनो की चर्चा करते हैं तो इनकी गणना उसमें नही होती हैं। यद्यपि स्थूल दृष्टि मे पत्थर, कागज आदि कला के उपादान कारण मालूम होते हैं, क्योकि इनमें ही कलाकृति का रूप प्रकट होता है। पत्थर ही एक विशेष प्रकार की काट-छाट के बाद कलाकृति का रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु जिसे हम कला कहते हैं, वह पत्थर से नही, कलाकार से आई है। कलाकार की कला का सम्पर्क पाकर ही पत्थर एक कलाकृति के रूप मे प्रकट हो सका है। इसलिए महत्त्व पत्थर का नही है। हाँ, जिन साधनो से कलाकार पत्थर को कलाकृति के रूप में परिवर्तित करता है, वे साधन महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी स्थिति कलाकार के अन्दर है। कलाकार के भाव, विचार, मान्यताएँ तथा उसका हर्ष, विषाद किंबहुना उसके व्यक्तित्व का समष्टि साधन भूत होकर छेनी के माध्यम मे पत्थर में उतरता है। कलाकार के अन्दर से निकल कर पत्थर में समा जाने वाला कलाकार का सम्पूर्ण 'स्व' ही कलाकृति का असली उपादान कारण है।

इस बात को अच्छी तरह से समझने के लिए अभिव्यक्ति के दो आधारभूत तत्त्वो पर विचार कर लेना आवश्यक है। वह है, शिल्प और शैली। अभिव्यक्ति अथवा कलाकृति में शिल्प और शैली को वही स्थान प्राप्त है, जो हमारे व्यक्तित्व में या हमारे अस्तित्व के प्रत्यक्षीकरण में शरीर और इन्द्रियो को प्राप्त है। जैसे प्रत्यक्ष रूप मे हमारी आत्मा शरीर और इन्द्रियो के माध्यम से व्यक्त होती है, उसी प्रकार कलाकृति मे कला, शिल्प और शैली के माध्यम से प्रकट होती है। शरीर और इन्द्रिय का परस्पर जो सम्बन्ध है। शिल्प और शैली का भी वही है। शिल्प और शैली के सम्बन्धो पर विचार कर लेने से कलाकृति में इनकी स्थिति साफ हो जाती है।

शिल्प और शैली

हमारे शरीर में कुछ इन्द्रियाँ शरीर के अग के रूप में भी प्रत्यक्ष हैं। किन्तु मूल रूप में वे स्थूल नही हैं। हमारे कान, आँख इत्यादि हमारे शरीर के भी अग हैं और अपने में ये इन्द्रिया भी हैं। शरीर के अग के रूप में ये स्थूल हैं और इन्द्रिय रूप में सूक्ष्म हैं। कहने का तात्पर्य यह कि कुछ इन्द्रियाँ, शरीर और इन्द्रिय दोनो रूपा में प्रकट होती हैं। ठीक इसी प्रकार कलाकृति का अधिकाश भाग शिल्प और शैली दोनो रूपो में प्रकट होता है। वस्तुत हमारी अधिकाश इन्द्रियो की सत्ता शरीर के किसी न किसी भाग पर अवलम्बित होती है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि शरीर के वे भाग ही इन्द्रियो नही हैं। इसी प्रकार शैली के अनेक भागो की सत्ता शिल्प के रूप में परिलक्षित होती है। किन्तु शिल्प ही शैली नही है। शिल्प में शैली के विविध रूप सूक्ष्म रूप से समाये हुए हैं। इसी प्रकार शिल्प की सार्थकता शैली पर निर्भर है। शैली ही शिल्प को प्राणवान बनाती है। केवल शिल्प सभव नही है। उसका निर्माण किसी न किसी शैली के आधार पर ही होगा, भले ही वह शैली नूतन या वैयक्तिक होने के कारण जनसामान्य के परिचय में न आती हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली और शिल्प अधिकाश एक दूसरे पर आधारित हैं। किन्तु शैली का पूर्ण भाग शिल्प पर नही आधारित होता। और न शिल्प का ही सम्पूर्ण भाग शैली के रूप में प्रत्यक्ष होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे हमारा मन, बुद्धि, अन्तःकरण आदि शरीर के किसी

भाग विशेष को रूप नही देते और न शरीर के किसी भाग विशेष पर आधारित होते हैं। इन सब की शरीर से पृथक् सत्ता है। यद्यपि ये शरीर के समष्टि में सूक्ष्म रूप से समाये रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के विघटित हो जाने पर इनका भी विघटन हो जाता है। इसी प्रकार शैली का एक विशाल भाग शिल्प से अलग सत्ता रखते हुए भी सूक्ष्म रूप से शिल्प के समष्टि में समाया रहता है। इस प्रकार शिल्प और शैली का सम्बन्ध दो भागों में विभक्त हो जाता है।

१—शिल्प के किसी अंग विशेष के रूप में शैली का कोई अंग विशेष प्रत्यक्ष होता है। इस शिल्प के अंग विशेष को शैली का अंग विशेष प्राणवान और सार्थक बनाता है।

२—शैली का अधिकांश भाग सूक्ष्म रूप से शिल्प की समष्टि में समाया रहता है। यहां शिल्प और शैली का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध रहता है। इस रूप में शैली का समष्टि शिल्प के समष्टि को प्राणवान और सार्थक बनाता है।

पहला सम्बन्ध शरीर और आँख तथा शरीर और कान के समान है। और दूसरा सम्बन्ध शब्द और अर्थ की तरह है। जिस प्रकार शब्द मे अर्थ समाया हुआ रहता है उसी प्रकार शिल्प में शैली समायी हुई रहती है। किन्तु जिस प्रकार शब्द और अर्थ की सत्ता अलग अलग भी है इसी प्रकार इन दोनों की सत्ता भी अलग अलग है। खण्ड और स्थूल रूप में पहला सम्बन्ध व्यक्त होता है और समष्टि तथा सूक्ष्म रूप में दूसरा सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

शैली, शिल्प का निर्माण करता है और शिल्प, रूप का आयोजन करता है। कला का सौन्दर्य दोनों ओर रहता है। स्थूल रूप से वह रूप में अर्थात् शिल्प में रहता है और सूक्ष्म रूप से शैली में रहता है। इस प्रकार शिल्प और शैली के समष्टि भूत, आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य से पूर्ण, आकृति में कला की प्रतिष्ठा होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे शरीर इन्द्रियादि से परिपूर्ण पिण्ड मे चेतना—आत्मा—की प्रतिष्ठा होती है।

एक प्रस्तर की कलाकृति हम देखते हैं। एक पत्थर है, उस पर कुछ उभरी-खुदी, मोटी-पतली रेखाएँ है। इन रेखाओं की समष्टि में, हमारे अन्तःकरण मे स्थित कोई खाका उपस्थित हो जाता है। फिर उस खाके—मूर्ति—के अन्तस्तल में अपने ही अन्तस्तल के किन्ही भावों, विचारों आदि को भी हम पा जाते हैं। इन सब उपलब्धियों के परिणामस्वरूप एक ऐसे सत्य का, रहस्य का ज्ञान होता है, जिसमें हम मुग्ध हो जाते हैं। यह सब सौन्दर्यानुभूति के रूप मे उपस्थित होता है। कला की यही सार्थकता है। यह तो दर्शक का कला के समीप पहुँचने का क्रम है। कलाकार के निर्माण का क्रम दूसरा है। जिस सौन्दर्यानुभूति को हम कला के संसर्ग से प्राप्त करते है, कलाकार उस सौन्दर्यानुभूति के परिणाम स्वरूप ही कलाकृति का निर्माण करता है।

कलाकार सामान्य स्थिति से ऊपर का आदमी है। क्योंकि वह अपनी ही नही, हमारी भी सही अभिव्यक्ति करता है। वह हमारा सही रूप कला में प्रस्तुत कर के हमें मुग्ध कर देता है। हम अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल से रहते हैं; किन्तु हम वैसा कर नही पाते। हम सामान्य जन दिन रात अपनी अभिव्यक्ति ही तो करते रहते है। भावों मे, विचारों मे, कार्यो एवं व्यवहारों मे सभी रूपों मे हम अपनी अभिव्यक्ति करते हैं; किन्तु यह सब हमारी सही अभिव्यक्ति नही है।

यह हमें स्वय अनुभव होता है। कभी कभी हम प्रत्यक्ष ही यह अनुभव करते हैं कि अपनी आन्तरिक अनुभूतियो और भावनाओ की सही अभिव्यक्ति नही कर पा रहे हैं। कलाकार कला के माध्यम से इसे कर दिखाता है। इसलिए सामान्य जन से वह ऊँचे दरजे का आदमी है। वह ऐसा आदमी है, जो आदमी को गहराई से देखता है, गुनता है और अपनी कला में उसे उतार कर रख देता है। उसकी अनुभूतियाँ और भावनाएँ सौन्दर्य का सृजन करती है। यही कला का सौंदर्य है।

अभिव्यक्ति में आन्तरिक सौन्दर्य होना चाहिए, वही मुख्य है। इसीलिए भारतीय चिन्तक कला में वाह्याडम्वर को महत्त्व नही देते है। यदि आन्तरिक सौन्दर्य है तो वाह्य सौन्दर्य के बिना भी कला 'कला' कहलायेगी, किन्तु आन्तरिक सौन्दर्य के अभाव में कला रहेगी ही नही। सच वात तो यह है कि आन्तरिक सौन्दर्य से ही वाह्य सौन्दर्य भी अनुप्राणित होता है। और आन्तरिक सौन्दय का मूल आन्तरिक अनुभूतियो और भावनाओ की सही अभिव्यक्ति में है। अपनी जिस अनुपम योग्यता के कारण कलाकार इस सौन्दर्य की सृष्टि कर पाता है, कलाकृति में वह योग्यता दो रूपो में परिलक्षित होती है। शास्त्रीय परिभाषा में उसे हम शिल्प और शैली कहते हैं। कलाकार को अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए साधना की आवश्यकता पडती है। अपनी साधना के फलस्वरूप वह शिल्प और शैली का उपार्जन करता है। कहना न होगा कि इनकी उपलब्धि में उसकी अनुभूति का भी पर्याप्त हाथ होता है। किन्तु कलाकृति में व्याप्त शिल्प और शैली मूलत कलाकार की देन होती है। कलाकृति का पूण आनन्द प्राप्त करने के लिए उसके मर्म तक पहुँचने के लिए हमें कलाकृति के कुछ विशेष विधानो का परिचय प्राप्त करना पडता है। ये विधान शिल्प और शैली के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं। कलाकृति को प्रस्तुत करने के ये दोनो प्रमुख साधन हैं। इसलिए इन साधनो का अध्ययन कला प्रेमियो के लिए आवश्यक हो जाता है। कला का शास्त्रीय अध्ययन या शास्त्रीय रूप इसी अध्ययन का परिणाम है। कलाकृति के साथ कलाकार का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो सम्वन्ध रहता है। इन दोनो सम्वन्धो को पृथक् करने की कोई सीमारेखा नहीं होती है। किन्तु सामान्य जन का केवल भोक्तृत्व सम्बन्ध ही होता है। कलाकार सृष्टि करता है, उसकी सृष्टि में प्रवेश पाने के लिए उसके नियमो और विधानो की जानकारी आवश्यक है। कलाकार के कर्तृत्व के साथ सम्पर्क स्थापित कर के ही हम कलाकृति से अच्छी तरह सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इस कर्तृत्व की प्रत्यक्ष रूप में दो दिशायें होती हैं, वे हैं शिल्प और शैली। कलाकार जब कलाकृति के निर्माण की ओर उन्मुख होता है तो शैली तुरन्त स्फुरित हो उठती है। इसके वाद कृति के निर्माण का प्रारम्भ होते ही शिल्प प्रारम्भ हो जाता है।

शिल्प का कृति के रूप के निर्माण में प्रमुख योग रहता है। इसी में शिल्प की सार्थकता है। सामान्य जन जब कलाकृति से सम्पर्क स्थापित करने चलता है तो पहले शिल्प से ही वह प्रभावित होता है, क्योकि रूप का आधार शिल्प ही है। रूप, कलाकृति में प्रवेश करने का सिंहद्वार है और इस सिंहद्वार की साज-सज्जा का भार शिल्प पर रहता है। कुछ कलाकृतियो में प्रवेश द्वार को खूब सजाया जाता है। इस साज-सवार के महत्व से इनकार नही किया जा सकता। किन्तु है यह ऊपरी चमक-दमक ही। इसका यह मतलब भी नही है कि फूहड घर में कला को वसाया जाय। रूप कला

का निवास स्थान है। इसलिए कला के अनुरूप ही इसे भी रहना चाहिए। कला के आन्तरिक सौन्दर्य के अनुरूप ही बाह्य सौन्दर्य की आवश्यकता है।

कलाकार जिन अनुभूतियों और भावनाओं को कलाकृति में रूप देता है, वे सब इसी दुनिया से आती हैं। किसी न किसी देश, काल, वातावरण आदि में ही उनका जन्म होता है। इसलिए जब वह कलाकृति के रूप में व्यक्त होती हैं तो उनके साथ ही वह देश, कालादि भी व्यक्त होता है। क्योंकि बिना इनके अनुभूतियाँ व्यक्त ही नही हो सकतीं। अनुभूति के लिए प्रबुद्ध चेतन की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही देश, कालादि की भी। तात्पर्य यह कि अनुभूति का देश, कालादि के साथ समवायी सम्बन्ध है। तो जिस प्रकार कलाकार की प्रबुद्ध चेतना की अनुभूति पत्थर में उतर आती है, उसी प्रकार उसका समवायी देश, कालादि भी पत्थर में उतर आता है। शिल्प और शैली में ये देखे जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात साफ हो जाती है कि कलाकृति के निर्माण में अर्थात् अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण में शिल्प और शैली का महान योग है। इसी प्रकार कलाकृति के उद्देश्य की पूर्ति में भी इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। कभी कभी शिल्प और शैली की जटिलता कलाकृति की उपयोगिता को नष्ट कर देती है। इसे कलाकार की अक्षमता ही माना जायगा। कोरी अभिव्यक्ति के रूप में ही कलाकृतियों का मूल्य नही है। कलाकृति जितने ही विस्तृत पैमाने पर और जितने की सहज-सरल ढंग से दूसरी चेतना में वही अनुभूति जागृत कर देती है, वह उतनी ही उपयोगी और सार्थक है। शिल्प और शैली कलाकृति की इस उपयोगिता के लिए उत्तरदायी हैं। किन्तु दर्शक का भी उत्तरदायित्व है। सभी को सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होना अनिवार्य नहीं है। सौन्दर्यानुभूति के लिए दर्शक में भी किन्हीं योग्यताओं की स्थिति अनिवार्य है। शैली और शिल्प का यह काम है कि सौन्दर्यानुभूति में कलाकृतियों के स्थूल उपादानकारण पत्थर आदि को विघ्न रूप में व्यवधान रूप में न उपस्थित होने दे।

श्री किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

कला और लेखन-कला

साधारण चीजो में मनुष्य जब कुछ अद्भुत मोहकता पैदा कर देता है, तो उसे 'कला' नाम मिल जाता है। कागज और रग आदि साधारण चीजें हैं—सब लोग काम में लाते है, परन्तु 'चित्र-कला' उन्ही चीजो का विशिष्ट प्रयोग है। पत्थर साधारण चीज है, पर छेनी के द्वारा उसको दिया हुआ विशिष्ट मोहक-रूप मूर्तिकला है। शब्द भाषा के साधारण है। जिन शब्दो का प्रयोग हम साधारण जन करते हैं, कवि भी उन्ही शब्दो को काम में लाते हैं, पर उनके विशिष्ट प्रयोग एक कला का रूप धारण करते हैं, उनका वाक्य 'काव्य' बन जाता है, यानी आह्लादकता कला का मुख्य लक्षण है। इसी आह्लादकता को काव्य का विश्लेषण करनेवाले आचार्यों ने, उस क्षेत्र के लिए 'रस' सज्ञा दी है।

तो, विविध कलाएँ हो गई। आह्लादकता की दृष्टि से इनमें तारतम्य या उत्कर्षापकर्ष का विवेचन सम्भव नही। कारण, किसी को गुलाबजामुन में सब से अधिक रस मिलता है, किसी को मठरी में और किसी को अफीम में ही! अफीमची से पूछो अफीम का मजा! कला के आस्वाद में भी यही बात है। प० ओकारनाथ ठाकुर को जो रस सगीत में मिलता है, वह काव्य में शायद न मिलेगा और श्री मैथिलीशरण गुप्त को हम उसके विपरीत पाएँगे। हम इसमें बहस भी न कर सकेंगे। हाँ, सजातीय कला में वैसा कुछ कहना सम्भव है, पर विजातीय या भिन्न कलाओ में आह्लादकता को लेकर कोई तारतम्य सभव नही है।

कुछ लोगो ने कला के आधार या उपादान को लेकर तारतम्य (कलाओ में) किया है, पर वह भी गलत है! उपादान की स्थूलता-सूक्ष्मता कला के सौन्दर्य में तारतम्य नही कर सकती। यदि वैसा होता तो काव्य-कला को सगीत से ऊँचा दर्जा कभी भी न मिलता, क्योकि दोनो का आधार 'शब्द' है।

हाँ, उपयोगिता के विशेष गुण से तारतम्य सभव है। यदि आस्वाद के साथ-साथ जीवन में कुछ उपयोगिता भी है, तो सोने में सुगन्ध। आस्वाद, रस या आह्लादकता तो 'कला' की जान ही है, इसमें सन्देह नही, पर उपयोगिता से उनमें आपसी तारतम्य किया जा सकता है। यदि बढिया घी में आटा भून कर और चीनी मिलाकर आप मेरे सामने रख दें, तो यह 'कला' नही। 'घी' और 'चीनी' तो स्वत मधुर और उपयोगी है। आपने क्या किया? हाँ, यदि कोई बढिया मिठाई बना कर दें, जो रूप और रस दोनो में विशेषता लिये हो, तो वह 'कला' होगी।

इसके विपरीत, देखने मे और आस्वाद में बहुत अच्छी चीज बना कर आप दें, पर उस में विष का मिश्रण हो, तो वह कला के रूप में बला कही जाएगी।

हम उपयोगिता की दृष्टि से कलाओं में तारतम्य की चर्चा कर रहे थे। लोगों ने 'ललित' और 'उपयोगी' नाम से दो वर्ग कलाओं के किए हैं, जो ठीक नहीं। लालित्य तो प्रत्येक कला में रहता ही है। वही तो प्राण है। इसलिए, ऐसे भेद गलत हैं। सभी कलाएँ ललित या सुन्दर हैं। भेद करना है, तो 'साधारण' और 'उपयोगी' नाम के भेद होंगे। स्वर्णकारी साधारण कला है और स्थापत्य उपयोगी कला है; परन्तु सबसे अधिक उपयोगिता काव्य में है, जो जीवन को मोड़ देने की शक्ति रखता है। इस तरह की उपयोगिता अन्य किसी भी कला में नही है। यदि किसी काव्य में ऐसी उपयोगिता न हो, या उसमें विष का मिश्रण हो, तो यह दूसरी चीज है। मनुष्य को प्राणिजगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी जब कहा जायगा; तो कोई निषिद्ध और पशुप्राय (दो हाथ और दो पैर रखने वाले) प्राणियों को सामने रख कर उस श्रेष्ठता-प्रतिपादन को कुंठित न कर सकेगा। 'मनुष्य' में 'मनुष्यता' चाहिए। काव्य में वह चीज चाहिए, जिसके लिए उसकी प्रवृत्ति है। अन्यथा, काव्य का प्रतिरूप ही कहा जायगा।

सुष्ठु शब्द-प्रयोग के कारण ही साधारण वाक्य 'काव्य' बन जाता है और यही है—

लेखन-कला

लेखन-कला का प्रयोग दो अर्थों में हो सकता है—१. लिखावट की कला और २. शब्द-प्रयोग की कला। पहली कला को कूची-कला की बहन कहेंगे—'चित्र-कला' से मेल उसका है। किसी समय इसका भी महत्त्व था। आज भी कई पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ नमूने के लिए विद्यमान हैं। डॉक्टर अमरनाथ झा की लिखावट देखकर मन मुग्ध हो जाता था, जैसे मोती पिरोकर सजा दिए गए हों। उस कलात्मक लिखावट के साथ डॉ० सम्पूर्णानन्द जी की या बन्धुवर राहुल जी की या भाई श्रीकृष्णदत्त पालीवाल जी या विद्वद्वर श्री रामचन्द्र वर्मा की लिखावट रखकर देखिए, कैसा लगता है?

यह ऊपरी चीज है। लेखन-कला का भीतरी रूप या असली रूप है भाषा का सुष्ठु प्रयोग। इसी पर हमें कुछ कहना है। लेखन-कला का उद्भव इस देश में कब हुआ, नही कहा जा सकता! कारण यह कि ऋग्वेद में लेखन-कला का जो रूप हमें मिलता है, उसका विकास होने में युग के युग लग गए होंगे और यह ऋग्वेद उपलब्ध जगत्-साहित्य में प्राचीनतम रचना है; ऐसा सबका मत है।

लाक्षणिक प्रयोग

भाषा में लाक्षणिक प्रयोग करना एक कला है और भाषा की उत्पत्ति के साथ ही साथ यह सम्भव नही। गेहूँ की खोज या उपज के साथ ही गुलाबजामुन और मठरी आदि का बनाना भी शुरू हो जाना संभव नही! पहले गेहूँ को उबाल कर खाना आया होगा, फिर रोटी बनाने की

कला प्रकट हुई होगी, तब पूड़ियाँ बनाना बहुत दिन बाद आया होगा और कालान्तर में पुए बनाना, तब गुलाबजामुन।

इसी तरह भाषा का जन्म और उसके लाक्षणिक प्रयोग का हाल समझिए। ऋग्वेद में शब्दों के जो लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं, उससे हम भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता समझ सकते हैं। यहाँ एक उदाहरण ही हम दे सकते हैं।

'अग्नि' का लाक्षणिक प्रयोग

उस समय देवासुर-संग्राम हो रहा था। आर्यों की ही दो प्रमुख शाखाओं में संगर हो रहा था। असुर लोग तेज थे और वे देव जनों के नाकों दम किए रहते थे। जाति के नेता चिन्तित थे। नेता नयन करता है जाति का, अपने पीछे सब को ले चलता है, पर उसके (हिये की) आँखें बहुत दूर की देखें, तब। 'ऋषिदर्शनात्'—ऋषि वह है, जो दूरदर्शी हो। यदि ऐसा न होगा तो नेता आगे चल कर स्वयं कुएं में गिरेगा, दूसरों को भी गिरा देगा, जो पीछे चल रहे होंगे।

तत्कालीन समाज के ऋषियों ने वेदमंत्र दिए—समाज को जागरण दिया। वेदों में सबसे पहला ऋग्वेद और उसके प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है—'अग्नि-सूक्त' और इस सूक्त का जो प्रथम मंत्र है, उसके प्रथम चरण का प्रथम अक्षर है—'अग्नि'—

'अग्निमीडे पुरोहितम् '

अग्नि का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। क्या यह साधारण अग्नि है, जिससे हम भोजन पकाते हैं? यदि ऐसा होता, तो वेद-साहित्य को वैसा महत्त्व कभी भी न मिलता और अनन्त साहित्य काल-कवलित हो जाने पर भी वह आज तक बचा न रहता। मनुष्य उसे छाती से चिपटाए न रहता और सब कुछ सह-खोकर भी त्यागी ब्राह्मण उसे बचाए न रहते। निःसन्देह वहाँ कोई चीज है।

वेद उत्तम से उत्तम लेखन-कला के मूर्त रूप हैं। वहाँ अत्यधिक लाक्षणिक प्रयोग हैं। 'अग्नि' का भी लाक्षणिक प्रयोग है। जब किसी में साहस या तेजस्विता नहीं रहती, तो कहा जाता है—'वह तो ठंढा पड़ गया!' यह लाक्षणिक प्रयोग है। देवासुर-संग्राम के समय यह उचित न था कि ऋषि (कवि) अलग बैठ कर अनन्त की वन्दना-व्यंजना में रत रहते और समाज को नष्ट होते देखते। तब उन्हें कौन पूछता? क्यों उन्हें कोई मानता? वे ऋषि थे, उन्होंने जागरण दिया और सबसे अधिक महत्त्व उन्होंने 'अग्नि' को दिया, जो उस समय आवश्यक था। 'अग्नि' की पूजा करो, आग बुझने न दो। सदा प्रज्वलित रखो और उसमें अच्छी से अच्छी आहुति पड़ने दो' यह वाणी थी। इस वाणी ने समाज को बल दिया। कायरता से प्राण बचा कर भाग खड़े होने वालों में भी मर मिटने की भावना आई। इस 'अग्नि' पूजा ने देश की जान बचाई, इज्जत बचाई, सम्पदा दी, मुक्ति दी। यही अग्नि-पूजा का महत्त्व है। इस मुक्ति-यज्ञ में पशुओं का वध हुआ।

'पशु' वही, जिसमें मनुष्यत्व न हो, जो सबको खा जाने पर तुला रहे, जिस पर समझाने-बुझाने का कोई असर न हो! ऐसे पशुओं का मुक्ति-यज्ञ में वध अधर्म नहीं धर्म है। परन्तु ऐसी सामूहिक अग्नि-पूजा 'मंत्र-पूर्वक' होनी चाहिए; पूरी मंत्रणा-विचारणा के अनन्तर ही वह चाहिए। 'मंत्र-हीन' यज्ञ मुक्ति न देकर और कड़े बन्धन में डाल सकता है और वह (मंत्रहीन) पशु-बध 'यज्ञ' नहीं; बहुत बड़ा पाप है। जोश में होश कायम रखना जरूरी है, नही तो फल उलटा!

यह सब वेदों में है। सुन्दर लेखन-कला है। कालान्तर में लोग वह सब भूल गए और आग तथा पशु आदि का वाच्य अर्थ ही लेने लगे! बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ ऐसी की गई और विधान बनाए गए। समय के फेर से ऐसा होता ही है! यह बीसवी शताब्दी तो प्रकाश का युग है न! परन्तु इस समय भी तो 'त्रिवेणी' का अर्थ 'तीन नदियों का संगम' मान रहे हैं। 'वेणी' को नदी का पर्य्याय आज भी विद्वान् लोग भी मान रहे हैं और उस कल्पना के आगे सिर झुका रहे हैं कि सरस्वती यहाँ गंगा-जमुना से मिलती थी, जो लुप्त हो गई है। सरस्वती बेचारी इधर कभी आई नही! कहीं बहती थी और लुप्त भी हो गई पर उत्तर प्रदेश में तो कभी नही आई! गंगा और यमुना का संगम। दो प्रवाह (दो वेणियाँ) पृथक्-पृथक् और तीसरा प्रवाह या वेणी सम्मिलित-संगत-रूप यों 'त्रिवेणी' सामने है; परन्तु फिर भी सरस्वती की कल्पना ऐसी रूढ़ कि ज्ञान-गरिमा बन बैठी! बस, इसी तरह समझ न रहने के कारण कुछ का कुछ समझ लिया जाता है और फिर अपनी समझ के अनुसार व्याख्या की जाने लगती है! वेदार्थ करने-समझने मे भी यही कुछ हुआ है।

परन्तु लेखन-कला का विकास अवरुद्ध न हुआ और विविध उत्तम काव्य संस्कृत में प्रकट हुए। हम अपनी उस प्राचीन लेखन-कला से आज कितने आगे बढ़े हुए है, यह देखने की बात है; पर हम इस संबन्ध में यहाँ कुछ न कहेंगे।[1]

---

१. 'अग्नि' तथा 'यज्ञ' आदि के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी के लिए मेरी 'मानव-धर्म-मीमांसा' देखनी चाहिए।

——लेखक

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल

उपन्यास कला की आंतरिक समीक्षा

कला-समीक्षा के क्षेत्र में जो स्तरहीनता व्याप्त है, उसका प्रत्यक्ष दुष्परिणाम यह हुआ है कि कला के वास्तविक प्रतिमान और मूल्यांकन-दृष्टि में धीरे-धीरे परिवर्तन उपस्थित हो रहा है। स्तरहीनता से तात्पर्य है, कला को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और प्राणत्व में न देखकर केवल उसे वाह्य दृष्टि से देखना। उसे केवल मनोनीत तत्त्वों में अलग-अलग बाट कर अध्ययन करना। अध्ययन भी वह जो आन्तरिक दृष्टि से कृतित्व की आत्मा को बाध कर नही चलती, वरन् उसे केवल कला (?) समझ कर चलती है। (जैसे कला, केवल वाह्यभित्ति है।) फलत यह अध्ययन, कला को, उसके प्राणत्व से असपृक्त होकर, प्राय नियमो, फार्मूलो और सिद्धान्तो के आधार से चलने लगता है।

समीक्षागत दृष्टिकोण के इस विघटन के पीछे अनेक कारणो में से प्रत्यक्ष और अति-समीप कारण यह रहा है कि, जब से उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता आदि साहित्य की ये भावपरक, रसपूरित विधायें व्यापक अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में उतारी गईं, तब से स्व-भावत उन्हें 'सिद्धान्त और अध्ययन' 'विचार और विवेचन' यहा तक कि नोट्स और कुजियो तक के स्तर पर आना पडा क्योंकि व्यापक प्रश्न हो गया पढाने और अध्ययन का, तथा स्वगत पठन और आत्ममनन का प्रश्न गौण हो गया। और रसग्राही वृत्ति से देखने और पढने की तो फिर बात ही नही उठती। इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि कला कृति की आतरिकता, उसके प्राणत्व को भुलाकर, केवल उसके शरीर को ही सब कुछ समझकर लोग सतुष्ट होने लगे। इनसे समीक्षक, अध्येता, अध्यापक और विद्यार्थी—इन सब का मार्ग सरल हो गया। समीक्षक और अध्येता कृतित्व के अन्तगत जो मूल है, जो मानवीय आवेदन है, तदनुसार जो अकथ और सूक्ष्म है, जो केवल अनुभवगम्य है, उसे स्वभावत त्यागकर उसके वाह्य की कहानी कहने बैठ जाता है।

मैं यहाँ इस प्रश्न को उपन्यास कला के अध्ययन के स्तर से उठाना चाहता हूँ। प्राय आलोचको और अध्येताओ की दृष्टि में उपन्यास कला की परिधि और व्यापकता, मूल्याकन उसकी रस प्रवणता इन्ही रेखाओं में सपूर्ण है।

प्रारम्भ होता है, उपन्यास की सज्ञा से। यह शब्द कहाँ से आया? अग्रेजी में इसका अनुवाद क्या है? और उसका मूल कहाँ है? शब्द व्याख्या में कही सस्कृत का प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न सहारा मिल गया तो फिर क्या है सब कुछ प्राप्त हो गया—

१. 'उपपत्तिकृतोह्यर्थः उपन्यासः प्रकीर्तितः।'.

× × ×

२. उपन्यासः प्रसादनम्

अर्थात् अर्थ को उसके युक्तियुक्त अर्थ में प्रस्तुत करने को तथा प्रसन्नता-प्रदायक कृति को उपन्यास कहते हैं।'

इसके उपरान्त उपन्यासकला का व्यावहारिक अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। पहले उपन्यास के तत्त्व : कथावस्तु, कथानक, निर्माण, इसके प्रकार और इसकी शैलियां और इसकी प्रकृति तथा योजना। कथानक कैसा हो ? उत्तम और निकृष्ट कथानकों की पहचान और उन पर अलग अलग न्याय और उनके मूल्य। कथानक निर्माण के सिद्धान्त और नियम।

दूसरा तत्त्व : पात्र और चरित्रचित्रण, चरित्र निर्माण, इसके प्रकार और इसकी भी विभिन्न शैलियाँ और धर्मितायें। चरित्रों का वर्गीकरण, चरित्र कैसे हों, पात्रों के चयन और उनके नियम-सिद्धान्त। चरित्रों की प्रकृति, स्वभाव और व्यक्तित्व-यथार्थ और आदर्श।

फिर तीसरा तत्त्वः शैली, शैली क्या है ? कैसे लायी जाती है ? श्रेष्ठ और निकृष्ट शैली के दो-चार उदाहरण। इसके भी सिद्धान्त और नियम। संगठन, व्यवस्था, क्रम और संगति आदि गुणों की चर्चा और उनके सिद्धान्त और चौथा तत्त्व, कथोपकथन, भाषा आदि। भाषा के नमूने, और कथोपकथन कैसे हों, इनके कुछ उदाहरण। फिर देश-काल-परिस्थिति तथा वातावरण — इस तत्त्व पर प्रकाश और नियम-सिद्धान्त की व्याख्या। और अंतिम तत्त्व, उद्देश्य : राजनीतिक, सामाजिक मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों के विवेचन और विश्लेषण। उद्देश्य तत्त्व के अन्तर्गत विभिन्न वादों की विवेचना और सिद्धान्त-प्रतिपादन।

और उपन्यासों के प्रकार इसके अन्तर्गत वर्ण्यविषय, उद्देश्य और शैली के आधार से उपन्यासकला के समूचे व्यक्तित्व के समझने का दावा करना—संक्षेप में उपन्यासकला की यही कसौटी है और इन्हीं रेखाओं में उपन्यास अभिव्यक्त हो जाता है। और इसके परे उपन्यास में कुछ शेप नही रह जाता।

उपन्यास कला क्या, समूचे कला प्रकार की ऐसी विवेचन-परम्परा और उससे संबंधित सिद्धान्त और अध्ययन को देखकर कभी-कभी केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' की शिक्षाओं और नियम-सिद्धान्तों का स्मरण हो जाता है।

ये कला समीक्षक-अध्येता दुर्भाग्यतः यह भूल जाते हैं कि हर कला में अपना काव्यत्व होता है। और वह काव्यत्व ही उसकी कला है, उसका धर्म और प्राण है। उसे छोड़कर अदेख कर उसमें जो कुछ वाह्यदृष्टि से नज़र आता है, वह महज उसकी अनुकृति है और जो कृति है, उसको देखने तथा अनुभव के लिये वास्तविक आँख और हृदय चाहिए।

उस अकथ और सूक्ष्म की अभिव्यक्ति में, उसे परिभाषा और विवेचन की भाषा में वाँधने के लिये अपने-अपने युग, देश-काल के प्रायः सभी कृतिकारों ने प्रयत्न किया है, पर वह सत्य कभी

भाषा में अभिव्यक्त नहीं हो सका है। भाषा अधूरी है, क्योंकि उसे तो स्वय अभिव्यक्ति की अपेक्षा है।

कला और अभिव्यक्ति का मौलिक प्रश्न ही यही है—हम कभी वह सम्पूर्ण नहीं लिख पाते, जिसका अनुभव करते है और जिसे लिखना चाहते है। इससे भी आगे जहा उपन्यास कला का उद्देश्य है, 'काव्यात्मक सत्य का अकाव्यात्मक वक्तव्य' (एलीजाबेथ बोवेन) वहाँ इस कला की गरिमा और उसके मूल्याकन का प्रश्न और भी गुरुतर हो जाता है।

उपन्यास को उसके आतरिक पक्ष से अलग करके या उसे त्यागकर उसे केवल नीरस कला तत्त्वो के सगठित रूप में देखना कला के प्रति अधम है। इस अधर्म के मूल में दो मौलिक सत्य समाहित है। प्रथम, हम आज अपनी स्तरहीनता और आतरिक दृष्टि विहीनता के फलस्वरूप, अथवा अपनी सुविधा के कारण उपन्यास कला को तत्त्वो में बिखेर कर देखते है, उसका वर्गीकरण कर देते है, उसे अनेक प्रकारो में रख देते है—यह कथावस्तु, यह चरित्र, यह शैली, यह उद्देश्य, यह उपकरण, यह यथार्थ, यह आदर्श, यह शिल्प और दूसरी ओर यह ऐतिहासिक उपन्यास, यह वैज्ञानिक, यह जासूसी, यह यौन सबधी, यह साम्यवादी और यह मनोवैज्ञानिक, यह आचलिक—पर ये सब अध्ययन जनक, वाह्य दृष्टि परक वर्गीकरण और विवेचन है जो अधूरे है, असगत है। उपन्यास कला क्या, किसी भी कला प्रकार के प्रतिमान के विरोध में जाने वाली ये दिशाएँ कला के मूल रूप और धर्म में असगति और गलत मूल्य विकसित करती है। एक जीवित आकर्षक रगबिरगी तितली को पकडकर आप कहेंगे, यह तो महज़ पख ही पख है—फिर जब आप इसका मूल्याकन करने चलेंगे तो उसे एक-एक तत्त्व में नोच-नोच कर देखेंगे, फिर आप उस पर अपना न्याय और सिद्धान्त लागू कर देंगे। कितनी निर्मम प्रक्रिया है यह किसी जीवन्त कलात्मक सृष्टि के मूल्याकन के प्रति। तितली का हर पख, हर रोयाँ एक दूसरे से अविभाज्य है, उसके पख का प्रत्येक रग, प्रत्येक चमक, हर छोटी सी छोटी रेखा, विन्दु एक दूसरे से अविच्छिन्न है और सब मिलकर उसके प्राण से, सम्पूर्ण अतस से उद्भूत है—ठीक इसी तरह उपन्यासकला क्या किसी भी कला का सम्पूर्ण रूप अपने आप में एक है, अविभाज्य है। सब ऐसा मिला-जुला है कि आप अगर उसमें से तनिक भी अलग करना चाहेंगे तो सब मिट जायगा—रस पहले रग बाद में और चमक आपके निर्मम हाथ के धब्बो से।

उपन्यासकला वस्तु नही है, पदार्थ नही है, जिसे आप तोड-तोड कर, बाट-बाँट कर, बिखेर-बिखेर कर देख सकते है। अगर आप ऐसा करते है तो स्वभावत आपके हाथ पख-पदार्थ ही आयेगा, मनहर तितली न आयेगी।

दूसरा सत्य कला की मूल प्रकृति से सबन्धित है। कलाकार कलाकृति क्यो बनाता है? कलाकार के अतस् में जो अशाति और विक्षोभ है, समवत उस पर विजय प्राप्त करने के लिये वह कला का सृजन करता है। तभी कला और सृजन की निष्ठा, आत्मबोध और आत्माभिव्यक्ति ये सब कला के अविभाज्य चरण है, इन्हें सृजन-प्रक्रिया की अविच्छिन्न दशाएँ भी कह सकते है। यहा इस सदभ में कलाकार के विजय से तात्पर्य है अशान्त-विक्षुब्ध अतस् की वाह्य सप्रेषणीयता

'स्व' से 'पर' धरातल तक मानवीय आत्मान्वेषण की गति। यह आत्मान्वेषण जितने गहरे, घनीभूत स्तर तथा अर्थ तक पहुँच पाता है, कला उतनी ही मानवीय आवेदन और गरीमापूर्ण स्थिति को प्राप्त होती रहती है, और मानवता के शाश्वतमूल्यों से अभिभूत होती चलती है। 'गोरा' 'गोदान', 'शेखर एक जीवनी' 'वार एंड पीस' 'ब्रादर्स केमेजोब' 'वी वेयर ऑफ पिती' 'मदाम बावेरी' 'विदरिंग हाइटस' आदि उपन्यासों की कला उक्त सत्य के उदाहरण हैं।

इन उपन्यासों की कला-समीक्षा में, अध्येताओं ने जो तत्त्वगत, नियम और सिद्धान्तगत फार्मूले निर्धारित किये हैं, उनसे कोई साम्य नहीं है और न उन चौखटों में इनकी कला बाँधी ही जा सकती है। वस्तुतः कला अपनी मूल प्रकृति में जहाँ अपनी आदिम परम्पराओं की जड़ से लगी हुई है, वहीं यह सारी परम्पराओं, नियम और सिद्धान्तों को अस्वीकार भी कर देती है—"The arts are instinctive products of the artists who defy all regulations" कलाकार के विषय में जो यह सत्य लागू है कि वह क्रांतिकारी व्यक्ति हैं, वस्तुतः यह उसकी वास्तविक और जीवन्त कला की अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप कलाकार को 'रिबेल' की संज्ञा मिलती है।

इस स्थिति में उपन्यास कला की समीक्षा निर्धारित तत्त्वों, नियमों और सिद्धान्तों से करना और कला-समीक्षा का एक प्रतिमान निर्धारित कर देना और उसी प्रकाश में उपन्यासों को देखते रहना कितना असंगत है। कला में अनुभूति है, कल्पना है और इनसे भी ऊपर एक दृष्टि होती है, वस्तुतः यही कलाकृति का आंतरिक क्षेत्र है—इसी का रसबोध और इसी का पाठक द्वारा रसास्वादन कराना अर्थात् कृति से पाठक तक इसका संप्रेषण ही कला की मूल और आंतरिक समीक्षा है।

हिन्दी में इस प्रकार की आंतरिक समीक्षा के अभाव से जो क्षति उपन्यास-नाटक आदि क्षेत्रों में हुई है, वह बहुत ही चिन्त्य है। इससे हिन्दी उपन्यास को वह धरातल और स्थिति नहीं ज्ञात हो सकी हैं, जिससे वह अपने आप को विकसित करके अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को सहज ही प्राप्त हो सके। "इन दृष्टियों से हिन्दी के, और कुछ हद तक भारत के, उपन्यास लेखकों की यथार्थ चेतना अर्ध विकसित हो रही है। इसका एक कारण है—हमारे लेखकों की उक्त चेतना का शिक्षण कर सकने वाली संस्थाओं या परिस्थितियों का अभाव।"[1]

किसी कलाकृति के निर्माण, अथवा उपन्यास विशेष की रचना में, इस तरह से युग विशेष के निर्माण में अनेक वहिरन्तर धाराओं, स्थितियों और शक्तियों का हाथ रहता है। इसलिए कृतित्व की समीक्षा, कला की समीक्षा सामान्यीकरण अथवा निर्धारित नियम-फार्मूलों के स्वर से नहीं किया जा सकता। उसके लिये उन आंतरिक शक्तियों और सप्राणता का अन्वेषण करना होगा, जो कृतित्व में अदेख है, अकथित है, पर उसी की अमिट गूंज, स्थायी रस सर्वत्र है। समीक्षाकार की भाषा में उत्तरोत्तर 'वादों' की संख्या वढ़ती जा रही है, पर कलाकृति की

---

१. हिन्दी-उपन्यास का धरातल: आलोचना, १३

आतरिक पकड उसकी सूक्ष्म-मूल प्रेरणा उसकी मुट्ठी की पकड में नही आ रही है। इसके कारण दोनो तरफ है। कृतित्व में एक 'पर्स्पेक्टिव' दृष्टि उन्पयासकार की होती है, जिसे रचना का उत्स या प्राण कह सकते हैं, इसका यहाँ बेहद अभाव है। और जो दृष्टि यहाँ दो एक लेखको में अर्धसत्य, या अर्घ विकास क्रम में मिलती भी है, वह अपने आपसे भोग कर अथवा अतस् की पीडा या वेदना से पूण जनित नही है, उस पर किसी न किसी स्तर से प्रत्यक्षत विदेशी दृष्टियो का प्रभाव है। परिणामत जो कुछ है भी वह अस्पष्ट है। विरोधाभास से त्रस्त है—और यही कारण है कि जो दृष्टि वह अपनी रचना से हमें दिखाना चाहता है वह विश्वसनीय एव प्रेषणीय नही है। दूसरी ओर समीक्षक या अध्येता वर्ग की दशा है पहले से बदत्तर—वहदृष्टि विहीन, अलग-अलग राजनीतिक धाराओ की गुलामी अपने सिर पर रखे हुए है। उसकी दृष्टि में व्यक्तिगत रागद्वेष, प्रतिस्पर्द्धा आर्थिक और सतही उद्देश्य घुले मिले है। परिणामत वह कलाकृति को वाह्यदृष्टि से देखने का आदी हो गया है। लेखक की दृष्टि से उसकी दृष्टि मिल सके, या वह उसे पकड सके यह उसके लिये कठिन है। और वह चिन्तक की भाति अधविकसित दृष्टियो वाले लेखको को अपनी समीक्षा से विकास दे सके, अपने चिन्तन से उसे स्पष्ट दृष्टि दे सके, अपनी रसदायिनी, प्रेषणीय सवेदना से लेखक को मार्ग दे सके, यह तो आज असभव ही हो रहा है। वस्तुत मूल प्रश्न यह है कि हमारे यहाँ उस कोटि का मौलिक चिन्तक आज कही है ही नही—किसी भी क्षेत्र में, क्या राजनीति, क्या साहित्य, क्या धम।

सम्पूण कलाओ में, विशेषकर उपन्यास कला मे प्रकृतिवाद (naturalism) प्रभाववाद (Inpressionism) यथार्थवाद (Realism) प्रतीकवाद (Symbolism) आदर्शवाद (idealism) समय-समय पर समीक्षाको द्वारा दिखाये जाते है और कलाकृतियो मे हम स्वय उनके दर्शन और रसास्वादन करते है। पर ऐसा कैसे और क्योकर होता है, उपन्यास कला इस तरह बहुमुखी प्रयास और प्रयोग क्यो करती है, इसीका मथन और उत्तर कला की आतरिक समीक्षा है।[1] ऐसी रचनात्मक और अपने आपमे सृजनात्मक समीक्षा जो एक ओर कला के अन्तर्प्रयाण का पथ दिखाती है, और दूसरी ओर उसके मूलरहस्य से हमें सुपरिचित करती चलती है। उससे कृतित्व का हर अथ हर दिशा हर प्रसग अपने आप इस तरह मुखरित हो जाता है, जैसे पराग-सुगधि युक्त पुष्प, पखसहित प्राणवान तितली।

उपन्यास अपनी विकास-यात्रा मे आश्चर्यजनक उन्नति कर गया। जितने प्रयोग, जितनी शैलिया इसके अन्तगत विकसित हुई, उतनी अन्य क्षेत्र मे नही। इसके बावजूद आज पश्चिम में यह प्रश्न उठ रहा है कि उपन्यास क्षेत्र में इतनी प्रयोगशीलता और परिवतन के कारण इस कला की दयनीय दशा हो गयी है। आज कहा जाने लगा है कि उपन्यास मे गतिरोध उपस्थित हो गया

---

१ 'आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान' नामक पुस्तक में डाक्टर देवराज उपाध्याय ने इस महत्वपूर्ण दिशा में 'उपन्यास कला का अन्तर्प्रयास-अध्याय के अन्तर्गत उल्लेखनीय कार्य किया है।

है, इसकी शव परीक्षा होनी चाहिये। यह कला द्रुतगति और संश्लिष्ट जीवन और उसके अन्तर्मन के कोष्ठों और तहखानों में उपजती हुई समस्याओं और गतियों का प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति नहीं कर पा रही है। यद्यपि दूसरी ओर संसार के प्रायः हर देश के वर्तमान लेखक ऐसे संश्लिष्ट और उलझे हुए जीवन की अभिव्यक्ति में एक से एक प्रयोग करते चल रहे हैं। यही नही पश्चिम में, उपन्यास कला में उपस्थित गतिरोध से लड़ने और उस पर विजय प्राप्त करने के लिये एक से एक आश्चर्यजनक सफल प्रयोग हो रहे हैं। कल्पना, पौराणिकता के तत्त्व स्थापना में 'हक्सले', उद्धत पौरुष और स्थूल उपकरण की प्रतिष्ठा में 'अर्नेष्ट हेमिन्गवे' का उदाहरण 'हेनरी ग्रीन' की तादृश्यवादिता (Naturalism) 'वर्जीनियाउल्फ' का सत्य को सत्य के रूप में कह सकने का दावा, 'जेम्सज्वायस' का स्वच्छन्द मनोविश्लेषणात्मक चित्रों का निदर्शन ये सब भी एक से एक उदाहरण हैं।

पश्चिम के इस प्रयोगकालीन दिशा में कथा की स्थूलता का त्याग, तथा जीवन की कम-से-कम अवधि को उपन्यासकाव्य में बांधने का सबल प्रयास प्रायः स्पष्ट होता चल रहा है। 'जेम्स-ज्वायस' के 'युलिसिस' नामक उपन्यास में एक व्यक्ति का केवल चौबीस घंटे का जीवन लिया गया ह। 'वर्जीनिया उल्फ' के प्रसिद्ध उपन्यास 'मिसेज डालोवाई' में केवल तीन घंटे की जीवन कथा है आदि आदि। इस अन्तंप्रयास से यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिम में उपन्यास कला मनुष्य के अन्तर्मन के अभेद्य तहखानों मे फँस रही है और वस्तुतः यहीं से उसका गतिरोध भी स्वाभाविक है।

हिन्दी उपन्यासकला में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है और इस क्षेत्र में निरन्तर प्रयोग हो रहे हैं। इस हालत में इसे निश्चित नियमों में बांधकर देखते रहने का अभ्यास समीक्षा-धाराओं को कुंठित कर रखना है। उपन्यास, कहानी नाट्यकलासम्बन्धी आलोचना-पद्धति और उसके सम्पूर्ण विकास को देखकर आज कोई भी कह सकता है कि समीक्षाशास्त्र, आलोचना की धारा, कृतित्व की अपेक्षा बहुत पिछड़ी हुई है और पिछड़ती चली जा रही है। कला समीक्षक अपनी उत्तरोत्तर चिन्तना से हमें उचित और अनुचित क्या बता सकेगा! (सौन्दर्यदृष्टि या 'पर्स्पेक्टिव' देने की बात ही नही उठती) जबकि वह अपनी समीक्षागत, आलोचना शैलीगत रूढ़ियों में आबद्ध रह कर कृतिकम से बहुत पीछे छुटता जा रहा है।

जनता की पार्लमेंट (पचायत)

इतना ही नही वरन् उस समय की जनता की पार्लमेंटरी प्रवृत्तिया (पचायतें) भी मदिरो में ही हुआ करती थी। इसके लिए मदिरो मे "अत्रलय" नामक चतुष्कोण सभाखड बनाये जाते थे। इस प्रकार उस युग में मदिर प्रजा-जीवन के हृदय रूप थे। और जीवन की सभी नाडियो में उस हृदय की धडकन द्वारा गति प्रदान कराने के उद्देश्य से ही मदिर की दीवारो पर सार्वजनिक लेख उत्कीर्ण करवाये जाते थे। क्योकि ऐसे स्थानो में किये गये प्रकाशन समस्त जनसमूह में प्रचारित हो जाते थे। यही नही वरन् किसी भी विषय के ज्ञान का प्रचार मदिरो-द्वारा अत्यत विस्तृत रूप से किया जा सकता था। उन मदिरो के शिलालेख केवल उस युग की प्रजा के लिए ही नही वरन् भविष्य में भी उनका उपयोग करने वाली जनता के लाभार्थ लिखे जाते थे। इस प्रकार बडे से बडे जन समूह को भी जानकार बनाने विषयक प्रकाशन का सिद्धान्त यथार्थ रूप मे व्यवहृत होता था।

सुविकसित कला

प्राचीन दक्षिण भारत के शिलालेखो की प्रसिद्धि में भी एक विशेषता थी। इन लेखो को अकित करने में अत्यत सूक्ष्मता-पूर्वक सावधानी रखी जाती थी। प्रसिद्धि का एक आदर्श कला और साधन-विकास भी निश्चित किया गया था। उन शिलालेखो से ज्ञात होता है कि जब-जब उन देवालयो का पुनरुद्धार किया जाता, तब-तब उन मदिरो की दीवारो पर लगे हुए शिलालेखो की प्रतिलिपिया भी की जाती थी और उन्हे मन्दिरो के तलघर में सुरक्षित रख दिया जाता था। इस प्रकार उस युग की ही नही, वरन् भविष्य काल की जनता के लिए भी जानकारी देने वाले साधन नष्ट या खडित न होने देने की सावधानता इस प्रणाली में निहित थी। और यह सूर्य-चद्र का अस्तित्व रहने तक उस प्रसिद्धि (ख्याति) को चालू रखने विषयक उनकी भावना के अनुरूप ही थी। वह प्रसिद्धि (प्रकाशन) क्षणिक नही वरन् स्थायी थी। साथ ही इससे उनके प्रकाशन या प्रचार की भावना की विशेष कलात्मक प्रतीति भी होती थी। उन्हे इस बात का पता था कि प्रचार या प्रसिद्धि को शाश्वत रूप प्रदान करना, हमारा धार्मिक कर्तव्य है।

इतिहास के आलेखन

उस युग के विग्रही अथवा शात समय के लोक-जीवन के चित्र या घटना-प्रसग, राजनीतिक-प्रवृत्तिया, आर्थिक-सिद्धिया, सामाजिक-प्रगति या सास्कृतिक-विकास के लेखो का भी इन शिलालेखों में समावेश होता था। राज दरबार में होने वाली घटनाओ या प्रजा से सम्पर्क रखने वाली विविध प्रवृत्तियो और नागरिको के व्यक्तिगत या निजी कार्यों का खुलासा भी इन शिलालेखो में स्थान पा जाता था। इन समस्त सार्वजनिक एव उपयोगी विषयो की प्रसिद्धि के लिए यही एक उत्तम साधन था। इस प्रकार के आलेखनो का "कोलवेटी कोल्का" के रूप मे निर्देश किया जाता था। विवरणो की प्रसिद्धि में जनता को तात्कालिक जानकारी कराने का हेतु समा-

विष्ट था। इस प्रकार के एक खास शिलालेख में एक व्यक्ति ने अपना ऋण चुकाने विषयक उल्लेख भी किया है; जिसकी आधुनिक अदालती नोटिस या कानून की दृष्टि से जारी किये गये इश्तहारों के साथ भलीभांति तुलना हो सकती है।

विशेष सरकारी अधिकारी

इन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की जानकारी उत्कीर्ण करने का काम 'युगावेटी' के रूप में परिचित एक विशेष अधिकारी को सौंपा जाता था। यह पद वर्तमानकालीन प्रकाशन-विभाग के अधिकारी के पद जैसा ही था। उसकी ओर से आज्ञा दी जाती और शिलालेख के पूर्ण रूप से खुद जाने तक इस कार्य को संपन्न करने के लिए भी वही जवाबदार रहता था। उस युग के दरबारी नौकरों की सूची मे 'युगावेटी' का समावेश किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। इससे सिद्ध है कि प्राचीन काल मे प्रकाशन-अधिकारी का पद बड़े ही महत्त्व का था।

इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रकाशन, प्रसिद्धि या प्रचार कला का आधुनिक आविष्कार ही नही है, वरन् हमारे पूर्वज भी इससे सुपरिचित थे। प्राचीन दक्षिण भारत में तो प्रकाशन का महत्त्व संपूर्ण रूप से ही स्वीकार किया गया था। अलबत्ता भूतकाल में इस सम्बन्ध मे दी जाने वाली सुविधाएँ और स्वीकृत पद्धतियाँ आधुनिक सुविधाओं और प्रणालियों से भिन्न हो सकती हैं। किंतु प्रसिद्धि और प्रकाशन के लाभो को उस समय में भी स्वीकार किया गया था, इस वस्तुस्थिति से इनकार नही किया जा सकता। उस युग में भारतीय जनता की सिद्धियाँ विविध प्रकार की और महत्वपूर्ण थी। किंतु प्रकाशन के क्षेत्र मे तो वे सचमुच उल्लेखनीय ही थी।

श्री श्रीधर शास्त्री

छाया-चित्र (फोटोग्राफी) कला

सन् १७२७ ई० में जर्मन वैज्ञानिक हर्नम्यान, स्कूल्ज एक दिन सिल्वर नाइट्रेड में खडिया मिट्टी मिला रहे थे। उस सम्मिश्रण में खिड़की से सूर्य की किरणों की रोशनी पड रही थी, जिससे सम्मिश्रण धीरे-धीरे काला होता जा रहा था। उसका बदलता हुआ रंग देख कर डॉक्टर ने उस पर प्रयोग करना आरम्भ किया। वह बार-बार उस सम्मिश्रण को सूर्य की रोशनी के सामने रखने लगे। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सिल्वर नाइट्रेड और खडिया मिट्टी के सम्मिश्रण पर सूर्य की रोशनी का प्रभाव अधिक पडा करता है।

कहा जाता है कि उसी समय लन्दन के एक वैज्ञानिक लुउईस भी इसी विषय पर प्रयोग कर रहे थे, किन्तु १७८१ ई० में उनका अचानक देहावसान हो गया। उनके प्रयोग के सभी कागजात और उनका फार्मूला इस्ट्रोरिया निवासी "जोसेफनेजउड" के अधिकार में आया। उसी अवसर पर उनके सहायक चैंसहोम ने उनके समक्ष छाया चित्र का विषय प्रस्तुत किया। डॉ० वेजउड के एक लडके थामस को जब अपने पिता के अनुसधान का पता चला तो उन्ही के फार्मूले के आधार पर वह चल चित्र निर्माण करने में लग गये।

निर्माण की पद्धति

थामस ने पहले मुलायम कागज की दफ्ती पर सिल्वर नाइट्रेड का सम्मिश्रण चढाया, वह लेप सूर्य की रोशनी पाते ही तुरन्त काला हो गया। छाया में रखने से वह धीरे-धीरे काला पडता था। इसके बाद थामस ने एक बडा सन्दूक बनाया, उसके मुँह पर जहा से सूर्य की रोशनी अन्दर जाती थी, एक लेंस लगा दिया। इसके बाद उसके ऊपर उस दफ्ती को रख दिया। उसने यह भी देखा कि दफ्ती पर कोई दूसरी चीज रख देने से रखी हुई वस्तु के चारो ओर रोशनी पडने से कालापन छा जाता था और उस वस्तु के नीचे का स्थान ढका रहने के कारण सफेद बना रहता था।

इस तरह थामस मनुष्यो के मुख की सूरतें, कीडो-मकोडो की रेखाएँ बनाने लग गये। लेकिन ऐसी रेखाओ पर जब बाहर की थोडी भी रोशनी पडती तो वे स्थान धुधले पड जाते थे, और कुछ दिनो बाद बिल्कुल काले पड जाते थे। इसके बाद उन्होने उस प्रकार के रेखा चित्र पटो को बार-बार पानी से धोया, लेकिन फिर भी सिल्वर नाइट्रेड के सम्मिश्रण को वह स्थायी न बना सके।

लगातार प्रयत्नशील थामस ने सन् १७९९ ई० में "ह्वाइयों" का आविष्कार किया। आजकल चित्र को स्थायी बनाने के लिए यही पदार्थ काम में लाया जाता है, लेकिन निरन्तर अध्यवसाय और कठोर श्रम करने से थामस का स्वास्थ्य क्षीण होने लगा और सन् १८०५ ई० में सिर्फ ३५ वर्ष की उम्र में उस महान् वैज्ञानिक का देहावसान हो गया।

आविष्कार का विकास

थामस के उस आविष्कार से यूरोप की आंखें खुल गयी। १८१४ ई० में फ्रांस के एक सैनिक "जोसेफ निकोलसनिस्" का ध्यान विशेष रूप से इस आविष्कार की ओर आकृष्ट हुआ। उसने प्रयोग करते हुए "लिथोग्राफी" की पद्धति खोज निकाली। रोशनी के सहारे कच्चे पत्थर पर चित्र बना कर उसने लोगों को चकित कर दिया। धीरे-धीरे पत्थर के स्थान पर धातु का प्रयोग करने लगा। धातु की चद्दर पर उसने धातु तेल का लेप किया। रेखाओं की प्रतिकृति (ड्राइंग) के नीचे धातु के चद्दर को रख कर उस पर एसिड का लेप किया। परिणाम यह हुआ कि रेखा के आसपास गड्ढे पड़ गये और रेखाएँ ऊंची रह गयी। इस तरह धातु चित्र से उसने कई चित्र छापे।

सन् १८२४ ई० में उसे "ड्यागुर" नाम का एक सहयोगी मिला वह प्रतिफलित चित्र पर रंग लगा कर स्थायी तस्वीरें बनाता था। दोनों मिल कर काम करने लगे। अन्वेषण करते हुए पांच वर्ष भी नहीं बीत पाये कि "निस्" की मृत्यु हो गयी। अब "ड्यागुर" नये ढंग से सोचने लगा। उसने विचार किया कि कैमरे के द्वारा कैसे स्थायी चित्र बनाया जा सकता है। वर्षो तक सोचने के बाद वह इस प्रयत्न में सफल हुआ। उसने सिलवर की एक दफ्ती में "आयोडिन" का धुआँ चढ़ाया। उसे अनुभव हुआ कि दफ्ती मे जहाँ-जहाँ सूर्य की रोशनी अधिक पड़ी वहाँ पारा का धुआं काफी चढ़ा हुआ है। जहाँ पर रोशनी कम होने से धुआं कम चढ़ा था, उस स्थान को "ह्वाइयो" से धो देने से वह साफ हो गया। इस प्रयोग के परिणामस्वरूप जो चित्र बना, वह बायें का दाहिना और दाहिने का बायां चित्र बना, लेकिन सिलवर दफ्ती साफ छपती थी, इसलिए उसके इस आविष्कार की बड़ी ख्याति हुई।

इसी अवसर पर लन्दन के एक वैज्ञानिक "विलियस हेनरी फाक्स टालवोट" भी ऐसे ही आविष्कार के प्रयत्न में लीन थे। सबसे पहले १८३३ ई० में उन्होंने कैमरा बाक्स से फोटो उतारने का प्रयत्न किया था। उन्हे सफलता मिली और अपने इस आविष्कार को उन्होंने पेटेन्ट करा लिया। ड्यागुर और टालवोट की प्रणाली मे काफी अन्तर रहा। ड्यागुर की प्रणाली को आजकल पाजेटिव प्लेट कहते हैं, और टालवोट की प्रणाली को निगेटिव प्लेट कहा जाता है। जो चित्र हूबहू उतरता है उसे पाजेटिव प्लेट कहते हैं और चित्र से उल्टा उतरने वाले को निगेटिव। अर्थात् काले रंग की जगह सफेद रंग हो जाना। टालवोट की प्रणाली में एक विशेषता यह है कि उसमें लिये हुए प्लेट से अनेक चित्र छापे जा सकते है।

आधुनिक फोटो प्रणाली

वर्तमान फोटो प्रणाली का आविष्कार सन् १८४७ ई० में "स्काट आर्चर" ने किया था। उनके द्वारा प्रस्तुत प्लेट भीगी कोलोडियन पद्धति कहा जाता है। यह प्रणाली ईथर और अल्कोहल के सम्मिश्रण पर आधारित है, जिसे कोलोडियन कहा जाता है। साल्फारिक एसिड तथा नाइट्रिक एसिड में रुई भिगो कर फिर उसे जला कर काँच के प्लेट में चढ़ाया जाता है। इसके बाद उसको कोलोडिव लगे प्लेट को सिल्वर नाइट्रेड के घोल में डुबा कर फोटो उतारा जाता है।

इसी पद्धति के अनुसार अमेरिका के वैज्ञानिक जार्ज ईस्टमैन ने सेलुलाइड और काँच पर सुओजेलेटिन चढ़ाकर नया प्रयोग किया। इस प्रयोग का परिणाम आजकल की प्रसिद्ध "कोडक" कम्पनी है। जार्ज ईस्टमैन ने खुली रोशनी में कैमरा के अन्दर फिल्म तथा प्लेट पहनाने तथा धोने की प्रथा का आविष्कार किया। इसी प्रकार जर्मनी में भी नये प्रयोग इसी आधार पर किये गये।

कहा जाता है कि सन् १८२६ ई० में डब्लू० जी० हौर्नर ने एक जीवन-चक्र (जेट्रोप) यंत्र का आविष्कार किया। जो एक गोल सिलेंडर के रूप में था, इसमें ऊपर की ओर देखने के लिए शीशा लगा रहता था। किन्तु इस यंत्र से चित्र उतारने में बड़ी कठिनाई होती थी, जिसे हल करने के लिए हौर्नर लगातार प्रयत्न करते रहे। पाँच वर्ष के कड़े परिश्रम के बाद हौनर ने अपने कार्य में सफलता प्राप्त की और जीवन चक्र में अपेक्षित सुधार करने के साथ-साथ उसका नाम भी बदल कर "प्रौक्सी नोसकोप" नाम रखा। इसी बीच १८२७ ई० में जे० ए० आर० रूम ने "फैनाक्स्टिोप स्कोप" यन्त्र का निर्माण कर लिया, किन्तु उसे पेटेन्ट न करा सके। संयोग से यह यंत्र "पियसग्रीन" नाम के वैज्ञानिक के हाथ लगा और उसने इस यंत्र में सुधार करके उसका नाम "वायोफेन्टा स्कोप" रखा जो १८७२ ई० में पेटेन्ट हो गया। इसी से आजकल मचल चित्र उतारे जाते हैं।

१८७२ ई० में ही मेन फ्रांसिस निवासी "एडवर्ड मीब्रिज" भी चित्र उतारने के लिए एक नवीन यन्त्र के आविष्कार में व्यस्त थे, किन्तु उनके सभी यंत्र श्रमसाध्य तथा खर्चीले पड़ते थे, इससे "एडवड मीब्रिज" अत्यधिक परेशान था, किन्तु १८८८ ई० में आकर "जार्ज ईस्टमैन" ने कोडक कम्पनी की स्थापना करके उनकी कठिनाई को हल करने का श्रेय प्राप्त किया।

इसके बाद १८८९ ई० में ब्रिस्टल के वैज्ञानिक "विलियम फीडग्रीन" ने भी दो प्रकार के मूवीज कैमरे तैयार किये। एक काँच के प्लेटस् से काम करता था, और दूसरा 'सेलुलाइड' अर्थात् बिना छेददार फिल्मस् से। किन्तु इनका यह आविष्कार अमेरिका में पेटेन्ट नहीं हो सका।

उधर "कोडक कम्पनी" के आविष्कार को देखकर एक दूसरे फ्रांस निवासी वैज्ञानिक "लूयस एम० आगस्टिनली प्रिंस" ने दो लैन्स वाला एक नया यंत्र तैयार किया, किंतु प्रिंस की देखा-देखी फ्रांस के ही एक और वैज्ञानिक "आगस्टिन" भी इस क्षेत्र में कूद पड़े और प्रिंस के दो लैन्स वाले कैमरे में अपेक्षित सुधार करके एक लैन्स वाला कैमरा तैयार कर लिया, जिससे उन्होंने "लीड्स् के पुल" का चित्र लिया था।

इस प्रकार फ्रांस में इन वैज्ञानिको के यंत्रो की अपेक्षा अधिक सरल यन्त्र के आविष्कार

में दूसरे वैज्ञानिक भिड़े रहे। १८९५ ई० में राबर्ट डब्लू० पाल न एक नया यंत्र तैयार किया, अभी वह यंत्र पेटेन्ट भी न हो पाया था कि फ्रांस के लुई-लुई यरब्रदर्स ने उसी प्रकार का एक दूसरा यंत्र तैयार कर लिया, जो सन् १८९६ ई० में पहले-पहल लंदन में प्रदर्शित किया गया। किन्तु पाल के यंत्र के समक्ष उसे प्रतिष्ठा न प्राप्त हो सकी। पाल का ही प्रयत्न प्रशंसनीय माना गया।

इस प्रकार १८९६ ई० तक विकास का क्रम जारी रहा लेकिन १८८४ में जिस को डक कम्पनी की स्थापना हुई थी, वही के कैमरे आज भी अधिक उपयोगी माने जाते हैं। और इसे ही सफल चित्र लेने वाले यंत्रों में प्रथम आविष्कार माना जाता है। इस समय तो यह कम्पनी बहुत ही समृद्ध हो चुकी है कि छोटी-बड़ी सभी साइज की फिल्में तैयार कर लेती है। यहाँ की फिल्मों की लम्बाई भी अलग-अलग किस्म की होती है, जिनमें पारदर्शक गुण भी रहता है, जो अन्य फिल्मों में नहीं होता ह।

कोडक कम्पनी का कारखाना ४०० एकड़ भूमि में फैला हुआ है। जहां ६५०० से भी अधिक व्यक्ति कार्य करते हैं। इस कारखाने की चिमनी ३६६ फीट ऊंची है, जिससे धुएं से वायु खराब होकर फिल्मों को खराब न कर सके। स्वच्छता और शान्त वातावरण का विशेष ध्यान रखा जाता है। चूंकि फिल्म वनाने में जल की विशेष आवश्यकता पड़ती है, अतः इस कारखाने में एक ऐसी टंकी तैयार करवायी गयी है, जिसमें पचास लाख गैलन पानी आता है। इस टंकी को दिन में तीन बार खाली कर ताजा पानी भरा जाया करता है।

इस कम्पनी में फिल्म को सुन्दरतम बनाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाता है। इसी दृष्टि से फिल्मों के बनाने के लिए तैयार "सैलोलाइड" में रूई, शोरा, गन्धक, कपूर, चांदी का नमक, मछली का तेल इत्यादि अनेक रासायनिक पदार्थ मिलाये जाते हैं। चांदी का नमक तथा मछली का तेल तैयार करने की मशीनें भी यहाँ मौजूद हैं।

फिल्में दो प्रकार की होती है। एक तो वह फिल्म हैं जिसे सिलूलोस नाइट्रेड कहते हैं। यह केवल सिनेमा के लिए काम में लाई जाती है। दूसरी "सिलोलोस एसीटेड" एक्सरे तथा अन्य चित्रों को उतारने में प्रयोग की जाती है।

फिल्म वनाने के पूर्व कारीगर अत्यन्त स्वच्छ रुई को शोरा एवं गन्धक के साथ मिला कर "नमदा" तैयार करता है, फिर इस नमदे को एक तरल घोल में (जिसमें लकड़ी की स्प्रिट खासतौर से होती है) घोल देते हैं। स्प्रिट में घुल जाने पर यह "नमदा" बिल्कुल शहद की तरह गाढ़ा हो जाता है। इसी गाढ़े पदार्थ को पालिश किये हुए चिकने पहिये पर लेप की तरह चढ़ा देते हैं। पहिया निरन्तर घूमता रहता है, जिससे वह पदार्थ ठण्डा हो जाता है, ज्यों-ज्यों वह ठंडा होगा, जमता हुआ एक फीते के समान पहिये के ऊपर तैयार होता जायगा। यही फीता कई मशीनों में हो कर फिल्म बन जाता है। बाद में फीते पर अपनी कम्पनी का नाम छापने के लिए इसे एक दूसरी मशीन पर चढ़ा दिया जाता है और इसके बाद उसे टीन के डिब्बों में भर कर विक्रय के लिए एजेन्टों को भेज देते हैं।

इस प्रकार फिल्म बनाते समय सफाई का बहुत ही ख्याल रखा जाता है, क्योंकि यदि

फि म पर एक भी दरार-खरोच अथवा निशान लग जाय तो चित्र उतारने पर चेहरो पर वही धव्वा दीख पडेगा।

फिल्मो को तैयार करते समय जब उस पर चाँदी का तेजाब चढाना होता है, तब पहले उस पर पशुओ की चर्बी चढायी जाती है। इस चर्बी का उपयोग सिनेमा के लिए तैयार होने वाली फिल्मो पर विशेषतया किया जाता है। यथासमय चर्बी आसानी से मिलती रहे, इसके लिए कम्पनियो में विभिन्न पशुओ की चर्बियो को "वकीट" के टैंको में वद करके रखते है। बाद में चर्बी को क्रमश धोया, उवाला, छाना, नितारा तथा फटका जाता है। इतनी क्रिया करने मे चर्बी शीशे की तरह साफ हो जाती है। फिल्म के सीधे भाग पर जिधर चित्र लिया जाता है बहुत ही सावधानी से चादी के नमक के दानो को रासायनिक द्रव्यो के साथ मिलाकर चढाया जाता ह। चादी के नमक को तैयार करने के लिए पहले चाँदी के टुकडो को शोरे के तेजाब में गलाते है। गलने-गलते जब उसका तरल रूप बन जाता है, तब उसे बडे "ट्रफ" में उवालते है। इसके वाद उस तरल पदार्थ को काच के टचूब में भर कर भाप की गरमी से पुन उवाला जाता है। जिसमे उस तरल पदार्थ मे से शेष जलाश भी उड जाता है। इसके बाद जब यह ठडा होगा तब छोटे-छोटे दानो के रूप में दीख पडेगा, जिसे "सिलवर नाइट्रेड" अर्थात् चादी का नमक कहा जाता है।

इस प्रकार अनेक क्रियाओ से तैयार किये गये सिलवर नाइट्रेड को फोटोग्राफी के लिए उपयुक्त बनाने की दृष्टि मे उसे पुन एक बार "डिस्टिल्ड वाटर" भाप के पानी में भिगोया जाता है, और उसे खूब धोकर साफ किया जाता है। "सिलवर नाइट्रेड" को साफ करने के लिए अनेक वार धोया जाता है, क्योकि फोटोग्राफी का मूल दारोमदार "सिलवर नाइट्रेट" पर ही अवलम्बित है। इसका प्रकाश फिल्म पर चढाया जाता है, यह वही वस्तु है, जो किसी भी दृश्य का चित्र खीच लेती है, इसीलिए कम्पनियो म चाँदी तथा चादी के नमक को वार-वार देखा तथा धोया जाता है यदि चाँदी के साथ तनिक भी तावा या अन्य धातु का अश भी गलने के लिए चला गया तो तमाम तरल पदार्थ नष्ट हो जायगा। यह चादी का नमक धोते-धोते जब वरफ की तरह सफेद हो जाता है, तभी उसे उपयोग मे ले आते है।

इस प्रकार कडे परिश्रम के बाद तैयार फिल्मो को आग, पानी, धुआँ, घाम और प्रकाश से वचाने के लिए अधेरे कमरे में वद कर के रखते है। कोडक कम्पनी में वायु और मौसम के परिवर्तनशील कुप्रभाव से बचाने के लिए एक बहुत वडा "रिफीगेशनप्लान्ट" यन्त्र फिट है, जिसकी सहायता से अधेरे कमरे में वायु का प्रत्येक कण छन कर पहुँचता है। फोटोग्राफी के फिल्म प्लेट आदि भी अधेरे कमरे में ही तैयार होते है और अधेरे में उसे धोते भी है।

कैमरा

सिनेमा की फिल्में खीचने वाले कैमरे को मूवीज कैमरा कहते है। ये कैमरे २-३ किस्म के होते है। मूवीज कैमरा और साधारण कैमरे में सिद्धान्तत कोई भेद नही होता। दोनो का काय

एक सा ही होता है, और दोनों एक ही रोशनी में सफलता पूर्वक चित्र लेते है, किन्तु सिनेमा के लिए तैयार मूवीज कैमरे का लैन्स विशेष शक्ति युक्त और कीमती होती है। जितनी शीघ्रता से स्टूडियो में चित्र खींचे जाते है, उतनी जल्दी साधारण कैमरे चित्र नही ले सकते। मूवीज कैमरे में हजारों फीट लम्बी फिल्मों पर चित्र लिये जा सकते है। साधारण कैमरे में इतनी लम्वी फिल्में नहीं रहती है क्योकि इन कैमरों की "मैगजीन" (जिसमें फिल्में बंद रहती है) बहुत वड़ी नही होती है। सिनेमा का कैमरा बिजली की छोटी मोटर से चलाया जाता है, क्योंकि यदि हाथ से चलाया जाय तो एक समान चित्र नही उतर सकते है, इसलिए कि चित्र खीचते समय यदि हाथ की चाल तेज-मन्द आयेगी तो चित्र भी एक समान कदापि नही आ सकता है। इसीलिए कैमरामैन जब स्टूडियो के बाहर का दृश्य लेने के लिए जाता है, तब बैटरी साथ मे रखता है, जिससे कैमरा चलाया जाता है।

मूवीज कैमरे का "स्टैन्ड" भी साधारण-सी तिपाइयों की तरह न होकर एक मजबूत तथा काफी वजनदार और इसी तरह जमीन में अच्छी तरह जमाकर रखा जाता है। सिनेमा के काम मे आने वाले कैमरे में एक "स्पीड कन्ट्रोलर" अर्थात् गति पर अधिकार रखने का ब्रेक होता है, जो निर्देशक के संकेत करते ही तत्क्षण कैमरा अपना कार्य बंद कर दे, इस कार्य में प्रयोग किया जाता है।

आज ये कैमरे अलग-अलग शकल (मॉडल) के आ रहे है और इतना ही नही इसमे और भी सुधार करने के लिए वैज्ञानिक सचेष्ट है।

किन्तु खेद है कि जहाँ यह कला इतनी उन्नति को प्राप्त कर रही है, वहां इस कला की शिक्षा देने वाली संसार मे इनी-गिनी संस्थाएँ है। हमारे भारत में फोटोग्राफी की शिक्षा देने वाली चार शिक्षण सस्थाएँ बम्बई, मद्रास और वंगलोर में चल रही हैं। इन संस्थाओं के नाम इस प्रकार से हैं—

१. अब्दुल्ला फजल भाई टेकनिकल इन्स्टीटयूट, सेन्ट जेवियर्स कौलेज—धोबी तालाब, बम्बई।

२. एकेडमी आफ साइन आर्ट एंड साइनेज, पो० बा० ५५५४, बम्वई।

३. सेन्ट्रल पालिटेकनिक, मद्रास।

४. श्री जयचाम राजेन्द्र आकुमेशनल इन्स्टीटयूट, बंगलोर।

इन संस्थाओं मे कैमरा ऑपरेटर्स, फोटोग्राफी आदि की शिक्षा दी जाती है। इस संस्थाओ के अतिरिक्त इस समय विश्वविद्यालयों में भी ऐच्छिक रूप से इस विषय को लेने वाले छात्रो को फोटोग्राफी का थोड़ा ज्ञान कराया जाता है, किन्तु भारतवर्ष मे न तो कैमरा, फिल्म आदि के वनाने के कारखाने है और न इन यंत्रों के बनाने की विधि बताने वाली शिक्षण संस्थाएँ।

आज भारतीय सिनेमा व्यवसायियों को भी विदेशो से फिल्मे तथा अन्य यंत्र मँगाने पड़ते है, इस कमी को पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्री सन्तराम

भाषण-कला

वाणी एक बडी शक्ति है। यह मनुष्य के हाथ में एक ब्रह्मास्त्र है। इसके द्वारा आप संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसकी सहायता से आप लोगो को अपना मित्र बना सकते हैं। परन्तु साथ ही इसके दुरुपयोग से संसार में बडे-बडे विश्व युद्ध भी छिड जाते हैं। उत्तम वक्ता सहस्रो लोगो को मन्त्रमुग्ध सा बना देता है। वे उसके संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर करने पर उद्यत हो जाते हैं। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कन्फ्यूशस, दयानन्द प्रभृति महात्मा अपनी कल्याण-कारिणी और प्रेमपूर्ण वाणी से ही संसार पर शासन करते थे।

वक्तृत्व कला का आधारभूत नियम यह है कि वक्ता को मालूम हो कि मैं क्या कहना चाहता हूँ और उसे कैसे कहना चाहिए। इसी आवश्यक नियम के अभाव से भाषण निष्फल हो जाता है।

प्रत्येक वार्तालाप में कोई निश्चित उद्देश्य रहना चाहिए। वह किसी विशेष बात पर बल दे। इस उद्देश्य की जडें सच्चाई में जितनी गहरी गडी होंगी उतनी ही अधिक उसकी निष्कपटता झलकती होगी। आप किसी भी विषय पर भाषण करें। आपका भाव निःस्वार्थ तथा निष्कपट भाव में रँगा होना चाहिए। आपका अपना दृढ विश्वास आपके श्रोताओं तक पहुँच जायगा। वह उन त्रुटियो तथा प्राविधिक दोषो का दबा देगा जो आप में है। यदि जो कुछ आप कहना चाहते हैं उसका आपको ज्ञान तथा उसमे विश्वास है, जिस सचाई को आप जानते है यदि उसे यथासंभव अधिक से अधिक लोगो तक पहुँचाने मे आपको लालसा है, तो उसे समुचित रूप मे प्रकट करने की रीति आपको अपने आप मिल जायगी।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि आप एक ही रात मे प्रभावशाली वक्ता बन जायेंगे। दूसरी योग्यताओं के सदृश जनता मे भाषण देने की योग्यता भी विकसित की जाती है। यह वंश-परम्परा से माता पिता से नही मिलती। घंटो कडा अभ्यास करने से ही मनुष्य सफल वक्ता बनता है। जिस मनुष्य के मुख से इस समय आपको चमकते हुए शब्दो की झडी निकल रही लगती है, एक समय था जब वह भी मुह खोले अवाक् रह जाता था। जब पहले ही पहले उसने बोलना आरम्भ किया था तब उसके मुह से शब्द नहीं निकलते थे। कारण यह कि वह अपनी त्रुटियों के ज्ञान के कारण डरता था।

सार्वजनिक भाषण मन की पूरी पूरी एकाग्रता चाहता है। भाषण करते समय अच्छे

वक्ता को अनुभव करना चाहिए कि उसका शरीर तथा मस्तिष्क खूब कस कर काम कर रहे है।

इसके साथ ही यह भी संकल्प कीजिए कि अधिक से अधिक जितनी बार भी जनता में बोलने का आपको अवसर मिले उतनी बार अवश्य बोलिए। जितनी अधिक बार आप बोलेंगे और जितनी अधिक बार आप जनता के सामने जायँगे उतना ही वेदी पर से बोलने का आपका डर दूर होता जायगा।

किसी बात को कहने के पहले उस पर विचार कर लीजिए। सफल भाषण की पहली आवश्यकता अपने विषय की सामग्री की तैयारी है। आशु भाषण मे भी यह तैयारी आवश्यक होती है। जिन भाषणों को हम समझते है कि वक्ता ने बिना पहले से ही तैयारी किये ही तत्काल किया है ऐसे सर्वोत्तम आशु भाषण भी प्रायः न तैयार किये हुए नहीं होते, जैसे कि ऊपर से देखने में वे मालूम पड़ते है। अनेक अवस्थाओं मे वे कई छोटे-छोटे टुकड़ों के बने होते हैं—उन भाषणों के टुकड़ों के जो वक्ता पहले कई बार कर चुका है। वह कागज के टुकड़ों के सदृश ही अपने भाषणों के उन टुकड़ों को अपने मन मे लिये रहता है। उसकी बिना पहले की तैयारी किये बोलने की प्रतिभा वास्तव में पहले कही हुई या मानी हुई बातों को ही मन में क्रमबद्ध करने की ही क्रिया है।

प्रायः सभी अच्छे वार्तालाप तथा गोष्ठियाँ पहले से ही तैयार की जाती है।

जब कोई अच्छी साहित्यिक चीज, कोई उत्कृष्ट रचना, कोई प्रसिद्ध योग्यता-पूर्ण भाषण या कोई महत्त्वपूर्ण दस्तावेज आपको छपा मिले तो उसके अधिक सारगर्भित वाक्यों का उच्चारण करने में मत हिचकिचाइए। उन्हें बार-बार उच्चस्वर से पढ़िए। इस प्रकार उनको जान-बूझ कर कण्ठस्थ किये बिना ही वे शीघ्र ही आप का अंग बन जायँगे।

आप उस भाषण के वाक्य, विचार तथा प्रवाह आत्मसात् कर लेंगे। उस भाषण की सामग्री तथा उसके बढ़ाने का ढग दोनों आपके हो जायँगे। परन्तु मेरा यह कहना नही कि आप किसी का अनुकरण करने का यत्न करें। आप आप ही रहिए। किन्तु महापुरुषों और विदुषी देवियो की रचनाओं को पढ़-सुन कर अपनी आँखों तथा कानों को उनकी रचनाओं के सामने आने दे कर—अपना सुधार करने में आपको हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं।

आपके भाषण की तैयारी के अन्तर्गत ऊचे स्वर से बोलना भी है। पर यह आवश्यक नही कि आप बहुत से श्रोताओ के सामने ही बोलें। यदि आपके पास लोगों को देने के लिए कोई विचार है तो अच्छा यह है कि आप उसकी परीक्षा अपने परिवार या अपने मित्रों पर अनिश्चित वार्तालाप में कीजिए। इससे आपको अपने विचारो के पूर्ण रूप मे संगठित करने में सहायता मिलेगी। उससे आपको श्रोतागण की प्रतिक्रिया का भी आभास मिल जायगा।

वार्तालाप की तैयारी में पहले से उसकी रूप-रेखा बनाना एक बहुत उपयुक्त युक्ति है। यदि भाषण लम्बा—पन्द्रह मिनट या इससे अधिक का—हो तो रूप-रेखा तैयार करना परम आवश्यक है। और यदि भाषण संक्षिप्त—दो से पन्द्रह मिनट का—है तो भी रूप-रेखा तैयार करना वांछनीय है।

रूप-रेखा में आपके भाषण की प्रधान-प्रधान बातें आ जानी चाहिएँ। परन्तु ये बहुत सविस्तार नही होनी चाहिए ताकि आप बोलते समय कही अपनी रूप-रेखा के अनुकरण में ही मग्न न हो जायँ और अपने श्रोताओ पर कुछ ध्यान ही न दे सकें।

महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा तथा दूसरे धर्म-प्रचारक अपने उपदेशो मे नीति के वचन तथा कथाएँ सुनाया करते थे, जिसमे लोग उनकी बात को भली भाँति समझ जायँ। अच्छे वार्तालाप का, अच्छी कहानी के सदृश आदि, मध्य तथा अन्त होता है। यह बात कदाचित् नयी जान पडे। फिर भी यह सार्वजनिक भाषण का एक रूप है जिसके लिए समान एकाग्रता तथा मनोयोग अपेक्षित है।

आपने ऐसे भी कई वक्ता देखे होगे जो देर तक बोलते रहते हैं। परन्तु पता नही लगता कि उन्होने कब आरम्भ किया। फिर कई ऐसे भी वक्ता है जो मध्य मे आरम्भ करते है और वही समाप्त कर देते है। हो सकता है कि ऐसे वक्ताओ के पास कहने के लिए अच्छी बाते हो। परन्तु क्योकि वे अपनी भूमिका द्वारा उनको सुनाने तथा ग्रहण करने के लिए अपने श्रोताओ को तैयार नही करते और भाषण के अन्त मे अपना विषय सक्षेप मे नही दुहराते, इसलिए उनका सारा भाषण प्राय व्यर्थ हो जाता है, श्रोतागण उसे ग्रहण नही करने पाते।

मुख्य बात को बार-बार कहना अच्छे वार्तालाप का प्रधान लक्षण है। एक सफल वाग्मी ने सफल भाषण के लिए निम्नलिखित सूत्र बताया था—

"पहले मै उनसे कहता हूँ कि मैं उनको क्या बताने जा रहा हूँ। तब मै उन्हे बताता हूँ कि मैंने उनमे क्या कहा था। विभिन्न शब्दो तथा उदाहरणो द्वारा एक ही बात को बार-बार कहने की जितनी आवश्यकता भाषण में होती है उतनी लेख मे नही। पाठक किसी छपे पन्ने को फिर से देख सकता है। पर वह लौट कर आपके शब्दो को नही देख सकता। जो कुछ आप कह रहे हैं उसमे से कुछ को खोये या छोडे बिना वह पीछे मुड कर नही सोच सकता, बोला हुआ शब्द भागा जा रहा है।"

किसी महत्त्वपूर्ण विचार को आपको बार बार कहना चाहिए जिससे आपके श्रोता उसका भाव याद रख सकें।

आपके भाषणो की शैली तथा दृष्टान्त बदलते रहने चाहिए, परन्तु उनमें अप्रासगिक बातें न हो। एक बात का बाहुल्य, चाहे वह बात कितनी ही अच्छी क्यो न हो, आपके श्रोताओं को अन्त में उदासीन बना देगी। वे उसमे दिलचस्पी लेना छोड देगे।

वक्ता को अपने आपको जानना चाहिए। उसके लिए अपने आपको जानना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि अपनी भाषण-सामग्री को जानना। यह काम बहुधा उससे भी कठिन होता है।

आप में व्यक्तित्व है, जिसमें अपने कुछ विशेष गुण है। हो सकता है कि आप एक ठडे, तर्क सगत प्रकार के मनुष्य हो, जो आग बरसाने वाले भाषण नही करते। इस पर भी आपका प्रभाव बहुत हो सकता है। ऐसी दशा मे यदि आप में यह विचार घर कर जायँ कि आपके भाषण

में सनसनी उत्पन्न करने वाली बातें बहुत हों तो आप अपने श्रोताओं को अन्त में यह विश्वास करायेंगे कि आपकी रुचि बहुत हलकी तथा घटिया है।

इसके विपरीत हो सकता है आप सारभूत रूप में एक भावुक व्यक्ति हों, जिसकी सारी प्रवृत्ति जोरदार भाषा में बोलना हो। ऐसी अवस्था में गम्भीरतापूर्वक संयत भाषा में बोलने के स्थान में आपके लिए आग उगलने वाले शब्द बोलना ही बुद्धिमत्ता होगी। अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रकार का भाषण करने पर अपने को विवश करना भारी भूल होगी। सारांश यह कि अपने भाषण की शैली वह रखिए जो आपकी प्रकृति के अनुकूल है। अपने शब्दों की गति अपनी मानसिक प्रक्रियाओं के अनुसार रखिए। बनावटी स्वर में बोलना या चालाकियों से काम लेना अनावश्यक है।

सार्वजनिक भाषण का गुण शब्दों की मात्रा मे नही माना जाता। एक जोरदार बात निष्कपटता, शान्ति तथा धीरे से कही जाने पर ऊँचे से ऊँचा गरज कर कहने से भी अधिक फल-दायक तथा प्रभावोत्पादक हो सकती है।

अपनी बात को श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए समय तथा अवसर दीजिए। यदि आप जल्दी-जल्दी बोलने वाले हैं तो भी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वाक्य तथा वचन के बाद कुछ देर के लिए रुक जाइए। अपने वाक्य बोलिए। उन्ही शब्दों का प्रयोग कीजिए जिनका आपको भली भाँति ज्ञान है। हाँ, अवकाश के समय में नये शब्दों के अर्थ देखते रहा कीजिए, जिससे वे आपके शब्द-भाण्डार का भाग बन जायँ।

यदि आप दो-तीन मिनट चुप रह कर अपने शब्दो को अपने श्रोताओं के अन्तःकरण पर अंकित होने के लिए अनुमति देते है, तो मत समझिए कि इससे आपके श्रोता रुष्ट हो जायँगे। वे बहुधा आपका धन्यवाद करेंगे कि आपने उनको आपके विचारों को पचाने के लिए अवकाश दिया है।

अपने श्रोताओं को जानना आपके लिए आवश्यक है। आपको अपने श्रोताओं की योग्यता तथा रुचि का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

सब लोगों की एक ही बात में एक-सी रुचि नहीं होती। यदि आपको पता है कि वे किस कारण से आपका भाषण सुनने आये है, तो आप उनकी रुचि का उपयोग उनकी चिन्ता को बढ़ाने में कर सकते है। पहले वे बातें कहिए जिनका आपके श्रोताओ पर प्रभाव पड़ता है, जिनका उनके भले-बुरे से संबंध है और फिर उन्ही को लेकर आगे अपना व्याख्यान बढ़ाइए। यह रीति सफलता की निश्चयात्मक पथ-प्रदर्शिका है।

आपके श्रोताओं की पृष्ठ-भूमि क्या है। इसका भी आपको ज्ञान रहना चाहिए। जब कोई शिक्षक बच्चों को पढ़ाने लगता है तो वह पहले देखता है कि उनको इस विषय का पूर्व ज्ञान कितना है। तभी वह समझ सकता है कि जो कुछ मै उन्हे सिखाने जा रहा हूँ उसे वे ग्रहण कर सकेंगे या नही। यही बात वक्ता की भी है। प्रत्येक अच्छा भाषण एक नये पाठ के सदृश होता है। श्रोतागण को उस विषय का जितना ज्ञान है उसके आगे चलना होगा।

अच्छा भाषण करने के तीन बडे नियम है—अर्थात् अपने विषय पर अधिकार, अपने आप पर तथा अपने श्रोताओ पर अधिकार। उनको हृदयगम कर लेने के बाद थोडे मे ही और सुझाव ऐसे है जिनको याद रखना लाभदायक होगा।

दृष्टान्तो का उपयोग कीजिए। मानव-मन मूर्त उदाहरणो को जितनी आसानी से समझ सकता है उतनी आसानी से अयुक्त या कल्पित उपदेशो को नही।

सार्वजनिक भाषणो मे दृष्टान्तो मे काम लेना सदा अच्छा रहता है। अपना भाव उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। कहानियो का उपयोग कीजिए। वास्तविक घटनाएँ सुनाइए। समाचार-पत्रो से विवरण प्रस्तुत कीजिए। आप देखेंगे कि एक ही दृष्टान्त को सजीव या स्पष्ट रूप से सुना कर आप अतीव उदासीन श्रोताओ को भी दिलचस्पी लेने वाला बना लेंगे।

अपने श्रोताओ पर दृष्टि डालिए। इसका अर्थ यह है कि आपको अपने श्रोताओ में से एक से अधिक व्यक्तियो के साथ बात करनी चाहिए। आप सारे श्रोताओ मे बात कीजिए। उन पर ध्यान दीजिए, परन्तु उनमें से किसी एक मनुष्य के साथ बात करने और उससे आँख मिलाने के लिए रुकने में मत हिचकिचाइए। इस प्रकार आपको इस बात का कुछ भाव हो जायगा कि श्रोताओ पर आपके भाषण की क्या प्रतिक्रिया हो रही है—उन पर आपके शब्दो का क्या प्रभाव हो रहा है। इससे श्रोताओं के साथ आपका सम्पर्क भी स्थापित हो जाता है।

अपने श्रोताओ के साथ रुष्ट कभी न हूजिए। चिल्लाइए मत। आपे से बाहर मत हूजिए। वक्ता के रूप में आप का काम अपने श्रोताओ को प्रेरणा करना है। उनको उन सचाइयो की ओर आकर्षित करना है जो आपके तत्त्वज्ञान का आधार है। यदि आप थोडे से श्रोताओ के व्यवहार से चिढ कर सभी श्रोताओ से विरुद्ध हो जाते है तो आप हार जाते है और आपके विरोधी जीत जाते है। धर्म-प्रचारक के लिए यह बात बडे महत्त्व की है। आपके श्रोताओ मे कदाचित् दो-चार ही ऐसे हो जो आपके विरोधी हो। उनसे भी चिढिए नही, प्रेम कीजिए, तभी आप सारे ससार को प्रेम का सदेश सुना सकेंगे।



स्वस्तिकम्



नवीन के लिए पुराने को, जो जीर्ण हो गया है उसको, विदाई लेनी ही पड़ेगी।

—नन्दलाल वसु

भारत शिल्प के षडङ्ग

लेखक

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक

डा० महादेव साहा

आमुख

भारत शिल्प के षडंग पर लिखी अवनीन्द्रनाथ की यह निबन्धावली १३२१ वंगाब्द में 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। अंगरेजी[1] और फ्रांसीसी[2] मे इनका अनुवाद हो चुका है। चीन और भारत-शिल्प के षडंग का तुलनात्मक विवेचन पहिले पहल अवनीन्द्रनाथ ने ही किया और अपने विषय का यह विवेचन आज तक अद्वितीय है।

अवनीन्द्रनाथ की इस षडंग व्याख्या को बहुतेरे शिल्पशास्त्रियो ने पूरी तरह ग्रहण नही किया है। फिर भी इस विषय का अध्ययन करनेवाले, शिल्पाचार्य की इस व्याख्या का समादर करेंगे। अवनीन्द्रनाथ के मतामत जो सविस्तार जानना चाहते है उन्हे उनकी 'वागेश्वरी-शिल्प-प्रवन्धावली' पढ़नी चाहिए।

—अनुवादक

परिचय

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षड़ंगकम्॥

वात्स्यायन—कामसूत्र के प्रथम अधिकरण तृतीय अध्याय की टीका मे यशोधर पंडित ने आलेख्य के ये छः अंग बतलाए है। यथा—प्रथम रूपभेद, द्वितीय प्रमाण, तृतीय भाव, चतुर्थ लावण्ययोजन, पंचम सादृश्य, षष्ठ वर्णिकाभंग।

---

1. Sadanga or the Six Limbs of Painting. The Indian Sciety of Oriental Art, Calcutta 1921

2. Sadanga, or les six canons de la Peinture hindoue, Editions Bossard, Paris 1922.

कामसूत्र का रचनाकाल किसी ने ई० पू० ६७१, किसी ने ई० पू० ३१२ और किसी ने ईसवी २०० माना है। यशोधर पंडित ने कामसूत्र की टीका ई० ११-१२वीं शताब्दि में की।

जिन प्राचीन और वृहत्तर शास्त्रों का सार संकलन करके वात्स्यायन् ने कामसूत्र की रचना की थी वे सारे शास्त्र अब लुप्त हो गये हैं। अतएव वात्स्यायन् कथित पूर्वशास्त्र समूह में—जैसे बाभ्रव्य के सूत्रग्रथ और आगम आदि में—इस षडंग का प्रयोग किस रूप में वर्णित हुआ था, इसे जानने की कोई सूरत नहीं है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पंडित भी किस प्राचीन टीका का अवलम्बन कर के अपनी जयमंगल टीका की रचना कर गये हैं, इसका उल्लेख नहीं किया है। अतएव चित्र में यह षडंग कितने प्राचीन काल से भारत में प्रचलित था, इसे बताना कठिन है। लेकिन कामसूत्र में जब चित्रकला का उल्लेख है तब वात्स्यायन् के पहले से ही चित्रविद्या के साथ चित्र का षडंग भी इस देश में प्रचलित था इसका सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। कम से कम वात्स्यायन् जिस समय कामसूत्र की रचना कर रहे थे उस समय चित्र का यह षडंग जनता में सुविदित था इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि कामसूत्र के उपसंहार में वात्स्यायन् ने स्पष्ट ही कहा है—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपसृत्य च।
कामसूत्रमिदं यत्नात् संक्षेपेण निवेशितम् ॥

अर्थात् पहले के शास्त्रों का संग्रह और शास्त्रोक्त विद्याओं के प्रयोग का अनुसरण करके अर्थात् उन विद्याओं को कायत लोग किस तरह से प्रयोग कर रहे हैं, उसे देख सुन कर यत्नपूर्वक संक्षेप में मैंने इस कामसूत्र की रचना की है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक राजपूताना के अन्तर्गत जयपुर ने चित्रकला की चर्चा में विशेष स्थान अधिकार कर रखा है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पंडित जयपुर के अधिपति प्रथम जयसिंह के सभापंडित थे। अतएव चित्र के जो षडंग जयपुर के चित्रकारों में बहुत दिनों से प्रचलित था उसका पता पाना यशोधर के लिए कठिन नहीं था। हमारा षडंग, यशोधर के बहुत पहले प्राचीन काल से ही भारतीय शिल्पियों को सुविदित था, क्योंकि हम देखते हैं कि ई० ४७९ से ५०१ के बीच चीन के शिल्पाचार्य Hsieh Ho ने चित्र के जो षडंग (Six Canons) लिपिबद्ध किये वे कायत हमारे षडंग के ही अनुरूप हैं। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि चीन में ई० ३०० में अमिताभ बुद्ध मूर्ति सर्वप्रथम चीनी शिल्पी Tai Kuei ने बनाई। अतएव Hsieh Ho के पहले से ही बौद्ध शिल्पपद्धति और उसके साथ हमारे चित्र के षडंग का भी चीन में पहुँचना अचरज की बात नहीं है। प्राचीन सभ्यता की लीलाभूमि भारतवर्ष और चीन इन दो महादेशों में प्रचलित चित्र के षडंग निकट आत्मीय हैं यह निम्नलिखित चीन-षडंग के अनुवाद से हमारे षडंग को मिलाने से समझ में आ जाता है। चीन का षडंग, जैसे—

1 Chi yun Sheng tungw=Spiritual Tone and Life movement
2 Ku fa Yung pi=Manner of brush work in drawing lines

3. Ying-wu hasiang hsing=Form in its relation to objects.
4. Sui-Lei fu-tsaiw=Choice of colour appropriate to the objects.
5. Ching-ying Wei-Chih=Composition and grouping.
6. Chuan-moi-hsichw=The copying of classic masterpieces.

—Sei-Ichi Taki, The kokka, No. 244.

चीनी षडंग के उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद के चीनी भाषा के योरोपीय पंडितों और जापान के मशहूर शिल्परसिक ओकाकुरा के अनुवाद में पूरा मेल नहीं दिखाई पड़ता। अतएव उन्हें भी नीचे उद्धृत किया जा रहा है। जैसे—

1. Rhythmić vitality.
2. Anatomical structure.
3. Conformity with nature.
4. Suitability of colouring.
5. Artistic composition.
6. Finish.

—Giles, Introduction to the History of Chinese Pictorial Art, p. 24.

1. Spiritual Element, Life's Motion.
2. Skeleton-drawing with the brush.
3. Correctness of outlines.
4. The colouring to correspond to nature of objects.
5. The correct division of space.
6. Copying models.

—Hirth, Scraps from a Collector's Note-book, p. 58.

1. La Consonance de l'esprit engendre le mouvement [de la viea].
2. La loi des os au moyen du pinceau.
3. La forme representee dans la conformite avec les etres.
4. Selon la similitude (des objects) distribuer la couleur.
5. Disposer les lignes et leur attribuer leur place hieraarchique.
6. Propager les formes en les faisant passer dans le dessin.

—Petrucci, La Philosophie de la Nature dans l' Ai t de l' Extreme orient, —p. 89

1. Rhythmic vitality, or Spiritual Rhythm expressed in the movement of life.

2 The art of rendering the bones or anatomical structure by means of the brush

3 The drawing of forms which answer to natural forms

4 Appropriate distribution of colours

5 Composition and subordination, or grouping according to the hierarchy of things

6 The transmission of classic models

—Binyon, The Flight of the Dragon, p 12-13

1 The Life-movement of the spirit through the Rhythm of Things the great Mood of the Universe, moving hither and thither amidst those harmonic laws of matter which are Rhythm

2 The law of Bones and Brush work The creative spirit, according to this, in descending into a pictorial conception must take upon itself organic tructure

—Okakura, Ideals of the East, p 52

चीन का षडग नाना मुनियों के नाना मत के कुहरे के अन्दर से जिस प्रकार प्रकट होता है और देश-काल-पात्र-भेद से वह किस प्रकार परिवर्तित और परिवर्धित हो उठा है, वह यद्यपि हमारे देखने की वस्तु है और प्राच्य जगत् के दो महादेशों में कौन सा प्राचीनतर है इसका भी निर्णय करना यद्यपि हमारा कर्तव्य है, फिर भी चित्र और उसके षडग के सम्बन्ध में जो स्वतन्त्र चिन्तन और ध्यानादि वात्स्यायन् के बहुत पहले से ही हमारे अन्दर प्रचलित हुआ था उसी का यथासम्भव विवेचन करना हमारा प्रधान लक्ष्य है।

पंचदशी के चित्रदीप अध्याय में शास्त्रकार चित्रपट की चारो अवस्थाओं से ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्माण्ड का रहस्य निर्णय कर रहे हैं। चित्रकला अवश्य ही हमारे देश में शौकिया खेल नहीं था, हमारे ज्ञान और कर्म के साथ इसका गहरा सम्बन्ध था। चित्रकला को हमारे पुरखे जिस दृष्टि से देखते थे एक चीन और जापान को छोड कर और किसी जाति ने उस दृष्टि से देखा है, ऐसा नहीं लगता। चित्र के इस षडग का प्रयोग हमारे देश में बहुत दिनों से प्रचलित था और उसके सम्बन्ध में आज के युग में भी हमें चर्चा करने की आवश्यकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं, और जिस प्रकार से हम नये सिरे से चित्रविद्या की चर्चा करने के लिए आगे बढ़े हैं, उसी तरह चित्र के षडग से भी फिर एक बार नये सिरे से परिचय कर लेना आवश्यक समझ अंग्रेजी अनुवाद के साथ उसे दे रहा हूँ। जैसे—

१ रूपभेदा —Knowledge of appearances

२ प्रमाणानि—Correct perception, measure and structure of forms

३. भावः—The action of feelings on forms.

४. लावण्ययोजनम्—Infusion of grace, artistic representation.

५. सादृश्यम्—Similitudes.

६. वर्णिकाभंगः—Artistic manner of using the brush and colours.

चित्रयोग के इस षडंग साधनों पर यथासंभव विस्तारपूर्वक लिखने के पहिले भारत और चीन के शिल्पाचार्यो द्वारा निर्दिष्ट दोनों सिद्धान्तों मे कितना अन्तर है, इसे जानना आवश्यक है। हम देखते है कि, दोनों षडंगों की तुलना करने से उनमें अक्षरसः समानता न होने पर भी उनमें एक सामंजस्य है इस बात को मान लिया जा सकता है। लेकिन इतना होने पर भी दोनों एक ही चीज है यह नही कहा जा सकता। नदी के इस पार और उस पार दोनों को जिस तरह एक नहीं कहा जा सकता, उसी तरह चित्र के बारे में विचारधारा के इन दोनों किनारों को एक ही वस्तु नहीं कहा जा सकता। हमारा किनारा कर्म का है और उनका मर्म का। चित्र के सम्बन्ध में विचारधारा बीच से होती हुई कभी कुछ इधर को और कभी कुछ उधर को छूती हुई प्रवाहित हो रही है।

दोनों षड़ंगों में २ से ६ तक इन पाँच अंगो मे जितना मेल या जितना अंतर दिखाई पड़ता है वह कोई खास ध्यान देने लायक बात नहीं है। लेकिन दोनों षडंगों के शीर्षस्थान में 'रूपभेदाः' और Rhythmic Vitality (प्राणछन्द) है, इन दोनों में अनबन है, यह साफ ही दिखाई पड़ रहा है। अब विचार करने की बात यह है कि जिस छन्द को चीनी शिल्पाचार्य चित्र का प्राणस्वरूप बतला रहे है, उस वास्तविक आवश्यक बात का हमारे षडंगकार उल्लेख तक न कर रूपभेद को ही प्राधान्य क्यों देते है ? हम देखते है कि, हमारे आचार्यो ने जब जिस तत्त्व को लिया है, उसी पर गहरे से गहरा सूक्ष्म-से सूक्ष्मतर पक्ष को ले कर विचार करके तब छोड़ा है। केवल आलेख्यतत्त्व के मामले मे ही इसका अपवाद क्यो दिखाई पड़ता है ? हमारा षडंगसूत्र किसी बड़े सूत्र का अंश मात्र है, यह नही कहा जा सकता। क्योंकि स्पष्ट ही कहा गया है कि इति चित्र षडंगकम्—चित्र के ये षडंग है—इसके बाहर कुछ नही है।

प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग ये पाँचों गवाह है और रूपभेद नामक सुमेरु से षड़ंग की जो सुमिरनी चित्र साधना के लिए हमारे शास्त्रकार ने तैयार कर दी है, उस माला मे किस मंत्र के जपने का उपदेश दिया गया है, यही ध्यान देने की चीज है। माला फेरते समय साधक की उँगली सुमेरु से शुरू कर के एक-एक गवाहों को छूती हुई फिर सुमेरु पर पहुँच कर विश्राम करती है। सुमेरु से ही जप की गति शुरू होती है और सुमेरु पर ही पहुँच कर जप को मुक्ति या स्थिति मिलती है। अब दिखाई पड़ता है कि चित्र की गति की मुक्ति सुमेरु में ही होती है। हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार यही सुमेरु 'रूपभेदा' और चीन के शास्त्रकारों के अनुसार 'Rhythmic Vitality' या जीवनछन्द है। अब ये दोनों सुमेरु एक ही वस्तु है या नही अथवा एक ही पर्वत के दो पहलू हैं या नही, इसी को जानना आवश्यक है।

'रूपभेद' हमारा और 'जीवनछन्द' चीन का मूलमंत्र है, इसमे संदेह नही। रूप और प्राण यही दोनों चित्र के इति और अन्त है। प्राण अभिव्यक्ति पाने के लिए रूप की कामना रखता है,

रूप जीवित रहने के लिए प्राण की प्रतीक्षा करता है। केवल रूप मे ही चित्र नही बनता, केवल प्राण से भी चित्र नही होता। अगर केवल रूप कहा जाय तो गलत होगा, केवल प्राण कहना भी गलत होता है। इसीलिए चीनी षडगकार ने Vitality या प्राण के साथ Rhythm अर्थात् छन्द या आकृति को भी जोड कर दोनो पक्षो को कायम रखा है, और हमारे षडगकार केवल 'रूप' कह कर ही चुप नही रहे, 'रूपभेदा' कहा।

अब इस 'भेद' शब्द के प्रयोग की सार्थकता को समझने अथवा न समझने पर हमारे षडग का जीवन मरण निर्भर करता है।

रूप भेद का अर्थ अगर हम सभी सृजित वस्तुओ की विभिन्नता लगाते है तो हमारा षडग निर्जीव और निष्क्रिय साधना (जड साधना) का आधार (उपाय) बन जायगा। लेकिन चित्र तो निष्क्रिय सामग्री नही है। चित्र की जो रचना करता है और जो उसे देखता है दोना के जीवन मे चित्रित की आत्मीयता है। इसके अतिरिक्त चित्र की एक अपनी सत्ता भी है। अतएव रूपभेद का दूसरा अर्थ हो सकता है या नही इसे भी देखना चाहिए। 'भेद' शब्द का व्यवहार साधारणत विभिन्नता प्रकट करने के लिए होता है, दूसरी ओर हिन्दुस्तानी भेद से वस्तु का मर्म या रहस्य समझते है। अब 'रूपभेदा' से इस रूप और उस रूप मे भेदाभेद भी हो सकता है। या रूप का मर्म भेद या रहस्य उद्घाटन यह भी हो सकता है। 'सदगुर पावे भेद बतावे।' लेकिन हमारे भाग्य में जिस सद्गुर ने चित्र के षडग में 'रूपभेद' व्यवहार किया है उन्होंने रूप भेद का भेद या रहस्य हमे खोल कर नही बतलाया है। फिर भी रहस्य हमारी पकड मे नही आ रहा है, ऐसी बात नही।

हमारे षडगकार चित्र को सजीव वस्तु समझते थे, इसका प्रमाण षडग मे ही विद्यमान है। चित्र के छ अश नही, छ पक्ष नही, छ अग होते है! हमारे हाथ पैर वगैरह की तरह छ शक्तिशाली अग दान करके तब षडगकार निश्चिन्त हुए है। केवल यही नही षडग की रचना प्रणाली को देखने पर भी चित्र को षडगकार ने एक जीवनी शक्ति की अभिव्यक्ति समझी थी और उस अभिव्यक्ति के उपयुक्त षडगसूत्र एक सजीवता प्रदान करते हुए रचते जाना ही उनका उद्देश्य था, यह भी अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। षडग सूत्र को व्याकरण के एक निर्जीव सूत्र की तरह षडगकार ने नही रचा है। चित्र जिन ६ की समष्टि है उन्ही ६ को किसी तरह शब्दो में पिरोकर एक सूत्र की रचना करना ही अगर षडगकार का उद्देश्य होता तो हम देखते कि व्याकरण के 'सहर्णोर्घं' सूत्र की भाँति ही षडग बहुत छोटा है और इसीलिए दुर्बोध आकार में दिखाई पडा है। लेकिन यहाँ देखते है कि षडग के एक अग मे दूसरे अग में योग है और सम्बन्ध आदि की विशेष रूप से आलोचना करके, जिसके बाद जिसे आना चाहिए जिसका जहाँ स्थान है, उसे उसी तरह सजा कर, चित्र की मानो एक सजीव मनर्मूति खडी की गयी है। सारे षडग के अन्दर छन्द की धारा बहा कर रूपभेद को, प्रमाणभाव को, लावण्य-सादृश्य को वर्णिकाभग से और सभी अगो से सभी का एक अकाट्य और अविरोध सम्बन्ध स्थापित कर षडग को एक ऐसी परिमित गति और भगी दी गयी है कि षडग एक छन्द मे अनुप्राणित हो कर सजीव रूप मे हमारे सामने प्रकट हुए बगैर नही रह सकता।

रूप प्रमाण की कामना (आकांक्षा) करता है। अतएव प्रमाण आ कर रूप में मिल गया है। (जैसे ही मिला) वैसे ही भाव का उदय, लावण्य का संचार, सादृश्य की गलबाँही और विचित्र रंगभंगिमा दिखाई पड़ी ! मानो नट और नटी हमारी आँखो के सामने नाच रहे हैं। षडंग की यह स्वच्छन्द गति ही साक्षी दे रही है कि हमारे षडंग के मूल में भी प्राण का छन्द तरंगायित है और रूप भेद का अर्थ केवल आकार में विभिन्नता प्रदान करना या समझना ही नहीं है बल्कि आकार कहाँ सजीव और कहाँ निर्जीव हो कर दिखाई पड़ रहा है उसी को समझना और समझाना है।

चेतन-अचेतन उत्पत्ति-निवृत्ति इसी के छन्द में संसार बँधा हुआ है। उसी तरह जीवित रूप और निर्जीव रूप इसी के लय में हमारा षडंग मिलाया हुआ है। वस्तु रूप चेतना के स्पर्श से कब कहाँ सजीव (प्राणवान) है, चेतना के अभाव से कहाँ वह म्रियमाण है, यही हमारे षडंग का मूलमंत्र है। और षडंग के प्रारंभ में जो 'भेद' और अंत में 'भंग' ये दोनों शब्द रखे गये हैं वे हमारे षडग के मंत्रणागार के दो दो ताले या दो तालों से बन्द किवाड़ें हैं। इसी के अन्दर परियों की कहानी के जीवन-भ्रमर की तरह षडंग के ६ डिब्बों की ओट में चित्रका और चित्रकार के प्राण का रहस्य छिपा हुआ हैं। भेद और भंग दोनों किवाड़ो को बाहर की ओर खोल कर मिलाने से बाहरी हिस्सा ही देखने को मिलता है, मंदिर का भीतरी हिस्सा ओट में पड़ जाता है। और उन दोनों को जरा कष्ट उठा कर ठेल कर भीतर की ओर ले जाने से भीतरी हिस्सा बाहर आ जाता है, बाहरी हिस्सा भीतरी हिस्से से जा मिलता है। इस भेद और भंग के उतार-चढ़ाव का छन्द ही षडंग के जीवन-मरण की जादू की लकड़ी है और इस लकडी के स्वच्छन्द प्रयोग में ही चित्रकार की उस्तादी है। इसके अलावा षडंगकार ने 'योजनम्' शब्द को षडंग के ठीक मर्मस्थल में बैठाया है। षडंग के मस्तिष्क में भेदाभेदज्ञान, दोनों पैरों की गति स्थिति के बीच योगानन्द की हृदयग्रंथि से दोनों को एक किया गया है।

भेद और भंग के बीच में 'योजनम्' शब्द मानो सफेद और काले घोड़ों की जोड़ी के मुँह की लगाम है ! दाहिने का घोड़ा दाहिने जाना चाह रहा है, बाएँ का घोड़ा बाएँ ही दौड़ना चाह रहा है, रथ किसी भी ओर बढ़ नहीं रहा है। जैसे ही योजनम् की लगाम खीची गयी वैसे ही दोनों घोड़ों का मुँह एक ओर हो गया और सफेद व काले दोनो घोड़े अगल-बगल भंगिमा के साथ सारथी की इच्छानुसार स्वच्छन्द गति से मनो-रथ को खींच ले चले हैं।

सारथी जिस तरह लगाम के जरिए अपनी इच्छाशक्ति को संचालित करके दोनों घोड़ों की उद्दाम गति को नियंत्रित करके यान, वाहन और अपने बीच एक स्वच्छन्द सम्पर्क स्थापित करता है, शिल्पी भी उसी तरह वर्णिका या वर्णवर्त्तिका, जिसे हम तूलिका कहते हैं, उसी की खीच-तान के जरिए अपनी इच्छाशक्ति या कामना को प्रवाहित करके विश्वचराचर के साथ अपने रचे चित्र और अपने को भी एक आकृति में बाँधता चलता है। चित्र के साथ, जो चित्र देखता है, जो चित्र बनाता है और चित्र में जिन्हें चित्रित किया जाता है, उनके परस्पर के प्राणों का परिचय कराना ही दोनों षडंग साधनाओं का चरम लक्ष्य है।

चित्र में छन्द और रस

इति चित्रम् षडगकम् !

छ सुशिक्षित घोडो की तरह षडग जिसे रथ की भाँति हमारे सामने से लिए जा रहा है वह चित्र क्या है ? उसका निर्माता कौन है ? और उस चित्र विचित्र रथ का अधिष्ठाता कौन देवता है ?

पहिले ही देखा जाय कि चित्र किसे कहते है। जिसमें रूप का भेदाभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभग ये छ वर्त्तमान है, वही चित्र है। अगर यह कहते हो तो मेरे कमरे में बिछे हुए इस विलायती गलीचे को भी चित्र कहना पडेगा। क्योकि इसमें भी नाना फल-फूलो के रूपभेद, गलीचे का चतुष्कोण मानप्रमाण, गलीचे पर बने एक-एक फल और फूल के भाव और लावण्य जिनका बिलकुल ताजे फूल से सादृश्य है और जिसका जो रग होता है वह रग सोलहो आने दिखाई पड रहा है। अगर कहते हो कि गलीचे को दीवार पर टागा नही जा सकता है, किताब में भी नही दिया जा सकता है, अतएव वह चित्र नही है—लेकिन अगर म एक सुदर सूक्ष्म गलीचा बुन कर दीवार पर टाग दू अथवा किताब में दे दूँ तब क्या वह चित्र बन जायगा ? दीवार पर टाँगने, किताब मे छापने से ही चित्र नही बन जाता है। तूलिका से जो चित्रित होता है वही चित्र है। किन्तु तूलिका से जो लट्टू चित्रित किया गया है या तूलिका से कमरे को नाना रगो से चित्रित किया गया है तो क्या इन्हे चित्र कहोगे ? अतएव देखो, जो कुछ भी तूलिका से चित्रित होता है-मिट्टी या लकडी या कपडे का टुकडा, वह चित्र नही है। या बाह्य वस्तु की नकल जैसे फोटोग्राफ या यह विलायती गलीचा, ये भी चित्र नही है।

कोश मे लिखा गया है, चीयते इति चित्रम्। चित्रकार चयन करता है, यह सच है। वह बहिजगत-अन्तर्जगत दोनो के भावो का चयन करता है, लावण्य का चयन करता है, रूप प्रमाण सादृश्य वर्णिकाभग का चयन करता है। लेकिन इस चयन की समष्टि को तो चित्र नही कह सकते। फूलो को चुन कर डाली सजाना माली की करामात है, लेकिन यह करामातमात्र ही तो चित्र का सब कुछ नही है। दस चीजो का सग्रह एकत्र प्रकाशित करने से वह इनसाइक्लोपीडिया या विश्वकोष बनता है चित्र तो नही बनता है। इसलिए कहना पडता है कि, जो चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करनेवाली अकृत्रिम षडग-माला है, वही चित्र है।

बाहर का ससार रूप रस शब्द स्पर्श सुगध छायातप आलोक-अधकार से दस फूलो की डाली की तरह विराजमान है। अन्तर कमल-सरोवर, सुख दुख आनद-अवसाद, भाव-भक्ति के सुर-लय की लहरी से भरपूर है। चित्रकार इन दोनो में आवागमन करके पुष्प चयन कर रहा है और मननसूत्र मे अपूर्व माला गूथ रहा है और उस माला से सजा कर पुष्पक-रथ निर्माण कर रहा है। लेकिन किसे ले जाने के लिए, किस देवता को माला पहना कर इस रथ पर अधिष्ठित करके हमारे घरो में पहुँचा देने के लिए ? मै कहता हूँ कि आत्म-देवता को, चित्रकार की अपनी आत्मा को। यह आत्मा अगर पट पर चित्रित या अधिष्ठित रहती है तब

एकमात्र वही चित्र है। अगर गलीचे पर अधिष्ठित रहती है तो वही चित्र है। यदि घर की दीवार पर अथवा पुस्तक के पृष्ठों पर अधिष्ठित होती है तो वह भी चित्र है।

आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल है। चारों ओर की आत्मीयता के अन्दर अपने को प्रकट करने के लिए उसमें एक विशाल अभिव्यक्ति की वेदना उदित हो कर निरन्तर काम कर रही है। इस अभिव्यक्ति वेदना के उदय होने की अभिव्यक्ति ही चित्र है। इस उदय का रंग, इस वेदना की शोणिमा जब आ कर सफेद कागज को रँगती है, उसे रूप देती है, उसे प्रमाण देती है, भाव लावण्य सादृश्य वर्णिकाभंग देती है, तभी वह चित्र होता है। सूर्य किस अंधकार की ओट में उदित हो रहे हैं, इसे कौन जानता है ? हम उन्हें तभी देखते हैं जब वह उदय के रश्मिजाल से आकाशपट को रंग देते हैं। जब सूर्योदय जलस्थल-अन्तरीक्ष में विचित्र रूप-प्रमाण-भाव-लावण्यादि को सोने के एक जाग्रत स्वप्न से उद्बोधित करके अपना उद्बोधन हमें बनाते हैं। अतएव हम देखते है कि जो चित्र है उसके प्रारम्भ में एक गोपन उदय-उत्स है, जिसके अन्दर अभिव्यक्ति की वेदना है, और जिसका अंत एक अनिर्वचनीय रसोदय में होता है, जहाँ चित्र की परिणति होती है। और इन दोनों उदयों के बीच में है रूप, भाव, लावण्य इत्यादि का छन्द आकृति सांचा या आच्छादन। चित्र तब बनता है जब चित्रकार की अन्तर्निहित उदयकामना या अभिव्यक्ति वेदना छन्द के नियमों मे अपने को बाँध कर अन्तर्बाह्य दो प्रकार से अपने को रसोदय मे परिणत करती है। शब्द-चित्र, संगीत, वाच्यचित्र, कविता, दृश्यचित्र, पट और मूर्ति आदि कोई भी सृजन के इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना अभिव्यक्त हो ही नहीं सकते। अगर कुछ इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अतिक्रमण कर उदय होता है तो उसे संगीत, कविता या चित्र नही कहूँगा। उसे पागल का तरंग, मतवाले का प्रलाप कह सकता हूँ। पागल और मतवाले के अन्तर की उत्कट अभिव्यक्ति-वेदना, उदयकामना किसी भी तरह अपने को छंद में नहीं बाँध पा रही है, छन्द के आवरण और आच्छादन को वह दूर फेक कर उलंग हो कर दिखाई पड़ रही है, इसलिए वेदना में ही उसकी परिसमाप्ति होती है, रसोदय के आनन्द मे नही, चित्र प्रथमोदय में या प्रकाश वेदन की अवस्था मे अरुण या अव्यक्तराग, शब्द रहित होता है; उदय की द्वितीय अवस्था मे वह प्रन्यून, छन्द के अन्दर संप्रेषित प्रचलित या कल्पित होता है; और उदय की तीसरी अवस्था में वह अनून, अखण्ड समग्र अर्थात् रूप प्रमाण भाव लावण्य सादृश्य वर्णिकाभंग से परिपूर्ण सूर्य की तरह अखण्ड मंडलाकार में उदित होता है।

अव हम देखते हैं कि चित्र के प्रथमोदय और पूर्णोदय के ठीक मर्मस्थान मे छन्द है—ऊषा की भाँति दीप्तिमान, शोभा के लिए जलोर्मि की भाँति उत्थित—समस्त स्थान को सुपथ-युक्त और सुखगमन योग्य बनाते हुए। चित्रकार के मन मे प्रकाश वेदन और चित्र का प्रकाश इसी के बीच में ऊषा की आनन्द की कली की भाँति छन्द है; इसलिए छन्द को कहा गया है छन्दयति इति छन्द। क्योंकि वे आनन्दित करते हैं। इनके उदय के उन्मेष और उदय की समाप्ति इन दोनों की शुभ दृष्टि के ऊपर प्रच्छदपट की भाँति दोदुल्यमान है; इसीलिए कहा गया है, आच्छादयति इति छन्द। ऊषा के अन्दर जैसे उदय का अभिप्राय निहित रहता है उसी तरह छन्द के अन्दर से

है। इस रीति के प्रथम अक में सात भँवर होती है। पहली जल की झारी ले कर जलोर्मि के छन्द से, दूसरी सात आलोकवर्तिका ले कर सूर्य की सप्त-रश्मि के छन्द से, तीसरी श्री ले कर, चौथी मध्यमा या प्रधाना एक ढके हुए भांड मे जलते हुए दीपक को ले कर—मगल-भाड या वहू-भाड या आइ-भाड—नव वधू के मन के गोपन छन्द को वहन करके, पाचवीं वरण डाली मानो छ ऋतुओ के वर्णिकाभग के सभी छन्दो को ले कर, छठी शखध्वनि के मगल छन्द को वहन करके और सातवीं ऊलु दे कर या वाणी की झकार से सात भँवर कर वर का वेष्टन करती हैं।

इस रीति के द्वितीय अक में सात छन्दो में एक-एक से वरण किया जाता है। इसमें पहले पहल जलहाथ या जलोर्मि और सब मे आवीर में प्रदीप से सेंकना या नवरस का अभिसिंचन है।

तीसरे अक मे कन्या या अनूढा के छन्द को वर की ओर, वायु तरग के छन्द के ऊपर से ही चार पुरुष-छन्द चार वेद या छन्दग्गण वहन कर लाते हैं। आच्छादन (छन्द के) की ओट मे और वधू छन्द या छन्द की छाया की ओर को ले कर वर छन्द या छन्द के आतप की ओर सात वार प्रदक्षिणा कराते हैं। पिता के साथ कन्या के मन का छन्द, भाव का छन्द जैसे छिन्न हो रहा है उसी कारण से ही पिता-माता इस समय कन्याछन्द का वहन नही करते हैं।

रीति के चौथे अक में शुभदृष्टि होती है। इस पार जो है, उस पार जो है, उनमें शुभदृष्टि-छायातप की शुभदृष्टि—आच्छादन को (छन्द को) सिर पर ले कर।

पाँचवें अक में माला-परिवर्तन या दोनों ओर के अथवा छायातप के गान्धर्व परिणय में छन्दवन्धन सार्थक होता है। यथाप्सु परिवद दृशे तथा गन्धव लोके—गन्धव लोक मे जैसे सब कुछ ही वायु-तरग के, शब्द तरग के, रस तरग के ऊपर तरगित रूप में दिखलाई देते हैं उसी तरह मडप के नीचे इस गन्धव परिणय का सब कुछ छन्दमय एक हिल्लोल के अन्दर से मानो छन्द को ही हमारे गोचर में ला रहा है।

इस देश में स्त्रियो के हाथ मे पहिनने के बहुतेरे गहने हैं, उनमे से एक का नाम है छँद् वा छन्द। इस छँद् को धारण करने के नियम मे और इस आवरण की बनावट की कल्पना मे छन्द और छन्दवोध के सारे रहस्य को हम निहित पाते हैं। पहली बात यह है कि छँद् की बनावट पूर्णचन्द्र सी होती है और एक विकसित कमल के फूल के ऊपर सजा कर मानो अरुणोदय के छन्द और चन्द्रोदय के छन्द से कमल के छन्द के गोपन-सम्बन्ध को प्रकट करते हो। इसके बाद छद को पहिनने का नियम इस प्रकार है—एक ओर टाड अर्थात् तट की गोद मे तीन जलतरग चूडियाँ, और दूसरी ओर पहुँचो और कवण की गोद में तीन जलतरग चूडियाँ। दोनो ओर दो भूषण तरग और उसके दोनो कूल-उपकूलो के ठीक बीच म छँद् वा छन्द रहता है—दोनो कूलो को मिलाते हुए—टाँड और कवण दोनो के झकार को एक सुमधुर निक्वण में नियन्त्रित करते हुए। इस छन्द के बगैर आभूषण पहिनना जिस प्रकार अशोभन होता है, उसी प्रकार छन्द के बगैर चित्र लिखना भी अशोभन होता है।

अलकार पहिनने के एक और नियम मे हमारे देश के पुराने युग की स्त्रियो के छन्द ज्ञान का परिचय मिलता है। सारे गहने पहिन कर सब कुछ के चकाचौंध के ऊपर अत्यन्त

सूक्ष्म मलमल का आच्छादन डालने की प्रथा पुराने युग में थी मानों आभरण के पूर्ण प्रकाश के अन्दर शुभ्रवर्णा ऊषा का आवरण आच्छादन या छन्द हो।

इस छन्द का परित्याग करने पर घर में लक्ष्मी नहीं रहती, काम में सिलसिला नही रह जाता। छाँद श्री है। उसको बाँधना ही छाँद मे बांधना या श्री राधिका के कानड़ा-छाँद् में कवरी जूड़ा बांधना है। निरा बंधन-कष्ट का बंधन हथकड़ी का बंधन होता है। और छाँद का बंधन शीत-ग्रीष्म के बीच वसंत तिलक की तरह मनोहर होता है। बिना छाँद दिये बाँधना किसे नही आता है ? एक रसिक को छोड़ कर छाँद से बाँधना किसी दूसरे का काम नही।

एत छांदे के ना बाँधे चूल
ए तोमार चूड़ाय मजाइल जाति कूल।...
के बा नाहि गाँथे वनमाला
तोमार मालाय से एतेक केनो ज्वाला।...
के ना थाके त्रिभंग हइया
प्राण कान्दे ए रूप हेरिया।...
के बा नाहि कहे कथाखानि
तोमार चाँदमुखे सुधा खसे जानि।

यह जो वस्तु जाति कुल को डुबोती है, कष्ट देती है, प्राणों को रुलाती है, वाणी से सुधा बरसाती है, रूप को भंगिमा देती है, वही छन्द है। इस छन्द की शक्ति का बोध करना या कराना ही छन्द बोध है और इस छन्दशक्ति को रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग के द्वारा उद्बोधित करना ही चित्र में प्राणप्रतिष्ठा करना है।

अब, चित्र के प्राण का प्राण जो रस है वह क्या है ? छन्द है। जिसे चित्रकार के चित्त से, चित्र मे और चित्र से फिर मेरे चित्त मे प्रवाहित कर रहा है ! रसो वै सः ! रसना, रस का आस्वादन करना ही जिसका काम है उससे पूछो, वह कहेगी 'रस रस ही', है बोलने कहने में रसना कभी भी चैन नही लेती, लेकिन रस की बारी आनेपर वह कहती है, 'बस'—छन्द की परिणति रस में होती है, लेकिन रस की परिणति किसमें होती है ? कहना पड़ेगा, इसलिए कहता हूँ 'बस' में, या आँसुओं की बूंदों में। इससे अधिक साफ तौर से रस को नही समझाया जा सकता है। यही रस है—ऐसा नही कहा जा सकता। क्योंकि स च न कार्यः नापि ज्ञाप्यः ! तो क्या वह आकाश-कुसुम की तरह काल्पनिक है ? कदापि नही। रस हो रहा है। रस पा रहा हूँ ! रस है यह देख रहा हूँ। पुर इव परिस्फुरन्—मानो सामने है। हृदयमिव प्रविशन—मानो हृदय के अन्दर है। सर्वांगीनमिवमालिंगन—सर्वांग आलिंगन करके।

रसोन्मत्त मोर के सारे वदन में रस मणियों की ज्योति की भाँति चमक रहा है—इस बात को आँखों से देख रहा हूँ कि रस से उसका हृदय सुरापात्र की भाँति भर रहा है, रस उसके विचित्र पुच्छ के रोम रोम में सिहरन पैदा करके निर्झर की भाँति झर रहा है, रस को देख रहा

हूँ, रस को सुन रहा हूँ। कैसे कहूँ कि रस कल्पनामात्र है। नये नये चित्र, विचित्र रग और भगिमा रस के शृगार वेष हैं। अयम् शृगारादिको रस अलौकिकचमत्कारकारी—वह अलौकिक एक चमत्कार सामग्री है। वह है, वह आ रहा है। अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्—उसके सामने कोई चीज टिक नहीं पा रही है, रस सब कुछ को बहाये जा रहा है, रस में सभी डूबे जा रहे हैं! विराट प्लावन की तरह सब के ऊपर, ब्रह्मास्वादमिव अनुभावयन्—मानो ब्रह्म के आस्वाद से हमें भी उस प्रकाण्ड आस्वाद रस में बहा कर दिया है।

रस जब चित्र का सर्वस्व है, उसके प्राणो का प्राण है तो एक प्राण-रसना को छोड कर दूसरी कोई इन्द्रिय—न आँख न कान—चित्र का आस्वाद ग्रहण नहीं कर रहे हैं—चित्रितव्य का स्वाद नहीं पा रहे हैं। चित्र की उत्पत्ति, चित्र की परिणति ये दोनों ही जब प्राणो के अन्दर रहें, तो प्राणो से ही उन दोनों को देखना पडता है, केवल आँखो से ही नही—यहा तक कि जितना आँखो से देख रहा हूँ, हाथो से पकड पा रहा हूँ उसे भी केवल आँखो से देखना नहीं, केवल हाथो से छूना ही नहीं प्राणो से देखना, प्राणो से स्पर्श करना चाहिए।

चोखे देखे गाय ठेके धुलो आर माटि।
प्राणरसनाय देखरे चाइला रसेर सांइ खाँटि।
चोखे धुलो आर माटि, प्राणे रसेर सांइ खाँटि।
रूपेर रसेर फूल फुइटा जाय,
आमार परान-सुता कइ?
बाइरे वाजे साइर बाँशि,
आमि शुइना आकुल होइ।
आमार मिलनमाला हइलो ना रे,
लाजे पथ हाँटि,
केवल हाटि, आर हाँटि।

भारत-षडङ्ग

१ रूपभेद

रूप रूप में विभिन्नता, रूप का मर्म भेद या रहस्य-उद्घाटन—जीवित रूप—निर्जित रूप, चाक्षुप रूप, मानस रूप, सुरूप, कुरूप इत्यादि। माँ की गोद में सब से पहले आँखें खोलने से ले कर हम रूप को ही देख रहे हैं। ज्योति पश्यति रूपाणि! ग्रह नक्षत्र की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है, आत्मा की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है—आलोक के छन्द में, भाव के छन्द में—बहुधा बहु प्रकार से। यथा—

ज्योति पश्यति रूपाणि रूपच बहुधा स्मृतम्।
ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरश्चोहनुवृत्तवान् ॥३३॥

शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलोहरुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः॥३४॥
—महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १८४

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण और नाना कोण—जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोणादि एवं गोलाकृति, अण्डाकृति; अथवा श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैंगनी) तथा नाना वर्णों के मिश्रित रूप; रक्त-पीतादि एक-एक स्वतंत्र वर्ण रूप; कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण (सूक्ष्म, कृप, स्निग्ध, स्वल्प), पिच्छिल, अर्थात् फिसलाहट पैदा करने वाला, जैसे कीचड़, जैसे जल, पिच्छिल जैसे छत्राकार मोर की पूँछ; मृदु जैसे शिरीष फूल, दारुण जैसे लोहे का भीम; छोटे बड़े, मोटे पतले, कटे छँटे, गोल, काले, सफेद, एक रंगे, पँच रंगे इत्यादि।

ऊपर के श्लोक में जो १६ प्रकार के रूप कहे गये हैं उनका विस्तार अनन्त है। इस रूप की असीमता एक-एक पदार्थ में विच्छिन्न है। भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस अखण्ड विभिन्नता को एक में समाहित असीम में प्रतिष्ठित देखना ही आँखों और आत्मा का काम है। पहिले पहल रूप से आँखों का परिचय होता है, धीरे-धीरे उससे आत्मा का परिचय होता है—यही रूपभेद की प्रारम्भिक और अन्तिम वात है।

आँखों से जब रूपभेद को समझने चलते हैं तो एक रूप से दूसरे रूप की तुलना कर के दोनों का पार्थक्य देखने चलते हैं—ह्रस्व को दीर्घ से, चतुष्कोण को नानाकोण या निष्कोण से, कठिन को कोमल से और एक वर्ण को दूसरे वर्ण की बरावरी में खड़ा कर। इस प्रकार केवल आँख से देखने की दृश्य वस्तु तुम्हारे लिए जैसी है, वैसी ही हमारे लिए भी। रमणी को तुम भी रमणी देख रहे हो, मैं भी रमणी देख रहा हूँ; तुम जिस रूप में उसे चित्रित कर रहे हो, मैं भी उसी रूप में चित्रित कर रहा हूँ, और यह फोटो-यंत्र भी उसी प्रकार से चित्रित कर रहा है। अतएव केवल आँखों की सहायता से चित्रित होता है तो तुम्हारे चित्रित, मेरे चित्रित और फोटो-यंत्र द्वारा चित्रित रूपों में विभिन्नता नहीं रह जाती है; ज्यादा से ज्यादा रूप का एक पक्ष तुमने दिखाया, मैंने दिखाया दूसरा पक्ष, उसने दिखाया और एक पक्ष। शायद तुमने दिखाया एक रमणी पानी लाने जा रही है, शायद मैंने दिखाया कि वह रमणी बाल सँवार रही है और उसने दिखाया कि वह बच्चे को दूध पिला रही है। अथवा हम तीनों में से ही एक ने चित्र बना कर दिखाया कि तीन भिन्न-भिन्न रमणियाँ उन तीन कामों में लगी हुई हैं। लेकिन इतना कुछ करने पर भी क्या समझा पा रहे हैं कि यह रमणी माता है, यह घर की वहू है या घर की दासी है? यह नहीं कह सकते कि दूध पिलाने वाली ही माता है, वालों को सँवारने वाली ही बहू है और पानी लाने के लिये जाने को उद्यत ही दासी है; क्योंकि धाय भी दूध पिलाती है, माता भी बाल सँवारती है और बहू भी पानी लाने जाती है! हो सकता है कि तुमने, जो पानी लाने जा रही है उसे मैले वेश से, जो बाल सँवार रही है उसे सिंदूर आदि से, इसी प्रकार समझाया कि, यह दासी है, यह बहू है! लेकिन मातृरूप के बारे में क्या करोगे? सन्तान रूप के बारे में क्या करोगे? बच्चे को गोद में दे कर ही तो नहीं समझा पा

रहे हो कि यह माँ है, यह बेटा है—यह धाय नही है, वह पालित पुत्र भी नही है। दो किशोरियो को पास-पास बैठा कर, तसवीर के नीचे लिखे बगैर नही समझा सकते कि ये बहने है, दो पडोसिनें नही। मलिन वेश से ही तो दावे के साथ नही कह सकते कि यही दासी है, यह दुखिया के घर की लक्ष्मी नही है। अतएव देख रहे हो—काम की भिन्नता, वेश की भिन्नता—यहाँ तक कि आकृति की भिन्नता से भी तुम चित्रित रमणी रूप की सत्ता, जैसे, उसका मातृत्व, भगिनित्व, दासित्व इत्यादि सिद्ध नहीं कर पा रहे हो। यह नही कह सकते कि रूप मे इसका सत्तादान असम्भव है, जब तुम्हारी आँखो के सामने है रैफेल का मातृरूप, हमारे कृष्ण राधा का युगल रूप और पाषाण रेखाओ में प्रकाशित तैंतीस करोड दिव्यरूप।

इसलिए केवल दोनो आँखो पर चित्र में रूपभेद दिखाने का पूरा भार दे कर हम निश्चिन्त नही हो पा रहे है, क्योकि आँखे काम में धोखा देना चाह रही है, रूप की सत्ता को वह देखने और दिखाने में समर्थ नही है। इसलिए रमणी रूप को वह नटी की तरह कभी मलिन, कभी उज्ज्वल वेश में, कभी उसकी गोद मे लडका दे कर, कभी उसके हाथ में झाड़ू दे कर समझाना चाहता है कि यह दासी है, यह माता है, यह रानी है, यह मेहतरानी है। लेकिन भिन्न-भिन्न वेशो के अन्दर से दिखाई पड रहा है वही नटी रूप, जो माता भी नही है, रानी भी नही है। अतएव हम देखते है कि चित्रकार के लिए एकमात्र आँखो का रास्ता ही अच्छा रास्ता नही है, क्योकि रूप की बहिरंगीण भिन्नता को पकडने और पकडा देने पर भी आँखे भिन्न-भिन्न रूपो की सत्ता को, अर्थात् रूप के असल भेदाभेद को नही पकड पाती है, पकड भी नही सकती है। रूप के इस असल भेद या रूप के मर्म को हम केवल ज्ञान चक्षु के द्वारा पकड सकते है।

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।—पचदशी, द्वैतविवेक।

भिन्न-भिन्न रूपो की सत्ता को प्रकट कर वह ज्ञान ही रूप का यथार्थ भेद बतला रहा है। माता के दूध पिलाने के साथ साथ, जनम कर बडे होने के साथ-साथ, प्रतिदिन के हँसने रोने इत्यादि के अन्दर से जिन सत्ताओ का ज्ञान हमने पाया है उसे रूप के अन्दर प्रेषित करना ही रूप का मर्म देना, जीवन देना, अथवा रूप का सुरूप या स्वरूप दिखाना है। इसका उलटा है रूप को निर्जित करना या रूप को अरूप करना।

अपनी रुचि के अनुसार हम रूप को सु और कु दो प्रकार की विभिन्नता प्रदान करते है। रुचि है हमारे मन की दीप्ति या चिर यौवन शोभा। इसके द्वारा ही रूपवान वस्तुमात्र की रुचिरता का हम अनुभव करते है। जिसके मन है उसी में रुचि भी है, उसी प्रकार आकृति मात्र की अपनी अपनी एक रुचि या दीप्ति या शोभा है। इन दोनो साथियो के मिलन को जभी देखते है तभी सुरूप देखते है, और इसके विपरीत मानो रूपहीन देखते है।

वस्तु रूप हमारे सामने पडते ही हमारे मन की दीप्ति या रुचि लालटेन की रोशनी की तरह वस्तु पर जा पडती है और वस्तु की दीप्ति या शोभा हमारे मन पर पडती है। अगर वस्तु रूप की रुचि हमारी रुचि के अनुकूल नही होती है तो हम वस्तु से अपनी दीप्ति फेर लेते है, जैसे

मुँह फेर लिया, और कहते हैं यह रूप कुरूप है; इसके विपरीत होने पर हम देखते हैं कि वस्तु सुरूप है। अतएव रूप को देखना और रूप को रेखादि के द्वारा चित्रित करके दिखाना हो तो यह रुचि, मन की दीप्ति या चिरयौवन शोभा ही चित्रकार की एकमात्र सहाय और चिरसंगी है। सभी प्रदीपों की दीप्ति बराबर नही होती है, उसी प्रकार सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में यह रुचि समभाव से उज्ज्वल नहीं होती। इसलिए तुम्हारे देखने और मेरे देखने में, मेरे चित्रित करने और तुम्हारे चित्रित करने में रूप का प्रभेद दिखाई पड़ता है, उत्तमाधम भेदाभेद रहता है। मन की रुचि या दीप्ति को उज्ज्वलतर बनाना ही रूप साधना है। इस दीप्ति की प्रेरणा से चित्र की रेखा को दीप्तिमती-लिखित आकृति के रूप को दीप्तिमती बनाना ही षडंग का प्रथम भेदाभेद है, रूपभेद पर अधिकार प्राप्त करना है।

व्यंजको वा यथालोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते॥

—पंचदशी, द्वैतविवेक।

जब देखता हूँ कि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला आलोक जब जिस वस्तु को आलोकित कर रहा है तभी उस वस्तु को आकार प्राप्त हो रहा है, नही तो स्वरूप प्रकट नहीं हो रहा है, उसी प्रकार सभी वस्तुओं का यथार्थ्य प्रकाशक अन्तःकरण जब जिस वस्तु के ऊपर पड़ता है तभी उस वस्तु को आकार प्राप्त होता है। नही तो तद्वस्तु का ज्ञान किस प्रकार से होता है? केवल आँखों की दीप्ति से रूप को देखना नही, दिखाना नही, मन की दीप्ति से उसे प्रकाशित देखना होगा और प्रकाशित भी करना होगा। इसलिए शुक्राचार्य ने प्रतिमा का लक्षण लिखने के प्रारम्भ में ही कहा है—नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु। आँखों से रूप देखना नही, लिखना भी नही।

२. प्रमाण

प्रमाणानि—वस्तु रूप के बारे में प्रमा या भ्रम विहीन ज्ञान प्राप्त करना; नैकटच, दूरत्व और उसकी लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि का मान परिमाण, संक्षेप मे वस्तु का ब्यौरा।

आँखे देख रही हैं समुद्र का अनन्त विस्तार, लेकिन कई अगुल-परिमित पट पर हमें समुद्र दिखाना होगा। सारे कागज को नीले रग में डुबो कर नही कह पा रहा हूँ कि यही समुद्र है। क्योंकि वह एक चौकोर नीले काँच की तरह लग रहा है—बिलकुल सीमावद्ध क्षुद्र पदार्थ! अनन्त का तनिक भी आभास उसमे नही है। इसी समय ही हम समुद्र के अनन्त विस्तार को आकाश और तट इन दो सीमाओं से परिमिति या प्रमिति देने जाते हैं। हम तट को पट का इतना, आकाश का इतना स्थान लेने देंगे और बाकी स्थान समुद्र के लिए छोड़ देंगे—यह है हमारे प्रमातृ-चैतन्य या प्रमा का प्रथम कार्य। इसके वाद प्रमा से हम निरूपण करने वैठते हैं—कलर मे भरे तट से सोने के आलोक से रंजित आकाश के पीतवर्ण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद, दोनों में स्वच्छता और

कर्कशता का भेद और तट तथा आकाश दोनो से जल के तरगित-रूप और वर्ण का भेद, समुद्र की तरगमाला से आकाश की मेघमाला का रूपभेद इत्यादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकृति भेद, वर्ण भेद, लम्बाई-चौडाई विस्तार आदि का भेद, केवल यही नही, भाव के भेद तक ! आकाश की निर्निमेष नीरवता, समुद्र की मनिर्घोष चचलता यहा तक कि तटभूमि की महिष्णु निश्चलता तक ! स्वच्छ आकाश की दीप्ति की गहराई, सुनील जल की दीप्ति की गहराई और तटभूमि में सन्ध्या का जो आलोक दीप्ति पा रहा है या सारी तसवीर पर रात की जो गहराई घनी हो रही है उसे भी प्रमा के द्वारा परिमिति दे कर हम निरूपण कर लेते हैं। तट समुद्र और आकाश इनमें जो दूरत्व और नैकट्य है इसे भी हम प्रमा की सहायता से अनुमान कर लेते हैं। यह प्रमा सान्त और अनन्त दोनो को नापने, समझ देखने के लिए हमारे अन्त करण का आश्चर्यजनक मापदण्ड है। क्षुद्रातिक्षुद्र की नाप भी दे रहा है, वृहत् से वृहत् की नाप भी दे रहा है, गहरे और छिछले दोनो की नाप दे रहा है, रूप की भी नाप दे रहा है, भाव की भी नाप दे रहा है, लावण्य सादृश्य वर्णिकाभग सभी की नाप और ज्ञान दे रहा है।

सगीताचार्य लडके को गाना सिखा रहे हैं। लडके का प्रमातृचैतन्य अभी भी अविकसित अवस्था में है। इसलिए सुर को वह जितनी बार दोहराने की कोशिश कर रहा है उतनी ही बार गलती कर रहा है, या तो सुर चढ जाता है नही तो नरम हो जाता है, और इधर बँधा सुर भी लगातार कहता जा रहा है—'नही, नही, नही हुआ।' इसके बाद देखते है कि बहुत दिनो तक इस सुर को नापते नापते सुर के बारे में लडके मे प्रमातृचैतन्य जैसे ही सोलहो आने जाग उठा है उसी दिन गले का सुर और तानपूरे का सुर बिलकुल मिल गया है।

प्रमा जन्म से ही केवल मनुष्यो में ही काम नही कर रही है, निम्नकोटि के जीवो मे भी इसका परिचय पा रहा हूँ। जहाँ एक पत्ता खडका वैसे ही हरिण की प्रमा दोनो कान खडे करके शब्द को तौल रही है—वह पत्ता खडकने का शब्द है या किसी अज्ञात शत्रु का सतर्क पदक्षेप ! वह शेर है या आदमी है या खरगोश जैसा कोई छोटा जानवर है या नही इत्यादि। सभी शिकारी जानवरो में प्रमा की यह प्रखरता हमें दिखाई पडती है। चिडिया जैसे ही पेड से उतरी वैसे ही बिल्ली उसकी ओर चल पडी—एक एक पग-पग करके चिडिया और अपने बीच की दूरी को प्रमा से नापते हुए। आखिरकार बिल्ली ऐसी जगह आ कर खडी हुई जहा से ठीक एक छलाग मे वह चिडिया पर जा सकती है—बाल बराबर इधर-उधर नहीं हो सकता। ठीक कितने जोर से छलाँग मारनी होगी, उसे भी बिल्ली प्रमा की सहायता से इसी समय तौल कर तब काम में आगे बढती है। इधर चिडिया का प्रमातृचैतन्य भी सो नही रहा है। वह मिट्टी पर उतरने के बाद से बिल्ली की प्रमा की दौड का अन्दाज ले रही है और शत्रु तथा अपने बीच के फासले को अभ्रान्त रूप से निरूपण करके नाना प्रकार के कीडो-मकोडो का शिकार करते हुए स्वय स्वच्छन्द विचरण कर रही है। कीडे-मकोडे भी चिडिया की प्रमा और बिल्ली की प्रमा के पैरो की आहट नही सुन रहे है और बिलो में नही छिप रहे हैं, यह कौन कह सकता है !

प्रमा से केवल दूरी-निकट का ही बोध होता है ऐसी बात नही, किस वस्तु को कितना दिखाने से वह मनोहर होगी उसे भी यह निश्चित करती है। ताजमहल के निर्माता स्थपतियों ने उसकी प्रमा पत्थर के गुम्बद को न जाने कैसी परिमिति दी है कि ऐसी दूसरी गुम्बद दुर्लभ है। इस गुम्बद के परिमाण को अगर बाल भर भी इधर-उधर किया जाय तो देखोगे कि शाहजहाँ का मर्मर-स्वप्न वाणविद्ध राजहंस की तरह धूल में लोटने लगेगा। ताज अपने हीरे जवाहरात के लिए सुन्दर नही है उसकी हैरत में डालनेवाली परिमिति ने ही उसे सुन्दर बनाया है। हजारों कोशिश करने पर भी यूरोप की विख्यात मिलो की 'वीनस' की मूर्ति के दोनों खोये हुए हाथों को आज तक कोई भी मिला न सका। कैसी आश्चर्यजनक परमिति अज्ञात शिल्पी की प्रमा ने वीनस की मूर्ति को दी है।

अतएव देखता हूँ कि 'प्रमाणानि' केवल गणितशास्त्र का इंच, गज, फुट नही है। वह हमलोगों का प्रमातृचैतन्य है, जो अन्दर-वाहर दोनों को ही परिमिति दे रहा है।

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नम् मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतम् तच्च मेयाभत्वम् प्रपद्यते॥
—पंचदशी, परिच्छेद ४, श्लोक ३०

वस्तुरूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न हो कर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती है; तब वह अन्तःकरण, प्रमेय जो वस्तुरूप है उसमें संगत हों कर तदाकार में परिणत होती है अर्थात् मन वस्तुरूप धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है। हम देखते हैं कि एक ओर हमारी अन्तरिन्द्रियाँ और बहिरिन्द्रियाँ और एक ओर अन्तर्वाह्य दो-दो वस्तुरूप है; इन दोनों के बीच प्रमातृचैतन्य मानो मानदण्ड या मेरुदण्ड है। पूर्वा परौ तोयनिधीवगाह्य। इस मानदण्ड को हम शैशव से नाना वस्तुओं मे प्रयोग करते करते ऊँचे-नीचे, दूर-निकट, सफेद-काला, जल-स्थल इत्यादि के भेदाभेद ज्ञान को प्राप्त करते हैं और नित्य व्यवहार के द्वारा इसे हम प्रखरतर वना डालते हैं। कृपाण को अधिक दिनों तक इस्तेमाल मे नहीं लाने से उसमें जंग लग जाता है, वह वेकार हो जाता है, उसी तरह प्रमातृचैतन्य से काम न लेने से अपना पैनापन खो कर वह निष्प्रभ बना रहता है। बिल्ली का वच्चा चूहा पकड़ने चला है, लेकिन उसकी प्रमा नाना वस्तुओं पर प्रयोग के द्वारा अभी सुतीक्ष्ण नही हो पाई है। इसीलिए वह पग-पग पर भूल कर रहा है—शिकार की दूरी के बारे में और अपनी कूदने की हालत के झटके के बारे मे।

मानवशिशु की चित्रित वस्तुओं में भी हम इस प्रमा-प्रयोग के तारतम्य को देखते है। मान लो दो लड़कों ने एक हाथी की तसवीर वनाई है; यूँ हाथी की आकृति के बारे में दोनों की ही प्रमा ने ठीक अन्दाज लगाया है—दोनों ने ही सूँड़, पूंछ और ढोल जैसे पेट को देखा है, लेकिन पैरों के मामले में किसी ने दो देखा है किसी ने चार। दाँतों के बारे में भी यही वात है—एक ने देखा है एक दाँत, दूसरे ने देखा है दो दाँत, किसी ने दाँत बिलकुल ही नहीं देखा है। पैरों की

बनावट के बारे मे भी देख रहा हूँ कि एक बच्चे ने प्रमा का काफी प्रयोग करके दो पैर बनाये हैं लेकिन दोनो पैरो को स्तम्भाकृति दी है, दूसरे ने चार पैर बनाये हैं—पैरो की सख्या के बारे में प्रमा का प्रयोग करके—लेकिन पैरो की बनावट के बारे में वह बिलकुल अन्धा रह गया है और चार तीलियाँ बना कर हाथी के पैर बताना चाह रहा है! भिन्न-भिन्न चित्रकारो के चित्रो में भी प्रमा प्रयोग का इसी प्रकार तारतम्य दिखाई पडता है। प्रमा को सर्वदा जाग्रत रखना ही षडग की दूसरी साधना है। मकडी की तरह चारो ओर प्रमा जाल फैला कर खुद बीच मे बैठा हूँ और वस्तुओ के निकट आकर जाल में पडते ही उनके बारे में सारी ठीक-ठीक खबरे पलक मारते मेरे पास पहुँच रही है।

३ भाव

भाव—आकृति की भाव-भगिमा, स्वभाव तथा मनोभाव इत्यादि एव व्यग्य।

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणाम् विधायका।
भाव विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिता।

शरीर और इन्द्रिय सभी का विकार-विधायक भाव है, विभावजनित चित्त वृत्ति भाव है। निर्विकारात्मक चित्ते भाव प्रथम विक्रिया। निर्विकार चित्त में भाव ही प्रथम विक्रिया [Movement] प्रदान करता है।

चित्त स्वभावत स्थिर रहना चाह रहा है—मिट्टी के बर्तन मे इस थोडे से जल की तरह। वह स्वभावत निर्विकार है, विशाल झील की तरह वह स्वच्छ है, उसका अपना कोई वर्ण नही है या चचलता नही है, भाव ही उसे वर्ण दे रहा है, चचलता दे रहा है।

कब सवेरे वसन्त की हवा बही है, आकाश के किस कोने मे वर्षा का गडगड मृदग बजा है, किस दिन शरत् का अमल धवल बादल दिखाई पडा है, जाडे की कँपकँपी उत्तर की साँस के साथ आ पहुँची है, और वैसे ही इस चित्त हृद का जल चचल हो उठा है! यह भाव उत्तमाधम-निर्विचार केवल मनुष्यो के चित्त म विकार पैदा कर रहा है ऐसी बात नही है, भावावेश म पशु-पक्षी, कीडे-मकाडे, वृक्ष-लता सभी रोमाचित हो रहे हैं, हिल डुल रहे हैं, उन्मत्त हो रहे हैं।

इस भाव के काम को हम आँखो मे पकड सकते हैं। जैसे आकृति की नाना भगिमा में। वसन्त के नये फूल, हरे पत्तो के वर्ण के उत्कर्ष में और उनकी सजीव भगिमा में, आँधी के दिनो में पेडो के झुक जाने, सो जाने की भगिमा में और समुद्र के ताण्डव-आस्फालन मे, तुम्हारे गालो पर हाथ रख कर बैठने में, आखो पर आचल डाल कर रोने में, तुम्हारे अस्त व्यस्त वेष की भगिमा में, तुम्हारे झपट कर चलने और बैठे रहने मे, तुम्हारी पलको के झुकने मे, तुम्हारे अधर के किंचित कम्पन में, भौं के सामान्य कुचन म, हाथ को हाथ पर रखने, हाथ को गाल पर रखने की भगिमा में।

आँखों से हम भाव को देखते हैं और भंगिमा के द्वारा दिखाते हैं—त्रिभंग, समभंग अतिभंग और शास्त्रसम्मत और अनगिनत शास्त्र के बाहर और सृष्टि के बाहर की भंगिमाओं से। लेकिन भाव की व्यंजना या गूढ़ भाव को हम केवल मन से अनुभव कर सकते हैं; कोयल का कंठ किस चीज को बता रहा है, जाड़े के कुहरे ने किसे ढक रखा है, शरत के बादलों के रथ किसे ले जा रहे हैं, मेरे अन्दर किसकी वेदना बाहर के वसन्त के सारे आनन्द के वर्ण-वर्ण में दुख की कालिमा पोत रही है, किसका आनन्द अन्धकार में आलोक प्रदान कर रहा है—उसे देखना आँखों के बूते की बात नही है, यह मन के आयत्ताधीन है। अतएव केवल आँखों से भाव को काम की जो भंगिमा दिखाई पड़ रही है सिर्फ उसी को चित्रित करके हम निश्शान्त नही हो पा रहे हैं; क्योंकि इस रूप में भाव की व्यंजना का पक्ष बिलकुल छूटा जा रहा है। चित्र के केवल स्फुट पक्ष को अर्थात् भंगिमा के पक्ष को दिखाने से काम नही चलता, चित्र असम्पूर्ण रह जाता है—इंगित के अभाव में व्यंग्य के अभाव में। शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यन्त्ववरम् स्मृतम्। व्यंग्य के अभाव मे शब्दचित्र, वाच्यचित्र यहाँ तक कि लिखित चित्र भी अनुत्तम हो जाते हैं। इदमुत्तम-मतिशयिनि व्यग्ये। चित्र मात्र ही व्यंग्य के रहने पर उत्तम होते हैं।

अतएव देखता हूँ कि भाव दोमुँहा साँप है। उसके एक मुँह को आँखों से देख रहा हूँ और भंगिमा से दिखा रहा हूँ—रेखा की भंगिमा, वर्ण की भंगिमा, आवृति की नाना भंगिमा से। लेकिन साँप के दूसरे मुँह को देख रहा हूँ कि वह व्यंग्य और गूढ़ता में प्रच्छन्न है। अँधेरी रात में पेड़ के नीचे छाया की माया की तरह वह दिखाई भी पड़ रहा है, और दिखाई नही भी पड़ रहा है! इसीलिए चित्र बनाते समय कितना दिखाऊँगा जिस तरह इसे सोचना होगा उसी तरह कितना नही दिखाऊँगा इस पर भी विचार करना होगा।

भाव की प्रच्छन्नता को कैसे समझाऊँगा? जो प्रच्छन्न है उसे खोल कर दिखाने से तो वह प्रच्छन्न नही रह जाता। छाया पर आतप का प्रयोग कर के छाया को नही दिखा सकता हूँ—आतप पाने से तो वह दूर भाग जाती है। इसीलिए देखता हूँ कि छाया दिखाने के लिए जिस तरह हम आतप के सम्मुख किसी चीज की ओट में रख कर—जैसे पेड़ या हाथ—दिखाता हूँ, 'यह छाया है', उसी तरह चित्र में हम व्यंजना देते हैं जो प्रच्छन्न है उसको और जो स्फुट है इन दोनों के बीच किसी चीज की ओट डाल कर।

झोपड़े का आधा चित्रित किया, बाकी आधे को पेड़ की ओट में ढक दिया। झोपड़े के चित्रित अंश मे उसकी भंगिमा या उसके भाव के प्रकाश के पक्ष को हमें दिखाया; और पेड़ की ओट में ढके झोपड़े के प्रच्छन्न हिस्से ने इशारे से बताना शुरू किया, उसके भीतर का भाव, झोपड़े में रहनेवालों की नाना लीलाएँ। उधर हमलोग नाना अलिखिति वस्तुओं की कल्पना कर ले सकते हैं।

मन कैसा कैसा कर रहा है, अतएव आँखों को सभी चीजे कैसी कैसी लग रही हैं। इस भाव को कविता में खोल कर लिखने से काव्य नही बनता है; वहाँ कवि को बगैर खोले कहना पड़ रहा है—

है उसी प्रकार लावण्य के न रहने मे चित्र के रसास्वादन मे बाधा पैदा होती है। अतएव लावण्य के परिमाण को सुगृहिणी की तरह चित्रकार को समझ बूझ कर—सक्षेप में प्रमा द्वारा परिमिति दे कर—प्रयोग करना पडता है। अतिरिक्त लावण्य मे चित्र की भाव भगिमा कडवी हो जाती है, बहुत कम लावण्य से वह फीकी हो जाती है।

लावण्य चित्रण सर्वदा शुचि और सयत है। वे भावादि से युक्त हो रही है सही में, लेकिन हमेशा अपने स्वातन्त्र्य को कायम रख कर। लावण्य मानो कसौटी पर सोने की रेखा है या पहिनने की साडी पर सुनहली किनारी!

लावण्य पत्थर को अपनी सुनिश्चित रेखा से अकित कर रही है, पूरे पट पर अपनी दीप्ति सुनिश्चित सूक्ष्म रेखा से बना रहा है, लेकिन कह रहा है कि, पत्थर, तुम भी और मैं भी रहूँ तुम्हारी थोडी-सी जगह घेर कर—कपडे, तुम भी रहो मैं भी रहूँ, तुम्हारे एक छोर पर थाडी सी जगह दखल करके! लावण्य चित्र के अन्दर सब से अधिक काम करता है लेकिन उसका आडम्बर सब से कम होता है। लावण्य खुद शुद्ध और सयत है अतएव वह जिसको भी स्पर्श करता है उसी को विशुद्धता और सयम देता है।

५ सादृश्य

घर के कोने में बैठी बुढिया चर्खा चला रही है और गा रही है—

चर्खा मेरा पूत, चर्खा मेरा नाती।
चर्खे की दौलत से मेरे द्वार बंधा हाथी॥

बुढिया का चर्खा उसके नाती या हाथी या पूत की तरह है यह बात नही, बुढिया के इस दृष्टिकोण का कारण है चर्खे मे अपने परिवार और अपने मनोभाव का हाथी खरीदने वगैरह का अभिन्न सबध। अतएव हम देखते है कि रूप रूप मे समानता की अपेक्षा सादृश्य के लिए भाव भाव में सबध अधिक प्रयोजनीय होता है। सदृश्यस्य भाव इति सादृश्य। एक का भाव जब दूसरे का उद्रेक कर रहा है तभी सादृश्य होता है। चर्खा अगर किसी तरह नाती बन कर बुढिया के सम्मुख उपस्थित होता जैसा इटालियन चित्रकार के अगूर के गुच्छे चिडिया को दिखलाई पडे थे—तो शायद बुढिया धोखा खाती, लेकिन जिस दिन वह अपने भ्रम को समझ पाती उस दिन चर्खे की एक भी तीली को साबित नही छोडती।

सादृश्य का अर्थ है चतुराई की सहायता से रूप का प्रतिरूप बना कर, सोल्हे का साँप बना कर, लोगो को डराना नही, धोखे में डालना नही, लेकिन किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से हमारे मन में पैदा कर देना—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्वम्। एक वस्तु दूसरी वस्तु का भाव उत्पन्न करती है—दोनो की आकृति में भिन्नता होते हुए भी अगर एक जगह दोनो में बराबरी है तो उस जगह दोनो का अपना अपना धर्म है। आकृति मे बराबरी होने के कारण ही वेणी से सर्प का सादृश्य दिया जा रहा है सही मे, लेकिन वेणी की जगह साप की

या साँप की जगह वेणी को रख कर दोनों के अपने धर्म पर आघात किया है और सादृश्य को तोड़ा है। सिर से लटकना साँप का धर्म नही है, सिर पर काटना ही उसका धर्म है। पेड़ के नीचे पड़ी रह कर बेजान साँप की तरह डर दिखाना वेणी का धर्म नही है। दूसरी ओर देखता हूँ चँवर का धर्म है गात से लटके रहना, केश का धर्म भी यही है, इनमें अपने अपने धर्म में भी समानता है। इसीलिए अगर एक दूसरे का स्थान ले लेता है तो भी सादृश्य को अधिक क्षति नहीं पहुँचाता। चँवर भी केश की ही तरह होता है। आकृति का सादृश्य और दोनों के अपने अपने धर्म में भी सादृश्य उतना सुलभ नही है, इसलिए सादृश्य दिखाते समय वस्तु के आकृति की अपेक्षा प्रकृति या स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना ही अच्छा है।

कविता कवि के मनोभाव के सादृश्य को ग्रहणकर पाठक या श्रोता के मनोभाव को तत्सादृश्य बना देती है। अतएव कवि निडर हो कर 'मुखचन्द्र' कह सकता है। चन्द्र और मुख में वहाँ कवि आकृति का सादृश्य नही दिखा रहा है, दिखा रहा है चन्द्रोदय से होने पर अपने मनोभाव से प्रियमुखदर्शन करने पर प्रेमी के मनोभाव का सादृश्य। इसीलिए कहना पड़ता है कि वही सादृश्य उत्तम है जो किसी एक रूप की व्यंजना को किसी दूसरे रूप के द्वारा व्यक्त करता है। मनोभाव का सादृशय होना ही सादृश्य है।

मुषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते यथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवं॥

—पंचदशी, द्वैतविवेक।

मनोभाव रूप के और रूप मनोभाव के छन्द या साँचे में पड़ कर दोनों दोनों का सादृश्य प्राप्त हो रहे हैं। कवि जब कमल से चरणों का सादृश्य बता रहा है तब वह चरण और कमल की आकृति के सादृश्य को चूर्ण करके अपने मनोभाव को ही कमल की तरह रचना के छन्द में बाँध कर हमारे सामने उपस्थिति कर रहा है क्योंकि केवल रूप सादृश्य को लेकर चित्रित किया जाय तो रचना मनोभाव के सादृश्य किसी भी दशा में नही होती। चित्रकार भी देख रहा है कि चरण को कमल की आकृति दे कर वह, न चरण, न कमल, दोनों में एक को भी समझा नही पा रहा है; इसीलिए वह कमल को चरण के लगभग पादपीठ के रूप में दिखा कर अपने मनोभाव के सादृश्य बना कर मूर्ति के चरणकमल बना रहा है।

मन में जो सुर बज रहा है उसी का अनुरणन जब बीणा की झंकार और मूर्छना आदि से व्यक्त कर रहा हूँ तभी बाहर के बजाने और अन्तर की वेदना में सादृश्य दिखा रहा हूँ। चित्र मे भी उसी तरह सैकड़ों हजारों रेखाएँ होती हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्ण भेदादि जब मानसमूर्ति के सदृश अंकित कर रहा है तभी यथार्थ सादृश्य दे रहा है। इसीलिए कहना पड़ता है कि भाव का अनुरणन जो कुछ देता है वह उत्तम सादृश्य है, और केवल आकृति या रूप का अनुकरण जो कुछ देता है वह अधम सादृश्य है। अनुकृति या अधम सादृश्य [illegible]

करते देखा जाता है, आकृति गोपन करने की चेष्टा मे। अतएव इस तरह का सादृश्य चित्रित को स्पष्ट नही करता है, वल्कि वहुधा उसको लुप्त कर देता है।

६ वर्णिकाभग

वर्णिकाभग—नाना वर्णो की सामिश्रण भगिमा और भाव, वर्णवर्तिका की खीच तान की भगिमा, आदि।

वर्णज्ञान और वर्णिकाभग षडग-भावना की चरम साधना और सब से अधिक कठोर साधना है। महादेव पार्वती से कह रहे है वर्णज्ञान यदा नास्ति किं तस्य जपपूजनै। अगर वर्ण-ज्ञान नही पैदा हुआ, अगर वर्णिकाभग—उस पतली सी तीली की खीच तान, पर अधिकार नही जन्मा तो षडग की पाँचो साधनाएँ व्यर्थ है। अगर तुम्हारे अन्दर वर्णज्ञान नही पैदा हुआ तो सफेद कागज, सफेद कागज ही रह जायगा, तुम्हारे हाथ की तूलिका सफेद कागज पर नाना रगो की रेखाएँ खीचेगी या छोटे छोटे अक्षरो की तरह कुछ लिखेगी, अगर वर्णिकाभग पर तुम्हारा अधिकार नही होता है। षडग के वाकी पाँचो अगो पर सफेद कागज पर एक भी रेखा खीचे वगैर भावना पैदा हो सकती है। रूप के भेदाभेद को तुम आँखो के मन से समझ सकते हो, प्रमाण पर तुम वगैर तूलिका के ही अधिकार प्राप्त कर सकते हो, भाव लावण्य सादृश्य को भी आँखो से देख कर, मन मे समझ कर जान सकते हो, लेकिन वर्णिकाभग को तुम्हे अपनी तूलिका से पकडना ही होगा। यह जो सफेद कागज है जिसे तुम चाहो तो सैकडो टुकडे कर सकते हो, तूलिका के छोर पर थोडी सी स्याही लेकर उसे छूने मे हम इतना क्यो डरते है? चित्रित करने के इरादे से जव अपने सामने सफेद कागज फैलाया तव वह सफेद कागज नही रहा। तव वह मेरी आत्मा का दर्पण वन गया। वीज में जिस तरह पूरा पेड छिपा रहता है, उसी तरह उस सफेद कागज मे सारे रूप, सारे प्रमाण, सारे भाव लावण्य और वर्ण भगिमा को लेकर अपनी आत्मा को प्रतिविम्वित देखता हूँ। इसीलिए सहसा उसे तूलिका से छूने में डर लगता है, हाथ कॉपने लगता है। पट पर यह श्रद्धा, यह सम्मान चित्रकर को चिरकाल अनुभव करना चाहिए। लेकिन तूलिका पकडने पर हाथ कॉप रहा है, इस डर को भी मन से दूर करना होगा। हाथ जरा भी नही कॉपे तूलिका मेरी अनिच्छा से वाल भर भी न तो आगे वढेगी और न पीछे हटेगी वायें दाहिने रत्तमात्र भी नही सरकेगी। वर्णिकाभग की यही सबसे कठिन साधना है। कागज के निकट तूलिका को ले जाने मात्र मे ही चुम्वक की तरह कागज मानो तूलिका को खीच रहा है किसी भी तरह रोक नही पा रहा हूँ, हाथ मानो भयकर ज्वर से कॉप रहे है, सँभाल में नही आ रहे है। इस हाथ और साथ ही साथ तूलिका को वश में लाना ही मुख्य कार्य है। इतना हो जाने पर वाकी काम सहज है।

सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च।
एते स्वभावजा वर्णा
सयोगजा पुनस्त्वन्ये उपवर्णा भवन्ति हि॥

सफेद, लाल, नीला, पीला, ये चार स्वभावज वर्ण हैं इन चारों की मिलावट से नाना उपवर्णों की सृष्टि होती है। इतना सीखने में, या जैसे —

सितपीतसमायोगः पाण्डुवर्ण इति स्मृतः।
सितरक्तसमायोगः पद्मवर्ण इति स्मृतः॥
सितनीलसमायोगः कापोतो नाम जायते॥
पीतनीलसमायोगात् हरितो नाम जायते॥
नीलरक्तसमायोगात् काषायो नाम जायते।
रक्तपीतसमायोगात् गौरइत्यभिधीयते॥
एते संयोगजावर्णाह्य पवर्णास्तथा परे।
त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः परिकीर्तिताः॥...
दुर्बलस्य च भागौ द्वौ नीलवर्णादृते भवेत्॥
नीलस्यैको भवेद्भागश्चत्वारो अन्यस्य तु स्मृताः।
वर्णस्यतु बलीयस्त्वं नीलस्यैवं हि कीर्त्यते॥

नाट्यशास्त्र, २१ अध्याय, श्लोक ६०-६५

सफेद और पीले से पाण्डु वर्ण, लाल और सफेद से पद्म वर्ण, नील और सफेद से कपोत वर्ण, पीले नीले से हरा, लाल और नील से काषाय, पीले और लाल से गौर—इतना सीखने या तीन चार वर्णो के मिलाने से बहुतेरे उपवर्ण बनते हैं, सबल वर्ण, अपेक्षाकृत दुर्बल वर्णो से दूने समझे जाते हैं, केवल नील वर्ण दूसरे वर्णो से चौगुना वलवान और सभी वर्णो से बली होता है, इन सहज वातों को कंठस्थ और काम में प्रयोग करके सीख लेने में अधिक समय नही लगता। लेकिन अपने हाथ को अपने वश में लाना ही कठिन वात है।

जो लोग तलवार चलाना सीखते हैं वे जानते है कि लोहे के छड़ और हाथी के सिर को काटना कितना सहज है लेकिन हवा में एक रूमाल उड़ा कर उसके टुकड़े टुकड़े करने के लिए हाथ और तलवार की चोट के लिए कितनी आश्चर्यजनक लघुता और क्षिप्रता की आवश्यकता पड़ती है !

ऑख की पुतली, जिसके रंचमात्र विचलित होने से, भरे गालों की रेखा जिसके बाल इधर उधर होने से, लतातन्तु से भी सूक्ष्म हँसी की रेखा जिसके जरा भी काँप जाने से सब कुछ नष्ट हो जाता है, तूलिका के छोर से उन्हे आकृति करके दिखाने के लिए हाथ की न जाने कितनी क्षिप्रता, स्पर्श की न जाने कितनी लघुता की जरूरत पड़ती है। वर्णिकाभंग के वर्ण परिचय मे पहला पाठ दूसरा पाठ नही है, उसमे केवल एक ही पाठ है, वह है लघुपाठ या हस्तलाघवता।

हाथ तूलिका को लुढ़काए लिये जा रहा है, हाथ तूलिका से छुरे की धार की तरह मानो कागज को काटता जा रहा है, हाथ छूता है या नही, छूता है इस तरह से कि तूलिका को कागज पर उड़ाये लिये जा रहा है, यही हमारे लघुपाठ का पाठ्य और वर्णिकाभंग का सारांश है।

ही वर्ण को भगिमा देता हूँ। मैं स्याही में भी शीत काल का आसमान दिखा सकता हूँ अगर मन के रग को उस स्याही में ला कर मिला दूं। स्याही तब स्याही नहीं रहती अगर मन उसे अपने मन में रग दे।

काली कैसी काली है?
दूर इसलिए काला है।
पहचान लेने पर काली नहीं रहता।

—श्री श्रीरामकृष्ण।

मन जब तक काली से अलग है, काली तब तक काली स्याही मात्र है। और मन जैसे ही आकर मिल गया वैसे ही काली अब काली नहीं है, वह षडग के रगों की डाली पर आलोक शिखा की तरह उज्वल हो उठी है।

षडङ्गदर्शन

रस, छन्द, रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभग—चित्र के सिर से पैर तक इन अष्टागों को हमलोगों ने अब तक अपनी ओर से समझने और समझाने की चेष्टा की, अब चित्र के बारे में हमारे इन विधियों की प्रतिध्वनि और किसी प्राच्य शिल्प में मिलती है या नहीं देखना चाहिए। प्राच्य शिल्पों में जापान शिल्प अब दुनिया में सुविदित है और उसकी सारी विचारधारा प्राचीनतर चीन-शिल्प से अनुप्राणित है, अतएव उसी का अवलम्बन करके हमें आगे बढ़ना होगा।

पहले ही देखना चाहिए कि रस से हम क्या समझते हैं और जापान क्या समझता है। हमारे आलकारिकों ने रस को कहा है, ब्रह्मस्वादमिव अनुभावयन्। मानो बृहत् के आस्वाद से सब कुछ को बड़ा बना रहा है जो महान आस्वाद है, वही रस है।

जापान इस रस को कहता है—Ki In that indefinable something which in every great work suggests elevation of sentiment, nobility of soul

—Bowie, On the Laws of Japanese Painting, p 83

काव्यप्रकाश-प्रणेता मम्मट ने रस को कहा है स च न कार्य नापि ज्ञाप्य। उनका मत है कि रस अपने को अनुभूत कराता है, पुरइव परिस्फुरण हृदयमिव प्रविशन्, सर्वांगीणामिव आलिंगन् अन्यत् सवमिव तिरोदधत्। जापान में भी Ki In अथवा रस के बारे में बावी साहब लिखते हैं—

From the earliest times the great art writers of China and Japan had declared that this quality can neither be imparted nor acquired [स च न कार्य नापि ज्ञाप्य] It is akin to what the Romans meant by

'divinus afflatus', that divine and vital breath which vivifies....the work and renders it immortal. [हृदयमिव प्रविशन्]

—On the Laws of Japanese Painting, p. 43.

छन्द को हमारे कोशों मे कहा गया है 'आह्लादयति इति', वह आह्लादित करता है, वह ह्लादिनीशक्ति है !

सत्तत्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयत सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा।।
—पंचदशी, भूतविवेक, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक ५९

स्वभावतः वर्णहीन भित्ति में संगत हो कर, वर्ण भित्ति को जैसे नाना रूपों में चित्रित कर रहे हैं उसी प्रकार स्वभावतः निष्क्रिय जो सत् है, उसमें संगत हो कर शक्ति उन्हे विक्रिया (गति) दे रही है, इसीलिए देखता हूँ, जो ह्लादिनीशक्ति है वह एक ओर गति या मुक्ति है, दूसरी ओर स्थिति या बन्धन है—दोनों ओर के इन दोनों आलिगनों से जो सत् है वह उन्हे हिला कर विक्रिया दे रहा है। ह्लादिन्या सम्विदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। सत् नामक जो वस्तु है वह स्वभावतः निष्क्रिय है वह ह्लादिनीशक्ति का सचेत आलिगन पा कर चित् और आनन्द के रूप में नन्दित या छन्दित हो उठ रहा है।

जापान के शिल्पाचार्य ओकाकुरा ने चीन-षड़ंग के प्रथम अंग की जो व्याख्या की है वह इसी छन्द या ह्लादिनीशक्ति का ही बोध कराता है, जैसे—

Ch'i—yun Sheng Tung. The life-movement of the Spirit through the Rhythm of Things......The great mood of the [सत्] universe moving hither and thither amidst the harmonic laws of matter [ह्लादिन्या सम्वित्] which are Rhythm.

—Okakura, Ideals of the East. p. 52.

Spirit या प्राण मे सगत हो कर जो शक्ति विक्रिया (movement) पैदा करती है वही छन्द या ह्लादिनीशक्ति है। संक्षेप में कहा जा सकता है, छन्द या ह्लादिनीशक्ति प्राणों का स्पन्दन है—Life movement of the Spirit. इस छन्द को जापानी Sei do (छन्द) कहते हैं—

This is one of the marvellous secrets of Japanese painting handed down from the great Chinese painters and based on psychological principles —matter responsive to mind.

इस छन्द या ह्लादिनीशक्ति का प्रयोग चित्र मे किस प्रकार से करना होगा—

Should he depict the sea-coast with its cliffs and moving waters, at the

moment of putting the wave bound rocks into the picture he must feel that they are placed there to resist the fiercest movement of the Ocean, while to the waves in turn he must give an irresistible power to carry all before them, thus by this sentiment called living movement (Sei do) reality is imparted to the inanimate object

—On the Laws of Japanese Painting, p 78

चित्रकार के निकट (Sei do) या छन्द शक्ति का कार्य क्रमी इस प्रकार से पकड़ में आ रहा है, जैसे अन्दर से बाहर या मनोगत उसके द्वारा वस्तुरूप अनुरणित हो रहा है। जब पर्वत को चित्रित कर रहा हूँ तब पर्वत की दृढ़ता स्थिरता को मन में ला कर, सक्षेप में छन्द की स्थिति का ध्यान में रख कर, चित्रित कर रहा हूँ। और जब तरगभग बना रहा हूँ, तब स्थिति के विपरीत पक्ष को ही छन्द का जो गति का पक्ष है उसी को ध्यान में रख कर चित्रित कर रहा हूँ।

ब्रह्माद्या स्तम्बपर्यन्ता प्राणिनोऽत्र जडा अपि।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥

—पचदशी, चित्रदीप, श्लोक ५

आब्रह्मस्तम्ब तक क्या जीव क्या जड उत्तमाधम रूप से सभी ने यथास्थान अधिकार कर रखा है, चित्रपट में नाना प्रकार की सामग्रिया जिस तरह से सजाई रहती है।

चीन-षडग के पचम अग का जो अनुवाद फ्रासीसी प० पेत्रुचि और विलायत के बिनियन (Binyon) साहब ने दिया है वह पचदशी के चित्रदीप के इस पाँचवें श्लोक की हूबहू प्रतिध्वनि है, जैसे—

Disposer les lignes et leur attribuer leur place hiérarchique

—Petrucci, La Philosophie de la Nature dans l'art de l'Extrême Orient, p 89

Composition and subordination, or grouping according to the hierarchy of things

—L Binyon, The Flight of the Dragon, p 13

हमारे ऋषियों ने कहा है कि रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना, कल्पित होना, छन्दित होना, और छायातप में प्रकट होना, जैसे—

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने यथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली, श्लोक ५

आत्मा में दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब की नाई, पितृलोक मे स्वप्न में देखे की नाई, गन्धर्वलोक में मानो जल के कम्पन के ऊपर और हमारे इस ब्रह्मलोक मे छाया और आतप इन दोनो के वैषम्य से।

'यथादर्शे तथात्मनि' इस भाव के ठीक अनुरूप भाव को व्यक्त कर रहा है जापान का Sha I, जैसे—

They paint what they feel rather than what they see, but they first see very distinctly. [आत्मा में प्रतिविम्बितवत्] It is the artistic impression (Sha I) which they strive to perpetuate in their work.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 8.

आत्मा में प्रतिविम्बित, न देखने तक रूप को पूरी तरह समझना या प्रकट करना असंभव है; इसे जापान भी कहता है, हमारे ऋषिगण भी कह गये हैं।

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। रूप प्रकट हो रहा है छायातप के वैषम्य के अन्दर से, जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्योहभिचाकशीति॥

—मुंडक उपनिषद्

दो सुन्दर चिड़ियां, सफेद और काली, जागती और सोती; मानो छायातप की भाँति एकत्र रह रही हैं। एक चिड़िया फल चख रही है, गा रही है, दूसरी चुपचाप बैठी देख रही है। जीवात्मा परमात्मा है, (Spirit and Matter), आकार, निराकार, रूप और अरूप—इन दोनों की समता और विषमता व्यक्त कर रही है। भारत की उल्लिखित जो सनातन चिन्ताएँ उनकी ठीक-ठीक प्रतिध्वनि देता है जापान-चित्र शिल्प का In Yo मंत्र, जैसे—

In yo....requires that there should be in every painting the sentiment of active and passive, light and shade[छायातप]....The term In-Yo originated in the earliest doctrines of Chinese philosophy and has always existed in the art-language of the orient. (?) It signifies darkness [In=छाया] and light [Yo=आतप], negative and positive, female and male [प्रकृति पुरुष], passive and active [जैसे द्वा सुपर्णा], lower and upper [उत्तमाधम] even and odd....Two flying crows, one with its beak closed, the other with its beak open....or two dragons, one ascending to the sky, the other descending to the ocean—illustrate the phases of In-Yo.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 48.

हमारे षडंग का द्वितीय अंग 'प्रमाणानि' (Correct perception, proportion, measure and structure of forms) और चीन-षडंग के द्वितीय अंग (anatomical structure) साधारण तौर से मिल रहे हैं, ऐसी बात नहीं। चीन और जापान के चित्रशिल्प मे इस प्रमाप्रयोग के पुखानुपुंख उपदेश भी मानो प्रमा के बारे मे हमारे विचारों की

चित्रसूत्रम् की कतिपय विशेषताएँ

भारतीय चित्रकला साहित्य में चित्रकला के संबध मे जितना सुस्पष्ट, सुबोध और विस्तृत वर्णन चित्रसूत्रम् में मिलता है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है। ग्रंथकार ने यह स्पष्ट बतलाया है कि चित्रकार का काम आसान नहीं है। इसके लिए प्रतिभा, साधना और निष्ठा की नितान्त आवश्यकता है। यह कार्य बहुत ही गभीर और अतिशय पवित्र है।

ग्रन्थ के प्रारभ में ही मार्कण्डेय मुनि ग्रन्थ के समझने का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं— 'विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्' अर्थात् नृत्यशास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्रम् का समझना इसका अर्थ लगाना कठिन है।

चित्रसूत्रकार ने सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र इन चार प्रकार के चित्रो को मुख्य माना है। उनका कहना है कि ससार की वस्तुओ का तद्वत् चित्रण करना 'सत्य' है और वैणिक चित्र वे हैं जिनमें शरीर के अगो का निर्माण अनुपात से किया जाय, आधार सुन्दर हो, रेखाएँ कोमल हों, चारो ओर दृश्य हो। अग-प्रत्यग तथा आकार के अनुपात ठीक हो, सर्वांगपूर्ण हो। तथा नागर चित्र वह है जिसमें सभी अग दृढ रेखाओ से अकित किये जायें जो गोलाकार हो। न अधिक बडा न अधिक छोटा और माल्य तथा अलकार की अधिकता न हो। और मिश्र चित्र वह है जिसमें सत्य, वैणिक आदि का परस्पर मिश्रण हो।

चित्रसूत्रकार ने चित्र में सादृश्य दिखाना ही चित्र की सबसे बडी विशेषता माना है। उनका कहना है कि—

चित्रे सादृश्यकरण प्रधान परिकीर्तितम्

चित्रसूत्रकार का सादृश्य से आशय साक्षात् प्रतिबिम्ब उतारना नही बल्कि कलामें कल्पना का सहकार भी है। जैसे किसी सरोवर का चित्र खीचना है तो उसमें मछली, कछुए जैसे जलजन्तुओ सेवार, कमल तथा पक्षियो का चित्रण करना सादृश्य चित्रण है।

अध्याय ४२ में ऋतुचित्रा के बनाने की बहुत प्रशस्त नियमावली दी गयी है। सन्ध्या और उषा काल के चित्रो के निर्माण के नियम और विधान चित्रसूत्रम् में दिये गये हैं।

चित्रसूत्रकार का मत है कि युद्ध के, श्मशान के, करुणा के और अमगल के चित्र अपने निवास स्थान पर कदापि नही लगाने चाहिए। राजसभा और देवमदिरो में सभी प्रकार के चित्र रखे जा सकते हैं। साधारण आवासगृहो में केवल शृगार, हास्य और शान्तरस के ही चित्र बनाने चाहिएँ।

सूत्रकार का कहना है कि चित्रकार को चाहिए कि अपने घरो मे स्वय चित्रकारी न करे—

चित्रकर्म न कर्त्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप।

चित्रकला का समस्त रहस्य खोलते हुए चित्रसूत्रकार कहते हैं कि अच्छे चित्र वही हैं जो—

लसतीव च भूलम्बो विम्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्य सजीव इव दृश्यते।
सश्वास इव यच्चित्र तच्चित्र शुभलक्षणम।

अर्थात् जिसमें माधुर्य, ओज, सजीवता और जीवित प्राणियों की भांति चेतना हो वही चित्र शोभन कहे जा सकते हैं।

संस्कृत साहित्य में 'रस' ही एक ऐसा शब्द है जिसका पूर्ण विवेचन नही हो सका है। चित्रसूत्रकार बड़े विनोदी थे, उन्होंने रसास्वादन के संबंध में लिखा है—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्त्तनां च विचक्षणाः
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरेजनाः।

अर्थात् आचार्य रेखाओं की प्रशंसा करते हैं, बुद्धिमान् लोग प्रवर्तन को तथा स्त्रियां आभूषणों की इच्छा रखती हैं और अन्य लोग रंग की इच्छा रखते हैं।

चित्रसूत्रम् चित्रकला संबंधी सर्वागपूर्ण शास्त्र है फिर भी चित्रसूत्रकार का कहना है कि चित्रशास्त्र इतना विस्तृत है कि सौ वर्षो तक लगातार वर्णन किया जाय तब भी यह पूरा नही हो सकता है—

अशक्यो विस्तराद्वक्तुं बहुवर्षशतैरपि।

—सम्पादक

अथ चित्रसूत्रम्

मार्कण्डेय उवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि चित्रसूत्रं तवानघ॥
उर्वशीं सृजतः पूर्वे चित्रसूत्रं नृपात्मज॥१॥
नारायणेन मुनिना लोकानां हितकाम्यया॥
प्राप्तानां वञ्चनार्थाय देवस्त्रीणां महामुनिः॥२॥
सहकाररसं गृह्य उर्व्यां चक्रे वरस्त्रियम्॥
चित्रेण सा ततो जाता रूपयुक्ता वराप्सरा॥३॥
यां दृष्ट्वा व्रीडिताः सर्वा जग्मुस्ता देवयोषितः॥

मार्कण्डेय बोले—हे निष्पाप! इसके बाद मैं आपको चित्र-सूत्र (चित्रकला या चित्र निर्माण के नियम और प्रकार) बताऊँगा। राजपुत्र! पूर्वकाल में उर्वशी की सृष्टि करते हुए नारायणमुनि ने लोगों के हित की कामना से चित्र-सूत्र का निरूपण किया था। निकट आयी हुईं सुर-सुन्दरियों को भुलावा देने के लिये महामुनि ने अतिसुगन्धित आम का रस लेकर पृथ्वी पर एक उत्तम स्त्री का चित्र बनाया। चित्र में वह स्त्री लावण्यवती श्रेष्ठ अप्सरा दिखायी पड़ने लगी, जिसे देखकर वे सभी देव-स्त्रियाँ लज्जित हो गईं॥१-३-१-२॥

एवं महामुनिः कृत्वा चित्रं लक्षणसंयुतम्॥४॥
ग्राहयामास स तदा विश्वकर्माणमच्युतम्॥

तब इस प्रकार महामुनि ने लक्षणों (चित्रकला के लक्षणों या शुभ लक्षणों) से सम्पन्न चित्र का निर्माण कर अच्युत (कर्म से च्युत न होने वाले) विश्वकर्मा को सुपुर्द कर दिया॥४-१२॥

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता ॥५॥
दृष्टयश्च तथा भावा अगोपागानि सर्वश ॥
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥६॥
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्त चित्र पर मतम् ॥
नृत्ते प्रमाण येनोक्त तत्प्रवक्ष्याम्यत शृणु ॥७॥

नृत्यकला की तरह चित्रकलामें भी तीनो लोक का अनुकरण किया जा सकता है। चितवन, भाव और अग-प्रत्यग—सब प्रकार से दोनो मे साम्य है। नृपश्रेष्ठ ! पहले महानृत्य के सम्बन्ध में जिस प्रकार के हाथ बताये गये है वैसे ही हाथ चित्र के लिये भी अपेक्षित समझने चाहिए, क्योकि नृत्य परम चित्र माना गया है (अर्थात् नृत्य और चित्र दोनो का विषय समान है)। अब नृत्य के सम्बन्ध में जिस प्रकार प्रमाण कहा गया है, वह (अथवा उसी प्रकार चित्र के सबध में भी) बताऊँगा, सुनो—॥५-७॥

हसो भद्रोऽथ मालव्यो रुचक शशकस्तथा ॥
विज्ञेया पुरुषा पञ्च तेषा वक्ष्यामि लक्षणम् ॥८॥

हस, भद्र, मालव्य, रुचक और शशक—ये पाच पुरुष (नृत्य अथवा चित्र के) समझने चाहिएँ। इनके लक्षण बताऊँगा ॥८॥

उच्छ्रायायामतुल्यास्ते सर्वे ज्ञेया प्रमाणत ॥
स्वेनैवाङ्गुलमानेन शतमष्टाधिक भवेत् ॥९॥
प्रमाण नृप हसस्य भद्रस्य तु षडुत्तरम् ॥
चतुर्भिरधिक ज्ञेय मालव्यस्य तथा नृप ॥१०॥
शत च रुचकस्योक्त दशोन शशकस्या च ॥

इन सब की लम्बाई, चौडाई तथा अनुपात प्रमाण से समझना चाहिए। राजन् ! हस पुरुष की ऊँचाई अपनी ही उँगलियो के मान से १०८ अगुल होती है। नृप ! भद्रपुरुष की ऊँचाई १०६ अगुल की, मालव्य की १०४, रुचक की १०० और शशक की ऊँचाई नब्बे अगुल होती है ॥९-१०½

द्वादशाङ्गुलविस्तारस्ताल इत्यभिधीयते ॥११॥
आगुल्फ तच्चतुर्भाग पादोच्छ्राय प्रकीर्तित ॥
द्वौ च तालौ तथा जघे पादतुल्ये च जानुनी ॥१२॥
जघातुल्यौ तथा चोरू नाभिस्ताल तु मेढ्रत ॥
तावच्च नाभिहृदय हृदयात्कण्ठ एव च ॥१३॥
कण्ठस्तालत्रिभाग स्यात्ताल च वदन भवेत् ॥
तालषड्भागमप्युक्त ललाटोपरि मस्तकम् ॥१४॥

मध्ये मेढ्रं तु विज्ञेयमिति दैर्घ्यं प्रकीर्तितम् ॥
तालः प्रोक्तः करो राजन् बाहू सप्तदशांगुलौ ॥१५॥
प्रबाहू तावदेवोक्तौ वक्षसोऽर्धमथाष्टकम् ॥
एतदायामतः प्रोक्तं मानं हंसस्य पार्थिव ॥१६॥

बारह अंगुल के विस्तार को ताल (बित्ता) कहते हैं। एँड़ी से ऊपर की गाँठ (गुल्फ) की ऊँचाई बित्ते का चौथाई भाग (३ अंगुल) होना चाहिए, वही पैर की ऊँचाई हुई। गुल्फ से लेकर जानु तक (दोनों जंघे) की लंबाई दो बित्ता और जानु (घुटने) की लंबाई पैर की ऊँचाई के बराबर हो। जंघे के बराबर ही दोनों ऊरु (जांघ) की लंबाई होनी चाहिए। मेढ्र (लिंगेन्द्रिय) से नाभि की दूरी एक बित्ता, नाभि से हृदय की और हृदय से कंठ की दूरी भी एक बित्ता हो। कंठ की लंबाई बित्ते की एक तिहाई (४ अंगुल) और मुख की लंबाई एक बित्ता हो। ललाट के ऊपर बित्ते का छठा हिस्सा (२ अंगुल) मस्तक चित्रित करे। लिंगेन्द्रिय (पुरुष-चित्र के) बीच में अंकित करनी चाहिए। इस प्रकार मैंने लंबाई का वर्णन किया। राजन्! (चित्र की) हथेली एक बित्ता और बाहु सत्रह अंगुल होनी चाहिए। ऊपर की भुजा (प्रबाहु) भी उतनी ही लंबी हो। छाती का आधा भाग आठ अंगुल होना चाहिए। पृथ्वीपते! यह लंबाई के हिसाब से हंस पुरुष का प्रमाण बताया ॥११-१६॥

अनेनैवानुसारेण शेषाणामपि कल्पयेत् ॥
आयामपरिणाहाभ्यां समाः सर्वे नराधिप ॥१७॥

इसी के अनुसार दूसरे पुरुषों की लंबाई भी समझ लेनी चाहिये। नरपते! लंबाई और चौड़ाई के अनुपात में सभी समान होते हैं ॥१७॥

सामान्यतस्ते नृपवर्य मानं प्रोक्तं मया हंसनराधिपस्य ॥
प्रत्यंगमानं च मयोच्यमानं समासतस्त्वं शृणु राजसिंह ॥१८॥

राजश्रेष्ठ! यह मैंने हंसराज का सामान्यतः प्रमाण वर्णन किया है। राजसिंह! अब प्रत्येक अंग का मान भी संक्षेप में बता रहा हूँ, सुनो ॥१८॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे चित्रसूत्रे आयामोच्छ्रायमानवर्णनो नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

× × ×

मार्कण्डेय उवाच—

अथ प्रत्यंगविभागो भवति तत्र द्वादशांगुलपरीणाहो मूर्धा। चतुरंगुलोच्छ्रायम् अष्टांगुलं ललाटम्। शंखौ चतुरंगुलौ द्व्यंगुलोच्छ्रायौ पञ्चांगुलौ गण्डौ चतुरंगुलो हनुः। द्व्यंगुलौ कर्णौ चतुरंगुलोच्छायौ। कर्णमध्यांगुलं तद्रन्ध्रमुदकम्॥ पालिरनियमेन। (कर्णस्य लुटिकापालिः) नासा चतुरंगुला अग्रे द्व्यंगुलोच्छ्रा त्रिकायामा च नासापुटावंगुलीविस्तारौ द्विगुणगुणायामौ। नासौष्ठमध्यमर्धांगुलम्। ओष्ठश्चांगुलः। चतुरंगुलायाममास्यम्। अधरोंगुलं द्व्यंगुलं चिबुकम्।

चत्वारिंशद्दन्ता । तेष्वष्टौ दंष्ट्रा । अर्धांगुलोच्छ्रिता दन्ता । अंगुलद्वादशभागिका दंष्ट्रा । अंगुल विस्तृता अंगुलायामे नेत्रे। नेत्रत्रिभाग कृष्णमण्डलम्। पञ्चभागास्तारा । अर्धांगुलिविस्तृते चतुरंगुलायामे भ्रुवौ। तयोर्द्व्यंगुलमन्तरम्। चतुरंगुल नेत्रान्तकर्णविवरणम्। दशांगुलविस्तृता ग्रीवा। एकविंशत्यंगुलपरिणाहा षोडशांगुल स्तनान्तरम्। षडंगुल स्तनजत्त्वन्तरम्। षोडश बाहुमूलपरिणाह । द्वादशाग्रे सप्तांगुल करतलम्। पचांगुल विस्तृत पचांगुलप्रमाणा मध्यमिका। तत्पूर्वदलहीना प्रदेशिनी। तत्तुल्याचानामिका। तत्परिहीना कनिष्ठिका सर्वा समत्रिभागपर्वा । पर्वार्धा नखा । त्र्यंगुलमंगुष्ठ द्विपर्व । जठरपरिणाहो द्वाचत्वारिंशांगुल । वेध्रप्रमाणाभ्यामंगुल नाभि । कटिरष्टादशांगुला विपुला। तत्परिधिश्चतुश्चत्वारिंशत् । चतुरंगुलविस्तृतौ वृषणौ। षडंगुल तावत्परिणाह मेढ्रट्टम्। त मध्यत ऊरू चतुरंगुलौ। तद्द्विगुणपरिणाहांगुलविपुले जानुनी। तत्त्रिगुणपरिणाह जघाग्रम्। पञ्चांगुल चतुर्दशपरिणाह द्वादशदीर्घौ षडंगुलविस्तृतौ पदौ निकायतांगुष्ठौ। अंगुष्ठतुल्या प्रदेशिनी। तदष्टांशोना शेषा । अंगुलचतुर्भागहीनोऽगुष्ठनख । तदर्धप्रमाण प्रदेशिन्या । तदष्टभाग शेषाणम्। सर्वपादमंगुलमष्टांगुलोत्सेध । त्र्यंगुले पार्ष्णी। चतुरंगुलच्छायों इति हसप्रमाण भवति। भवन्ति चात्र ॥

मार्कण्डेय ने कहा—अब मैं प्रत्येक अग का विभाग बता रहा हूँ—मस्तक १२ अंगुल विस्तृत होना चाहिए। ललाट चार अंगुल ऊँचा और आठ अंगुल लंबा होना चाहिये। दोनो कनपटियाँ चार अंगुल की हो। कपोल दो अंगुल ऊँचे और पाँच अंगुल लंबे हो। हनु (ठुड्डी) का विस्तार चार अंगुल होना चाहिए। कान दो अंगुल चौडे और चार अंगुल लंबे हो। कान के बीच का रन्ध्र एक अंगुल विस्तृत हो। कान की लौ (पालि) के लिए कोई नियम नही। (कान की ललरी को पालि कहते हैं)। नाक चार अंगुल लंबी हो और उसका अग्रभाग दो अंगुल ऊंचा तथा तीन अंगुल लंबा हो (या उसकी चौडाई व घेरा तीन अंगुल हो?)। नासापुट एक अंगुल चौडे और उनका घेरा दो-दो अंगुल हो। नाक और ओष्ठ का मध्य अर्ध अंगुल हो। ओठ एक अंगुल चौडा हो। मुख चार अंगुल लंबा हो। अधर एक अंगुल और चिबुक दो अंगुल विस्तृत हो। दाँत ४० हों। उनमें दंष्ट्रायें (चौभर, दाढ) हो। दाँतो की ऊँचाई १/२ अंगुल हो। दंष्ट्रा की चौडाई १ अंगुल और ऊँचाई अंगुल का बारहवाँ भाग हो। नेत्र ३ अंगुल लंबे हो। आँख का काला भाग नेत्र का १/३ हो और उसकी पुतली १/५ हो। आधी उँगली चौडी और चार उँगली लंबी भौं हो। दोनो भौंहो के बीच का अन्तर दो अंगुल हो। आँख और कान के छिद्र का अन्तर ४ अंगुल हो। ग्रीवा १० अंगुल चौडी हो। वक्षस्थल २१ अंगुल चौडा हो और दोनो छातियो के बीच १६ अंगुल का अंतर हो। छाती और जत्रु (हसली) का अन्तर ६ अंगुल हो। बाहु के मूल का घेरा १६ अंगुल हो और अगले भाग का घेरा १२ अंगुल हो। हथेली ७ अंगुल लंबी और पाच अंगुल चौडी हो। मध्यमा उँगली ५ अंगुल लंबी हो। तर्जनी ४ अंगुल और उतनी ही अनामिका हो। कनिष्ठिका ३ अंगुल हो। सभी उँगलियो में समान रूप से तीन-तीन भागो में पर्व हो। पर्व की आधी दूरी के विस्तार में नख हो। अंगुष्ठ की लंबाई ३ अंगुल हो और उसमें २ पर्व हो। पेट का घेरा ४२ अंगुल हो। अंगुल के अग्रभाग के समान नाभि हो। कटि का विस्तार १८ अंगुल हो और उसका घेरा ४४

अंगुल हो। अंडकोश ४ अंगुल विस्तृत हों। लिंगेन्द्रिय की लंबाई ६ अंगुल हो। ऊरु और लिंगेन्द्रिय के बीच की दूरी ४ अंगुल हो। जानु का विस्तार ८ अंगुल हो। जंघा के अग्रभाग का घेरा १२ अंगुल हो। पैर ५ अंगुलियों वाले हों। उनका घेरा १४ अंगुल, लंबाई १२ अंगुल और विस्तार ६ अंगुल हो। पैर के अँगूठे ३ अंगुल लंबे हों। तर्जनी अँगूठे की बराबर हो। शेष अंगुलियाँ क्रमशः १/८भाग कम होती जायँगी। अंगुल का ३/४ अंगूठे का नख हो। उसका आधा बगलवाली उँगली का नख हो। उसका १/८ शेष उँगलियों का। चरण का किनारा एक अंगुल मोटा हो और उसकी (चरण की) ऊँचाई आठ अंगुल हो। दोनों ऐड़ी तीन अंगुल विस्तृत और ४ अंगुल ऊँची हों। यह हंस पुरुष का प्रमाण है। और भी इसके प्रमाण होते हैं।

शेषाणां पार्थिवेन्द्राणां मानं युक्त्या प्रकल्पयेत्॥
अनेनैवानुसारेण स्वमानस्यानुसारतः ॥१॥

इसी के अनुसार अपने-अपने मान के अनुपात से शेष महाराजाओं (अर्थात् हंस पुरुष के अतिरिक्त भद्र, मालव्य आदि पुरुषों) के प्रमाण की युक्ति संगत कल्पना कर लेनी चाहिए॥१॥

मधक्षश्चन्द्रगौरस्तु नागराजभुजो बली॥
हंसगामी सुमध्यश्च हंसश्च सुमुखो भवेत्॥२॥

हंस पुरुष रतनार नेत्र वाला, चन्द्रमा के समान गौर वर्ण वाला, नागराज (ऐरावत की सूंड़) के समान भुजा वाला, सुन्दर मध्य भाग वाला, मनोहर मुख वाला, हंस के समान गति वाला और बलशाली होता है॥२॥

(यहाँ 'मधक्ष' की जगह 'मध्वक्ष' पाठ मान कर अर्थ किया गया है।)

रोमरुद्धकपोलस्तु गजगामी महामतिः॥
वृत्तोपचितबाहुस्तु भद्रः पद्मनिभो भवेत्॥३॥

भद्र पुरुष रोमशून्य कपोल वाला, हाथी की-सी गति वाला, गोलाकार बाहु वाला, महाबुद्धिमान् और कमल के समान होता है॥३॥

मुद्गश्यामस्तु मालव्यः कृशमध्यस्तनुच्छविः॥
आजानुबाहुः पीनांसो दन्तिघोणो महाहनुः॥४॥

मालव्य पुरुष मूंग के समान श्यामवर्ण, क्षीण मध्यभाग वाला, सुन्दर शरीरवाला, लंबी भुजा वाला, पुष्ट स्कंध वाला, लंवी नाक वाला और विशाल हनु (ठुड्डी) वाला होता है॥४॥

शरद्गौरस्तु रुचकः कम्बुग्रीवो महामतिः॥
सत्यस्तु सिकतश्चैव बलवांश्च प्रकीर्तितः॥५॥

रुचक पुरुष शरद् ऋतु के चंद्र के समान गौर वर्ण, शंख जैसी गरदन वाला, महाबुद्धिमान्, सत्यात्मा, सिकत (?) दृढ़ तथा वलवान् होता है॥५॥

रक्तश्यामस्तु शशक किञ्चित्कर्बुरकस्तथा ॥
पूर्णगण्डश्च चतुरो मध्वक्षश्च प्रकीर्तित ॥६॥

शशक पुरुष लाली लिये हुए श्याम तथा किंचित चितकवरे रग वाला, पुष्ट कपोल वाला, रतनार नेत्रो वाला और चतुर होता है ॥६॥)

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसवादे चित्रसूत्रे प्रमाणवर्णन नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्याय ॥३६॥

\+ + +

मार्कण्डेय उवाच— अङ्गप्रत्यङ्गमानेन यथा पञ्च नरा स्मृता ॥
स्त्रिय पञ्च तथा ज्ञेयास्ता एव मनुजोत्तम ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—मानवेन्द्र ! अग-प्रत्यग के जिस मापदण्ड से पाच प्रकार के पुरुष बताये गये है, उसी मापदण्ड से पाच प्रकार की स्त्रिया भी समझ लेनी चाहिए। (अर्थात् चित्र या मूर्ति बनाने के लिये जैसे उपर्युक्त प्रकार से हस आदि पाच पुरुष उपयुक्त होते है उसी तरह (उन्ही नामो की?) पाँच स्त्रियाँ भी उपयुक्त होती है) ॥१॥

पुरुषस्य समीपस्था कर्तव्या योषिदीश्वर ॥
नरस्कन्धप्रमाणेन कार्यैका सा यथामति ॥२॥

राजन् ! पुरुष के निकट में उसके कधे जितनी लबी एक नारी का चित्र या मूर्ति अपनी बुद्धि के अनुसार बनावे ॥२॥

अगुलौ द्वौ नरात् क्षाम स्त्रियो मध्य विधीयते ॥
अधिका च कटि कार्या तथैव चतुरगुलम् ॥३॥

पुरुष की अपेक्षा स्त्री का मध्यभाग दो अगुल अल्प होना चाहिये, परन्तु नितम्ब भाग चार अगुल अधिक बनाना चाहिए ॥३॥

उर प्रमाणत कार्यौ स्तनौ नृप मनोहरौ ॥
नृपाश्च सर्वे कर्तव्या महापुरुषलक्षणा ॥४॥

राजन् ! स्त्री के दोनो कुच मनोहर तथा वक्ष स्थल के मान के अनुसार बनावे। राजाओ को महापुरुष के लक्षणो से सम्पन्न कर देना चाहिए ॥४॥

जालपादकरा कार्यास्तथा वै चक्रवर्तिन ॥
ऊर्णेय च भ्रुवोमध्ये तेषा कार्यं तथा शुभम् ॥५॥

उन राजाओ के हाथ हस के चिह्न से विभूषित करे और उनकी भौंहो के बीच में मगलमय भँवरी बनावे ॥५॥

रेखाश्च करयो कार्यास्तिस्रो राज्ञा मनोहरा ॥
शशिक्षतजसकाशा शस्ता वै क्षामकोटिका ॥६॥

राजाओं के दोनों हाथों में तीन सुन्दर रेखायें चित्रित करे और चन्द्र-खंड के समान नुकीले शस्त्र-चिह्नों को भी अंकित करे ॥६॥

तदङ्गभङ्गिनः सूक्ष्मा निजस्नेहाभ्यलंकृताः ॥
घनेन्द्रनीलसदृशाः केशाः कार्यास्तथा शुभाः ॥७॥

उनके केश घुंघराले, पतले, स्निग्ध, कोमल, गहरे रंग की नीलकान्त मणि के सदृश और सुखद हों ॥७॥

कुन्तला दक्षिणावर्तास्तरङ्गाः सिंहकेसराः ॥
वर्धरा जूटटसरा इत्येताः केशजातयः ॥८॥

सिर के बालों का घुमाव दाहिनी ओर हो। बाल चार प्रकार के होते हैं—तरंग की भांति सिंह-केसर की भांति, वर्धर और जूटटसर (सन) की भांति ॥८॥

चापाकारं भवेन्नेत्रं मत्स्योदरमथापि वा ॥
नेत्रमुत्पलपत्राभं पद्मपत्रनिभं तथा ॥९॥

नेत्र धनुष के आकार जैसे या मछली के उदरभाग जैसे या नीलकमल के पत्र जैसे या पद्मपत्र जैसे हों ॥९॥

शशाकृति महाराज पञ्चमं परिकीर्तितम् ॥
चापाकारं भवेन्नेत्रं प्रमाणेन यथा स्त्रियः ॥१०॥

महाराज ! शश (खरगोश ?) के आकार जैसा नेत्र पाँचवाँ कहा गया है (अर्थात चापाकार, मत्स्योदर आदि चारों के साथ पाँचवाँ शशाकार है)। चापाकार नेत्र जैसे स्त्री के वैसे पुरुष के प्रमाणानुसार होंगे ॥१०॥

मत्स्योदराख्यं कथितं तथा यवचतुष्टयम् ॥
नेत्रमुत्पलपत्राख्यं प्रमाणात् षड्यवं स्मृतम् ॥११॥

मत्स्योदर नामक नेत्र चार यव के बराबर और उत्पलपत्र नामक नेत्र छह यव के बराबर होते हैं ॥११॥

पद्मपत्रनिभं नेत्रं प्रमाणेन यवा नव ॥
शशाकृति च विज्ञेयं तथैव च यवा दश ॥१२॥

पद्मपत्र सदृश नेत्र नौ यव के बराबर और शशाकार नेत्र दश यव के बराबर होते है ॥१२॥

स्वमानाङ्गुलमानस्य यवमानं प्रकल्पयेत् ॥
चापाकारं भवेन्नेत्रं योगभूमिनिरीक्षणात् ॥१३॥

अपनी उँगली के मान से यव के मान की कल्पना करे। योग की भूमि (अवस्थाविशेष) के निरीक्षण से चापाकार नेत्र का चित्रण करे (अर्थात् योगी पुरुष का नेत्र चापाकार बनावे) ॥१३॥

मत्स्योदराकृति कार्यं नारीणा कामिना तथा॥
नेत्रमुत्पलपत्राभ निर्विकारस्य शस्यते॥१४॥

नारियो और कामी पुरुषो के नेत्र मत्स्योदराकार होने चाहिएं। निर्विकार अर्थात् सात्विक पुरुष के लिए नीलकमल के पत्र जैसे नेत्र प्रशस्त माने गये है॥१४॥

त्रस्तस्य रुदतश्चैव पद्मपत्रनिभ भवेत्॥
क्रुद्धस्य वेदनान्तस्य नेत्र शाराकृतिर्भवेत्॥१५॥

डरे हुए एव रोते हुए व्यक्ति का नेत्र पद्मपत्र के समान हो। कुपित तथा व्यथित व्यक्ति का नेत्र मैनापक्षी (?) की तरह हो॥१५॥

ऋषय पितरश्चैव देवताश्च नराधिप॥
स्वप्रभाभरणा कार्या द्युतिमन्तस्तथैव च॥
मुष्णन्तस्तेजसा तेज परेषा नृपसत्तम॥१६॥

नरपते! ऋषियो, पितरो तथा देवताओ के चित्र ऐसे तेजस्वी बनाने चाहिएँ कि उनके तेज के समक्ष दूसरे का तेज फीका पड जाय। महाराज! उनके आभूषणो की कान्ति भी निजी कान्ति के अनुरूप होनी चाहिए॥१६॥

सम्यग्विचार्य नृपते स्वधिया यथोक्त ह्येतत्प्रमाणमनुरूपमनिन्दित च॥
स्थानैरनेककिरणै स्थिरभूमिलम्भै कार्यं तदेव सुकुमारमजिह्मरेखम्॥१७॥

राजन्! मने अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छी तरह विचार कर चित्रो के प्रमाण के सम्बन्ध में, जैसा दूसरी जगह कहा गया है उसीके अनुरूप, ठीक-ठीक वर्णन किया है। परन्तु कोमल तथा सरल रेखाओ से युक्त चित्र या मूर्ति ऐसे स्थानो मे बनायी जाय जहाँ पूर्ण प्रकाश हो और भूमि समतल हो॥१७॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मा० व० स० सामान्यमानवर्णनो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्याय॥३७॥

\+ \+ \+

मार्कण्डेय उवाच—

नेत्रमुत्पलपत्राभ रक्तान्त कृष्णतारकम्॥
प्रसन्न दीर्घपक्ष्मान्त मनोज्ञ मृदु सत्तम॥१॥
देवताना कर राजन् प्रजाहितकर भवेत्॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे सज्जनश्रेष्ठ! देव-प्रतिमा के लिए जो नेत्र नीलकमल के सदृश, किनारे पर लाल, काली पुतली वाला विकसित, लवी बरौनी से युक्त, मनोहर एव कोमल बनाया जाता है, उससे प्रजाओ का हित होता है॥१-१॥

समे गोक्षीरवर्णाभे स्निग्धे जिह्माग्रपक्ष्मले ॥२॥
प्रसन्ने पद्मनेत्रान्ते मनोज्ञे प्रियदर्शने ॥
कृष्णतारे विशाले च नयने श्रीसुखप्रदे ॥३॥

जो नेत्र गाय के दूध के समान उज्ज्वल, स्निग्ध, टेढ़ी बरौनी तथा काली पुतली से युक्त, विकसित, कोर की तरफ कमल नेत्र के सदृश, सुन्दर, देखने में प्रिय और विशाल होते हैं, वे लक्ष्मी तथा सुख प्रदान करते है ॥२–३॥

चतुरस्त्रं सुसम्पूर्णं प्रसन्नं शुभलक्षणम् ॥
अत्रिकोणमवक्रं च अविकारमुखं भवेत् ॥४॥

मुख चौकोर, पुष्ट, प्रसन्न, शुभ लक्षणों से सम्पन्न, तीन कोणों तथा टेढ़ापन से रहित और निर्विकार बनाना चाहिए ॥४॥

दीर्घमण्डलचन्द्राणि त्रिकोणादीनि यानि च ॥
वर्ज्यानि तानि देवानां प्रजासु शिवमिच्छता ॥५॥

प्रजा की भलाई के लिए देवों के रूप लंबे, मंडलाकार, चन्द्राकार तथा त्रिकोण नही होने चाहिएँ ॥५॥

कार्या हंसप्रमाणेन देवा यदुकुलोद्वह ॥
तेषां च लोम कर्तव्यमक्षिपक्ष्मसु च भ्रुवोः ॥६॥

हे यदुकुलधुरन्धर ! देवों का रूप, जैसा मैंने हंसपुरुष का प्रमाण कहा है, वैसा ही होना चाहिए। उनकी आँखों की बरौनियों और भौंहों पर ही लोम होने चाहिए॥६॥

अतः शेषेषु गात्रेषु देवाः स्युर्लोमवर्जिताः ॥
द्विरष्टवर्षाकाराश्च तथा कार्या दिवौकसः ॥७॥

इनके अतिरिक्त शरीर के शेष अंगों में (शिर को छोड़ कर) उन्हे लोमरहित रखना चाहिए। देवों का रूप १६ वर्ष की अवस्था का बनाना चाहिए ॥७॥

प्रसन्नवदना नित्यं तथा च स्मितदृष्टयः ॥
मुकुटैः कुण्डलैर्हारैः केयूरैरङ्गदैस्तथा ॥८॥
भूषितास्तेऽथ कर्तव्याः शुभस्त्रग्दामधारिणा॥
श्रोणीसूत्रेण महता पादाभरणचारिणा ॥९॥
यज्ञोपवीतवन्तश्च सावतंसास्तथैव च ॥
जान्वधोलम्बिना कार्याः शोभिना कटिवाससा ॥१०॥

देवों के रूप प्रसन्नमुख तथा विमल दृष्टिवाले हों। वे मुकुट, कुंडल, हार, केयूर[1] (भुजबन्द),

---

१. अमरकोश मे केयूर और अंगद को पर्यायवाची माना गया है—'केयूरमङ्गदं तुल्ये'।

और अगद (बाजूबंद) से भूषित हों। मांगलिक पुष्पों की माला पहने हों। करधनी तथा पैरों के आभूषणों से युक्त हों। यज्ञोपवीत तथा मस्तक के आभूषण भी धारण किये हों। कमर का सुन्दर वस्त्र जानुभाग से नीचे लटकता हो ॥८-१०॥

वामे मनुजशार्दूल दक्षिणं जानु दर्शयेत् ॥
अंशुकं च तथा कार्यं देवतानां मनोहरम् ॥११॥
प्रभा च तेषां कर्तव्या मूर्ध्नि मूर्ध्नं प्रमाणतः ॥
मण्डलाभा महाराज देवतातोऽनुकारिणी ॥१२॥

हे मानवेन्द्र ! उनके बायें घुटने पर दाहिने घुटने को अवस्थित कर दें। देवताओं का वस्त्र मनोहर होना चाहिए। महाराज ! उनके मस्तक के समीप सिर के प्रमाण से वृत्ताकार आभा दिखानी चाहिए, जो देवता का अनुकरण करने वाली अर्थात् देवतात्व-सूचक हो ॥१२॥

ऊर्ध्वा दृष्टिरधोदृष्टिस्तिर्यक् तेषां विवर्जयेत् ॥
हीनाधिका या दीना या क्रुद्धा रूक्षा तथैव च ॥१३॥

उनकी दृष्टि न ऊपर को उठी हो, न नीचे की ओर हो, और न तिरछी हो। इसी तरह न्यून, अधिक, दीन, कुपित तथा रूखी भी न हो ॥१३॥

ऊर्ध्वा तु मरणायोक्ता शोकायाधः प्रकीर्तिता ॥
तिर्यग्धनविनाशाय हीना भवति मृत्यवे ॥१४॥

उनकी ऊर्ध्व दृष्टि मरण देने वाली, अधोदृष्टि शोक देने वाली, तिरछी दृष्टि धन विनाश करने वाली और हीन दृष्टि मृत्यु देनेवाली होती है ॥१४॥

अधिका शोकजननी दीना च नृपसत्तम ॥
रूक्षा धनक्षयाय स्यात् क्रुद्धा भयविवर्धिनी ॥१५॥

राजश्रेष्ठ ! अधिक और दीन दृष्टि शोक की जननी होती है, रूक्षा धन का नाश करने वाली और क्रुद्धा भय बढ़ाने वाली होती है ॥१५॥

शातोदरी न कर्तव्या न कार्या चाधिकोदरी ॥
सुक्षता च न कर्तव्या तथा यदुकुलोद्वह ॥१६॥

प्रतिमा न क्षीण पेटवाली हो, और न लंबे-चौड़े उदर वाली। हे यदुकुलधुरन्धर ! वह कटी-फटी भी नहीं होनी चाहिए ॥१६॥

हीनाधिकप्रमाणा च रूक्षवर्णा तथैव च ॥
विवृतेन च वक्त्रेण नता च यदुनन्दन ॥१७॥

वह न कम प्रमाणवाली हो, न अधिक। उसी तरह वह रूक्ष वर्ण की भी न हो। यदुनन्दन ! वह फैले हुए मुखवाली भी न हो, और न वह झुकी हुई हो ॥१७॥

प्रमाणहीनैरङ्गैश्च त्वधिकैरपि पार्थिव ॥
श.तोदरी क्षुद्भयदा मरणायाधिकोदरी ॥१८॥

राजन् ! प्रमाण से न उसका कोई अंग हीन हो, न अधिक। क्षीण पेट वाली प्रतिमा से भूख का भय होता है और और अधिक पेटवाली से मृत्यु का भय होता है ॥१८॥

सक्षतः मरणायोक्ता हीना धनविनाशिनी ॥
अधिका शोकजननी रूक्षवर्णा भयप्रदा ॥१९॥

कटी-फटी प्रतिमा भी मरण का फल देती है। हीन अंगवाली प्रतिमा धन का विनाश करती हैं, अधिक अंगवाली शोक उत्पन्न करती है और रूक्ष वर्णवाली भय देती है ॥१९॥

विवृत्तेन च वक्त्रेण कुलनाशकरी भवेत् ॥
प्राच्याभा धननाशाय दक्षिणेन च मृत्यवे ॥२०॥
पश्चिमेन सुतघ्नी च चोदग्भयविवृद्धये ॥
प्रमाणहीना नाशाय अधिका देशनाशिनी ॥२१॥

फैले हुए मुख से कुल का नाश होता है। सामने की ओर की आभा धन का नाश करती है, दाहिने ओर की मृत्यु देती है, पीछे की ओर की पुत्र का नाश करनेवाली और ऊपर की ओर की आभा भय बढ़ाने वाली होती है। प्रमाणहीन प्रतिमा नाश की हेतु और कहे हुए प्रमाण से अधिक प्रमाण वाली प्रतिमा देश का नाश करने वाली होती है ॥२१॥

अश्लक्ष्णा मरणायोक्ता क्रुद्धा रूपविनाशिनी ॥
प्रमाणहीनां प्रतिमां तथा लक्षणवर्जिताम् ॥२२॥
अवाहिताञ्च विप्रेन्द्रैर्नाविशन्ति दिवौकसः ॥२३॥

ऊबड़-खाबड़ प्रतिमा मरण देनेवाली और क्रुद्ध प्रतिमा रूप नाश करने वाली होती है। प्रमाण से हीन तथा लक्षण से वर्जित और जिसका श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने आवाहन न किया हो उस प्रतिमा में देवगण प्रवेश नही करते हैं ॥२२-२३॥

आविशन्ति तु तां नित्यं पिशाचा दैत्यदानवाः ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मानहीनां विवर्जयेत् ॥२४॥

उसमें सदैव पिशाच, दैत्य और दानव प्रवेश किया करते है। इसलिए सब प्रकार के प्रयत्नों से प्रतिमा को प्रमाणहीन नही होने देना चाहिए ॥२४॥

चित्रलक्षणसंयुक्तं प्रशस्तं सर्वमुच्यते ॥
आयुष्यं च यशस्यं च धनधान्यविवर्धनम् ॥२५॥

चित्र के सभी लक्षणों से संयुक्त प्रतिमा सदैव प्रशंसनीय होती है। वह आयु, यश और धन-धान्य को वढ़ाती है ॥२५॥

किया गया चिक्कण प्रतीत होता हो। भौंहें न छायादार प्रतीत होती हो, न मात्र काली, यह अनृजुकोपन अर्थात् अनृजु नामक सौन्दर्य-चित्रण का प्रकार है ॥१०-१२॥

ऐकारिकत्वाच्च नृप साचीकृतमिहोच्यते ॥

इसी भेद में हे राजन् ! यदि मुख-मुद्रा आकाश की ओर लक्ष्य करके चित्रित की गई हो तो वह साचीकृत कहा जाता है ॥१२½॥

अर्धं नेत्र मुखे यस्य लुप्तमवभ्रुवे तया ॥१३॥
भङ्गो ललाटमात्रश्च दृश्याना सारमेय तु ॥
मात्रार्धा चंकतो गण्ड दृश्यमर्धकृतक्षयम् ॥१४॥
मात्रार्धं कण्डरेखाया यवमाविष्कृत हनो ॥
उरसोऽर्धं मुख लिप्त नाभ्यास्याच्छिष्टमगुलम् ॥१५॥
अध्यधशेषा च कटी अयच्च दर्शनीकृतम् ॥
अध्यर्धाक्ष परिज्ञेयमाकारेणैवमादिना ॥१६॥
च्छायागतमिति प्रोक्त पर्यायेणैतदेव तु

(अब अर्धविलोचन का लक्षण बता रहे हैं) उसके आधे नेत्र और आधी भौंह लुप्त मालूम पडे तथा देखने में असम्पूर्ण ललाट ही प्रधान प्रतीत हो। गण्ड केवल एक ओर ही दिखायी जाय, आधा क्षीण या लुप्त की स्थिति में हो। कडरेखा की आधी मात्रा यवमात्र हनु को प्रदर्शित किया जाय। छाती का आधा भाग मुख के नीचे छिपा हुआ दिखाई पडे। शेष आधी दूरी मुख और नाभि के बीच प्रदर्शित की जाय। कटि का आधा भाग दूसरी ओर से दिखाई पडे। इस प्रकार प्रत्येक अग को उसके आकार के अनुसार आकार का आधा दिखलाया जाय। इस चित्रण-प्रकार को छाया गत कहा जाता है, पर्यायत यह अर्धविलोचन ही है ॥१३—१६½॥

यस्यावलोक्यते पार्श्वं दक्षिण सव्यमेव वा ॥१७॥
कृत्स्नम यक्षयात तदङ्गभङ्गगतिस्तथा ॥
एकाक्षमेकभ्रूलेखमरनाभ ललाटवत् ॥१८॥
एक श्रोत्र यदर्ध स्याच्चिबुकार्धं शिरोरुहम् ॥
गृहीतमानलावण्यमाधुर्यादिगुणान्वितम् ॥१९॥
पार्श्वागतमिति प्रोक्त तत्स्याद्भित्तिकसज्ञितम् ॥

(अब पार्श्वागत का लक्षण कहते है) इस चित्रण प्रकार में एक पार्श्व, चाहे वह दाया हो चाहे बाया, सम्पूर्ण रूप से अपर तारा की भाति प्रतीत हो। उसके अग या अगो की गति भी उसी तरह मालूम पडे। उसके नेत्र एक हो, भ्रू-रेखा एक हो और ललाट आरे की भाँति हो (?)। उसके एक कान, आधी ठुड्डी और आधे शिर के बाल अकित किये जायँ। पूरे चित्रण मे रमणीयता भरी हो और वह माधुर्य गुण से युक्त हो। उस चित्र को पार्श्वागत कहते है। इसको भित्तिक नाम से भी अभिहित करते हैं ॥१७-१९½॥

अपाक्रुद्धे कलक्षीणे कण्ठदेशे तथैव च ॥२०॥
बाहुगण्डललाटेषु कालाख्यं क्षयमागतम् ॥
बाहुवक्षः कटितटस्थितिगु.........॥२१॥
द्विकलं द्विकलं ज्ञात्वा यथाभागं कृषीकृतम् ॥
अनुरूपप्रमाणेन नातितीक्ष्णाङ्गमेव च ॥२२॥
एद्गण्डपरावृत्तं स्थानं च परिकीर्तितम् ॥

(अब परावृत्त का लक्षण कहते हैं) इसकी मुख-मुद्रा कुछ कुपित हो और कण्ठ कोमल तथा क्षीण हो। बाहु, कपोल तथा ललाट में काल नामक माप के बराबर क्षीणता दिखाई पड़े। बाहु, छाती और कटिप्रदेश की स्थिति (.......... अपेक्षाकृत गुरुतर या गंभीर दिखायी जाय)। दो-दो कला का विभाग कर भाग के अनुसार क्षीण कर देना चाहिए। प्रमाण के अनुरूप ही सब चित्रण हों, अंगों में अधिक तीक्ष्णता न हो। इसको गण्डपरावृत्त (या केवल परावृत्त) नामक स्थान-प्रकार कहते हैं॥२०-२२½॥

पृष्ठतो यदपि व्यक्तं देहबन्धं मनोहरम् ॥२३॥
वक्रभ्रुकुटिसर्वज्ञसन्धिबन्धनमेव च ॥
ईषच्च दर्शितापाङ्गकपोलजठरे पुनः ॥२४॥
प्रकाशितैकपार्श्वेन सुस्थिरं दृष्टिहारि च ॥
स्वहीनमानलावण्यमाधुर्यादिगुणान्वितम् ॥२५॥
लेखेषु पुस्तदेशेषु पृष्ठागतमिति स्मृतम् ॥

(पृष्ठागत का लक्षण कहते हैं) जिसमें पृष्ठभाग के माध्यम से ही मनोहर शरीर-रचना व्यक्त की जाय। थोड़ी-सी टेढ़ी भौंह प्रकट होती रहे तथा अन्य संधियों के बंधनों से सब कुछ आकार-प्रकार प्रकट होता रहे। किंचित् मात्र नेत्रों की कोर दिखायी जाय, कपोल और पेट के भाग भी थोड़े-से दिखाये जायँ। यह सब कुछ एक ही पार्श्वभाग के माध्यम से दिखाया जाय, और वह सुस्थिर एवं दृष्टि को आकर्षित करने वाला हो। यह अपने मान से कम तथा सौन्दर्य एवं माधुर्य आदि गुणों से युक्त करके चित्रित किया जाय। यह चित्रण-प्रकार लेखकला एवं चित्रकला में पृष्ठागत नाम से अभिहित किया जाता है॥२३-२५½॥

यस्योर्धमङ्गपत्येन भागेन समवस्थितम् ॥२६॥
स्थितेर्ध्याभिमुखेर्धाङ्गे परिवृत्तिवशाद्भवेत् ॥
किञ्चिच्छाण्यागतौ कार्यावुपरिष्टादधः पुरः ॥२७॥
अर्धार्धगतसारूप्यं चिरसग्राम्यसंस्थितम् ॥
मध्येन नेत्ररम्येण यथायोगविलोपिना ॥२८॥
विज्ञेयं दधतः कार्यं परिवृत्तं नरेश्वर ॥

(अब पुरावृत्त का लक्षण कहते हैं—) जिसका ऊपरी हिस्सा नीचे झुके हुए भाग पर अवस्थित हो। घुमाव के कारण मुख के आधे भाग में ईर्ष्या की मुद्रा परिलक्षित होती हो। ऊपरी भाग की अपेक्षा नीचे और सामने छाया की झलक दिखायी पडे। अग के आधे-आधे भागो में चिरकालीन ग्राम्यता का लक्षण अभिव्यक्त होता रहे। आँखें बीच में सुन्दर दिखायी पडें। उनके किनारे आदि पर यथोचित भागो को लुप्त कर दिया जाय। हे नरेश्वर ! ऐसा लक्षण धारण करने वाला चित्रण-प्रकार परिवृत्त (या पुरावृत्त) कहा जाता है॥ २६-२८½॥

समग्रदृष्टिस्फिग्देश दष्टपादतल तु यत्॥२९॥
ऊर्ध्वत क्षीणदृष्टार्ध दृश्या शेष कटिस्थलम्॥
लुप्तपादाङ्गुलितल दृश्याशेपतलद्वयम्॥३०॥
चतुरस्र सुसम्पूर्णमभयानकदर्शनम्॥
प्रकाशीकृतबाहुञ्च सुदष्टमुखक परम्॥३१॥
लुप्त जघैकतो ज्ञेय नाम्ना स्थान समानत॥

(अब समानत का निरूपण करते है)—जिसमें नितम्बभाग सम्पूर्ण रूप से दिखाई पडे। जिसका तलवा कटा हुआ हो। ऊपर से कटि का आधा भाग क्षीण दिखाई पडे। शेष भाग स्पष्ट लक्षित हो। पैर की उँगलियो का तल भाग लुप्त हो, पर दोनो पादतल सम्पूर्ण रूप से दिखाई पडते रहें। यह स्थान चौकोर, परिपुष्ट और प्रियदर्शन हो। भुजायें प्रकट दिखाई पडती रहें। दात, मुख और स्कध सुन्दर हो। जघा की एक ओर का भाग लुप्त-सा हो, ऐसे चित्रण-प्रकार को समानत कहते है॥२९-३१½॥

नीचान्येतानि सर्वाणि तथोक्तैरभिराजितम्॥३२॥
लक्षितैर्लक्षितव्यानि त्वयानुक्रमशो नव॥
एवा प्रज्ञावशेषेण विकाराणि बहूयपि॥३३॥

उक्त प्रकार से चित्रित किये हुए अन्य सभी स्थानो की अपेक्षा समानत स्थान श्रेष्ठ है। आप नवों स्थानो को उपर्युक्त लक्षणो से विभूषित करे। बुद्धि के तारतम्य से इनके और भी बहुत से भेद किये जा सकते हैं॥३२-३३॥

एककशश्च भूभागे कर्तव्यानि यथाविधि॥
त्वया सन्त समासाद्य सम्यड मान तु भूतले॥३४॥
स्थानानीमानि मानाद्यैर्गुणैर्लेख्यानि यत्नत॥
नवैवतानि दृष्टानि सर्वभावेष्वनिन्दित॥३५॥

आप सज्जन पुरुषो से मिलकर एक-एक भू-भागो द्वारा यथार्थ माप निश्चित करके विधि-पूर्वक इन स्थानो की रचना कराएँ। परन्तु इन स्थान प्रकारो का चित्रण माप और गुणो की

सहायता से यत्नपूर्वक करना चाहिए। स्तुत्य ! सभी भावों में ये नव प्रकार ही दृष्टिगोचर होते हैं ॥३४३५॥

स्थानानि नाधिकमतः परमस्ति हि किंचन ॥
जीवलोकं परिक्रम्य सततं स्थाणुजङ्गमम् ॥३६॥

इनके अतिरिक्त और स्थान-प्रकार कुछ भी नही है। मैंने स्थावर और जंगमात्मक जीव-लोकों में निरन्तर घूम कर यह पता लगा लिया है।

उत्तमाधममध्येषु प्रमाणगुणतः सदा ॥
चित्रं विचित्रं त्रिविधं प्रमाणं त्रयमेव च ॥३७॥
क्षयवृद्धी च कात्स्न्र्येन मया तेऽभिहितेऽनघ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि क्षयवृद्धिविधिं क्रमात् ॥३८॥

प्रमाण और गुण के अनुसार यह अद्भुत चित्र-रचना-प्रकार सदा उत्तम, मध्यम और अधम कोटि का होता है। हे निष्पाप ! इसके तीनों प्रकार के प्रमाण और ह्रास एवं वृद्धि का वर्णन मैं तुम्हें सुना चुका हूँ। इसके बाद क्रम से घटाने और वढ़ाने की विधि बताऊँगा ॥३७-३८॥

चित्रविद्भिरसंज्ञेयं समासेनेतरेण च ॥
त्रयोदशविधैवात्र क्षयवृद्धिरुदाहृता ॥३९॥
स्थानानां बहुसंस्थत्वादङ्गावयवसम्भवा ॥

यद्यपि चित्रकलाविदों ने संक्षेप से या विस्तार से इस पर प्रकाश नही डाला है किन्तु उपर्युक्त स्थानों के अनेकनिष्ठ होने से उनके अंगों से उत्पन्न होने वाली क्षय-वृद्धि तेरह प्रकार की ही बतायी गई है ॥३९½॥

स्थानं पृष्ठगतं पूर्वमवर्जुगतमेव च ॥४०॥
मध्यार्धार्धं तथार्धार्धं साचीकृतमुखं तथा ॥
नतं गण्डपरावृत्तं पृष्ठागतमथापि च ॥४१॥
पार्श्वागतं च विज्ञेयमुल्लेपं चलितं तथा ॥
उत्तानं वलितं चेति स्थानानि तु त्रयोदश ॥४२॥

[क्षय-वृद्धि उत्पन्न करने वाले स्थानों के नाम बताते हैं—] पृष्ठगत, अवऋजुगत, मध्य-अर्धार्ध, साचीकृतमुख, नत, गण्डपरावृत्त, पृष्ठागत, पार्श्वागत, उल्लेप, चलित, उत्तान और वलित—ये तेरह स्थान होते हैं ॥४०-४२॥

कार्याण्येतानि सर्वाणि नामसंस्थानतो नृप ॥
मण्डलानीह वैशाखप्रत्यालीढक्रियाक्रमैः ॥४३॥

राजन् ! ये सभी स्थान मुद्रा के ढंग से बनाने चाहिएँ। वैशाख (बाण चलाने के समय की वह मुद्रा जिसमें दाहिना घुटना मोड़ लिया जाता है) और प्रत्यालीढ (धर्नुधारियों के बैठने

की वह मुद्रा जिसमें बाया पैर आगे बढाते हैं और दाया पैर पीछे खीच लेते हैं) मुद्राओ के क्रम से मडलाकार में इनकी रचना हो ॥४३॥

समाश्चार्द्धसमा पादा सुस्थितानि चलानि च ॥
समासमपदस्य च द्विविध स्थानक भवेत् ॥४४॥

इस रचना में मूर्ति के पैर सम हो या अर्धसम हो, अच्छी तरह स्थिर मालूम पड़ें या चलायमान प्रतीत हो, सभी ठीक हैं। समपद और असमपद के भेद से यह स्थान दो प्रकार का है ॥४४॥

तद्गत्या पदभूयिष्ठ स्थान समपद स्मृतम् ॥
मण्डलञ्च द्वितीय स्यात् स्थाना यन्यानि यानि च ॥४५॥
तान्येकसमपादानि विचित्राणि चलानि च ॥

समपद उस स्थान को कहते हैं जिसमें गति के साथ पैरो की अधिकता प्रतीत हो। दूसरा स्थान मडलाकार होता है। अतिरिक्त जितने स्थान हैं, उनमें एक-एक सम पाद होते हैं। पर सभी विचित्र एव चलायमान प्रतीत होते हैं ॥४५½ ॥

तत्र वैशाखमालीढ प्रत्यालीढ च धन्विनाम् ॥४६॥
चित्रगोमूत्रकगत विषम खड्गचर्मिणाम् ॥
चलित स्खलितायस्तमालीढैकपदक्रमम् ॥४७॥
शक्तितोमरपाषाणभिन्दिपालादिधारिणाम् ॥
सवल्गित चक्रशूलगदाकुणपधारिणाम् ॥४८॥

धनुर्धारियो के चित्र वैशाख या आलीढ या प्रत्यालीढ की मुद्रा में प्रदर्शित करे और ढाल-तलवार धारण करने वालो के चित्रो को गोमूत्र की भाति लहरेदार तथा टेढा-मेढा बनाए। शक्ति (साग) तोमर (भाले की तरह का एक प्रसिद्ध अस्त्र), पाषाण तथा भिन्दिपाल (ढेलवास) धारण करने वालो के रूप चलायमान, स्खलित तथा आलीढ-मुद्रा की स्थिति में चित्रित करने चाहिए। चक्र, त्रिशूल, गदा तथा भाला धारियो के चित्र उछलते हुए की-सी मुद्रा में अकित करे। ॥४६-४८॥

एकपादसमस्थान द्वितीयेन तु विद्गलम् ॥
शरीर च सलील स्यात् सावष्टम्भे क्वचिद्द्रुतम् ॥४९॥

पुरुष-शरीर के चित्रण में एक पाव सम भाव से अवस्थित रहे और दूसरा कुछ स्खलित-सा (?) प्रतीत हो। शरीर का ढग लीलायुक्त हो और कही उत्साह के साथ उछलता हुआ सा दिखाई पडे ॥४९॥

लीलाविलासविभ्रान्त विशालजघनस्थलम् ॥
स्थिरैकपादविन्यास स्त्रीरूप विलिखेद्बुध ॥५०॥

बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्री का रूप इस तरह चित्रित करे जिससे लीला और विलास-विभ्रम का भाव प्रकट हो। उसका जघन प्रदेश विशाल हो और एक पांव का विन्यास स्थिर भाव में अंकित रहे ॥५०॥

प्रमाणहीनस्तु जनोऽनुभूयात् कालस्य भावस्य बलात् पृथिव्याम् ॥
इति प्रचिन्त्यात्मधिया बुधेन कार्यं प्रमाणं क्षयवृद्धियोगे ॥५१॥

जो व्यक्ति (चित्रकला का पूर्वोक्त) प्रमाण नही जानता है, वह समय और भाव के बल से (अर्थात् समयानुसार भाव-भंगिमा का अनुमान करके) काम चलावे। इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार चिन्तन कर रूपों के घटाने-बढ़ाने में प्रमाण का निश्चय करे ॥५१॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे चित्रसूत्रे क्षयवृद्धिनामैकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥३९॥

× × ×

मार्कण्डेय उवाच—

त्रिप्रकारेष्टिकाचूर्णं त्र्यंशं क्षिप्त्वा मृदस्ततः ॥
गुग्गुलं समधूच्छिष्टं मधुकं मुरुकं गुडम् ॥१॥
कुसुम्भं तैलसंयुक्तं कृत्वा दध्यात् समांशकम् ॥
त्रिभागमग्निदग्धाया सुधायास्तत्र चूर्णयेत् ॥२॥
विल्वजं द्वयंशमिश्रं तत्प्रक्षिप्य मषकं कषम् ॥
बालुकांशं ततो दद्यात् स्वानुरूपेण बुद्धिमान् ॥३॥
ततः शकलतोयेन प्लावयेत् पिच्छिलेन तम् ॥
परिक्लिन्नं समग्रं तन्मासमात्रं निधापयेत् ॥४॥

मार्कण्डेय ने कहा—तीन प्रकार की ईंट के चूर्ण मे एक तिहाई मिट्टी डालकर, गुग्गुल मोम, महुआ, मूर्वा, गुड़, कुसुम का फूल तथा इन सब के बराबर तेल मिलावे। फिर उसमे बुद्धिमान् व्यक्ति आग पर पकाया हुआ एक तिहाई चूना, दो अंश बेल का गूदा, मषक (मसी ?), कष (खैर ?) और तदनुरूप बालू का अंश मिलावे। तदनन्तर चिकनी छाल के पानी में अथवा चमड़े के पात्र में रखे हुए पानी में उस मिश्रित पदार्थ को एक मास तक भिगावे ॥१-४॥

मार्दवं मासमात्रेण गतमुद्धृत्य यत्नतः ॥
दद्यात् प्रलेपं निपुणः शुष्कं कुड्यं विमृश्य तु ॥५॥
श्लक्ष्णं समं स्ववष्टब्धं निम्नोन्नतविना कृतम् ॥
नचातिघनतां यातं न चातितनुताङ्गतम् ॥६॥

एक महीने में वह मिश्रित पदार्थ कोमल हो जाता है। तब उसको सावधानी से निकाल कर सूखी दीवाल पर लेप करे। लेप चिकना हो, सम हो, दृढ़ हो और ऊबड़-खाबड़ न हो। वह बहुत मोटा या बहुत पतला भी नही होना चाहिए ॥५-६॥

यदा शुष्कं भवेत् कुड्यं तत्प्रलिप्तमसत्कृतम् ॥
तदा मृदा सर्जरसतैलभागाविमुक्तया ॥७॥
श्लक्ष्णीकुर्यात् प्रयत्नेन लेपनं श्लक्ष्णमञ्जनं ॥
मुहुर्मुहुश्च क्षीरेण सिक्त्वा मार्जनयत्नत ॥८॥
सद्य शोषमुपायात कुड्यं तं मनुजेश्वर ॥
अपि वर्षशतस्याते न प्रणश्येत् कर्हिचित् ॥९॥

उससे बार-बार लीपी हुई दीवार जब सूख जाय तब तेल, मिट्टी और चूने के मिश्रण से तैयार किये हुए लेपो एव चिकने मजनो से दीवार पर सावधानी से वारनिश करे। अनन्तर बार-बार दूध से सीच कर तुरत यत्नपूर्वक पोछ कर दीवार को सुखा डाले। नरेन्द्र ! इस प्रकार की हुई लिपाई सौ वर्ष में भी कभी नष्ट नही होती है ॥७-९॥

अनेनैव प्रकारेण द्विविधैर्वर्णकैर्युता ॥
कर्तव्याश्चित्रवपुषा विविधा मणिभूमय ॥१०॥

इसी प्रकार दो तरह के रगो वाले लेपो से युक्त अनेक मणिमय भूमिया चित्र की आकृति के अनुसार कल्पित करे ॥१०॥

कुड्ये शुष्के तिथौ शस्ते ऋक्षे च गुणसयुते ॥
चित्रायोगे विशेषेण श्वेतवासा यतात्मवान् ॥११॥
ब्राह्मणान् पूजयित्वा तु स्वस्ति वाच्य प्रणम्य च ॥
तद्विदश्च यथान्याय गुरूंश्च गुरुवत्सल ॥१२॥

दीवार के सूख जाने पर प्रशस्त तिथि एव (शुभ) नक्षत्र में या विशेषकर चित्रानक्षत्र में श्वेत वस्त्र धारण कर सयमी होकर ब्राह्मणो का पूजन करे। फिर स्वस्तिवाचन करके चित्रकला-विदो तथा गुरुजनो को गुरुभक्त चित्रकार प्रणाम करे ॥११-१२॥

प्राङ्मुखो देवताध्यायी चित्रकर्म समाचरेत् ॥
श्वेतकाद्रवकृष्णाभिर्वर्तिकाभिर्यथाक्रमम् ॥१३॥
आलिख्य स्थापयेद्विद्वान प्रमाणे स्थानके तथा ॥

पूरब मुह होकर इष्टदेव का ध्यान करके चित्र बनाना प्रारभ करे। उजली, गहरे पीले रग की तथा काली तूलिकाओ से क्रमश पूर्वोक्त प्रमाण एव स्थान के अनुसार चित्र लिखे ॥१३½॥

ततस्तु रञ्जयेद्रङ्गैर्यथास्थानानुरूपत ॥१४॥
श्यामा गौरी तथा तस्य च्छवि स्यात्ता प्रदर्शयेत् ॥
तस्याश्च लक्षण प्रोक्त प्राप्ताया नृप विस्तरे ॥१५॥

तदनन्तर रगो से स्थानो के अनुरूप रग करना चाहिए। चित्र की छवि श्याम तथा गौर वर्ण की होनी चाहिए। राजन् ! उस छवि का लक्षण पहले विस्तार से बता चुका हूँ ॥१४-१५॥

मूलरङ्गाः स्मृताः पञ्च श्वेतः पीतो विलोमतः ॥
कृष्णो नीलश्च राजेन्द्र शतशोऽन्तरतः स्मृताः ॥१६॥

प्रधान रंग पांच प्रकार के माने गये हैं—श्वेत, पीत, पीलापन लिये श्वेत, कृष्ण और नील। राजेन्द्र ! इनके अवान्तर भेद तो सैकड़ों हैं ॥१६॥

पूर्णरङ्गविभागेन भावकल्पनया तथा ॥
स्वबुद्ध्या कारयेद्रङ्गाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥१७॥

अपनी बुद्धि के अनुसार भावकी कल्पना तथा रंगों का विभाजन कर सैकड़ों हजारों प्रकार के रंग बनावे ॥१७॥

नीलेष्वतिव्यतिकृतिः पालाश इति शस्यते ॥
स शुद्धः श्वेतमिश्रश्च नीलाभ्यधिक एव च ॥१८॥

नीले रंग मे मिला कर तैयार किया हुआ हरा रंग उत्तम होता है। वह चाहे शुद्ध हो या श्वेतमिश्रित हो या उसमें अधिक नीला रंग डाला गया हो, अच्छा होता है ॥१८॥

एकाधिकं च भवति च्छवीनामनुरूपतः ॥
श्वेताधिको वा न्यूनो वा समांशश्चेति स त्रिधा ॥१९॥

रूपों के अनुसार उसमें किसी एक रंग की अधिकता की जा सकती है। उसमें श्वेत रंग की अधिकता या न्यूनता या समता रहने से वह तीन प्रकार का होता है ॥१९॥

स एकस्तम्भनायुक्तो बहुधैवं विकल्पते ॥
तेन दूर्वांकुरापीताः कपित्थहरितः शुभाः ॥२०॥
मुद्गश्यामप्रकृतयः कर्तव्याश्छवयो नृप ॥

इस प्रकार उसमें एक-एक स्थायी रंग मिलाने से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। राजन् ! उससे दूब के अंकुर के समान या किंचित् पीत या कठबेल की तरह हरित या मूग की तरह श्याम वर्ण की छविया चित्रित करनी चाहिए॥२०½ ॥

नीलः पाण्डुरसम्पृक्तो विरङ्गः सोऽप्यनेकधा ॥२१॥
अन्योन्याभ्यधिकं न्यूनं समांशवशकल्पना ॥
तेन नीलोत्पलनिभा माषसच्छायसुप्रभा ॥२२॥
क्रियते च्छवयो रम्या यथायोगविनिश्चयात् ॥

नीले रंग में सफेद पीला रंग मिलाने से वह विरंग हो जाता है। तब उसके भी अनेक भेद होते हैं। मिलाया जाने वाला रंग चाहे अधिक हो या न्यून हो या बराबर मात्रा में हो, उससे नीलकमल के समान तथा उड़द के रंग जैसी रमणीय छवियाँ औचित्य के निश्चय से अंकित करनी चाहिएँ ॥२१-२२ ½॥

लाक्षया श्वेतया युक्ता लाक्षारोध्रपिनद्धया ॥२३॥
रक्ता रक्तोत्पलश्यामा च्छविर्भवति शोभना ॥
सापि नानाविधान यान्वर्णान् विकुरुते बहून् ॥२४॥

लाक्षा तथा श्वेत रग अथवा लाक्षा तथा लोध मिलाये हुए लाल रग से जो छवि अकित की जाती है, वह रक्तकमल की तरह ललाई लिये श्याम तथा सुन्दर होती है। वह रग भी मिश्रण करने से अनेक प्रकार के रगो को उत्पन्न करता है ॥२२-२४॥

रङ्गद्रव्याणि कनक रजत ताम्रमेव च ॥
अभ्रक राजवत च सिन्दूर त्रपुरेव च ॥२५॥
हरिताल सुधा लाक्षा तथा हिङ्गुलक नृप ॥
नील च मनुजश्रेष्ठ तथाऽन्ये सन्त्यनेकश ॥२६॥

राजन्! रग वनाने के द्रव्य सोना, चाँदी, ताँवा, अवरक, राजवन्त? सिंदूर, राँगा, हरिताल, चूना, लाख, इँगुर तथा नील है। मानवेन्द्र! इनके अतिरिक्त अनेको द्रव्य है ॥२५-२६॥

देशे देशे महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुता ॥
लोहाना पत्रविन्यास भवेद्वापि रसक्रिया ॥२७॥
सकट लोहवियस्तमभ्रक द्रावण भवेत् ॥
एव भवति लोहाना लेखने कर्म-योग्यता ॥२८॥

महाराज! प्रत्येक देश में स्तम्भनयुक्त रगो का निर्माण करना चाहिए। (अर्थात् रगो मे ऐसे पदार्थ मिलाये जायँ जिनसे वे टिकाऊ हो सकें)। लोहे का रग रासायनिक क्रिया द्वारा तैयार किया जा सकता है। लोहे का रग मोटा होता है और अवरक का द्रावण (पतला या पिघलने वाला) होता है। इस प्रकार चित्रकारी के लिए लोहे का रग उपयुक्त है ॥२७-२८॥

अभ्रकद्रावण प्रोक्त सुरसे द्रजभूमिजे ॥
चम्पा कुयोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवेत् ॥
सर्वेषामेव रङ्गाणा सिन्दूरक्षीर इष्यते ॥२९॥

अवरक द्रावण होता है, यह वताया जा चुका है। रग में तुलसी, भूनिंव, चपा, कुश और मौलसिरी का काढा डालने से टिकाऊपन आ जाता है। सकल रगो में स्थायित्व लाने के लिए सिंदूर और दूध का प्रयोग करना चाहिए ॥२९॥

मातङ्गदूर्वारसपट्टवद्धं सस्तम्भित चित्रमुदारपुच्छैं ॥
धौत जलेनापि न नाशयेत तिष्ठत्यनेका यपि वत्सराणि ॥३०

(कुछ समय के लिए) उत्तम दूव के रस में भिगोये हुए वस्त्र तथा मयूर-पुच्छो से चित्र का ढक देना चाहिए। ऐसा चित्र पानी पडने पर भी नष्ट नही होता है और अनेक वर्षो तक ठहरता है ॥३०॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रंगव्यतिकरो नाम चत्वारिंश-त्तमोऽध्यायः ॥४०॥

× × ×

मार्कण्डेय उवाच—

सत्यं च वैणिकं चैव नागरं मिश्रमेव च ॥
चित्रं चतुर्विधं प्रोक्तं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१॥

चित्र चार प्रकार के कहे गये हैं—सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र। इनके लक्षण मैं बता रहा हूँ ॥१॥

यत्किञ्चिल्लोकसादृश्यं चित्रं तत् सत्यमुच्यते ॥
दीर्घाङ्गं सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम् ॥२॥

सत्य चित्र उसको कहते हैं, जो कुछ लोक से मिलता जुलता हो, सुकुमार हो, प्रमाण तथा सुन्दर आधार से युक्त हो और लंबे अंगों वाला हो ॥२॥

चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम् ॥
प्रमाणं स्थानलम्भाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते ॥३॥

जो चित्र सुडौल एवं परिपूर्ण हो, न लंबा हो न उत्कट आकृति वाला हो और आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे वैणिक कहते हैं ॥३॥

दृढोपचितसर्वाङ्गं वर्तुलं नह्यनुल्वणम्
चित्रं तं नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम् ॥४॥
चित्रमिश्रं समाख्यातं समासान्मनुजोत्तम ॥

जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हों और जो न गोला हो न उत्कट, उसे नागर चित्र कहते हैं। स्वल्प मालाओं एवम् आभूषणों से युक्त चित्र मिश्र कहलाता है। नरश्रेष्ठ! यह मैंने संक्षेप मे बताया है ॥४½॥

तिस्रश्च वर्तनाः प्रोक्ताः पत्राहैरिकबिन्दुजाः ॥५॥
पत्राकृतिभि रेखाभिः कथितात्र च वर्तना ॥
अतीव कथिता सूक्ष्मा तथाहैरिकवर्तना ॥६॥
तया च स्तम्भनायुक्ता कथिता बिन्दुवर्तना ॥

चित्र की रेखायें या लिखावट तीन प्रकार की कही गई हैं—पत्रवर्तना, आहैरिकवर्तना और बिन्दुवर्तना। पत्र सदृश रेखाओं को पत्रवर्तना, अत्यंत सूक्ष्म रेखा को आहैरिकवर्तना और स्त-म्भनयुक्त रेखा को बिन्दुवर्तना कहते हैं ॥५-६½॥

दौर्बल्यबिन्दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ॥७॥
बृहद्‌गण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ॥
मानवाकारता चेति चित्रदोषा प्रकीर्तिता ॥८॥

(चित्र का दोष बताते हैं) जिसकी बिन्दुरेखा दुर्बल हो, अग परस्पर सटे हो, अडकोश, ओठ और नेत्र बडे हो, सभी अग एक-से दिखाई दें और आकार मानवीय हो, वह चित्र दूषित माना जाता है ॥७-८॥

स्थानप्रमाणभूलम्बो मधुरत्व विभक्तता ॥
सादृश्य पक्षवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता ॥९॥

(चित्र का गुण बताते हैं) जिसके स्थान, प्रमाण और आधार ठीक हो, अगो में कोमलता, बिलगाव तथा सामञ्जस्य हो और पक्ष मे वृद्धि हो, वह चित्र भूषित माना जाता है ॥९॥

रेखा च वर्तना चैव भूषण वर्णमेव च ॥
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥१०॥

नरश्रेष्ठ! रेखा, लिखावट आभूषण और रग चित्रकारी के लिए भूषण है ॥१०॥

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणा ॥
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जना ॥११॥

आचार्य लोग रेखा की और सुधीजन लिखावट की प्रशसा करते हैं। स्त्रियाँ आभूषण देखना चाहती है और दूसरे व्यक्ति रगो की सम्पन्नता पसद करते हैं ॥११॥

इति मत्वा तथा यत्न कर्तव्यश्चित्रकर्मणि ॥
सवस्य चित्रग्रहण यथा स्यान्मनुजोत्तम ॥१२॥

महामानव! यह जानकर चित्रकारी मे ऐसा यत्न करना चाहिए (अर्थात् चित्र ऐसा आकर्षक बनाना चाहिए) जिससे सबका चित्त उसके प्रति आकृष्ट हो ॥१२॥

दुरासन दुरानीत पिपासा चान्यचित्तता ॥
एते चित्रविनाशाय हेतव परिकीर्तिता ॥१३॥

बुरा आसन, बुरी तरह आनयन (अर्थात् बिना इच्छा के बलपूर्वक लाना), प्यास और दूसरे कार्यों मे चित्त की आसक्ति—ये सब चित्र-विनाश के कारण कहे गये हैं ॥१३॥

स्वनुलिप्तावकाशा च निदेश मधुका शुभा ॥
सुप्रसन्नाभिगुप्ता च भूमि स्याच्चित्रकर्मणि ॥१४॥

चित्रकारी के लिए अच्छी तरह लिपी हुई, विस्तृत, कोमल, पवित्र, प्रसादयुक्त तथा सुरक्षित भूमि उत्तम होती है ॥१४॥

---

१ यहा 'गण्ड' पाठ उचित प्रतीत होता है।

सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेखं विद्वन्यथादेशविशेषवेशम् ॥
प्रमाणशोभाभिरहीयमानं कृतं भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ॥१५॥

विद्वन् ! जो चित्र अत्यन्त कोमल, सुस्पष्ट तथा सुन्दर वर्ण वाली रेखाओं से युक्त देश-विशेष के वेशों से सुसज्जित और पूर्वोक्त प्रमाण की शोभाओं से सम्पन्न होता है, वह अतीव कुतूहल या आश्चर्य उत्पन्न करता है (फलतः ऐसा चित्र शोभन होता है) ॥१५॥

इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे तृ० मा० सं० वर्तनो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४१॥

× × ×

मार्कण्डेय उवाच—

यथा देवस्तथा चित्रे कर्तव्यः पृथिवीश्वरः ॥
एकैकं रूपके लोम कर्तव्यं पृथिवीक्षिताम् ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—चित्र में जैसे देवता वैसे राजा को अंकित करना चाहिए। राजा के चित्र में एक-एक लोम दिखाया जाय ॥१॥

ऋषयश्च सगन्धर्वा दैत्याश्च सह दानवाः ॥
मन्त्रिणश्च महाराज सांवत्सरपुरोहितौ ॥२॥
कार्या भद्रप्रमाणेन ब्राह्मणाश्च नरेश्वर ॥

महाराज ! ऋषि, गन्धर्व, दैत्य दानव, मंत्री, ज्योतिषी, पुरोहित और ब्राह्मण के चित्र भद्र (१०६ अंगुल) प्रमाण से बनाने चाहिएँ ॥२½ ॥

ऋषयस्तत्र कर्तव्या जटाजूटोपशोभिताः ॥३॥
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गा दुर्बलास्तेजसा युताः ॥
देवताश्चापि गन्धर्वा मुकुटेन विवर्जिताः ॥४॥
कर्तव्यास्ते महाराज शिखरैरुपशोभिताः

ऋषियों के चित्र जूड़े में बंधी हुई जटाओं, काले मृग के चर्मों तथा उत्तरीय वस्त्रों से सुशोभित हों। उनके शरीर क्षीण किन्तु तेजस्वी दिखाई पड़े। देवता तथा गन्धर्वो के चित्र में मुकुट विवर्जित है। महाराज ! उनको शिखरों से सुशोभित करना चाहिए ॥३-४½ ॥

ब्रह्मवर्चस्विनो विप्राः शुक्लाम्बरधरास्तथा ॥
मन्त्रिणश्च महाराज सांवत्सरपुरोहितौ ॥५॥
सर्वालंकारसंयुक्तानेवोल्वणविभूषणान् ॥६॥
मुकुटेन विहीनांस्तु सोष्णीषान् कारयेच्च तान् ॥

ब्राह्मणों को ब्रह्मतेज से सम्पन्न तथा श्वेत वस्त्रधारी के रूप में अंकित करे। महाराज ! मन्त्रियों, ज्योतिषी तथा पुरोहित को समस्त अलंकारो से सम्पन्न तथा अत्यंत सुसज्जित करना चाहिए। इन्हे मुकुट न दे, वरन् पगड़ी पहनावे ॥५-६½ ॥

दैत्याश्च दानवाश्चैव कर्तव्या भ्रुकुटीमुखा ॥७॥
वर्तुलाक्षास्तथा कार्या भीमवक्त्रास्तथैव च ॥
तेषामभ्युद्धतो वेष कर्तव्य पृथिवीपते ॥८॥

दैत्यो और दानवो को भ्रू-भग-युक्त बनावे (अर्थात् उनकी त्योरी चढी हो), उनके नेत्र गोल हो और मुख भयकर। भूपते ! उनका वेश सब प्रकार से दर्पयुक्त मालूम पडे ॥७-८॥

भद्रप्रमाणा कर्तव्यास्तथा विद्याधरा नृप ॥
सपत्नीकाश्च ते कार्या माल्यालकारधारिण ॥९॥
खड्गहस्ताश्च ते कार्या गगने वाथवा भुवि ॥

राजन् ! आकाश में या पृथ्वी पर अवस्थित विद्याधरो को भद्र प्रमाण (१०६ अगुल) के अनुपात से चित्रित करना चाहिए। वे सपत्नीक हो तथा माला, अलकार और खड्ग धारण किये हुए हो ॥९½॥

मालव्यपरिमाणेन किन्नरोरगराक्षसा ॥१०॥
रुचकस्य प्रमाणेन यक्षा कार्या नराधिप ॥
शशकस्य प्रमाणेन प्रधान मानव लिखेत् ॥११॥

मालव्य प्रमाण (१०४ अगुल) के अनुसार किन्नर, सर्प तथा राक्षस का चित्र बनाना चाहिए। नरपते ! रुचक प्रमाण (१०० अगुल) से यक्ष का और शशक प्रमाण (९०) से प्रधान मानव का चित्र लिखे ॥॥१०-११॥

पिशाचा वामना कुब्जा प्रमथाश्च महीभुज ॥
माननियमत कार्या रूपनियमतस्तथा ॥१२॥
स्वानुरूपप्रमाणाश्च सर्वेषा योषित स्मृता ॥

पिशाचो, बौनो, कुबडों, प्रमथो (शिव के अनुचरविशेषो) तथा राजाओ का प्रमाण और रूप नियमपूर्वक अभिव्यक्त करना चाहिए। इन सबके अपने ही अनुरूप प्रमाणो से स्त्रिया को चित्रित करे ॥१२½॥

किन्नरा द्विविधा प्रोक्ता नृवक्त्रा हयविग्रहा ॥१३॥
नृदेहाश्चाश्ववक्त्राश्च तथान्ये परिकीर्तिता ॥

किन्नर दो प्रकार के कहे गये है—एक का मुख मनुष्य जैसा तथा शरीर घोडे की तरह होता है और दूसरे का मुख अश्व की तरह और शरीर मानव के समान होता है। इसी प्रकार और भी कहे गये हैं ॥१३½॥

अश्ववक्त्रास्तु कर्तव्या सर्वालकारधारिण ॥१४॥
गीतवाद्यसमायुक्ता द्युतिमन्तस्तथैव च ॥

अश्व-मुख वाले किन्नरों को समस्त अलंकारों से विभूषित, गीत-वाद्यों से सम्पन्न तथा कान्तिमान् बनाना चाहिए॥ १४½ ॥

उत्कचा राक्षसाः कार्या विकलाक्षा विभीषणाः ॥१५॥
देवाकाराश्च कर्तव्या नागाः फणविराजिताः ॥
सालंकाराः स्मृताः सर्वे यक्षास्तेऽभिहिता मया ॥१६॥

राक्षसों के बाल बड़े-बड़े और आँखें डरावनी हों। नागों की आकृति देवता जैसी हो, किन्तु फणों से सुशोभित हो। यक्षों के संबंध में मैं बता चुका हूँ। उन्हें अलंकारों से सुसज्जित करना चाहिए॥१५-१६॥

सुराणां प्रमथाः कार्या प्रमाणेन विवर्जिताः ॥
पिशाचाश्च तथा कार्या प्रमाणेन विवर्जिताः ॥१७॥

देवताओं में प्रमथगण को विना प्रमाण के चित्रित करे और पिशाचों के लिए भी प्रमाण आवश्यक नहीं है॥१७॥

नानासत्त्वमुखाः कार्या देवतानां तथा गणाः ॥
नानावेशा महाराज नानायुधधरास्तथा ॥१८॥
नानाक्रीडाप्रसक्ताश्च नानाकर्मकरास्तथा ॥

महाराज ! देवताओं के गण अनेक प्रकार के जीवों जैसे मुख वाले, विविध वेश वाले, भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र धारण करने वाले, नाना क्रीडाओं में आसक्त रहने वाले और विभिन्न प्रकार के कर्म करने वाले हों॥१८½ ॥

एकरूपास्तु कर्तव्या वैष्णवानान्तथा गणाः ॥१९॥
तत्रापि तेषां कर्तव्या भेदाश्चत्वार एव च ॥
वासुदेवसमाः कार्या वासुदेवगणाः शुभाः ॥२०॥
संकर्षणेन सदृशास्तद्गणाश्च तथा स्मृताः ॥
प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन तद्गणाः सदृशास्तथा ॥२१॥

वैष्णवों के गण समान रूप वाले होंगे। उनके भी चार भेद करने चाहिए। जैसे—कृष्ण के पवित्र गण कृष्ण के समान ही चित्रित करने होंगे। उसी तरह बलराम के गण बलराम सदृश, प्रद्युम्न के गण प्रद्युम्न सदृश और अनिरुद्ध के गण अनिरुद्ध सदृश बनाने चाहिएँ॥१९-२१॥

तत्प्रभावाः स्मृताः सर्वे तदायुधधरास्तथा ॥
नीलोत्पलदलश्यामाश्चन्द्रशुभ्रास्तथैव च ॥२२॥
तथा मरकताकाराः सिन्दूरसदृशप्रभाः ॥

ये गण अपने-अपने नायक के समान ही प्रभावशाली एवम् आयुधधारी हों। इनका वर्ण

क्रमश नीलकमल के समान श्याम, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल, मरकत (पन्ना) के समान हरा और सिन्दूर के सदृश लाल होना चाहिए ॥२२½॥

रुचकस्य तु मानेन वेश्या कार्यास्तथा स्त्रिय ॥२३॥
वेश्यानामुद्धत वेश कार्यं शृङ्गारसम्मतम् ॥
मालव्यमानत कार्या लज्जावत्य कुलस्त्रिय ॥२४॥
नात्युन्नतेन वेशेन सालकारास्तथैव च ॥

वेश्याओ तथा स्त्रियो के चित्र रुचक प्रमाण (१०० अगुल) के बराबर हो। वेश्याओ का वेश उच्छृङ्खल तथा शृगारी हो। कुलीन तथा लज्जावती महिलाओ के चित्र मालव्य मान (१०४-अगुल) के अनुपात से अकित करने चाहिएँ। उनका वेश अत्यन्त उन्नत न हो, वरन् अलकारो से सम्पन्न हो ॥२३-२४ १॥

दैत्यदानवयक्षाणा राक्षसाना तथैव च ॥२५॥
रूपवत्यस्तथा कार्या पत्न्यो मनुजसत्तम ॥
मातर स्वेन रूपेण तथा कार्या नराधिप ॥२६॥

मानवश्रेष्ठ ! दैत्या, दानवो, यक्षो तथा राक्षसो की पत्नियाँ रूपवती हो। नरपते ! माताओ को अपने रूप के अनुसार चित्रित करें ॥२५-२६॥

पिशाचाना च पत्न्योऽपि कार्यास्तद्रूपसयुता ॥
विभर्तृकास्तु कर्तव्या स्त्रिय पलितसयुता ॥२७॥
शुक्लवस्त्रपरीधाना सर्वालकारवर्जिता ॥
कुब्जा वामनिका वृद्धा तथा रूपवती भवेत् ॥२८॥

पिशाचो की पत्नियो के रूप पिशाच जैसे चित्रित किये जायँ। विधवा नारियो के बालो को सफेद करके अकित करना चाहिए। उनके वस्त्र श्वेत हो और गहना कोई भी न हो। कुबडी तथा बौनी वृद्धा के रूप सुन्दर करके चित्रित करने चाहिएँ ॥२७-२८॥

राजस्त्रीणा परीवारे वृद्ध स्यात् कञ्चुकी पुन ॥
रुचकस्य तु मानेन वैश्यमान विधीयते ॥२९॥
शशकस्य तु मानेन शूद्रमान तथैव च ॥
यथाजात्यनुरूपेण वेषेण मनुजेश्वर ॥३०॥

राज-स्त्रियो के परिवार मे वृद्ध कचुकी (रनिवास के रक्षक) को भी चित्रित करें। वैश्य का चित्र रुचक मान (१०० अगुल) के अनुपात से और शूद्र का चित्र शशक मान (९० अगुल) के अनुपात से बनाना चाहिए। मानवेन्द्र ! इन सबका वेश जाति के अनुरूप होना चाहिए ॥२९-३०॥

दैत्यादियोषिता कार्या परिचारस्त्रिय सदा ॥
महाशिरा महोरस्को महानासो महाहनु ॥३१॥

पीनस्कन्धभुजग्रीवः परिमाणेन चोच्छ्रितः ॥
त्रितरङ्गललाटश्च व्योमदृष्टिर्महाकटिः ॥३२॥
दृप्तश्चित्रविदा कार्यः सेनायाः पतिरूर्जितः ॥

दैत्य आदि की स्त्रियों के लिए परिचारिकायें सदा चित्रित करनी चाहिएँ। चित्रवेत्ता लोग सेनापति का चित्र ऐसा बनावें, जिसका सिर विशाल हो, छाती चौड़ी हो, नाक लंबी हो, ठुड्डी बड़ी हो, कंधे पुष्ट हों, भुजा तथा ग्रीवा लंबी हो, ऊँचाई अधिक हो, ललाट पर तीन जगह चढ़ाव-उतार हो, दृष्टि आकाश की ओर हो, कटिभाग विशाल हो, भाव गर्वयुक्त हो और शरीर तेजस्वी या बलवान् दिखाई दे ॥३१-३२½ ॥

योधाः कार्या महाराज प्रायशो भ्रुकुटीमुखाः ॥३३॥
किंचिदुद्धृतवेशाश्च कार्याश्चोद्धतदर्शनाः ॥
अभ्युद्गताश्च कर्तव्या आयुधीयाः पदातयः ॥३४॥
खड्गचर्मधराः कार्याः कर्णाटकवपुर्धराः ॥
वरबाणधराः कार्या नग्नजंघाश्च धन्विनः ॥३५॥
नात्युद्धतेन वेषेण सोपानत्कास्तथैव ते ॥

महाराज ! योद्धाओं के चित्र मे अधिकतर त्योरी चढ़ी हुई हो, वेश कुछ ऊपर उठा हुआ हो और देखने मे वे गर्वी प्रतीत हों। पैदल सैनिक हथियारबंद हों और ढाल, तलवार तथा कर्णाटक देश के लोगों की तरह शरीर धारण किये हों। धनुष धारण करनेवाले सैनिक उत्तम बाण लिये हों तथा उनकी जंघा अनावृत हो। उनका वेश अत्यन्त उद्धत न हो और वे जूते पहने हुए हों ॥३३-३५½॥

यथोक्तलक्षणाः कार्याः कुञ्जरास्तुरगादयः ॥३६॥
हस्त्यारोहास्तु कर्तव्या मुहुः श्यामास्तु वर्णतः ॥
केशैश्च जूटटमरैः सालंकारास्तथैव च ॥३७॥

हाथी और घोड़ो को पूर्वोक्त लक्षणो से सम्पन्न करके चित्रित करना चाहिए। गजारोहियों का वर्ण श्याम हो, बाल घुँघराले हो और वे आभूषण पहने हुए हों ॥३७॥

उदीच्यवेशाः कर्तव्यास्तुरगाणां तु सादिनः ॥
उद्धतेन च वेषेण कर्तव्या बन्दिनस्तथा ॥३८॥
सिरादर्शितकण्ठाश्च तथैवोन्मुखदृष्टयः ॥

अश्वारोहियो का वेश उत्तर के रहने वाले लोगों की तरह और बंदियों (चारणों) का का वेश उभरा हुआ होना चाहिए। बंदियो के गले की नाड़ी स्पष्ट दिखाई दे और उनकी दृष्टि ऊपर की ओर हो ॥३८-½॥

आह्वानकास्तु कर्तव्या कपिला केकरेक्षणा ॥३९॥
किंचिद्दानवसकाशा प्रायशो दण्डपाणय ॥
न केकराश्च कपिलान् युद्धे द्वन्द्वान् समालिखेत् ॥४०॥
नात्युन्नतेन वेषेण न च शातेन शस्यते ॥
पार्श्वबद्धेन खड्गेन प्रतीहारस्तु दण्डवान् ॥४१॥

सदेशवाहक को भूरे रग का होना चाहिए। उसकी आँखे ऐंची हो, आकृति कुछ दानव जैसी हो और प्राय करके उसके हाथ मे डडा हो। युद्ध के प्रसग मे ऐंचातानो और भूरे आदमियो का जोडा चित्रित नही करना चाहिये। द्वारपाल का वेश न तो उन्नत हो न शान्त। वह बगल में तलवार और हाथ में दड धारण किये हो ॥३९-४१॥

सवेष्टितशिरस्काश्च कर्तव्या वणिजस्तथा ॥
गायना नर्तका ये वा वाद्यवादविशुद्धये ? ॥४२॥
उद्धतेन तु वेषेण कार्यास्ते मनुजोत्तम ॥
आसन्नपलिता कार्या स्वभूषणविभूषिता ॥४३॥

उसी तरह चित्र में बनियो के शिर (पगडी आदि से) बँधे हुए हो। नरश्रेष्ठ! गायका, नर्तको तथा बाजे बजाने वाला का वेश भडकीला होना चाहिए। उनके बाल पकने के करीब पहुँच गये हो और वे सभी अपने-अपने आभूषणो से विभूषित हो ॥४२-४३॥

पौरजानपदा श्रेष्ठा शुभ्रवस्त्रविभूषणा ॥
प्रसृतप्रवणा प्रह्वा स्वभावप्रियदर्शिन ॥४४॥

नगर तथा जनपद के श्रेष्ठ लोग शुभ्र वस्त्रा से विभूषित, कोमल, विनम्र, सुशील तथा प्रियदर्शी हो ॥४४॥

स्वकर्मोपस्करव्यग्र कार्य कर्मकरो जन ॥
प्राशव पीनगात्राश्च पीनग्रीवशिरोधरा ॥४५॥
उग्राश्च नीचकेशाश्च मल्ला कार्यास्तथोद्धता ॥

कर्मचारी लोग अपने-अपने कामो मे व्यस्त दिखाई पडे। मल्लो (पहलवानो) की कद लबी हो, अग स्थूल हो, ग्रीवा और कधा पुष्ट हो, बाल छोटे हो और वे उग्र एवम् अभिमानी दिखाई पडें ॥४५-३॥

वृषा केसरिणश्चैव याश्चान्या सत्त्वजातय ॥४६॥
यथाभूमिनिवेशास्ते लोक दृष्ट्वा नराधिप ॥
एतद्रूपसमुद्देशमदृष्टाना तवेरितम् ॥४७॥
दृष्ट सुसदृश कार्य सर्वेषामविशेषत ॥
चित्रे सादृश्यकरण प्रधान परिकीर्तितम् ॥४८॥

राजन्! बैलों, सिंहों तथा दूसरे जानवरों का चित्र लोक को देख कर जिस भूमि का जो जानवर हो उसी के समान बनाना चाहिए। यह रूप चित्रित करने का प्रकार अदृष्ट पदार्थों के संबंध में तुम्हें बताया गया है। दृष्ट पदार्थ का चित्र तो हू-बहू उसीके समान बनाना चाहिए। चित्र-कला में सादृश्यकरण (अर्थात् जिसका चित्र बनाना हो, उसकी आकृति-प्रकृति ठीक-ठीक उतार देना) प्रधान वस्तु माना गया है ॥४६-४८॥

बुद्ध्या रूपं यथावेशं वर्णं च मनुजोत्तम ॥
देशे देशे नराः कार्या यथावत्तत्समुद्भवाः ॥४९॥
देशं नियोगं स्थानं च कर्म बुद्ध्वा च यत्नतः ॥
आसनं शयनं यानं वेशं कार्यं नराधिप ॥५०॥

नरश्रेष्ठ! बुद्धि से रूप, वेश तथा रंग का अनुपात ठीक करके जिस देश में जो मनुष्य उत्पन्न हुआ हो उसका चित्र उसीके सदृश बनाना चाहिए। नरपते! देश, प्रवृत्ति, स्थान तथा कर्म को यत्नपूर्वक समझकर आसन, शय्या वाहन तथा वेश का चित्रण करना चाहिए ॥५०॥

सरितां सशरीराणां वाहनानि प्रदर्शयेत् ॥
पूर्णकुम्भकराः कार्यास्तथा नामितजानवः ॥५१॥

नदियों को शरीरधारी के रूप में चित्रित करे। उनके पास वाहनों को भी दिखावे। उनके हाथों में पूर्ण कलस हों और घुटने झुके हुए हों ॥५१॥

शैलानां शिखरं मूर्ध्नि दर्शयेन्मनुजोत्तम् ॥
द्वीपानां च करैः कार्यं तथा भूमण्डलं शुभम् ॥५२॥

मानवश्रेष्ठ! पर्वतों का शिखर शिरोभाग में दिखावे और द्वीपों के हाथों या परिमाणों से पवित्र भू-मंडल की रचना करे ॥५२॥

............राजंस्तथा शिखरपाणयः ॥
रत्नपात्रकराः कार्याः सागरा मनुजोत्तम ॥५३॥

..............राजन्! वे शिखरपाणि हों। नरश्रेष्ठ! समुद्रो के हाथों में रत्नों के पात्र हों ॥५३॥

समुद्राणां प्रभास्थाने सलिलं तु प्रदर्शयेत् ॥
आयुधानां तु तच्चिह्नं किञ्चिन्मूर्धनि दर्शयेत् ॥५४॥

समुद्रों के चित्र में प्रभा की जगह जल दिखावे। हथियारों का वह चिह्न कुछ शिरोभाग में दिखावे ॥५४॥

निधीनां दर्शयेत् कुम्भं शंखं शंखस्य दर्शयेत् ॥
पद्मं पद्मस्य राजेन्द्र! शेषाणामनुरूपतः ॥५५॥

राजेन्द्र! निधियो का चिह्न घडा दिखाया जाय। (उनमें भी) शख नामक निधि का चिह्न शख, पद्म नामक निधि का चिह्न कमल और अन्य निधियो के चिह्न उन्हीके अनुरूप दिखाये जायँ ॥५५॥

कार्यस्यावयवा कार्या स्वदेहसदृशा पृथक् ॥
दिव्याना दर्शयेच्चिह्नमक्षमाला च पुस्तकम् ॥५६॥

किसी वस्तु के अवयवो को अलग से बनाना हो तो उसके शरीर के अनुरूप ही बनावे। दिव्य पदार्थों के चिह्न दिखाने के लिए रुद्राक्ष की माला तथा पुस्तक का चित्रण करे ॥५६॥

अत पर प्रवक्ष्यामि रूप यद्यस्य दृश्यते ॥
आकाश दर्शयेद्विद्वान् विवर्णं खगमाकुलम् ॥५७॥
तथैव दर्शयेद्राजस्तारकामण्डित दिवम् ॥
भूमि च जागलानूपमिश्रा स्वै स्वैस्तया गुणै ॥५८॥

अब जिसका जो रूप दिखाया जाना चाहिए, वह मै बताऊगा। राजन्! विद्वान् व्यक्ति आकाश को इस प्रकार चित्रित करे कि उसका कोई रग न हो, वह पक्षियो से व्याप्त हो और उसी तरह तारो से सुशोभित हो। भूमि को जगलो तथा जलप्राय स्थानो या देशो से मिश्रित करके उनके गुणो के साथ चित्रित करे ॥५७-५८॥

पर्वत तु शिलाजालै शिखरैर्धातुभिर्द्रुमै ॥
निर्झरैर्भुजगैश्चैव दर्शयेन्नृपसत्तम ॥५९॥

राजश्रेष्ठ! पर्वत को शिलाओ, शिखरो, धातुओ, वृक्षो, झरनो तथा सापो के साथ चित्रित करना चाहिए ॥५९॥

वन नानाविधैर्वृक्षैर्विहगै श्वापदैस्तथा ॥
तोय च दर्शयेद्विद्वाननन्तैर्मत्स्यकच्छपै ॥६०॥
पद्माक्षैश्च महाराज! तथा यैर्जलजैर्गुण ॥

वन को भाँति-भाँति के वृक्षो, पक्षियो तथा हिंसक जन्तुओ के साथ चित्रित करे और जल के चित्रण में विद्वान् व्यक्ति अनन्त मछलियो, कछुओ एव कमलगट्टो को दिखाए। महाराज! दूसरे भी जो जलजात पदाथ या गुण हैं, उन्हें भी प्रदर्शित करे ॥६०-१½ ॥

देवतावेश्मभिश्चित्रै प्रासादापणवेश्मभि ॥६१॥
नगर दर्शयेद्विद्वान् राजमार्गैश्च शोभनै ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति नगर के चित्र मे देवालयो, महलो, बाजारो, गृहो तथा सुन्दर राजमार्गो को अकित करे ॥६१॥

विमत्या दर्शयेद्ग्रामं किंचिदुद्यानभूषितम् ॥६२॥
सर्वेषामथ दुर्गाणां कर्तव्यं दर्शनं तथा ॥
स्वभूमिविनिवेशेन वप्राट्टालकपर्वतैः ॥६३॥

विशेष बुद्धि से गाँव का चित्रण कर उसे कुछ बागों से भूषित किया जाय। सभी दुर्गों के साथ मिट्टी के स्तूपों, किले के बुर्जों तथा पर्वतों को चित्रित किया जाय ॥६२-६३॥

पण्ययुक्तास्तु कर्तव्यास्तथैवापणभूमयः ॥
आधानभूमिः कर्तव्या पानयुक्ता नराकुला ॥६४॥

बाजार की भूमि को दुकानों या खरीद-बिक्री की चीजों से समन्वित करके चित्रित करना चाहिए। पानभूमि (मद्य पीने के स्थान) में अनेक लोगों को जुटे हुए तथा पान करते हुए दिखाना चाहिए ॥६४॥

उत्तरीयविहीनांश्च द्यूतसक्तान् प्रदर्शयेत् ॥
जिताञ्शोकसमायुक्तान्हृष्टांल्लब्धजयांस्तथा ॥६५॥

चित्र में जुआरियों को उत्तरीय वस्त्र से हीन कर दे। उनमें कुछ को पराजित तथा शोकातुर अवस्था में और कुछ को प्रसन्न एवं विजयी रूप में चित्रित किया जाय ॥६५॥

चतुरंगबलोपेतां प्रहरद्भिर्नरैर्युताम् ॥
मृतावयवरक्ताढ्यां रणभूमिं प्रदर्शयेत् ॥६६॥

रण-भूमि को चतुरंगिणी सेना तथा प्रहार करते हुए नरों से युक्त और मृत शरीरों के रक्त से प्रपूर्ण करके दिखाना चाहिए ॥६६॥

चिताकुणपसंयुक्तं श्मशानं च तथा नृप ॥
युक्तं सभारैरुष्ट्राद्यैर्मार्गं सार्थं प्रदर्शयेत् ॥६७॥

राजन् ! श्मशान को चिता एवं शवों (मुर्दों) से युक्त करना चाहिए। मार्ग को बोझा ढोते हुए ऊँट आदि तथा कारवाँ से युक्त दिखाया जाय ॥६७॥

सचन्द्रग्रहनक्षत्रां तथा दर्शितलौकिकाम् ॥
आसन्नतस्करां रात्रिं दर्शयेत् सुप्तमानवाम् ॥६८॥

रात्रि के चित्रण में चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, दिखाई पड़ने वाले लौकिक पदार्थ, समीप आये हुए चोर और सोये हुए मानवों को दिखाया जाय ॥६८॥

प्राग्रात्रे दर्शयेत्तत्र तथा चैवाभिसारिकाम् ॥
सारुणो म्लानदीपश्च प्रत्यूषो रुतकुक्कुटः ॥६९॥
कर्मव्यग्रजनप्रायः कर्तव्यो वानरस्तथा ॥
द्विजैर्नियमभियुक्तां रक्तां सन्ध्यां प्रदर्शयेत् ॥७०॥

इस प्रकार आदरपूर्वक चतुर व्यक्ति की बुद्धि से व्यवस्थित इन्द्रिय, कान्ति, विलास और रस आदि के साथ चितवन तथा नेत्र जिस चित्र का अंकित किया जाता है, वह मनोरथ को पूर्ण करनेवाला होता है ॥८४॥

इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मा० व० म० रूपनिर्माण नाम द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्याय ॥४२॥

मार्कण्डेय उवाच—

श्रृंगारहासकरुणवीररौद्रभयानका ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव चित्ररसा स्मृता ॥१॥

मार्कण्डेय ने कहा—चित्र के लिए श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त नामक नौ रस कहे गये हैं ॥१॥

तत्र यत्कान्तिलावण्यलेखामाधुर्यसुन्दरम् ॥
विदग्धवेशाभरण श्रृंगारे तु रसे भवेत् ।२॥

श्रृंगार रस वाला चित्र कान्ति, लावण्य-युक्त रेखा तथा माधुर्य से विभूषित हो और उसके वेश तथा आभूषण निपुणता-पूर्वक सजाये गये हों ॥२॥

यत्कुब्जवामनप्रायमोपद्विकटदर्शनम ॥
वृथा च हस्त सकोच्य तत्स्याद्धास्यकर रसे ॥३॥

अधिकतर कुबडा, बौना, कुछ विकट रूप से ताकते हुए तथा व्यर्थ ही हाथ को सकुचित किये हुए चित्र हास्यरस के होते हैं ॥३॥

याच्ञाविरहासन्नत्यागविक्रयव्यसनादिषु ॥
अनुकम्पितक यत्स्याल्लिखेत्तत करुणारसे ॥४॥

करुणा रस का चित्र याचना, वियोग, शरणागत-त्याग, बिक्री तथा व्यसन आदि में दयनीय की तरह दिखाई पडे ॥४॥

पारुष्यविकृतिक्रोधविपस्त्यर्था न दूषणम् ॥
दीप्रशस्त्राभरणवत्कृत रौद्ररसे भवेत् ॥५॥

रौद्र रस का चित्र कठोरता, विकार, क्रोध हिंसात्मक भाव (?) चमचमाते हुए शस्त्र तथा आभूषण से युक्त होना चाहिए ॥५॥

प्रतिज्ञागर्भशौर्यादिप्व्यर्येव्वौदार्यदर्शनम् ॥
सस्मय सभ्रुकुटिवद्वीर वीररसेऽद्भुतम् ॥६॥

वीर रस के चित्र में प्रतिज्ञा, शूरता उदारता तथा गर्व का भाव दिखाना चाहिए। उसकी त्योरी चढी हुई हो और वह देखने में अद्भुत हो ॥६॥

दुष्टदुर्दर्शनोन्मत्तहिंस्रव्यापादकादि यत् ॥
तत्स्याद्भयानकरसे प्रयोगे चित्रकर्मणः ॥७॥

भयानक रस की चित्रकारी में दुष्ट, क्रूर, उन्मत्त, हिंसक और घातक प्राणी को अंकित करना चाहिए ॥७॥

श्मशानगर्हितं घातकरणं स्थानदारुणम् ॥
यच्चित्रं चित्रवच्छ्रेष्ठं तद्बीभत्सरसे भवेत् ॥८॥

जो चित्र श्मशान के समान निन्दित, घात का साधन और स्थान के कारण दारुण हो, वह बीभत्स रस के लिये श्रेष्ठ कहा गया है ॥८॥

यदा विनीतरोमाञ्चचिन्तां तार्क्ष्यमुखानतम् ॥
प्रदर्शयति चान्योऽन्यं तदद्भुतरसाश्रयम् ॥९॥

जो विनय, रोमांच तथा चिन्ता से युक्त हो तथा गरुड़ के मुख के समान झुका हुआ हो, वह अद्भुत रस का चित्र कहलाता है ॥९॥

यद्यत्सौम्याकृतिध्यानधारणासनबन्धनम् ॥
तपस्विजनभूयिष्ठं तत्तु शान्ते रसे भवेत् ॥१०॥

शान्तरस के चित्र की आकृति सौम्य हो, ध्यान धारणा और आसन से युक्त हो तथा बहुत माने में यह तपस्वी व्यक्ति के सदृश हो ॥१०॥

शृङ्गारहास्यशान्त्याख्या लेखनीया गृहेषु ते ॥११॥
परशेषा न कर्त्तव्या कदाचिदपि कस्यचित् ॥
देववेश्मनि कर्तव्या रसाः सर्वे नृपालये ॥१२॥

घरों मे शृंगार, हास्य तथा शान्ति नामक रसों से युक्त चित्र लिखने चाहिए। परन्तु कभी किसी चित्र को अधूरा नही छोड़ना चाहिए। राजभवन के देवालय में सभी रसों के चित्र लिखे जा सकते हैं ॥११-१२॥

राजवेश्मनि नो कार्या राज्ञां वासगृहेषु ते ॥
सभावेश्मसु कर्तव्या राज्ञां सर्वरसा गृहे ॥१३॥

राजमहल के भीतर राज-शयनकक्ष में इन रसों का प्रदर्शन नही करना चाहिए, कितु राजा के सभा-भवन में सभी रसों को दिखाया जा सकता है ॥१३॥

वर्जयित्वा सभां राज्ञो देववेश्म तथैव च ॥
युद्धश्मशानकरुणामृतदुःखार्तकुत्सितान् ॥१४॥
अमङ्गल्यांश्च न लिखेत् कदाचिदपि वेश्मसु ॥

राजा के सभा-भवन तथा देवालय को छोडकर सामान्य गृहो में युद्ध, श्मशान, दयनीय, मृत, दु ख-पीडित, कुत्सित तथा अमागलिक वस्तुओ को कभी भी न लिखे ॥१४३॥

निधिशृङ्गान्वृषान्नागान्निधिहस्तान्नताङ्गजान् ॥१५॥
निधिर्विद्याधरा राजनृषयो गरुडस्तथा ॥
हनूमाश्च सुमङ्गल्या येच लोके प्रकीर्तिता ॥१६॥
लिखितव्या महाराज गृहेषु सतत नृणाम् ॥

राजन् ! निधियुक्त सीगवाले बैल, सूड पर निधि धारण किये हुए नत हाथी, निधि, विद्याधर, ऋषि, गरुड, हनुमान् तथा लोक मे जो कुछ भी मागलिक पदार्थ है, उन सबको मनुष्यो के घरो में सदा चित्रित करना चाहिए ॥१५-१६३॥

चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप ॥१७॥
दौर्बल्य स्थूलरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ॥
वर्णाना सकरश्चात्र चित्रदोषा प्रकीर्तिता ॥१८॥

राजन् ! अपने घर में स्वय चित्र नही बनाना चाहिए। क्षीणता, रेखाओं की स्थूलता, अगो का सटा होना और रगो का साकर्य—ये चित्र के दोष माने गये है ॥१७-१८॥

स्थानप्रमाण भूलम्भो मधुरत्व विभक्तता ॥
सादृश्य क्षयवृद्धी च गुणाष्टकमिद स्मृतम् ॥१९॥

स्थान, मान, आधार, कोमलता, विभक्तता (अगो का परस्पर सटा न होना), समानता क्षय और वृद्धि (आवश्यकतानुसार घटाना और बढाना)—ये आठो चित्र के गुण कहे गये है ॥१९॥

स्थानहीन गतरस शून्यदृष्टिमलीमसम् ॥
चेतनारहित वा स्यात्तदशस्त प्रकीर्तितम् ॥२०॥

जो चित्र स्थान तथा रस से हीन हो, आकाश की ओर दृष्टि किये हो, मलिन हो या चेतना रहित हो, उसे गर्हित कहा गया है ॥२०॥

लसतीव च भूलम्बो बिभ्यतीव तथा नृप ॥
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ॥२१॥
सश्वास इव यच्चित्र तच्चित्र शुभलक्षणम् ॥

राजन् ! जो चित्र आधारयुक्त होता हुआ सुशोभित-सा हो रहा हो, जो डर-सा रहा हो, जो मुस्करा-सा रहा हो, जो सजीव-सा या साँस लेता हुआ-सा दीख रहा हो, वह चित्र शुभ-लक्षण है ॥२०-३ ॥

हीनाङ्ग मलिन शून्य बद्धव्याधिभयाकुलम् ॥२२॥
वृत्त प्रकीर्णकेशैश्चासुमङ्गल्यैर्विवर्जयेत् ॥
प्रतीत च लिखेद्धीमान्नाप्रतीते कथचन ॥२३॥

न्यून अंगवाला, मलिन, शून्य, बँधा हुआ, व्याधि तथा भय से आकुल, बिखरे हुए बालों-वाला और अमंगलकारक चित्र नहीं बनाना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति समझ करके ही चित्रों को लिखे, बिना समझे किसी प्रकार भी न लिखे ॥२२-२३॥

शास्त्रज्ञैः सुकृतैर्दक्षैश्चित्रं हि मनुजाधिप ॥
श्रियमावहति क्षिप्रमलक्ष्मीं चापकर्षति ॥२४॥
निर्णेजयति चोत्कण्ठां निरुणद्ध्यागतं शुभम् ॥
शुद्धां प्रथयति प्रीतिं जनयत्यतुलामपि ॥२५॥
दुःस्वप्नदर्शनं हन्ति प्रीणाति गृहदैवतम् ॥
नतु शून्यमिवाभाति यत्र चित्रं प्रतिष्ठितम् ॥२६॥

मानवेन्द्र ! शास्त्र के ज्ञाता, पुण्यात्मा तथा चतुर पुरुषों द्वारा बनाया हुआ चित्र लक्ष्मी प्रदान करता है, दरिद्रता को भगाता है, मनोरथ पूर्ण करता है, मिले हुए कल्याण को स्थिर रखता हैं, पवित्र तथा अनुपम प्रीति उत्पन्न कर विख्यात करता है, दुःस्वप्न का नाश करता है, गृह-देवता को प्रसन्न करता हैं और जहाँ (जिस घर में) चित्र बनाया हुआ रहता है, वह शून्य की तरह नहीं मालूम पड़ता हैं (अर्थात् वह सदा भरा-पूरा रहता हैं) ॥२४-२६॥

...........दकर्णं चाप्यनलंकृतम् ॥
शल्यविद्धं च वृद्धं च यः करोति स चित्रवित् ॥२७॥

...............कान तथा अलंकार से रहित शल्य से बिधे हुए तथा बढ़े हुए चित्र को जो जानता है, वह चित्रवेत्ता है ॥२७॥

तरङ्गाग्निशिखाधूमं वैजयन्त्यस्वरादिकम् ॥
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयो मत्तचित्रवित् ॥२८॥

जो व्यक्ति तरंग, अग्निशिखा (आग की लपट), धुआँ, पताका और वायुकी गति से चित्र लिखता है, उसे मत्त चित्रवेत्ता समझना चाहिये ॥२८॥

सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् ॥
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित् ॥२९॥

जो चित्र में सोये हुए को चेतनायुक्त और मरे हुए को चेतना-रहित करके दिखाता है तथा नीचे-ऊँचे का विभाग भी करता है, वह चित्रवेत्ता है ॥२९॥

एतेषां खलु सर्वेषामानुलोम्यं प्रशस्यते ॥
सम्मुखत्वमथैतेषां चित्रे यत्नाद्विवर्जयेत् ॥३०॥

इन सब का आनुलोम्य (क्रमानुसार रचना) प्रशंसनीय होता है, पर चित्र में इनको आमने-सामने रखना निषिद्ध है ॥३०॥

यथाचित्र तथैवोक्त खातपूर्वं नराधिप।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषु दर्शयेत् ॥३१॥

नरपते! जैसे भित्ति-चित्र के मान, रस आदि वताये गये है, उसी तरह सोने, चांदी, तांबे और लोहे पर खोद कर बनाये गये चित्रो के भी जानने चाहिएँ ॥३१॥

शिलादारुषु लोहेषु प्रतिमाकरण भवेत् ॥
अनेनैव विधानेन यथा चित्रमुदाहृतम् ॥३२॥

पत्थर, लकडी तथा लोहे की प्रतिमा को इसी विधान से, जो चित्र-निर्माण के प्रसग में वताया गया है, वनाना चाहिए ॥३२॥

तथानेन विधानेन पुस्तकम विधीयते ॥
द्विविध तच्च कथित घन सुषिरमेव च ॥३३॥

इसी नियम के अनुसार शिल्प-कर्म करना चाहिए। यह दो प्रकार का कहा गया है—एक घन और दूसरा सुषिर ॥३३॥

घनैर्लोहै शिलाभिश्च दारुमृद्भि सदा भवेत् ॥
चमणा सुषिर कार्यो दारुलोहैस्तथैव च ॥३४॥

घन नामक शिल्पकर्म सदा पत्थर, लकडी और मिट्टी पर करना चाहिए और सुषिर नामक शिल्पकर्म चमडा, लोहा और लकडी पर करना चाहिए ॥३४॥

वेयो मृत्तिकया लेप पुस्ते चर्मकृते दृढ ॥
सूत्रेऽनेन विधानेन चित्र वस्त्रे तथा लिखेत् ॥३५॥

चमडे के तैयार किये हुए चित्र के ढाँचे पर मिट्टी का लेप देना चाहिए। इसी चित्र-सूत्र के विधान से वस्त्र पर भी चित्र लिखे ॥३५॥

एतदुद्देशमात्रेण यदा ते कथित नृप ॥
अशक्यो विस्तराद्वक्तु बहुवर्षशतैरपि ॥३६॥

राजन्! यह चित्रकला का सामान्य परिचय तुम्हें दिया है। इस सबध में विस्तारपूर्वक कहना तो सैकडो वर्षो मे भी सभव नही है ॥३६॥

यदत्र नोक्त तन्नृत्ताद्विज्ञेय वसुधाधिप ॥
नृत्तेऽपि नोक्त तच्चित्र नात्र योज्य नराधिप ॥३७॥

पृथ्वीपते! जो वात यहाँ नही वतायी गयी है, वह नृत्य-वर्णन के प्रकरण से जान लेनी चाहिए। किन्तु नरपते! जो वात नृत्य के प्रकरण में भी नही कही गई है, वह अदचय है। उसका प्रयोग यहा नही करना चाहिए ॥३७॥

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥
मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥३८॥

चित्रकला सभी कलाओं से श्रेष्ठ है। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देने वाली है। जिस घर में इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, वहाँ पहले ही मंगल होता है ॥३८॥

यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः ॥
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः ॥३९॥

जैसे पर्वतों मे सुमेरु श्रेष्ठ है, पक्षियों मे गरुड़ प्रधान है और मनुष्यों में राजा उत्तम है उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला उत्कृष्ट है ॥३९॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्येयवज्रसंवादे शृंगारादिभावकथनं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

समाप्तं चित्रसूत्रम्।

कला-सूची

[ललितविस्तर के आधार पर]

१ लंघितम्—कूदना
२ प्राञ्चलितम्—उछलना
३ लिपिमुद्रागणनासंख्यासालम्भधनुर्वेदा
  लिपि—लेखन कला
  मुद्रा—एक हाथ या कभी-कभी दोनों हाथों के द्वारा अथवा हाथ की उंगलियों से भिन्न भिन्न आकृतियों का बनाना।
  गणना—गिनना
  संख्या—संख्याओं की गिनती
  सालम्भ—कुश्ती लड़ना
  धनुर्वेद—धनुष विद्या
४ जवितम्—दौड़ना
५ प्लवितम्—पानी में डुबकी लगाना
६ तरणम्—तीर चलाना
७ इष्वस्त्रम्—तीर चलाना
८ हस्तिग्रीवा—हाथी की सवारी करना
९ रथ —रथ सम्बन्धी बातें
१० धनुष्कलाप —धनुष सम्बन्धी सारी बातें
११ अश्वपृष्ठम्—घोड़े की सवारी
१२ स्थैर्यम्—स्थिरता
१३ स्थाम्—बल
१४ सुशौर्यम्—साहस
१५ बाहुव्यायाम—बाहु का व्यायाम
१६ अंकुशग्रहपाशग्रहा —अंकुश और पाश इन दोनों हथियारों का ग्रहण करना।
१७ उद्यानिर्याणम्—ऊंची वस्तु को फाँद कर और दो ऊंची वस्तु के बीच से कूद कर पार जाना।
१८ अपयानम्—पीछे की ओर से निकलना।

१९. मुष्टिबन्धः—मुट्ठी और घूंसे की कला
२०. शिखाबन्धः—शिखा बांधना
२१. छेद्यम्—भिन्न-भिन्न सुन्दर आकृतियों को काटकर बनाना
२२. भेद्यम्—छेदना
२३. तरणम्—नाव खेना या जहाज चलाना या तैरना
२४. स्फालनम्—(कंदुक आदि को) उछालने का कौशल
२५. अक्षुण्णवेधित्वम्—भाले से लक्ष्य बेध करना
२६. मर्मवेधित्वम्—मर्मस्थल का वेधना
२७. शब्दवेधित्वम्—शब्दवेधी बाण चलाना
२८. दृढ़प्रहारित्वम्—मुष्टि प्रहार करना
२९. अक्षक्रीडा—पाशा फेंकना
३०. काव्यव्याकरणम्—काव्य की व्याख्या करना
३१. ग्रन्थरचितम्—ग्रन्थ रचना
३२. रूपम्—वास्तु कला (लकड़ी, सोना इत्यादि में आकृति बनाना)
३३. रूपकर्म—चित्रकारी
३४. अधीतम्—अध्ययन करना
३५. अग्निकर्म—आग पैदा करना
३६. वीणा—वीणा बजाना
३७. वाद्यनृत्यम्—बाजा बजाना और नाचना
३८. गीतपठितम्—गाना और कविता पाठ करना
३९. आख्यातम्—कहानी सुनाना
४०. हास्यम्—मजाक करना
४१. लास्यम्—सुकुमार नृत्य
४२. नाट्यम्—नाटक, अनुकरण नृत्य
४३. विडम्बितम्—दूसरे का व्यंगात्मक अनुकरण करना
४४. माल्यग्रन्थनम्—माला गूंधना
४५. संवाहितम्—शरीर की मालिश
४६. मणिरागः—बहुमूल्य पत्थरों का रंगना
४७. वस्त्ररागः—कपड़ा रंगना
४८. मायाकृतम्—इन्द्रजाल
४९. स्वप्नाध्यायः—स्वप्नों का अर्थ लगाना
५०. शकुनिरुतम्—पक्षी की बोली समझना
५१. स्त्रीलक्षणम्—स्त्री का लक्षण जानना

५२ पुरुषलक्षणम्—पुरुष का लक्षण जानना
५३ अश्वलक्षणम्—घोड़े का लक्षण जानना
५४ हस्तिलक्षणम्—हाथी का लक्षण जानना
५५ गोलक्षणम्—गाय, बैल का लक्षण जानना
५६ अजलक्षणम्—बकरा, बकरी का लक्षण जानना
५७ मिश्रितलक्षणम्—मिलावट पहचानने की या भिन्न भिन्न जन्तुओं के पहचानने की कला।
५८ कंटभेश्वर लक्षणम्—लिपि विशेष
५९ निघटु—कोष
६० निगम—श्रुति
६१ पुराणम्—पुराण
६२ इतिहास—इतिहास
६३ वेदा—वेद
६४ व्याकरणम्—व्याकरण
६५ निरुक्तम्—निरुक्त
६६ शिक्षा—उच्चारण विज्ञान
६७ छन्द—छन्द
६८ यज्ञकल्प—यज्ञ विधि
६९ ज्योति—ज्योतिष
७० साख्यम्—साख्यदर्शन
७१ योग—योग दर्शन
७२ क्रियाकल्प—काव्य और अलकार
७३ वैशेषिकम्—वैशेषिक दर्शन
७४ वेशिकम्—कामसूत्र के अनुसार वैशिक विज्ञान का प्रणयन दत्तक नामक आचार्य ने पाटलिपुत्र की वेश्याओ के अनुरोध से किया था।
७५ अर्थविद्या—राजनीति और अर्थशास्त्र
७६ बाहस्पत्यम्—लोकायत मत
७७ आश्चर्यम्—
७८ आसुरम्—राक्षसो सम्बन्धी विद्या
७९ मृगपक्षिरुतम्—पशु पक्षी की बोली समझना
८० हेतुविद्या—न्याय दर्शन
८१ जतुयन्त्रम्—लाख के यन्त्र बनाना
८२ मधूच्छिष्टकृतम्—मोम का काम
८३ सूची कर्म—सुई के काम

८४. विदलकर्म—दलों या हिस्सों को अलग कर देने का काम
८५. पत्रच्छेद्यम्—पत्तियों को काट-छांट कर विभिन्न आकृतियाँ वनाना
८६. गन्धयुक्तिः—कई द्रव्यों के मिश्रण से सुगन्धि तैयार करना

[वात्स्यायन के कामसूत्र के आधार पर]

१. गीतम्—गाना
२. वाद्यम्—बाजा वजाना
३. नृत्यम्—नाचना
४. आलेख्यम्—चित्रकारी
५. विशेषकच्छेद्यम्—
६. तण्डुलकुसुमबलिविकाराः—पूजा के लिए अक्षत और रंग-विरंगे फूलों का सजाना
७. पुष्पास्तरणम्—घर या कमरों को फूलों से सजाना
८. दशनवसनांगरागः—शरीर, कपड़ों और दांतों पर रंग चढ़ाना
९. मणिभूमिकाकर्म—गच में मणि बैठाना
१०. शयनरचनम्—शय्या की रचना
११. उदकवाद्यम्—पानी को इस प्रकार वजाना कि उससे मुरज नामक वाजे की आवाज निकले।
१२. उदकघातः—जल क्रीड़ा में सखियों या प्रेमियों का आपस में जल के छींटे की मार देना।
१३. चित्रयोगाः—विचित्र औषधादिकों का प्रयोग करना
१४. माल्यग्रथनविकल्पाः—विभिन्न प्रकार से फूल गूंथना
१५. शेखरकापीडयोजनम्—शेखरक और अपीडक सिर पर पहने जाने वाले दो माल्य अलंकारों का उचित स्थान पर धारण करना।
१६. नेपथ्यप्रयोगाः—अपने को या दूसरे को वस्त्रालंकार आदि से सजाना
१७. कर्णपत्रभंगः—हाथी दांतों को पत्तरों आदि से कान के गहने बनाना
१८. गन्धयुक्तिः—कई द्रव्यो के मिश्रण से सुगन्ध तैयार करना
१९. भूषणयोजनम्—गहना पहनाना
२०. ऐन्द्रजालयोगः—इन्द्रजाल करना
२१. कौचुमारयोगः—शरीरावयवों को मजबूत और विलास योग्य बनाने की कला।
२२. हस्तलाघवम्—हाथ की सफाई
२३. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया—साग-भाजी वनाने का कौशल
२४. पानकरसरागासवयोजनम्—भिन्न-भिन्न प्रकार का पेय (शर्बत वगैरह) तैयार करना।
२५. सूचीवानकर्माणि—सीना, पिरोना, जाली बुनना इत्यादि
२६. सूत्रक्रीड़ा—घर, मंदिर आदि विशेष आकृतियां हाथ के सूत से वना लेना।
२७. वीणाडमरूकवाद्यानि—वीणा, डमरू तथा अन्य वाजे वजाना

२८ प्रहेलिका—पहेली
२९ प्रतिमाला
३० दुर्वाचकयोगा
३१ पुस्तकवाचनम्—पुस्तक पढना
३२ नाटकाख्यायिकादर्शनम्—नाटक, कहानियो का ज्ञान
३३ काव्य समस्यापूरणम्—समस्यापूर्ति
३४ पट्टिकावेत्रवानविकल्पा—बेंत और बास से नाना प्रकार की वस्तुओ का निर्माण।
३५ तक्षकर्माणि—सोने-चादी के गहनो और वर्तनो पर काम करना।
३६ तक्षणम्—बढईगीरी
३७ वास्तुविद्या—गृहनिर्माण कला, इजीनियरिंग
३८ रूप्यरत्न परीक्षा—मणियो और रत्नो की परीक्षा
३९ धातुवाद—धातुओ को मिलाना, शोधना
४० मणिरागाकरज्ञानम्—रत्नो का रगना और उनकी खनिओं का जानना।
४१ वृक्षायुर्वेदयोगा—वृक्षो की चिकित्सा और उन्हें इच्छानुसार बडा-छोटा बना लेने की विद्या।
४२ मेषकुक्कुटलावक युद्धविधि—भेडा, मुर्गा और लावको का लडाना
४३ शुकसारिकाप्रलापनम्—सुग्गा, मैनो का पढाना
४४ उत्सादने सवाहने केशमर्दने च कौशलम्—शरीर और सिर में मालिश करना।
४५ अक्षरमुष्टिकाकथनम्—सक्षिप्त अक्षरो में पूरा अर्थ जान लेना। मेप, वृप, मिथुन।
४६ म्लेच्छितविकल्पा—गुप्त भाषा विज्ञान
४७ देशभाषाविज्ञानम्—विभिन्न देश की भाषाओ का ज्ञान
४८ पुष्पशकटिका—फूलो से गाडी, घोडा आदि बनाना
४९ निमित्तज्ञानम्—शकुन ज्ञान
५० यन्त्रमातृका—स्वय वह यन्त्रो का बनाना
५१ धारणमातृका—स्मरण रखने का विज्ञान
५२ सम्पाठ्यम्—किसी पढे श्लोक को ज्यो का त्यो दुहराना
५३ मानसी
५४ काव्यक्रिया—काव्य बनाना
५५ अभिधानकोश छन्दाविज्ञानम्—कोश छन्द आदि का ज्ञान
५६ क्रियाकल्प
५७ छलितयोगा—वेश वाणी आदि के परिवर्तन से दूसरो को छलना—बहुरूपीपन
५८ वस्त्रगोपनानि—छोटे कपडे को इस प्रकार पहनना कि वह बडा दीखे और बडा छोटा दीखे।
५९ द्यूतविशेषा—जुआ
६० आकर्षक्रीडा—पासा खेना

६१. बालक्रीड़नकानि—लड़कों के खेल, गुड़िया आदि
६२. वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विनय सिखानेवाली विद्या
६३. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विजय दिलानेवाली विद्याएं
६४. व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—व्यायाम विद्या

[शुक्रनीतिसार के आधार पर]

१. हावभावादिसंयुक्तंनर्तनम्—हाव-भाव के साथ नाचना।
२. अनेकवाद्यविकृतौ तद्वादने ज्ञानम्—आरकेस्ट्रा में अनेक प्रकार के बाजे बजा लेना।
३. स्त्रीपुंसोः वस्त्रालंकारसन्धानम्—स्त्री और पुरुष को वस्त्र-अलंकार पहना सकना।
४. अनेकरूपाविर्भावकृतिज्ञानम्—पत्थर काठ आदि पर भिन्न-भिन्न आकृतियों का निर्माण।
५. शय्यास्तरणसंयोगपुष्पादिग्रन्थनम्—फूल का हार गूंथना और शय्या सजाना।
६. द्यूताद्यनेकक्रीडाभी रंजनम्—जुआ इत्यादि मे मनोरंजन करना।
७. अनेकासनसन्धानै रतेर्ज्ञानिम्—कामशास्त्रीय आसनों का ज्ञान
८. मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः—भिन्न-भिन्न भाँति के शराब बना सकना।
९. शल्यगूढाहृतौ सिराघ्रणव्यथे ज्ञानम्—शरीर में घुसे हुए शल्य आदि को शस्त्रों की सहायता से निकालना, जर्राही।
१०. हीनादिरससंयोगान्नादिसम्पाचनम्—नाना रसों का भोजन करना।
११. वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः—पेड़-पौधों की देखभाल, रोपाई-सिंचाई का ज्ञान।
१२. पाषाणधात्वादिदृतिभस्मकरणम्—पत्थर और धातुओं का गलाना तथा भस्म बनना।
१३. यावदिक्षुविकाराणां कृतिज्ञानम्—ऊख रस से चीनी आदि भिन्न-भिन्न चीजें बनाना।
१४. धात्वोषधीना संयोगक्रियाज्ञानम्—धातु और औषधियों के संयोग से रसायनों का बनाना।
१५. धातुसांकर्यपार्थक्यकरणम्—धातुओं के मिलाने और अलग करने की विद्या।
१६. धात्वादीनांसंयोगा पूर्वविज्ञानम्—धातुओं के नये संयोग बनाना।
१७. क्षारनिष्कासनज्ञानम्—खार बनाना।
१८. पदादिन्यासतः शस्त्रसन्धाननिक्षेपः—पैर ठीक करके धनुष चढ़ाना और बाण फेंकना।
१९. सन्ध्याघाता कृष्टिभेदैः मल्लयुद्धम्—तरह-तरह के दांव-पेंच के साथ कुश्ती लड़ना।
२०. अभिलक्षते देशे यन्त्राद्यस्त्रनिपातनम्—शस्त्रों को निशाने पर फेंकना।
२१. वाद्यसंकेततो व्यूहरचनादि—बाजे के संकेत से सेना व्यूह का रचना।
२२. गजाश्वरथगत्या तु युद्धसंयोजनम्—हाथी घोड़े या रथ से युद्ध करना।
२३. विविधासनमुद्राभिः देवतातोषणम्—विभिन्न आसनों तथा मुद्राओं के द्वारा देवता को प्रसन्न करना।
२४. सारथ्यम्—रथ हांकना।
२५. गजाश्वादेः गतिशिक्षा—हाथी घोड़ों को चाल सिखाना।

२६ मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसत्क्रिया—मिट्टी, लकडी, पत्थर और धातुओं के वर्तन बनाना।
२७ चित्राद्यालेखनम्—चित्र बनाना।
२८ तटाकवापीप्रासाद समभूमिक्रिया—कुआ, पोखरे खोदना तथा जमीन बराबर करना।
२९ घट्याद्यनेकयन्त्राणा वाद्याना कृति—वाद्य यन्त्र तथा पनचक्की जैसी मशीनो का बनाना।
३० हीनमध्यादिसंयोगवर्णाद्यैरञ्जनम्—रगो के भिन्न भिन्न मिश्रण से चित्र रगना।
३१ जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैः क्रिया—जल, वायु अग्नि को साथ मिलाकर और अलग-अलग रख कर काय करना इन्हें बाधना।
३२ नौकारथ्यादियानाना कृतिज्ञानम्—नौका, रथ आदि सवारियो का बनाना।
३३ सूत्रादिरज्जुकरणविज्ञानम्—सूत और रस्सी बनाने का ज्ञान।
३४ अनेकतन्तुसंयोगैः पटबन्ध—सूत से कपडा बुनना।
३५ रत्नाना वेधादिसदसज्ज्ञानम्—रत्नो की परीक्षा, उन्हें काटना-छेदना आदि।
३६ स्वर्णादीनान्तु याथार्थ्यविज्ञानम्—सोने के जाचने का ज्ञान
३७ कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानम्—बनावटी सोना-रत्न आदि बनाना।
३८ स्वर्णाद्यलकारकृति—सोने आदि का गहना बनना
३९ लेपादिसत्कृति—मुलम्मा देना, पानी चढाना।
४० चर्मणा मार्दवादिक्रियाज्ञानम्—चमडे को नर्म बनाना।
४१ पशुचर्मांगनिर्हारज्ञानम्—पशु के शरीर से चमडा, मास आदि को अलग कर सकना।
४२ दुग्धदोहादिघृतान्त विज्ञानम्—दूध दुहना और उससे घी निकालना
४३ कञ्चुकादीना सीवने विज्ञानम्—चोली आदि का सीना
४४ जलेबाह्वादिभिस्तरणम्—हाथ की सहायता से तैरना
४५ गृहभाण्डादेर्मार्जने विज्ञानम्—घर तथा घर के बर्तनो को साफ करने में निपुणता
४६ वस्त्रसमार्जनम्—कपडा साफ करना
४७ क्षुरकर्म—हजामत बनाना
४८ तिलमांसादिस्नेहाना निष्कासने कृति—तिल और मास आदि से तेल निकालना
४९ सीराद्याकर्षणे ज्ञानम्—खेत जोतना, निराना आदि
५० वृक्षाद्यारोहणे ज्ञानम्—वृक्ष पर चढना
५१ मनानुकूलसेवाया कृतिज्ञानम्—अनुकूल सेवा द्वारा दूसरो को प्रसन्न करना
५२ वेणुतृणादिपात्राणा कृतिज्ञानम्—बास, नरकट आदि से बर्तन आदि का बना लेना
५३ काचपात्रादिकरणविज्ञानम्—शीशे का बर्तन बनाना
५४ जलाना संसेचन संहरणम्—जल लाना और सींचना
५५ लोहाभिसारशस्त्रास्त्रकृतिज्ञानम्—धातुओ से हथियार बनाना
५६ गजाश्ववृषभोष्ट्राणा पल्याणादिक्रिया—हाथी, घोडा, बैल, ऊट आदि का जीन, चारजामाओ का हौदा बनाना

५७. शिशोस्संरक्षणे धारणे क्रीडने ज्ञानम्—बच्चों को पालना और खेलाना
५८. अपराधिजनेसु युक्तताडनज्ञानम्—अपराधियों की ढंग से मरम्मत करना
५९. नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग्लेखने ज्ञानम्—भिन्न-भिन्न देशीय लिपियों का लिखना
६०. ताम्बूलरक्षादिकृतिविज्ञानम्—पान के बीड़े बनाने की विधि
६१. आदानम्—कलामर्मज्ञता
६२. आशुकारित्वम्—शीघ्र काम कर सकना
६३. प्रतिदानम्—कलाओं को सिखा सकना
६४. चिरेक्रिया—देर-देर से काम करना

[प्रबन्धकोश के आधार पर]

१. लिखितम्
२. गणितम्
३. गीतम्
४. नृत्यम्
५. पठितम्
६. वाद्यम्
७. व्याकरणम्
८. छन्दः
९. ज्योतिषम्
१०. शिक्षा
११. निरुक्तम्
१२. कात्यायनम्
१३. निघंटुः
१४. पत्रच्छेद्यम्
१५. नखच्छेद्यम्
१६. रत्नपरीक्षा
१७. आयुधाभ्यासः
१८. गजारोहणम्
१९. तुरगारोहणम्
२०. तपः शिक्षा
२१. मन्त्रवादः
२२. यन्त्रवादः
२३. रसवादः
२४. खन्यवादः
२५. रसायनम्
२६. विज्ञानम्
२७. तर्कवादः
२८. सिद्धान्तः
२९. विषवादः
३०. गारुडम्
३१. शाकुनम्
३२. वैद्यकम्
३३. आचार्यविद्या
३४. आगमः
३५. प्रासादलक्षणम्
३६. सामुद्रिकम्
३७. स्मृतिः
३८. पुराणम्
३९. इतिहासः
४०. वेदः
४१. विधिः
४२. विद्यानुवादः
४३. दर्शनसंस्कारः
४४. खेचरीकला
४५. भ्रमरीकला
४६. इन्द्रजालम्

४७ पातालसिद्धि
४८ धूतशम्वल्म्
४९ ग न्धवाद
५० वृक्षचिकित्सा
५१ कृत्रिम मणिकम
५२ मवकरणी
५३ वश्यकर्म
५४ पणकर्म
५५ चित्रकर्म
५६ काष्ठघटनम्
५७ पाषाणकर्म
५८ लेपकर्म
५९ चर्मकर्म
६० यन्त्रकर सवती
६१ काव्यम्
६२ अलकार
६३ हसितम्
६४ मस्कृतम्
६५ प्राकृतम्
६६ पैशाचिकम
६७ अपभ्रशम्
६८ कपटम्
६९ देशभाषा
७० धातुकर्म
७१ प्रयोगोपाय
७२ केवलिविधि

[चित्रकोश]

चित्रकला

चित्रकम, आलेख्य, चारुशिल्प, शिल्प, ललितकला, रूपलेखा, कल्पवल्ली, चित्रगत—चमत्कार।

चित्रशाला

चित्रवीथी, चित्रशालिका, अभिलिखित वीथिका।

चित्रकार

शिल्पी, निपुण चित्रकार, चित्राचार्य, चित्र विद्योपाध्याय, चित्रकर, वर्णाट, रगाजीव, रूपदक्ष।

चित्र भेद

पट, पटचित्र, फलक चित्र, भित्ति चित्र, ऋतु चित्र, सत्य चित्र, वैणिक चित्र, नागर चित्र, मिश्र चित्र, विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र, रस चित्र, धूलि चित्र, कारुज चित्र, लेप्य चित्र, प्रतिकृति चित्र, चित्रपट, प्रतिबिंब चित्र, कामदेव पट, लक्ष्मी पट, कुण्डलित पट, कल्पवल्ली, सादृश्य चित्र, प्रतिच्छन्दक चित्र, रेखा चित्र, तिण्डुक चित्र, आलेख्य, रूपालेख्य, प्रकृति चित्र, आकार चित्र, चित्रपुत्रिका (नारी चित्र), लेख्य पुत्रिका (नारी चित्र), सच्चरित चित्र (महापुरुषों के जीवन से सबधित चित्र)

तूलिका

चित्र तूलिका, कूची, लेखनी, वर्तिका।

इसके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और मध्यम।

चित्रवर्ण

शुद्धवर्ण (नील, पीत, लोहित, शुक्ल, कृष्ण), पंचराग-वर्ण (पीत, नील, लोहित, धवल, हरित), मिश्रवर्ण (कई रंग मिला देने से)

रेखा-भेद

आकारजनिका रेखा (लाल-काले रंग से चित्रों में जो टिपाई की जाती है), कालांजन-वर्तिका (काले काजल की बत्ती जिससे टिपाई की जाती है), तनीयसी (बारीक काली रेखा)

चित्रगुण

वर्णाढचता, भावोपपन्नता, युक्तलेखता।

चित्र के अलंकरण

पत्रभंग, पत्रापत्रलता, पत्रावली, पत्रांजलि कल्पवल्ली।

चित्र के आलेप

वज्रलेप (भैस की ताजी खाल को पानी मे उबाल कर मक्खन की तरह मुलायम बनाया जाता है फिर उसे छाया में सुखा कर उसकी शलाका बनायी जाती है और तब उसके द्वारा चित्र के लिए उपयुक्त भूमि तैयार की जाती है), शंख चूर्ण, शक्कर, चन्द्रप्रभसम (श्वेत जस्ता-भस्म)

आभरण-लेप

सुवर्ण लेप (सोने की रज को पानी से गलाया जाता है फिर वज्र लेप के साथ मिलाकर चित्रों के आभरणों में उपयोग किया जाता है)

साधन चित्रों की रूप-रेखा के

काजल से रूप-रेखा बनती है और लाख वस्त्राभरण, पुष्प, मुखरागादि बना कर तब रंग विधान किया जाता है।

उत्तम चित्र के लक्षण

लसतीव च भूलम्बो विभ्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्य, सजीव इवदृश्यते।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्॥

—चित्रसूत्रम् अ० ४३

सुन्दर चित्र की व्याख्या यही है कि उसमें माधुय, ओज और सजीवता हो। साथ ही जीवित प्राणी की भांति चित्र मे भी एक प्रकार की चेतना होनी चाहिए।

निषिद्ध चित्र

कुछ श्रेणी के चित्र कई स्थानो के लिए निषिद्ध बताये गये हैं—युद्ध के, श्मसान के, करुणा के और अमगल के। ऐसे चित्र निवास स्थानो में नही लगाने चाहिए। राज्य सभा और देव मदिरो मे सभी प्रकार के चित्र रह सकते हैं।

विद्धचित्र (शबीह) के नौ स्थान

१ ऋज्वागत, २ अनृज साची ३ कृत शरीर, ४ अर्द्ध विलोचन, ५ पार्श्वागत, ६ परावृत, ७ पृष्ठागत, ८ परिवृत, ९ समानत।

रग विधान

श्याम रग	शृगार रस के लिए
श्वेत रग	हास्य रस के लिए
कबूतर का रग	करुण रस के लिए
रक्त रग	रौद्र रस के लिए
गौर रग	वीर रस के लिए
कृष्ण रग	भयानक रस के लिए
नील रग	बीभत्स रस के लिए
पीत रग	अद्भुत रस के लिए

—नाटयशास्त्र से

भारत के प्रसिद्ध कला-मण्डप

(१) मिर्जापुर से लगभग ४५ मील दूर सहबइयापथरी, मोरहनापथरी, बागापथरी और लकहट पथरी, नामकी पहाड़ियों पर लगभग सौ कलामण्डप प्रागैतिहासिक काल के हैं।

(२) गया-पटना रेलवे लाइन के बेला स्टेशन से ८ मील दूर बराबर पहाड़ी की गुफाएँ हैं। इन्हें संसार की सबसे प्राचीनतम कहा जाता है। इन गुफाओं के नाम सुदामा, लोमश, रामाश्रम, विश्वझोपड़ी, गोपी, बेदाथिक आदि हैं।

(३) काठियावाड़ के जूनागढ़ जनपद में 'खपराखोड़िया' नामकी बहुत प्राचीन गुफाएँ हैं।

(४) बंबई-पूना रेलवे लाइन पर मलवली स्टेशन से तीन चार मील पूर्व कार्लो की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। इनकी रचना बौद्ध चैत्यों के ढंग की है।

(५) आगरा-बाम्बे रोडपर नासिक से पांच मील आगे सड़क की बायी ओर त्रिरश्मि पर्वत पर २३ प्राचीन गुफाएँ है। इनमें अधिकांश चैत्य और मठ है।

(६) बंबई-पूना रेलवे के मलवली स्टेशन से आधमील पर प्रसिद्ध भाजा की गुफाएँ हैं। यहां पर १८ गुफाएँ भी अनुमानतः ईसा से दो तीन सौ वर्ष पहले की हैं।

(७) भुवनेश्वर से चार-पांच मील पश्चिम उदयगिरि खण्डगिरि और नीलगिरि की गुफाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। कुल मिलाकर ६६ गुफाएँ है। यहां की चित्रकारी में कल्पवृक्ष को अधिक महत्व दिया गया है।

(८) मध्यप्रदेश के भेलसा जिले में उदयगिरि की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। ये लगभग २० हैं। सभी गुफाएँ ब्राह्मण-धर्म की है। गुप्तकालीन शिल्पकला और चित्रकला के जीवन्त उदाहरण यहां मिलते हैं।

(९) पांचोरा-जामनेर रेलवे लाइन पर पाहुर नामक स्टेशन से सात मील दक्षिण सुप्रसिद्ध अजन्ता की गुफाएँ हैं। सहयाद्रि पर्वत की सुरम्यघाटी पर बनी हुई ये २९ गुफाएँ संसार की आश्चर्यजनक कृतियों मे एक है।

(१०) मध्यप्रदेश के धार जिले मे बाघ गुफाएँ अपना सौन्दर्य और कलात्मक वैभव लिए हुए स्थित है। बाघ नदी के ऊपर बनी हुई ९ गुफाएँ हैं। यहा की चित्रकारी में बुद्धदेव की पूजा, राजागण, सवार, भिक्षु तथा सेवकगण शिव और विष्णु के मंदिर भी हैं।

(११) मद्रास प्रदेश के महाबलीपुरम् में अनेक सुन्दर कलामण्डप हैं इनमें मन्दिर, त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गा के मंदिर भी बने हुए हैं।

(१२) औरंगाबाद मे १६ मील दूर इलोरा का सुप्रसिद्ध कलामण्डप है यहा पर १२ गुफाऐं बौद्ध धर्म की और १७ ब्राह्मण धर्म की तथा ५ जैन धर्म की हैं। ईसा की ६९७ वी शती में इन गफाओ का निर्माण हुआ हैं।

(१३) औरंगाबाद के पचक्की नामक स्थान में एक पवत पर छोटी-छोटी ९ गुफाऐं हैं, जो कला की दृष्टि मे बहुत ही सुन्दर हैं।

(१४) बंबई शहर के आसपास धारापुरी (एलेफेंटा), योगेश्वरी, कन्हेरी, मरोल तथा मण्डपेश्वर की गुफाऐं हैं।

चित्रकला संबन्धी आधुनिक ग्रन्थ

(१) **मुगल मिनिएचर्स**—राय कृष्णदास, परिचय-हुमायूं कबीर, प्रधान संपादक : कार्ल खंडेलवाला, ललित कला अकादमी न्यू दिल्ली; १९५५।

काशी निवासी श्री रायकृष्णदास एक प्रबुद्ध कला-आलोचक हैं। 'मुगल मिनिएचर्स' नामक पुस्तक मे उन्होंने संक्षेप में मुगलकालीन चित्रकला का ठीक-ठीक तथा पूर्णतया अवलोकन किया है। यह पुस्तक मुगलकालीन चित्रकला को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है।

(२) **कांगड़ा वैली पेंटिंग**—यम० यस० रंधावा : पब्लिकेशन डिवीजन सूचना एवं प्रसार मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली।

कांगड़ा घाटी से संबंधित ४० आकर्षक रंगीन चित्र इस एलबम में संग्रहीत हैं।

(३) अजाइड टु एलीफैन्टा—हीरानन्द शास्त्री

(४) जहांगीर एन्ड द जेसूट्स—सी० यच० वेने

(५) इंडियन पेंटिंग इन पंजाव हिल्स—डबल्यु० जी० आर्चर

(६) पोर्टफोलियो आफ इंडियन आर्ट—कुमारस्वामी

(७) इंडियन पेंटिंग अन्डर द मुगल्स—पर्सी ब्राउन

(८) ला पेन्ट्योर इंडियन अ लेपोक डेस ग्रैन्ड्स मोगल्स पेरिस—इवान स्टर्कबाउकिन

भारतीय चित्रकलासंबंधी ग्रंथों में इस पुस्तक का बहुत ही महत्त्व है।

(९) (अ) हिस्ट्री आफ इंडियन ऐन्ड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन

(ब) इंडियन ड्राइंग्स २ वाल्यूम लंदन (स) राजपूत पेंटिग २ वाल्यूम लंदन

(द) आर्ट्स एन्ड क्रैफ्ट्स आफ इंडिया ऐन्ड सिलोन, एडिनबर्ग—आनंद के० कुमारस्वामी।

(१०) डाई इनडिशे मिनिएट्रेन इन स्कलासे स्का:नब्रन—स्ट्रिगाउस्की।

(११) (अ) इंडियन पेंटिंग अन्डर द मुगल्स ए० डी० १५५० टु ए० डी० १७५० (आक्सफोर्ड)

(ब) इंडियन पेंटिंग—पर्सी ब्राउन।

(१२) अकबर १९३२—बिनियन लारेंस।

(१३) अकबर १९३२—विनसेन्ट स्मिथ।

(१४) (अ) पेंटिग इन इस्लाम (आक्सफोर्ड) १९२८ (ब) लीगेसी इन इस्लाम, १९३२—सर थोमस डबल्यु० अरनोल्ड।

(१५) (अ) आइने अकबरी इन इगलिश ट्रान्सलेशन (ब) अकबरनामा इन इगलिश ट्रान्सलेशन—अबुल फजल।
(१६) (अ) द कोर्ट पेंटर्स आफ द ग्रान्ड मुगल्स (आक्सफोर्ड)
(ब) जहागीर्स तुजुग-ई-जहाँगीरी (अग्रेजी अनुवाद)—विनियन लारेंस ऐन्ड मर टी० डबल्यु० आरनोल्ड।
(१७) मुसलमान पेंटिंग १२-१७ सेंचुरी, लदन—ई० ब्लाकेट।
(१८) (अ) स्टडीज इन इडियन पेंटिंग, बम्बई (ब) गुजराती पेंटिंग इन द ५१ सेंचुरी (लदन)—यन० सी० मेहता।
(१९) द रूपम्—सपादक ओ० सी० गगोली।
(२०) इडिया—रेने ग्रूञट।
(२१) द लाइट्स आफ कैनोपस आर अनवर-ई-सुहेली—जे० वी० यस० विल्किन्सन।
(२२) इडियन स्कल्पचर ऐन्ड पेंटिंग १९०८—ई० बी० हवेल।
(२३) अजन्ता फ्रेसकोज—लेडी हेरिंघम।
(२४) द बाघ केव्ज १९२७—द इडिया सोसाइटी।
(२५) इडियन ड्राइग्स १९२२ स्टैनली क्लार्क (विक्टोरिया ऐन्ड अलबर्ट म्युजियम)।
(२६) गार्डेन्स आफ द ग्रेट मुगल्स १९१३—सी० यम० विलियर्स स्टुअर्ट।
(२७) मास्टरपीसेज आफ राजपूत पेंटिंग—ओ० सी० गगोली।
(२८) प्योम्स आफ निजाम (सिटुडियो लिमिटेड) १९२८—विनियन लारेंस।
(२९) भारतीय चित्रकला—नानालाल चमनलाल मेहता।
(३०) हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इडिया ऐन्ड सिलोन—स्मिथ।
(३१) इडियन बुक पेंटिंग—केनल ऐन्ड गोइटी।
(३२) डाई बस्ट इटियन—डीरी।
(३३) इडियन आर्ट्स इन ब्रिटिश एमपायर एग्जबीशन।
(३४) इडियन स्कल्पचर ऐन्ड पेंटिंग १९२८—हवेल।
(३५) हिमालयन आर्ट—फ्रेंच।
(३६) लेस पेन्ट्योर इडियून डैन्स लीपोक मुगल सेयानविन।
(३७) ललित कला—प्रकाशक—ललित कला अकादमी नई दिल्ली।

रूप लेखा—अक २६ (रजत जयती अक) न० २ नई दिल्ली, १९५५।

कलानिधि—अक १, ३, ४ (भारत कला भवन वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका) ललित कलाओ के सबध में हिंदी में अपने तरह की अकेली पत्रिका है। इस क्षेत्र में अनुशीलन-कर्ताओ के लिए ये अक उपयोगी है।

आर्ट ऐन्ड लेटर्स—प्रकाशक इडिया सोसाइटी। इनके अतिरिक्त वर्लिंगटन मैगजीन, ब्रिटिश म्यूजियम मैंगजीन भी चित्रकला की उपयोगी पत्रिकाएँ है।

भारतीय शिल्पकला

स्थापत्य विकास का समय

भारतीय स्थापत्य कला में भारतीय संस्कृति और भारतीय-जीवन-दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य मुखरित हुआ है। सुप्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्णदास की मान्यता है कि 'मन्दिर स्थापत्य का विकास स्वतंत्र रूप से और अशोक के पहले से हुआ जान पड़ता है।' कौटलीय अर्थशास्त्र में नगर निर्माण प्रकरण में देवायतन बनाने का प्रशस्त विधान है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में श्रीकृष्ण पूजा का उल्लेख होने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन्दिर स्थापत्य कला का विकास अशोक से बहुत पूर्व चाणक्य और पाणिनि के काल से भी पूर्व हो चुका था।

हिन्दू शिल्प कला प्राचीन काल में ब्राह्मण सम्प्रदाय से प्रसिद्ध थी। बौद्ध, जैन तथा विदेशी शिल्प-कला पर ब्राह्मण सम्प्रदाय की कला का पूर्ण प्रभाव है।

हिन्दू शिल्पकला के प्रतीक

१—स्वस्तिक
२—कमल
३—अमलक
४—शंख
५—हस्ती

कालक्रम

शुंगकाल में ब्राह्मण सम्प्रदाय की स्थापत्य कला की प्रचुरता रही। इसी काल के हिन्दू शिल्प से बौद्धों ने चैत्य, स्तूप, बिहार आदि बनवाये। कुषाण-सातवाहनकाल में कुषाण वंशी राजाओं ने हिन्दू मन्दिरों के स्थान पर चैत्य, एडूक बनवाये।

भार शिव—वाकाटक काल में नाग-शैली के मंदिरों का निर्माण हुआ। वे सादे होते थे, उनके छेकन और शिखर चौकोर होते थे जो क्रमशः ऊपर की ओर सँकरे होते जाते थे।

शकों के बाद शुंगकालीन शिल्प फिर विकसित हुआ। मन्दिरों के अलंकरण में खजूर वृक्ष (नाग-चिन्ह) का अलंकरण प्रचलित हुआ। भार शिवों के काल से ही मन्दिरों के तोरण-द्वारों पर नदी-देवियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होने लगी। भूमरा और देवगढ़ के मंदिर इसी शैली के हैं।

विश्व के अद्भुत कला-स्मारक

मिस्र देश के पिरामिड—छियासठ हजार वर्ष से भी अधिक पुरातन ये पिरैमिड अति सुदृढ और ठोस हैं। ७० लाख टन मोटी मसाले की तह इसमें लगी है। ४८१ फुट का सबसे ऊँचा पिरामिड मिस्र के महान शासक खुफु की स्मृति में उसके मजार के लिए बना था। कहते है कि १ लाख दासो ने कुल २० वर्ष में इसका निर्माण किया था। इन पिरैमिड की गणना विश्व के महान् आश्चर्यो में की जाती हैं।

काबुल के झूलते बाग—पहाडी देश की राजकुमारी अमितिस पहाड से हरे-भरे स्थल के बीच रहना पसन्द करती थी। अपनी रानी की इच्छा पूर्ण करने के लिए काबुल के अंतिम बादशाह बुचादनेर ने झूलता हुआ हरा-भरा गगन-चुंबी बाग लगवाया जिसमें खजूर, सतरे, जैतून, देवदार आदि के वृक्ष, अंगूर की लताएँ, हरे-भरे पौधे, रंग बिरंगे फल लगे थे। बाग मे निर्मित नृत्यकक्ष, शयनागार, विश्राम के लिए मनोहारी कक्ष, फव्वारे, झरने, जलाशय, लतामंडप सब कुछ अद्भुत था। ३०० फुट ऊँची मीनारो पर टिके मेहराब की श्रेणी पर बना हुआ यह बाग झूलता-सा प्रतीत होता था। बाग को सींचने के लिए एक ऊँची चोटी पर एक हौज बनी थी जिसमें फुरात नदी से पानी आता था।

डायना देवी का मंदिर—यह मंदिर एशिया माइनर मे सिमिर्ना से लगभग ३५ मील दूर एफेसस नामक स्थान में अस्सी हजार फुट समतल भूमि के घेरे मे बना था। देवी की प्रतिमा बडी ही कलात्मक और अनूठी थी। इन अपूर्व प्रतिमा के सम्मान में लोक प्रसिद्ध कलाकार प्रेक्साइटलीज ने मंदिर की बलिवेदिका का निर्माण किया था। मंदिर स्वयं अत्यंत कलापूर्ण और अद्भुत था। मंदिर को गोथ लोगो ने २६२ ई० मे ध्वस्त कर दिया।

ज्यूस की अलौकिक मूर्ति—यूनानी मूर्तिकार फिडियास ने ज्यूपिटर (इसे ज्यूस भी कहते हैं) की इस प्रतिमा का निर्माण किया था। ज्यूपिटर की बैठी हुई इस मूर्ति की ऊचाई ६० फुट थी। सोने के अलंकारो से सज्जित यह मूर्ति हाथी दांत की बनी थी। सिंहासन मे हीरे मणियां बेशकीमती जवाहरात जडे थे और उस पर हाथी दांत और आबनूस की अपूर्व कारीगरी की गई थी।

कोलोसस की विशालकाय कांस्य प्रतिमा—१२ वर्ष में निर्मित २०० फुट ऊँची यह कांस्य-प्रतिमा हेलिओस की थी। लिंडुस देश का कलाकार चेस इसका सृजनकर्ता था। सब मे अद्भुत बात यह थी कि यह दीर्घकाय मूर्ति एक बंदरगाह के तट पर एक पैर से खडी थी और इसके दूसरे पैर का फैलाव बंदरगाह के दूसरे तट की ओर था। इसके नीचे से बडे जहाज गुजर सकते थे।

मासोलस का समाधि-स्थल—यह स्मारक इतना विलक्षण और कलापूर्ण था कि इसकी भी गणना विश्व के आश्चर्यजनक वस्तुओं में की गई। कैरिया की सम्राज्ञी आर्तिमिसिया ने अपने पति सम्राट मासोलस के स्मृति रूप में १४० फुट ऊँचा तथा १११ फुट के घेर का यह समाधिस्थल निर्मित कराया था। इसका निर्माण काल चतुर्थ शताब्दी ई० पू० है।

सिकंदरिया का प्रकाश-स्तंभ—फैरोस द्वीप में बंदरगाह के बीचोबीच यह प्रकाश-स्तंभ सम्राट पिटोलमी द्वारा तृतीय शताब्दी ई० पू० बनवाया गया था। कई खंड की श्वेत संगमरमर की ५०० फुट ऊँची इसकी इमारत थी। ऊपर के मंजिलों में कटी हुई खिड़कियों से रात दिन तेज प्रकाश किया जाता था जो ३० मील दूर तक दिखाई देता था। कालांतर में समुद्री तूफानों ने इसे नष्ट कर दिया।

चीन की दीवार—चीन देश की उत्तरी सीमा को घेरती हुई यह दीवार १२५९ मील लंबी, १७ फुट ६ इंच चौड़ी और १६ फुट ऊँची है।

ताजमहल—शाहंशाह शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा मुमताज बेगम की यादगार में आगरे मे यमुना के किनारे श्वेत संगमरमर का बहुमूल्य स्मारक ताज का निर्माण कराया था। सन् १६३० में यह बनना शुरू हो कर २२ वर्षो मे पूर्ण हुआ।

अन्य कला तीर्थ

१. अल्तामिरा गुफाएँ (स्पेन)—लगभग ५०००० ई० पू०।
२. मोहनजोदड़ो और हड़प्पा (भारत)—लगभग २७०० ई० पू०।
३. क्नोसस के महल (क्रीट)—२०००-१४५० ई० पू०।
४. मिकीनी स्मारक—१५०० ई० पू०।
५. प्राचीन अपोलो मूर्त्ति (यूनान)—६०० ई० पू०।
६. अजन्ता की गुफाएँ (भारत)—लगभग प्रथम शती ई० पू० से आरंभ हो कर सातवीं शती ई० तक।
७. पारथीनोन भग्नावशेष (यूनान)—मध्य पांचवी शती ई० पू०।
८. डेल्फी का दक्षिणी द्वार 'इरक्थीयम'—४०८ ई० पू०।
९. रोम में पत्थर पर उभरे हुए अनूठे चित्र (Are pacis)—प्रथम शती ई० का पूर्वार्द्ध।
१०. कोलोस्सियम (रोम)—प्रथम शती ई०।
११. पैन्थिओन मंदिर (रोम)—द्वितीय शती ई०।
१२. सेंट पाल चर्च के बड़े हाल का फ्रेम-चित्र—३८६ ई०।
१३. गाला प्लैसिडिया की कब्र (रेवेना)—मध्य छठी शती ई०।
१४. सान्ता सोफिया चर्च (कुन्स्तुन्तुनिया)—५३२-५३७ ई०।
१५. रेवेना में बने कुछ गिरजाघर और भित्ति-चित्र—मध्य शती छठी ई०।
१६. पिसा (इटली) में गिरजाघरों का वेदिका-चित्रण—ग्यारहवी-बारहवी शती ई०।
१७. पिसा (इटली) का झुका हुआ मीनार।

१८ चीनी मिट्टी का बना हुआ नानकिंग का मीनार।

१९ कम्बोडिया (हिन्द चीन) का 'अगकोर' नगर जो मन्दिरो का नगर कहा जाता था।

२० लदन के दक्षिण-पश्चिम में लगभग दस मील दूर स्थित पत्थर का घर, यह पत्थर तीन घरो की शक्ल मे पडे हैं जिनका व्यास १००, ७५ तथा ४०" हैं। यह घर किमी प्राचीन ड्रुइड मदिर के खडहर ह।

२१ कैन और वायूक्स की रोमन चच—ग्यारहवी शती ई० का उत्तरार्द्ध तथा बारहवी शती ई० का पूर्वार्द्ध।

२२ सेंट माक चच (वेनिस)—११०० ई०।

२३ चाटस चर्च—बारहवी-तेरहवी शती ई०।

२४ अलहाम्ब्रा (स्पेन)—तेरहवी-चौदहवी शती ई० ।

अतर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार

यूनानी मूर्त्तिकार

१ फिडियास
२ माइरोन
३ पोलीक्लिटस
} पेरिक्लीन युग के कलाकार, पाचवी शती ई० पू०

४ स्कोपास
५ प्रेक्साइटलीज
६ लाइमीयस
} चौथी शती ई० पू०

इटलियन कलाकार

सियाना ग्रुप

१ दुच्चिओ	—१२५५-१३१९
२ सिमोने मार्तिनी	—१२८३-१३४४
३ पियनो	—१२४०-१३०१
४ एम्ब्रोजिओ लोरेन्जेत्ती	
५ ससेत्ता	—१३९२-१४५०

फ्लोरेनटाइन ग्रुप

१ चिमाबुए	—१२४०-१३०२
२ जियोत्तो	—१२६६-१३३९
३ आन्द्रिया ओरकाग्ना	—१३०८-१३६८
४ फ्रा फिलिप्पो लिप्पी	—१४०६-१४६९
५ पाओला उच्चेलो	—१३९७-१४७५

६. मासाच्चिओ —१४०१-१४२८
७. पियरो देला फ्रान्सेस्का —१४१६-१४९२
८. सान्द्रो बोत्तीचेल्ली —१४४७-१५१०

रेनाँसाँ युगीन फ्लोरेनटाइन कलाकार

९. लियोनार्दो दा विंची (महान् मूर्तिकार, चित्रकार, शिल्पी) —१४५२-१५१९
१०. घिरलान्दिओ —१४४९-१४९४
११. माइकेल एंजलो (चित्रकार, मूर्त्तिकार, तथा भवन शिल्पी) —१४७५-१५६४
१२. रैफेल सान्जिओ —१४८३-१५२४
१३. पेरूजिनो —१४४६-१५२३
१४. लोरेन्जो घिबर्टी (मूर्तिकार और चित्रकार) —१३७८-१४५५

वेनेटियन ग्रुप

१५. ब्रूनेलेस्की (वास्तुकार मूर्त्तिकार) —१३७७-१४४६
१६. दोनातेल्लो (मूर्तिकार) —१३८६-१४६६
१७. ल्यूका देल्ला रोबिया (मूर्त्तिकार) —१४००-१४८२
१८. निकोलो पिसानो (मूर्त्तिकार) —१२२५-१२७८

आन्द्रिया मान्तेन्या —१४३१-१५०६
जेकोपो बेल्लिनी —१४००-१४७१
फ्रांसेस्को फ्रांसिया —१४५०-१५१७
कोरेज्जिओ —१४९४-१५३४
जेन्ताइल दा फेब्रिआनो —१४२९-१५०७
जिओवान्नी बेल्लिनी —१४२८-१५१६
वेरोच्चिओ (मूर्त्तिकार) —१४७७-१५१०
जिओर्जिओन —१४७८-१५११
टिशियन —१४८२-१५७६
तिन्तोरेत्तो —१५१८-१५९४
पॉल वेरोनीज —१५२८-१५८८
लोरेन्जो लोत्तो —१४८०-१५५६
मोरोनी —१५२०-१५७८
कैनालेत्तो —१६९७-१७६८
तिपोलो —१६९६-१७७०

जान स्टीन	—१६२६-१६७९
पीटर ड हूख	—१६२९-१६७७
जान वर्मीयर ऑफ डेल्फ्ट	—१६३२-१६७५
वान डेर नीट	—१६०३-१६७७
जान वान गोयन	—१५९६-१६५६
जेक्ब वान रुसडेल	—१६२८-१६८२
एलवर्ट क्विप	—१६२०-१६९१
मेण्डर्ट होब्बीमा	—१६३८-१७०९

आधुनिक डच चित्रकार

जोजेफ इजराइल्स	—१८२४-१९११
हेनड्रिक विलेम मेसडाग	—१८३१-१९१५
विलेम रोलोफ्स	—१८२२-१८९७
एन्टन माव	—१८३८-१८८८
जेम्स मेरिस	—१८३७-१८९९
मैथ्यू मेरिस	—१८३९-१९१७

फ्रांस

निकोलस पूसाँ (लैंडस्केप पेंटिंग का प्रवत्तक)—१५९४-१६६५

क्लादे लोराँ	—१६००-१६८२
वात्तो	—१६८३-१७२१
फ्रैंकॉस बूशे	—१७०३-१७७०
साइमन शार्दे	—१६९९-१७७९

फ्रेंच क्रान्तियुगीन कलाकार

लुई देविद	—१७४८-१८२५
इगरेस	—१७८०-१८६७

गेरिकाल्त (फ्रांस में रूमानी कला का प्रवर्त्तक)—१७९१-१८२४

देलाक्रो	—१७९८-१८६३
कोरोत	—१७९६-१८७५

रूसो (बारबिजन स्कूल का सुप्रसिद्ध कलाकार)—१८१२-१८६७

दाविग्नी	—१८१७-१८७८
दामिए	—१८१२-१८८९

फ्लाण्डर्स

ह्यू बर्ट वान आइक	—१३६५-१४२६
जान वान आइक	—१३८५-१४४१
रोजर वान डेर वेडन	—१४००-१४६४
हान्ज मेमलिंक	—१४३०-१५०४
क्विटेन मैसिस	—१४६६-१५३०
माबूज	—१४७२-१५३५
पीटर ब्रूगेल	—१५२५-१५६९
पीटर पॉल र्‍यूबेन्स	—१५७७-१६४०
जान वान डाइक	—१५९९-१६४१
सर पीटर लेली सर गॉडफ्रे नेलर	वान डाइक के अनुयायी और पोर्ट्रेट पेंटर

जर्मनी

मार्टिन शोन्गार	—१४४५-१४९१
एलबर्ट डयोरर	—१४७१-१५२८
मैथिआस ग्रून वाल्ड	—१४८३-१५३०
ल्यूकास क्रांक	—१४७२-१५५३
होलबाइन (चित्रकार & काष्ठशिल्पी)	—१४९७-१५४३

स्पेन

कैरावाज्जिओ (निआपोलिटन स्कूल का इटालियन कलाकार)—१५६९-१६०९

जोजेफ रिबेरा	—१५८८-१६५६
एल ग्रेको (यूनान का निवासी था)	—१५४५-१६१४
वेलाजकेज	—१५९९-१६६०
म्युरिल्लो	—१६१७-१६८२
गोया	—१७४६-१८२८

हॉलैण्ड (डच)

फ्रांज हाल्स —१५८०-१६६६

रेम्ब्राण्ट (महान् चित्रकार, पोर्ट्रेट-पेंटर तथा धातु-शिल्पी)—१६०७-१६६९

गेरार्ड डाउ	—१६१३-१६७५
गेरार्ड टेरबोर्ख	—१६१७-१६८१

दुप्रे } (पशु और फ्रांसीसी चरागाहों चित्रकार)—१८१०-१८६५
त्रॉयन }
मिले (कृषकों, ग्राम्य दृश्यों का चित्रकार)—१८१४-१८७५
इयूजीन बोदाँ (समुद्री सौंदय का दिग्दर्शक)—१८२५-१८९८

यथार्थवादी और प्रभाववादी फ्रांसीसी कलाकार

गुस्ताव कूर्बे	—१८१९-१८७७
माने	—१८३२-१८८३
मोने	—१८४०-१९२७
पिस्सारो	—१८३०-१९०३
ऑगस्ते रेनॉर	—१८४१-१९१९
एदगर देगा	—१८३४-१९१७
जार्जेज सुरा	—१८५९-१८९१
जाँ वाप्तिस्ते पिगाल	—१७१४-१७८५
ऑगस्ते रोदाँ (प्रभाववादी मूर्त्तिकार)	—१८४०-१९१७

उत्तर प्रभाववाद, घनाकृतिवाद तथा भविष्यत्‌वाद के प्रवर्त्तक फ्रांसीसी चित्रकार

पॉल सेजाँ	—१८३९-१९०६
वैन गाफ	—१८३५-१८९०
पॉल गोगँ	—१८४८-१९०३
हेनरी मातीस	—१८६९-१९५४
पाब्लो पिकासो	—१८८१

इंगलैण्ड

विलियम हॉगार्थ	—१६९७-१७६४
रिचर्ड विल्सन	—१७१४-१७८२
जोशुआ रेनोल्ड्स	—१७२३-१७९२
गेन्स बोरो	—१७२७-१७८८
जार्ज रोमनी	—१७३४-१८०२
सर हेनरी रेबर्न	—१७५६-१८२३

कला, संस्कृति, पुरातत्त्वसम्बंधी ग्रन्थ-सूची

१. (अ) द स्टोन एज इन इन्डिया—पी० टी० श्रीनिवास आयंगर।

२. (अ) ऐनसिएन्ट इण्डिया—यस० कृष्णा स्वामी आयंगर।

३. (अ) कैटलाग आफ द क्वायन्स आफ द गुप्ता डायनेस्टी (ब) कैटलाग आफ इंडियन क्वायन्स इन द ब्रिटिश म्युजियम (स) कैटलाग आफ क्वायन्स इन द इण्डियन म्युजियम (द) इण्डियन क्वायन्स—जॉन ऐवलेन।

४. (क) हिन्दू-सुमेर-संस्कृति (मराठी)—दाजी यन० आप्टे।

५. (अ) द कावेरी, द मउखैरिस ऐन्ड द संगम एज—टी० जी० आरगाम्यूथन।

६. (अ) मैन्युअल आफ ओरिअन्टल ऐन्टीक्विटीज—ई० बेबीलॉय।

७. (अ) प्री-आर्यन ऐन्ड प्री-ड्रेबिडियन—डा० प्रबोधचन्द्र बागची।

८. (अ) द ओरिजिन आफ द बंगाली स्क्रिप्ट (ब) प्राचीन मुद्रा—आर० डी० बनर्जी।

९. (अ) ऐन्टीक्विटीज आफ इण्डिया—यल० डी० बारनेट।

१०. इन्सक्रिप्शन्स ड्यु कैम्बोज—यम० आगस्टे बार्थ।

११. (अ) भारहुत इन्सक्रिप्शन्स (बी) ओल्ड ब्राह्मी इन्सक्रिप्शन्स इन द उदयगिरि एन्ड खन्डगिरि केव्ज—बेनीमाधव बरुआ एन्ड कुमार गंगानन्द सिंह।

१२. (अ) बरीड ट्रेजर्स आफ चीनीज टुर्किस्तान—अन्ना बारवेल।

१३. (अ) लेस इन्सक्रिप्शन्स संस्क्रट्स ड्यु कैम्बोज—पी० यम० बरजेन।

१४. (अ) ला पैलेइस ड' अंओर वत (ब) ल' आर्कीटेक्चर हिन्डोल—डी० बेली।

१५. (अ) इन्सक्रिप्शन्स आफ अशोक (ब) लेक्चर्स इन ऐनसिएन्ट इण्डियन न्युमिसमैटिक्स—डी० आर० भंडारकर।

१६. (अ) इनकॉनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट ऐन्ड ब्राह्मनिकल स्कलप्चर्स इन द डेक्का म्युजियम—ननिनी कांत भट्टासाली एम० ए०।

१७. द इंडियन बुद्धिस्ट इनकॉनोग्राफी—बेनीतोष भट्टाचार्य।

१८. (अ) लिटरेरी रिमेन्स आफ डा० भाऊ दा जी—भाऊ दा जी।

१९. (अ) कैटलॉग्स आफ क्वायन्स इन द इण्डियन म्युजियम—बी० बी० विद्याविनोद।

२०. (अ) इग्जाम्पुल्स आफ इण्डियन स्कल्पचर ऐट द ब्रिटिश म्युजियम—बिनियन लॉरेन्स।

२१. (अ) मान इन्सक्रिप्शन्स—सी० ओ० ब्लैगडेन।

२२. (अ) सप्लीमेंटरी कैटलॉग आफ द आर्केलाजिकल कलेक्शन्स ऑफ द इंडियन म्युजियम—थोमस ब्लाच।

२३ (अ) डे प्रवनान टेम्पुल्स—यफ० डी० के० बाँश।

२४ (अ) द इडियन कॉलोनी आफ स्याम—फणिन्द्रनाथ वोस।

२५ (अ) स्किथियन आर्ट—डा० ग्रेगरी बारोवका।

२६ (अ) खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन्स डिसकवर्ड बाई सर एन० ए० स्टेइन—ए० एम० व्वायर।

२७ (अ) कैटलॉग आफ प्री-हिस्टारिक ऐन्टीक्यूटीज इन द इण्डियन म्यूजियम—ए० कागिन ब्राउन।

२८ (अ) ऐन अकाउन्ट आफ द प्रिमिटिव ट्राइन्स ऐन्ड मानूमेन्ट्स आफ द नीलगिरीस—जे० डबल्यू० ब्रीक्स।

२९ (अ) कैटलॉग आफ द क्वायन्स इन द प्राविन्सियल म्युजियम आफ लखनऊ—सी० जे० ब्राउन।

३० इण्डियन पेन्टिग—पर्सी ब्राउन।

३१ (अ) इनडिरा पैलिऑग्रफाइज (ब) भगवानलाल इन्द्र जीज २३ इन्सक्रिप्शन्स फ्राम नैपाल—जार्ज वहलर।

३२ (अ) द एलीमेन्ट्स आफ साउथ इण्डियन पैलिआग्राफी—ए० सी० बरनेट।

३३ (अ) द बुद्धिस्ट स्तूपाज आफ अमरावती एन्ड जग्यपीत (ब) द एनसियेन्ट मानूमेन्ट्स टेम्पुल्स एन्ड स्करपचर्स आफ इण्डिया (स) केव टेम्पुल्स आफ इण्डिया (द) अ गाइड टु एल्युरा केव टेम्पुल्स (ई) दिगवर जैन इनकानोग्रॉफी—जेम्स बर्जेस।

३४ (अ) हिस्ट्री आफ ऐनसिएन्ट ज्योग्राफी—ई० यच० वनवरी।

३५ (अ) रिपोर्ट्स आन द इन्सक्रिप्शनल टूर्स थ्रू सुमात्रा एट्सेट्रा—डा० पी० वी० वैन स्टीन, कैलेनफेल्स।

३६ (अ) द रुइन्ड सीटीज आफ सीलोन—डबल्यु हेनरी केव।

३७ (अ) इण्डिया एन्ड सेन्ट्रल एशिया—डा० निरजन प्रसाद चक्रवर्ती एम० ए०।

३८ (अ) इडियन कल्चर इन जावा ऐन्ड सुमात्रा—डा० विजन राज चटर्जी।

३९ (अ) ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द मेडिकल इडियन स्कल्पचर—के० दे बी० कार्डरिंगटन।

४० (अ) मैन्युअल डी आर्केलाजी ओरिअन्टेल (ब) लेस ऐन्टीक्विट्स ओरिएनटेल्स (स) ल' आर्ट दे ल' एमी ओरिअन्टेल ऐनसिएन—डा० जाज कान्टेन्य।

४१ (अ) हिस्ट्री आफ इडियन ऐन्ड इडोनेशियन आर्ट (ब) विवलिओ ग्राफीज आफ इडियन आर्ट (स) कैटलॉग आफ इडियन कलेक्शन्स इन द म्यूजियम आफ फाइन आर्ट्स वासटन—ए० के० कुमारस्वामी।

४२ (अ) द आर्कीटेक्चरल ऐन्टीक्विटीज आफ वेस्टर्न इडिया (ब) ऐन्टीक्विटीज आफ सिंध—हेनरी काउसेन्स।

४३ (अ) द ऐनसिएन्ट ज्योग्राफी आफ इडिया (ब) क्वायन्स आफ ऐनसिएन्ट इडिया (स) क्वायन्स आफ इडो—सिथियन्स (द) द भिल्सा टाप्स (इ) वुक आफ इडियन

एराज (ई) कारपस इन्सक्रिप्शनस इनडिकेरम (उ) लदाक (ए) इग्जाम्पुल आफ इंडियन स्कल्पचर ऐट द ब्रिटिश म्युजियम (ऐ) क्वायन्स आफ मेडिकल इंडिया —सर अलेग्जेंडर कनिंघम।

४४. (अ) रिसर्चेस आन ऐनसिएन्ट एन्ड माडर्न इंडिया—क्यु० क्राउफोर्ड।

४५. (अ) कैटलाग आफ द म्युजियम आफ आर्केलॉजी ऐट सॉची (ब) भूंजा डाइनेस्टी आफ मयूर भंज ऐन्ड देयर ऐनसिएन्ट कैपिटल—रामप्रसाद चंदा।

४६. (अ) द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐनसिएन्ट ऐन्ड मेडिवल इंडिया—नन्दूलाल डे एम० ए० बी० यल०।

४७. (अ) अ गाइड टु खजुराहो—बी० यल० धामा।

४८. (अ) सेलेक्शन्स फ्राम संस्कृत इन्सक्रिप्शन्स—डी० वी० डिसकैलकर।

४९. (अ) टाउन प्लैनिंग इन ऐनसिएन्ट इंडिया—विनोद बिहारी दत्त।

५०. (अ) क्वायन्स आफ सदर्न इंडिया—डवल्यू० इलियट।

५१. (अ) हिस्ट्री आफ इंडियन ऐन्ड इस्टर्न आर्कीटेक्चर (ब) केव टेम्पुल्स आफ इंडिया (स) आर्केलॉजी इन इडिया (द) इलस्ट्रेशन्स आफ द राक-कूट टेम्पुल्स आफ इंडिया (य) पिक्चरस्क् इलस्ट्रेशन्स आफ ऐनसिएन्ट आर्कीटेक्चर इन हिन्दुस्तान—जेम्स फर्ग्यूसन।

५२. (अ) डाइ कन्स्ट इंडियन्स, चाइनीज एन्ड जापान्स—ओटोफिशर।

५३. (अ) नोट्स डी' इपीग्रैफी इन्डोचाइन्वायज (ब) यल' ओरिजिन डी' अंकोर—लुइ फिनॉट।

५४. (अ) ला ज्योग्रॉफी ऐनसियेन डू गंधा (ब) द बिगनिंग्स आफ बुद्धिस्ट आर्ट ऐन्ड अदर एसेज (स) एट्यूड सूर यल' इकानोग्रॉफी बाउद्धिक डी यल' इन्डे—ए० फाउचर।

५५. ऐन्टीक्विटीज आफ इंडियन टिबट—ए० यच० फ्रांक।

५६. (अ) इंडियन आर्कीटेक्चर (ब) अ कलेक्शन्स आफ इंडियन ब्रासेज ऐन्ड ब्रोन्जे—आर्धेंद्र कुमार गंगोली।

५७. (अ) ऐन्टीक्विटीज बुद्धिक्स डे बैमियन—ए० गाडर्ड।

५८. (अ) डाक्यूमेन्ट्स फ्राम सरविर ए' यल' एटयूड डी' अजन्ता एटसेट्रा—विक्टर गोलोन्यु।

५९. (अ) अजन्ता केव्स—ग्रिफिक्स।

६०. (अ) त्यैन्ड्री बोरोन्युडुर इन सेन्ट्रल जावा—ग्रोनेमन।

६१. (अ) आर्ट्स ऐन्ड आर्केलॉजी ख्मेर्स—जार्ज आसलियर।

६२. (अ) बुद्धिटिश कन्स्ट इन इनडियेन—ए० ग्रनवेडेल।

६३. (अ) गाइड कैटलॉग लेस कलेक्शन्स बौद्धिक्स—जे० हैकिन।

६४. (अ) अर्टिकिल्स आन इन्सक्रिप्शन्स इन इन्डियन ऐन्टीक्वैरी ऐन्ड अदर जर्नल्स—आर० आर० हल्दर।

११३ (अ) कैटलॉग आफ द क्वायन्स आफ द आध्र डाइनेस्टी (व) इडियन क्वायन्स—ई० जे० रैंवसन।

११४ (अ) कैटलॉग आफ द प्री हिस्टारिक ऐन्टीक्विटीज़ फ्राम ऐडीचैनेल्यूर ऐन्ड पेरमवेर (व) चालुवान आर्कीटेक्चर-अलेक्स रिआ।

११५ (अ) मैसूर ऐन्ड कुर्ग फ्राम द इन्सक्रिप्शन्स —लेविस राइस।

११६ (अ) कैटलॉग आफ द म्यूजियम आफ आर्कलॉजी ऐट सारनाथ—दयाराम आ० बी० साह्नी।

११७ (अ) लिस्ट आफ इन्सक्रिप्शन्स इन द म्युजियम आफ द वरेन्द्र रिसच सोसाइटी, राजशाही (व) लिस्ट आफ गोल्ड क्वायन्स इन द वरेन्द्र रिसच सोसाइटी म्युजियम—वीरवधु सान्याल।

११८ (अ) अर्ली इन्सक्रिप्शन्स आफ विहार ऐन्ड उडीसा (व) ऐन्टीक्विटीज आफ विहार —अनन्तप्रसाद वनर्जी शास्त्री।

११९ (अ) प्री-हिस्टारिक ऐन्टीक्विटीज आफ द आयन पीपुल—जोवोन्स स्कीदर।

१२० (अ) जुल्फ जातक रिलीफ्स आन आनन्दा टेम्पुल जू पगान—काल सीडेनस्टकर।

१२१ (अ) खैरोस्की इन्सक्रिप्शन्स डिसक्वड वाइ सर एम० ए० हटीन—सेनाट एमाइल।

१२२ (अ) द अमरावती टोप—रावट सीवेल।

१२३ (अ) साउथ इडियन इमेनेज़ आफ गाड्स ऐन्ड गाडेसेज़—यच० कृष्ण शास्त्री।

१२४ (अ) हिस्ट्री आफ फाइन आट इन इडिया ऐन्ड सिलोन (व) कैटलॉग आफ क्वायन्स इन द इडियन म्युजियम, कलकत्ता (स) द जैनस्तूप ऐन्ड अदर ऐन्टीक्विटीज आफ मथुरा—ए० विनसेन्ट स्मिथ।

१२५ (अ) आर्कीटेक्चरल रिमेन्स—अनिरुद्ध पुर—जे० जी० स्मिथर।

१२६ (अ) हैन्ड वुक टु द स्वल्पचर्स इन द पेशावर म्युजियम—डी० ब्रेनर्ड स्पूनर।

१२७ (अ) इनरमोस्ट एशिया (व) सेरिन्डिया-डीटेल्ड रिपोर्ट आफ एक्सप्लोरेशन्स इन सेन्ट्रल ऐशिया ऐन्ड वेस्टन मास्ट चाइना—सर आडरेल स्टीन।

१२८ (अ) इटियेन इन डेन ग्रिचिशेन पैपिरी—ओटो स्तीन।

१२९ (अ) प्रेलीमिनरी नोटस आन सम अर्ली हिन्दू पैंटिंग्स ऐट एलोरा—डी० बी० थाम्पसन।

१३० (अ) एन्थ्रोपालोजी—ई० थस्टन।

१३१ (अ) ले स्वल्पचर दे मथुरा (व) कैटलॉग आफ द डेल्ही म्युजियम आफ आर्कलाजी (स) द यूप इनसक्रिप्शन्स आफ किंग मुलावर्मन फ्राम कोइटी, ईस्ट वोर्नियो (द) एन्टीक्विटीज आफ चम्बा स्टेट —जे० फ० वोगल।

१३२ (अ) इन्डोग्रीक क्वायन्स, लाहौर म्युजियम कटलॉग—आर० बी० व्हाइटहेड।

१३३ (अ) एरिआना ऐन्टीकुआ—यच० यच० विल्सन।

१३४ (अ) अशोकन टेक्स्ट ऐन्ड ग्लासरी—ए० सी० उलनर।

पुरातत्त्वविज्ञान संबंधी पत्रिकाएँ

१. ऐनुअल बिनलिआग्राफी आफ इंडियन आर्केलॉजी, कर्न इन्स्टीच्यूट, लीडन, हालैण्ड।
२. ऐक्टा ओरिएनटेलिया, रायल लाइब्रेरी, कोपेनहेगेन, डेनमार्क।
३. बिबलिओग्राफी बुद्धिक, पाल ज्युथनर, १३ र्‌यु जंकब, पेरिस (६)
४. बेलुटिन आफ द म्युजियम आफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन, अमेरिका।.
५. ईस्टर्न आर्ट, फिलाडेलफिआ, अमेरिका।
६. इंडियन आर्ट एन्ड लेटर्स, इंडिया सोसाइटी, लंदन यस० डबल्यू०।
७. जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐन्ड आयरलैण्ड, लंदन डबल्यू० १।
८. आस्टेसिऐटिश जीत्सक्रिफ्ट, फर्डीनंद लेसिंग, बर्लिन, लेपजिग।
९. रूपम, ७, ओल्ड पोस्ट आफिस स्ट्रीट, कलकत्ता।
१०. ऐनल्स आफ द भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना।
११. ऐनुअल रिपोर्ट आफ द आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, गवर्नमेन्ट आफ इंडिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, ३, गवर्नमेंट प्लेस, कलकत्ता।
१२. ऐनुअल रिपोर्ट आफ द आर्केलाजिकल डिपार्टमेंट आफ द निज़ाम्स डोमिनियन, हैदराबाद (दकन)।
१३. ऐनुअल रिपोर्ट आफ द आर्केलाजिकल डिपार्टमेंट आफ मैसूर स्टेट।
१४. ऐनुअल रिपोर्ट आन साउथ इंडियन इपीग्रैफी, सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, कलकत्ता।
१५. ऐनुअल रिपोर्ट आफ द वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही।
१६. इपीग्रैफिया इंडिका, सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, कलकत्ता।
१७. इंडियन ऐन्टीक्वैटी, ब्रिटिश इंडियन प्रेस, मजगांव, बम्बई।
१८. इंडियन हिस्टारियल क्वार्टर्ली ओरिअन्टल प्रेस, कलकत्ता।
१९. जर्नल आफ द आंध्र रिसर्च सोसाइटी, राजामंद्री, मद्रास।
२०. जर्नल आफ बी० ऐन्ड ओ० रिसर्च सोसाइटी, पटना।
२१. जर्नल आफ बाम्बे हिस्टारिकल सोसाइटी एक्सचेंज बिल्डिंग्स स्प्राट रोड, बम्बई।
२२. जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, नाडू स्ट्रीट, मिलापोर, मद्रास।
२३. जर्नल आफ द ओरिअन्टल रिसर्च, लज, पिलापोर, मद्रास।
२४. जर्नल आफ द अमेरिकन ओरिअन्टल सोसाइटी, येल लाइब्रेरी, न्यू हैवेनकान, यू० यस० ए०।
२५. मेम्वायर आफ द आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, दिल्ली।
२६. जर्नल आफ द पंजाव हिस्टारिकल सोसाइटी, लाहौर।
२७. जर्नल आफ द यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
२८. जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ५, पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता।

२९ जर्नल आफ द रायल ऐशियाटिक सोसाइटी, वाम्बे ब्राच, टाउन हाल, बम्बई।
३० जनल आफ द रायल ऐशियाटिक सोसाइटी सिलोन ब्राच, कोलम्बो।
३१ इपीग्रैफिआ जीलैनिका, कोलवो (सोलोन)।
३२ द्जावा, जावा इन्स्टीच्यूट, बटेविआ।
३३ आर्कीव ओरिएन्टेली, ओरिअन्टल इन्स्टीच्यूट, प्राग, जेकोस्लोवाकिआ।
३४ जर्नल एसिऐटिक, पेरिस।
३५ जर्नल आफ कामा ओरिअन्टल इन्स्टीच्यूट, बम्बई।
३६ सीलोन ऐन्टीक्वैरी, कोलम्बो।
३७ केरल सोसाइटी पेपर्स, त्रिवेन्द्रम (ट्रावरकोर)।
३८ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी।
३९ क्वाटर्ली जर्नल आफ द माइथिक सोसाइटी, बगलोर।
४० तारीख, हैदराबाद (दक्खिन)।
४१ ऐनक्रोपॉस सेन्ट गैवरिअल माडलिन, नियर वियना, आस्ट्रिया।
४२ वुलेटिन आफ द, स्कूल आफ ओरिअन्टल स्टडीज, लदन।
४३ द वक्यो विजास्तू टोकियो (जापान)।
४४ इपीग्रैफिआ विरवका, रगून (वर्मा)।
४५ इपीग्रैफिआ इन्डो-मुमलेमिका, गवर्नमेंट आफ इडिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्राच, कलकत्ता।
४६ इडियन हिस्टारिकल रेकार्डस कमीशन, सेन्ट्रल पब्लिकेशन डिपो, कलकत्ता।
४७ जर्नल आफ द वर्मा रिसर्च सोसाइटी रगून।
४८ जर्नल डेस सैवेन्ट्स, पेरिस।
४९ जर्नल आफ द सोसाइटी आफ ओरिअन्टल रिसर्च, न्यूयार्क (अमेरिका)।
५० रीव्यू न्यूमिस मैटीक, पेरिस।

वास्तुकला के आचार्य

दक्षिणी परम्परा के अनुसार

१ ब्रह्मा	६ काश्यप	११ नारद
२ त्वष्ट्रा	७ अगस्त्य	१२ प्रह्लाद
३ मय	८ शुक्र	१३ शक्र
४ मातङ्ग	९ पराशर	१४ वृहस्पति
५ भृगु	१० नग्नजित्	१५ मानसार

उत्तरी परम्परा के अनुसार

१ शम्भु	३ अत्रि	५ पराशर	७ विश्वकर्मा
२ गर्ग	४ वसिष्ठ	६ ब्रहद्रथ	८ वासुदेव

वास्तु शिल्प की शैलियाँ

१ उत्तरी (नागर)	३ वाघाट	५ लाट
२ दक्षिणी (द्राविड़)	४ भूमिज	६ वेसर

वास्तु शिल्प संबंधी वाङ्मय

दक्षिणी परम्परा में—

१ विश्वकर्मीय शिल्प	४ काश्यपशिल्प	७ शिल्पसंग्रह
२ मयमत	५ अगस्त्यकलाधिकार	८ शिल्परत्न
३ मानसार	६ सनत्कुमार वास्तुशास्त्र	९ चित्रलक्षण

उत्तरी परम्परा में—

१ विश्वकर्मप्रकाश	३ समरांगणसूत्रधार	५ सूत्रधार मण्डन
२ वास्तुरत्नावली	४ वास्तुप्रदीप	

वास्तुकला का कलाकार वर्ग

१ स्थपति—प्रधान वास्तुशास्त्री, समस्त शास्त्रों और कलाओं में प्रवीण। यज्ञों के वास्तुकार्य में महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी। विश्वकर्मा और मय—ये दो स्थपति प्राचीन भारत में प्रसिद्ध थे।

२ सूत्रग्राहिन्—स्थपति के समान सर्वविद्याविशारद। यह रेखाविद् (इंजीनियर) होता था। सूत्रज्ञ, सूत्रग्राही भी इसके नाम हैं और यह तक्षक तथा वार्धकि का गुरु कहा जाता रहा है।

३ वार्धकि—शास्त्रज्ञ, वेदज्ञ होने के साथ ही यह अपने कला-क्षेत्र (चित्रकला) का विशेषज्ञ होता था। इसे भवन कला, मूर्तिकला के रेखा-चित्रों की उद्‌भावना करनी पड़ती थी। यह तक्षा का गुरु माना जाता था।

४ तक्षक—विभिन्न कलाओं और शास्त्रों के ज्ञान के साथ ही यह काष्ठ-कौशल का विशेषज्ञ होता था।

विश्व के प्रथम शिल्पी विश्वकर्मा के उत्तराधिकारी

१ मालाकार (माली)
२ कर्मकार (लोहार)
३ शंखकार (शंख बनाने वाला)
४ कुविन्दक (जुलाहा)
५ कुम्भकार (कुम्हार)
६ कांस्यकार (ठठेरा)
७ सूत्रधार—राज, बढ़ई
८ चित्रकार
९ स्वर्णकार (सोनार)

स्थापत्य कला के आठ अंग

१ वास्तुपुरुष—रेखा-चित्र एवं पद-रचना (प्लानिंग)

२ पुर-निवेश—द्वारकर्म, रथ्या विभाग, प्राकार-निवेश, आट्टलक-निवेश, प्रतोली-विनिवेश, स्थान-विभाग।

३ प्रासाद—मन्दिर-निर्माण आदि।

४ ध्वजोच्छ्रिति

५ राजवेश्मभवन—सभा, अश्वशाला, गजशाला आदि।

६ जन-भवन—जाति एवं वर्ण के अनुकूल।

७ यज्ञवेदी—यजमानशाला, कोटि होमविधि।

८ राजशिविर-विनिवेश—दुर्ग-रचना।

स्थापत्य का मान विभाजन

८ रेणु	=	१ बालाग्र
८ बालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षाएँ	=	१ यूका
८ यूकायें	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ ज्येष्ठ अंगुल
७ यवमध्य	=	१ मध्यम अंगुल
६ यवमध्य	=	१ कनिष्ठ अंगुल
२४ अंगुल	=	१ हस्त

वास्तु कोश

स्थापक वर्ग

ब्रह्मा—वास्तु-स्रष्टा
विश्वकर्मा—प्रथम स्थपति
पृथु—प्रथमवास्तु संरक्षक सम्राट्
महासभा—आधार—पृथ्वी
विजय, जय, सिद्धार्थ, अपराजित—विश्वकर्मा के मानसपुत्र

स्थपति वर्ग

स्थपति, तक्षक, वार्धकि, सूत्रग्राहिन्

स्थापत्यवर्ग

अष्टांग स्थापत्य

वास्तुवर्ग

वास्तुशास्त्र, वास्तुविद्या, वास्तुकला, वास्तु-पद, वास्तुपद-विन्यास, वास्तुपद-देवता, वास्तुपुरुष, वास्तुपुरुषांगदेवता, वास्तुदेवता निघण्टु, वास्तुसंस्थान-मातृका, वास्तु परपराएँ।

वास्तु ग्रन्थ

१ ऋग्वेद
२ अथर्ववेद
३ शतपथब्राह्मण
४ अंशुमद्भेदागम
५ कामिकागम
६ कर्णागम
७ वैखानसागम
८ सुप्रभेदागम
८ अग्नि पुराण
९ गरुड़ पुराण
१० नारद पुराण
११ ब्रह्माण्ड पुराण

१२ भविष्य पुराण
१३ मत्स्य पुराण
१४ लिग पुराण
१५ वायु पुराण
१६ स्कन्द पुराण
१७ देवी पुराण
१८ कालिका पुराण
१९ शैवागम
२० वैष्णव पाञ्चरात्र
२१ अत्रिसहिता
२२ दीप्तितंत्र
२३ तन्त्रसमुच्चय
२४ ईशान शिवगुर देव पद्धति
२५ हयशीर्ष तन्त्र
२६ त्रैलोक्य मोहन तन्त्र
२७ वैभव तन्त्र
२८ पौष्कर तन्त्र
२९ प्राह्लाद तन्त्र
३० गार्ग्य तन्त्र
३१ गालव तन्त्र
३२ नारदीय तन्त्र
३३ सप्रश्न तन्त्र
३४ तार्क्ष्य तन्त्र
३५ नारायणिक तन्त्र
३६ आत्रेय तन्त्र
३७ नरसिंह तन्त्र
३८ शाण्डिल्य तन्त्र
३९ वैश्वक तन्त्र
४० सात्य तन्त्र
४१ सौनक तन्त्र
४२ कापिल तन्त्र
४३ वासिष्ठ तन्त्र
४४ ज्ञानसागर तन्त्र
४५ स्वायम्भुव तन्त्र
४६ आनन्द तन्त्र
४७ आसण तन्त्र
४८ बौद्धायन तन्त्र
४९ आर्ष तन्त्र
५० बृहत्सहिता
५१ चुल्ल वग्ग
५२ महावग्ग
५३ पासाद मगलम्
५४ आश्वलायन गृह्यसूत्र
५५ गोभिल सूत्र
५६ पारस्कर गृह्यसूत्र
५७ विनय पिटक
५८ अगस्त्यसकलाधिकार
५९ अश्वशास्त्र
६० अपराजित प्रच्छा
६१ अपराजित वास्तुशास्त्र
६२ अशुमत
६३ अशुमान कल्प
६४ आगारविनोद
६५ आय तत्त्व
६६ आयादिलक्षण
६७ आरामादि प्रतिष्ठा पद्धति
६८ अभिलषिताथ चिंतामणि
६९ कूपादि जलस्थान लक्षण
७० कौतुक लक्षण
७१ क्रिया सग्रह् पचाशिका
७२ क्षीराणव
७३ क्षेत्रनिर्माण विधि
७४ गार्ग्यसहिता
७५ गृहनिरूपण सक्षेप
७६ गृह निर्माण विधि
७७ गृह-पीठिका

७८ गृह्-वास्तु-प्रदीप
७९ गोपुर-विमानादि लक्षण
८० ग्राम-निर्णय
८१ घटोत्सर्गसूचनिका
८२ चक्रशास्त्र
८३ चित्रकर्म शिल्पशास्त्र
८४ चित्रलक्षण
८५ चित्रसूत्र
८६ जयमाधवमानसोल्लास
८७ जालार्गल
८८ ज्ञानरत्नकोष
८९ तच्चुशास्त्र
९० तारालक्षण
९१ दशताल न्यग्रोध-परिमण्डल बुद्धप्रतिमा-लक्षण
९२ दश प्राकार
९३ दिक्साधन
९४ दीर्घविस्तार प्रकार
९५ देवता शिल्प
९६ देवालय लक्षण
९७ द्वारलक्षण-पटल
९८ नारद संहिता
९९ नावाशास्त्र
१०० पक्षिमनुष्यालय-लक्षण
१०१ पञ्चरात्र-प्रदीपिका
१०२ पिण्डप्रकार
१०३ पीठ-लक्षण
१०४ प्रतिमा द्रव्यादिवचन
१०५ प्रतिमा मान लक्षण
१०६ प्रतिष्ठा तत्त्व
१०७ प्रतिष्ठा तंत्र
१०८ प्रासादकल्प
१०९ प्रासाद कीत
११० प्रासाद दीपिका
१११ प्रासाद मण्डन वास्तुशास्त्र
११२ प्रासाद लक्षण
११३ प्रासादलक्षण
११४ प्रासादालङ्कार लक्षण
११५ बिम्बमान
११६ बुद्धप्रतिमालक्षण
११७ बुद्धलक्षण
११८ मठप्रतिष्ठा तत्त्व
११९ मनुष्यालय चंद्रिका
१२० मंजुश्री मूलकल्प
१२१ मंत्र दीपिका
१२२ मयमत
१२३ महानिर्वाणतंत्र
१२४ मानकथन
१२५ मानव वास्तुलक्षण
१२६ मानसार
१२७ मानसोल्लास
१२८ मानसोल्लास वृत्तान्त प्रकाश
१२९ मूर्तिध्यान
१३० मूर्तिलक्षण
१३१ मूलस्तम्भ निर्णय
१३२ रत्नदीपिका
१३३ रत्नमाला
१३४ राजगृह निर्माण
१३५ राजबल्लभ-टीका
१३६ राशिप्रकार
१३७ रूपमण्डन
१३८ लक्षण समुच्चय
१३९ लघुशिल्प ज्योतिष
१४० बलिपीठ लक्षण
१४१ वास्तुचक्र
१४२ वास्तुतत्त्व

१४३ वास्तु-निर्णय
१४४ वास्तु पुरुष लक्षण
१४५ वास्तुप्रकाश
१४६ वास्तु प्रदीप
१४७ वास्तु प्रबन्ध
१४८ वास्तुमजरी
१४९ वास्तु मण्डन
१५० वास्तुयोगतत्त्व
१५१ वास्तुरत्न-प्रदीप
१५२ वास्तुरत्नावली
१५३ वास्तुराजवल्लभ
१५४ वास्तुलक्षण
१५५ वास्तुविचार
१५६ वास्तुविद्या
१५७ वास्तुविधि
१५८ वास्तुशास्त्र
१५९ वास्तुशिरोमणि
१६० वास्तुसमुच्चय
१६१ वास्तुसख्या
१६२ वास्तुसग्रह
१६३ वास्तुसर्वस्व
१६४ वास्तुसार
१६५ वास्तु सारिणी
१६६ वास्तु-सार-सर्वस्व-सग्रह
१६७ विमान-लक्षण
१६८ विश्वकर्मीय शिल्प
१६९ विश्वकर्म-प्रकाश
१७० विश्वकर्म-मत
१७१ विश्वकर्म-ज्ञान
१७२ विश्वकर्मा-पुराण
१७३ विश्वकर्मा सम्प्रदाय
१७४ विश्वविद्याभरण
१७५ वेदान्तसार
१७६ वैखानस
१७७ शास्त्रजलधिरत्न
१७८ शिल्पकलादीपिका
१७९ शिल्पग्रथ
१८० शिल्पनिघण्टु
१८१ शिल्पदीपिका
१८२ शिल्परत्न
१८३ शिरपलेख
१८४ शिल्पशास्त्र
१८५ शिल्प-शास्त्र-सार-सग्रह
१८६ शिल्प-सर्वस्व-सग्रह
१८७ शिल्पसार
१८८ शिल्पाय शास्त्र
१८९ शिल्पशास्त्र
१९० षड्विदिक-सधान
१९१ सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र
१९२ सर्वविहारीय-यत्र
१९३ सग्रह शिरोमणि
१९४ सारस्वतीय शिल्पशास्त्र
१९५ स्थल शुभाशुभ-वचन
१९६ समरागणसूत्रधार

भारतीय वास्तु-कला सबधी आधुनिक साहित्य

१ अन्धयुगीन भारत—डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल
२ भारतीय मूर्तिकला—रायकृष्णदास
३ भारतीय वास्तु शास्त्र—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

४ भारतीय वास्तुकला—परमेश्वरीलाल गुप्त

५ इण्ट्रोडक्शन टु इंडियन आर्ट—डॉ० कुमारस्वामी आनन्द कुमार

६ इंडियन आर्टिटेक्चर—गांगुली ओ० सी०

७ हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट—डॉ० कुमार स्वामी

८ हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्टिटेक्चर—फर्गुसन जे०

९ ऐट अजन्ता—वकील कन्हैयालाल एच०

१० अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन—डॉ० स्मिथ विसेण्ट ए०

११ अ हैंडबुक ऑव इण्डियन आर्ट—डॉ० हैवेल, ई० वी०

१२ इंडियन आर्टिटेक्चर—डॉ० हैवेल, ई० वी०

१३ ऐशेंट एण्ड मिडिबल आर्टिटेक्चर इन इंडिया—डॉ० हैवेल, ई० वी०

१४(अ) अ डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्कीटेक्चर - अंक १ (ब) मानसार आन आर्कीटेक्चर ऐन्ड स्कलपचर-अंक २ (स) इंडियन आर्कीटेक्चर अकार्डिग टु मानसार शिल्प शास्त्र-अंक ३ (द) आर्कीटेक्चर आफ मानसार - अंक ४ (य) इलुस्ट्रेशन्स आफ आर्कीटेक्चर ऐन्ड स्कलपचरल आब्जेक्ट्स डिसक्राइब्ड इन माससार-अंक ५ (य) हिन्दू आर्कीटेक्चर आफ होम ऐन्ड अब्राड-अंक ६ (फ) मानसार ऐन इनसाइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्कीटेक्चर-अंक ७ —डॉ० पी० के० आचार्य।

अभियान्त्रिक परिभाषा कोश

आकार	—	size
आकृति	—	shape
वर्तुलाकृति	—	form, figure (इसके लिए कुछ लोग गोलाकृति, वृत्ताकृति, वर्तुलाकार भी प्रयोग करते हैं पर यह त्रुटिपूर्ण है, आकार का प्रयोग साधारणत घनफल अथवा व्याप्ति बताने के लिए होना चाहिए)।
तास	—	hour
लव	—	minute
विलव	—	second
कला	—	A minute of arc
विकला	—	A second arc
आगणिक वा गणिक	—	per (उदाहरणार्थ घनइचागणिक per cubic inch, विलवागणिक per second, घनयाम्रागणिक per cubic centimeter)
वस्तुता	—	mass (of body)
वहन	—	weight (of a body)
सचार या सचार राशि	—	A vector
अचार या अचार राशि	—	A sealar
परिवल	—	The moment of a force
वल	—	strength
प्रतिवल	—	opposing strength
वल परीक्षा	—	Testing the strength
प्रेरक	—	Force
प्रतिप्रेरक	—	opposing force
शक्ति	—	energy
सामर्थ्य—	—	ability

एकधेय, एकस्थ	—	A unit
राशि	—	quantity
अंक	—	Number
तरस्व	—	power (the rate of developing, delivering or consuming energy)
यत्न	—	effort
आपत्तरण	—	overcoming opposition
कृत (काम)	—	work
कीलक, स्कम्भा	—	Fulcrum
तरस्वम्	—	the rate of overcoming opposition and performing work
तरस्वालय	—	power house
वीजा	—	Electricity
वैजिक तरस्व	—	Electric power
वैजिक तरस्वालय	—	Electric power house
परिक्षेपण	—	Broadcasting
परिक्षेपण केन्द्र	—	Broadcasting station
प्रारण, विकिरण	—	Radiation
पर्यय	—	cycle
प्रावस्था	—	Phases
कंपन, आन्दोलन	—	oscillation
कर्षुक	—	Magnet
तरंग	—	Regular waves
लहरी	—	Spasmodic waves
वीची	—	ripples

समराङ्गण सूत्रधार मे वास्तुशिल्प की विषयतालिका

अध्याय–७ चित्रकर्माणि

भारत के प्रमुख संग्रहालय

इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता (स्थापित-१८६६ ई०)
नालंदा म्यूजियम।
सारनाथ म्यूजियम (वाराणसी)
नागार्जुनीकोंडा म्यूजियम (जि० गुंटूर)
ताजमहल संग्रहालय (म्यूजियम), आगरा।
लाल किला म्यूजियम (१९०९ में स्थापित)
सेन्ट्रल एशियन एन्टीक्युटीज म्यूजियम, नयी दिल्ली।
नेशनल म्यूजियम, न्यू दिल्ली।
प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बंबई (१९२१ में स्थापित)
गवर्नमेंट म्यूजियम, मद्रास (१८५१ में स्थापित)
पुरातत्त्व संग्राहालय, लखनऊ (१८६३)
पटना म्यूजियम, पटना (१९१७)
कर्जन म्यूजियम, मथुरा (१८७४)
सेन्ट्रल म्यूजियम, नागपुर (१८६३)
प्रोविंसियल म्यूजियम, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
प्रोविंसियल म्यूजियम, गौहाटी (आसाम)
आशुतोष म्यूजियम, कलकत्ता वि० वि०, कलकत्ता।
इलाहाबाद म्यूजियम, प्रयाग, (१९३१)
भारत कला भवन, वाराणसी (१९२९) हिन्दू वि० वि० में।
हैदराबाद म्यूजियम, हैदराबाद, (१९३१)
पुरातत्त्व म्यूजियम, ग्वालियर (१९२२)
राजपूताना म्यूजियम, अजमेर (१९०८)
पुरातत्त्व म्यूजियम, जयपुर (१९४२)
भूरीसिंह म्यूजियम, चंबा (हिमाचल प्रदेश)
मैसूर गवर्नमेंट म्यूजियम, बंगलौर (१८६५)
स्टेट म्यूजियम एंड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा (१८९४)
पुरातत्त्व म्यूजियम, सांची (भोपाल)